गुरुकुल-पत्रिका

Vol. 50 Dec. 1998-Feb. 1999 Vol. 51 Mar. 1999-Mar. 2000

G.K.V. Lib.
Haridwar

150785

STOCK VERIFICATION
Central
Library
2024-25 G.K.D.U., Hdr.

गुरुकुल-पत्रिका

Vol. 50
Nov. 1998 Feb 1999
Vol. 51
MAR 1999-MAR.200

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ0 महावीर
एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक

डॉ0 दिनेशचन्द्र
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

नवम्बर - दिसम्बर-९८ जनवरी - फरवरी-९९	वर्ष 50वां	मार्गशीर्ष-फाल्गुन सं. 2055

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ0 धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : डॉ0 विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर – हिन्दी विभाग

सम्पादक : डॉ0 महावीर
प्रोफेसर एवं निदेशक
वैदिक शोध संस्थान

सह–सम्पादक : डॉ0 दिनेशचन्द्र
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ0 जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रकाशक : प्रो0 श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव

मूल्य : 25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

विषयानुक्रमणिका

1.	वेद मञ्जरी	—		1
2.	सम्पादकीय	—		2–3
3.	संस्कृतसाहित्ये धर्मस्य राजनीतेश्च परस्परैकरसता	—	डॉ0 हरिगोपाल शास्त्री	4–6
4.	वैदिक जीवन दर्शन–	—	डॉ0 महावीर	7–13
5.	महाभारत में धर्म और राजनीति	—	डॉ0 विक्रम कुमार	14–22
6.	पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक चुनौती और धर्म	—	डॉ0 बजेश कृष्ण कठिल	23–28
7.	वेदों में धर्म एवं राजनीति	—	डॉ0 ज्ञान प्रकाश शास्त्री	29–33
8.	छान्दोग्योपनिषद में धर्म और राजनीति	—	डॉ0 मनुदेव बन्धु	34–44
9.	ऋग्वेदीय धर्म एवं राजनीति	—	डॉ0 दुर्गाप्रसाद मिश्र	45–49
10.	वेद–वर्णित राष्ट्र धर्म	—	डॉ0 वीनेश अग्रवाल	50–54
11.	तुलसी के काव्य में धर्म और राजनीति	—	डॉ0 मृदुल जोशी	55–65
12.	वेदकालीन मन्त्रिमण्डल	—	डॉ0 बलवीर आचार्य	66–84
13.	कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित धर्म और राजनीति	—	डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता	85–89
14.	वैदिक परिप्रेक्ष्य में धर्म शब्द का अर्थ और अभिप्राय	—	डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री	90–91
15.	राजनीति में धर्म का स्थान : वैदिक दृष्टिकोण	—	डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार	92–95
16.	गीत गाते रहो	—	महावीर 'नीर'	96–96

विषयनुक्रमाणिका :

१— वेदमञ्जरी — डॉ० रामनाथ वेदालंकार १

२— सम्पादकीय — डॉ० महावीर २

३— भौगोलिक इतिहास के परिकल्पक— पं० जयचन्द्र विद्यालंकार — डॉ० विष्णुदत्त राकेश ५

४— इतिहास लेखन में राष्ट्रीय दृष्टि के प्रस्तोता—पं० जयचन्द्र विद्यालंकार — डॉ० भवानीलाल भारतीय ८

५— श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की साधना के कुछ पक्ष—काशीदेवातायन्न से — प्रो० अमरनाथ पाण्डेय १०

६— बहुआयामी जयचन्द्र विद्यालंकार — प्रो० वेदव्रत वेदालंकार १३

७— अग्निपुञ्ज जयचन्द्र — श्री सुभाष विद्यालंकार १५

८— गुरुकुलेद्यान के सुरभित पुष्प —पं० जयचन्द्र विद्यालंकार — श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार १८

६— वेद और आधुनिक गणित — डॉ० विजेन्द्र कुमार शर्मा २४

१०—आने वाली सदी — श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार २६

११—वेदमन्त्रणां पाठस्यप्रकारता तस्य सामाजिकं भाषिकं महत्वञ्च — डॉ० रामशीष पाण्डेय २६

१२—धन्यास्ते जयचन्द्र विद्यालंकार — डॉ० सत्यदेव विद्यालंकार ४०

१३—साहित्य समीक्षा — प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु ४२

१४—साहित्य समीक्षा — डॉ० भवानीलाल भारतीय ४५

१५—The Epistemological System of Swami Dayananda — Dr. Surendra Kumar ४६

❖ ❖ ❖

विषयनुक्रमणिका

1. वेदमञ्जरी – डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 1
2. सम्पादकीय – प्रो0 महावीर अग्रवाल 2–3
3. वैदिक मधु–गीत – डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 4–6
4. वेदमन्त्रेषु राष्ट्रिय–भावना – प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री 7–16
5. उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप – प्रो0 जयदेव वेदालंकार 17–27
6. तत्त्वमीमांसा के वैदिक आधार – डॉ0 शशिप्रभा कुमार 28–38
7. वेदों में प्रतीकात्मकता – प्रो0 महावीर अग्रवाल 39–45
8. वेदों के आलोक में राजनीति – डॉ0 किरण टण्डन 46–56
9. पुराण का पञ्चमवेदत्व –एक समीक्षा – डॉ0 विक्रम कुमार विवेकी 57–64
10. ऋग्वेदीय सृष्टि विज्ञान – डॉ0 सुरेन्द्र कुमार 65–72
11. द्यावा पृथिवी के नामों की आध्यात्मिक तथा सृष्टि प्रक्रिया विषयक व्याख्या – डॉ0 रघुवीर वेदालंकार 73–75
12. वैदिक भौतिकी : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अध्ययन तथा शोध का एक नया आयाम – डॉ0 बुद्धप्रकाश शुक्ल 76–83
13. यजुर्वेद में आत्मावाची अभिधान वा विशेषण – डॉ0 वीरेन्द्र अलंकार 84–87
14. सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः – इन्द्रदेवता सप्तकम् (1 व 2) – श्री मनोहर विद्यालंकार 88–93
15. नाट्यशास्त्र का स्वरूप व उत्पत्ति – डॉ0 अर्चना भार्गव 94–97
16. सच्चे ब्राह्मण का सात्विक बल – श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार 98–101
17. ऋग्वेद में 'वह' धातु के प्रयोग – डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार 102–104

● ● ●

विषयानुक्रमणिका

1. वेदमञ्जरी - डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 1
2. सम्पादकीय - डॉ0 महावीर अग्रवाल 2-3
3. प्रियरामप्रसाद स्मरणम् - डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 4
4. याद आती है तुम्हारी - डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 5
5. एक प्रसंग - डॉ0 रामनाथ वेदालंकार 6
6. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकारस्य......... - डॉ0 धर्मपाल 7-8
7. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकारो.......... - प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री 9-11
8. एक आदर्श आचार्य - डॉ0 श्यामनारायण सिंह 12
9. आचार्य रामप्रसाद; एक अद्भुत...... - डॉ0 जयदेव वेदालंकार 13-27
10. ज्ञान विज्ञान की भूमि...................... - डॉ0 विष्णुदत्त राकेश 28-30
11. मेरे प्रेरणास्रोत- .... - डॉ0 महावीर अग्रवाल 31-35
12. अखिलम्-मधुरम् - स्वामी वेदमुनि परिजातक 36-37
13. सौम्य एवं साधुमना....................... - डॉ0 भवानीलाल भारतीय 38-39
14. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार - डॉ0 सत्यव्रत राजेश 40-42
15. आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार........ - डॉ0 जगदीश विद्यालंकार 43-45
16. मेरे पतिदेव..................................... - श्रीमती सरोज आर्या 46-49
17. हमारे पिता - श्रद्धा, अनुव्रत 50-55
18. यज्ञिय जीवन की प्रतिमूर्ति - आचार्य सुदर्शन देव 56-58
19. एक अद्भुत व्यक्तित्व - श्रीमती प्रकाश कपूर 59-65
20. सहृदय व सरलता की मूर्ति - श्री राजवीर शास्त्री 66-67
21. एक मुलाकात.................................. - डॉ0 आनन्द कुमार शर्मा 68-69
22. राम तो राम थे - श्री पिशोरीलाल 70-72
23. वेदरत्न- प्रो0 रामप्रसाद - श्री बलभद्र भारती 73-75
24. वैदिक वाङ्मय.................................. - श्री जगदेव सिंह ठाकुर 76-81
25. एक महान् व्यक्तित्व - श्रीमती लीलावती गुप्ता 82-85
26. अतुलनीय व्यक्तित्व......................... - आचार्य भगवानदेव 'चैतन्य' 86-88

27. चल दिए – श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार 89
28. अनुकरणीय व्यक्तित्व – श्री रघुवीर वेदालंकार 90 – 91
29. विद्वान और संत – श्री अखिलेश्वर 92 – 94
30. वे वाक्वीर ही नहीं – श्री इन्द्रजीत 95 – 97
31. मेरे बालसखा – श्री अग्निदेव जी 'भीष्म' 98 – 100
32. उनका महाप्रयाण – डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार 101 – 103
33. आर्यजगत के देदीप्यमान – डॉ0 वीना अग्रवाल 104 – 106
34. चिर – विदाई – बहिन अशोका आर्या 107 – 108
35. देवतुल्य आचार्य – स्वामी मुक्तानन्द 109 – 111
36. राम एक देव पुरुष – श्रीमती सरला चौधरी 112 – 115
37. दिव्य प्रेरणा – स्रोत – श्रीमती प्रकाशवती रत्ना 116 – 117
38. आचार्य राम : एक देवपुरुष – आचार्य विद्यारत्न 118 – 119
39. वेदपुरुष को नमन – डॉ0 सोमदेव शतांशु 120 – 121
40. श्रद्धेय भाई रामप्रसाद जी – बहिन लक्ष्मी आर्या 122
41. मेरी वैदिक गणितीय – डॉ0 विजयेन्द्र कुमार शर्मा 123 – 126
42. आर्य जगत के चमकते – श्रीमती नरेन्द्र आर्या 127 – 129
43. पूज्य वेदरत्न – श्री आशुतोष आर्य 130 – 131
44. पुष्प से कोमल – डॉ0 ईश्वर भारद्वाज 132 – 134
45. परम श्रद्धेय – श्रीमती प्रकाश कपूर 135
46. सौम्य मूर्ति – डॉ0 कृष्णदेव 136
47. एक दीप – श्री आनन्द अभिलाषी 137 – 138
48. मेरे निरुक्त गुरु – श्री ज्ञानेश्वर आर्य 139 – 140
49. संस्मरणिका – डॉ0 अन्नपूर्णा 141 – 142
50. परम श्रद्धेय आचार्य जी – श्री रजत अग्रवाल 143
51. आचार्यश्री के जन्म दिवस – बहिन विमला, शांति 144
52. कुछ संस्मरण – श्री रूपचन्द दीपक 145 – 146
53. राम एक – श्रीमती सरला चौधरी 147 – 148
54. आचार्यश्री की – डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री 149 – 152
55. श्रद्धाञ्जलियाँ – 153 – 160

● ● ●

विषयानुक्रमणिका

१. वेदमञ्जरी — आचार्य रामनाथ वेदालंकार — १
२. सम्पादकीय — डॉ० महावीर अग्रवाल — २
३. गीतायां सांख्ययोगः — डॉ० महावीर अग्रवाल — ४
४. आनन्द षट्पदी — आचार्य रामनाथ वेदालंकार — ८
५. अथर्ववेद के कुछ प्रयोग ..... डॉ० अमरनाथ पाण्डेय — ११
६. उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप — प्रो० जयदेव वेदालंकार — १४
७. कैवल्य — डॉ० ईश्वर भारद्वाज — १६
८. द्विकर्मक धातुओं में अभिधान ..... डॉ० भीम सिंह — २७
९. न्याय दर्शन में छल ..... डॉ० सोहनपाल सिंह 'आर्य' — ४१
१०. ऋग्वेद में गत्यर्थक 'इष' ..... डॉ० सत्यदेव निगमालंकार — ४८
११. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ..... डॉ० भगवानदेव पाण्डेय — ५३
१२. गुरुकुल पत्रिका ने गुरुकुल ..... श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार — ५६
१३. कैसे गीत गायें हम ? — डॉ० भैरवदत्त शुक्ल — ६७

वेद-मञ्जरी

1. सरस्वती वन्दना

पावका नः सरस्वती, वाजेभिर् वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः।। ऋग्० १.३.१०

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। देवता सरस्वती। छन्दः गायत्री।

पावका-पाविका, पवित्रतादायिनी, **वाजिनीवती**-वाजो बलं वेगो वा अस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया तद्वती, क्रियाशालिनीत्यर्थः, **धियावसुः**, धिया प्रज्ञया कर्मणा च वसुः वासयित्री, समासे विभक्त्यलोपश्छान्दसः। धीः कर्म च प्रज्ञा च, निघ० २.२, ३.९ **सरस्वती** रसमयी जगदम्बा वेदवाणी च **वाजेभिः** वाजैः अन्न-धन-बल-विज्ञानादिभिः **नः** अस्माकम् **यज्ञम्** जीवनरूपम् अध्वरम् **वष्टु** निर्वोढुं कामयताम् निर्वहतु इत्यर्थः।।

आगच्छत, वयं सरस्वतीं वन्दामहे। सरस्वती वै जगन्माता जगदीश्वरी। सा रसमयी सती सर्वान् स्वीयं मधुरं स्तन्यं पाययति। तस्या दुग्धरसो ज्ञानं, बलं, पुष्टिं, विवेकं, चैतन्यं, प्राणं, स्फूर्तिम्, आनन्दं ददाति। तस्याः पयः पीत्वा ज्ञानशून्या अपि ज्ञानवारिधयः सञ्जायन्ते। तस्याः पयः पीत्वा पतिता अपि महर्षयः संपद्यन्ते। तस्याः पयः पीत्वा निर्बलात्मानो ऽपि बहुबला भवन्ति। तस्याः पयः पीत्वा सांसारिकैः कर्कशकष्टैः क्लिश्यमाना अपि सुखसागरस्य तरङ्गेषु दोलायन्ते। तस्याः पयः पीत्वा रोगैः क्लान्ता अपि कायेन मनसा च स्वास्थ्यम् अनामयं च लभन्ते। तस्याः पयः पीत्वा निष्क्रिया अपि सक्रियतां भजन्ते। तस्याः पयः पीत्वा असुरा अपि देवत्वं गच्छन्ति। सा जगन्माता **पाविका** वर्तते। अपवित्रान् पावयति सा। कालुष्येन मलिनान्तःकरणानां मालिन्यम् अपहरति सा। सा जगन्माता **वाजिनीवतीं** कीर्त्यते, यतः सा क्रियामयी सकलक्रियाकारिणी च विद्यते। तस्या एव क्रियया वायुः प्रवहति, सूर्यस्तपति, चन्द्रश्चन्द्रिकां प्रयच्छति, पर्जन्यो वर्षति। सा जगन्माता **धियावसुः** इति कीर्त्यते, यतः सा दिव्यबुद्धिप्रदानेन कर्मोपदेशेन च निवासयित्री जायते। सा जगदम्बा जीवनेऽस्माकं पदार्पणं कृत्वा स्वाधिकारे विद्यमानैरन्न- धन-बल-वेग-विज्ञानादिभिरस्माकं जीवनयज्ञं पूर्णतां लम्भयेत।

वेदवागपि सरस्वतीनाम्ना प्रोच्यते। सा हि जीनसंतर्पकेण ज्ञानरसेन परिपूर्णा। वेदवाण्यां किल भौतिकविद्याया अध्यात्मविद्याया आरोग्यविद्याया मनोविद्यायाः प्राणविद्यायाः सृष्टिविद्यायाः सर्वासामपि विद्यानां सरसं स्रोतः परिप्लवते। सापि **पाविका** वर्वर्ति। सा पाठकानां मनांसि पवित्रीकरोति। **वाजिनीवती** नाम्नापि प्रसिद्धा सा। सा हि सशक्तक्रियाकारिणी विद्यते। अर्थविचारपूर्वकं कृतो वेदवाण्याः पाठो वेदाध्यायिनम् उद्बोध्य तन्मनसि तीव्रां क्रियां जनयति। सा **धियावसुः** कथ्यते। नवनवोन्मेषशालिनीं प्रज्ञां प्रदाय कर्तव्यप्रेरणया च स्वाध्येतृन् निवासयति सा।

अयि वरदे सरस्वति। अस्मभ्यं वरं प्रदेहि। अयि विद्यावीणाझङ्कारकारिणि मातः! अस्मान् विद्याझङ्कारं श्रावय। अयि दिव्ये ! स्वकीयेन दिव्यनादेन कृतार्थान् नः कुरु। अयि जननि! अस्माकं वन्दनां स्वीकुरु।

-आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय

नव-संवत्सर के शुभागमन की मंगल वेला में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के जन्मोत्सव के पावन अवसर पर गुरुकुल-पत्रिका का अंक सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की यह पत्रिका अपने प्रादुर्भाव काल से अधावधि ५० वर्षों के सुदीर्घ काल खण्ड में उत्तमोत्तम सामग्री पाठकों को प्रदान करती चली आ रही है। इस पत्रिका के सम्पादकों की गरिमामयी पावन परम्परा रही है। समय-समय पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशेषांकों के प्रकाशन ने इस पत्रिका के गौरव को बढ़ाया है। उसी श्रृंखला में यह अंक भी अत्यन्त सामयिक विषय 'धर्म और संस्कृति' को लेकर उपस्थित है।

धर्म और राजनीति ये दो ऐसे शब्द हैं जिनपर बहुत विस्तार से लिखा पढ़ा गया है। हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय धर्म की व्याख्याओं से भरा पड़ा है। भारतीय मनीषियों का धर्म विषयक चिन्तन अद्‌भुत है। धर्मो रक्षति रक्षितः, धर्मो धारयते प्रजा, धारणाद् धर्म इत्याहुः इत्यादि वचन मानव जीवन में धर्म की महत्ता और आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं। मानव धर्म के व्याख्याता महर्षि मनु ने धर्म की व्यापक विवेचना मनुस्मृति में की है। युगनिर्माता महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में और वेद भाष्य में स्थान-स्थान पर धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया है। भगवद्‌गीता में योगेश्वर अपने जीवन का ध्येय प्रतिपादित करते हुए कह रहे हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।

भूमण्डल पर धर्म की स्थापना करना ही महापुरुषों के जीवन का लक्ष्य होता है। धर्म शब्द बहुत व्यापक हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई धर्म अर्थात् स्वरूप अवश्य होता है। अग्नि का धर्म है दाहकत्व, जल का धर्म है शीतलता इसी प्रकार मानव का भी धर्म है। धर्म के इस स्वरूप पर कहीं कोई विप्रतिपात्ति नहीं होनी चाहिए थी किन्तु दुर्भाग्य मानव जाति का कि धर्म और ईश्वर के नाम पर संसार में इतने युद्ध हुए हैं, मानव का इतना रक्त बहा है कि स्मरण कर हृदय कांप जाता है। धर्म के नाम पर अखण्ड भारत का विभाजन हुआ। यह दुष्परिणाम है धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने का। धार्मिक व्यक्ति कभी दूसरे को दुःख देना नहीं चाहता। वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' को सदैव स्मरण रखता है। धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत-मतानन्तर को एक समझ लेने की भूल के कारण यह अनर्थ हुआ है। मानव धर्म तो सबका एक ही है।

धर्म के समान राजनीति शब्द भी बहुत विवादास्पद है। प्रायः यह सुनने में आता है

कि राजनीति भले लोगों का कार्य नहीं है। छल-प्रपञ्च के बिना राजनीति में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, धर्म को राजनीति से दूर रखना चाहिए आदि। स्वतन्त्र भारत में 'धर्म निरपेक्षता', शब्द को सुनकर भी धर्म के विषय में नाना प्रकार की भ्रान्तियां और सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे प्राचीन आर्य-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग न होकर 'राजधर्म' का प्रयोग किया गया है। कितना पवित्र और उदात्त भाव है राजधर्म शब्द में। इसमें छल, कपट, असत्य आदि का कोई स्थान ही नहीं है। शत्रु पक्ष को पराजित करने के लिए नीति का आश्रय भले ही किया जाता हो किन्तु प्रजा के साथ राजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का था। इस प्रकार धर्म मानव-मात्र के लिए सर्वदा कल्याणकारी था। राजाओं का जीवन भी अत्यन्त पवित्र था। महाराजा दिलीप, रघु, जनक सदृश अनेकानेक महीपतियों से यह वसुधा शोभायमान रही है। हम सभी देशवासी जिस राम राज्य की कल्पना करते हैं वह रामराज्य धर्म पर प्रतिष्ठित था। विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी कभी श्रीराम ने धर्म की मर्यादा नहीं छोड़ी। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं- 'रामो विग्रहवान् धर्मः' अर्थात् राम तो धर्म के साकार रूप हैं। जब धर्म और राजनीति दोनों का लक्ष्य देश में सुख, शान्ति, ऐश्वर्य की स्थापना है तो परस्पर विरोध कैसा। यह विचारकर मार्च ९८ में 'प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति' विषय पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। इस शोध संगोष्ठी में विभिन्न विश्वविद्यालयों से विद्वान प्रतिनिधि पधारे थे। विद्वानों ने अपने वैदूष्यपूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किये थे। उन्हीं शोध-पत्रों में से कुछ पत्र इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। शोध संगोष्ठी का उद्घाटन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा प्रो० शेर सिंह जी ने मुख्य अतिथि के रूप में किया। विषय का प्रवर्त्तन शिक्षा जगत् की मूर्धन्य विदुषी पण्डिता प्रभात शोभा जी ने किया। अध्यक्षीय उद्बोधन के रूप में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सूर्यदेव जी ने धर्म और राजनीति की सुन्दर विवेचना की। विश्वविद्यालय के कुलपति माननीय डॉ० धर्मपाल जी तथा उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश जी ने अतिथियों का भावभीना स्वागत किया।

यह अंक कितना उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक है इसका निर्णय मैं सुधी पाठकों पर छोड़ता हुआ विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि विभिन्न विधाओं के मर्मज्ञ विद्वान् अपने गवेषणापूर्ण शोध-लेख हिन्दी और संस्कृत भाषा में हमारे पास भेजते रहें। हम ऐसे सुन्दर, सुरुचिपूर्ण लेख प्रकाशित कर गौरवान्वित होते रहेंगे। पुनः नव वर्ष की मंगल कामनाओं के साथ यह विशेषांक सादर समर्पित है।

प्रो० महावीर
सम्पादक
गुरुकुल पत्रिका

संस्कृतसाहित्ये धर्मस्य राजनीतेश्च परस्परैकरसता

डा0 हरिगोपालशास्त्री
प्राचार्यः, गुरुकुलमहाविद्यालयः ज्वालापुरम्
हरिद्वारम्-२४९४०४ (उ०प्र०)

इदं नाम सहृदयैः सर्वैरपि विद्वद्भिः विचारणीयं विचार्य च अङ्गीकर्तव्यम् यत् यावन्तो व्यापाराः क्रिया-कलापा वा सोद्देश्या एव प्रवर्तन्ते। राजशासनपद्धतिरपि तासु समासु क्रियासु काचिद् एका क्रिया, तयाऽपि सोद्देश्यया सफलया च भवितव्यम्। क्रियाणां स्वरूपाणि तावद् अन्यानि अन्यानि भवन्ति। कृषि-वाणिज्य-विविधोद्योगात्मिका क्रिया ऐहिक-प्रयोजना भवन्ति। तासु च सम्यक् अनुष्ठितासु प्रचुरं ब्रीहियवादिलाभः द्रव्यादिलाभश्च प्रत्यक्षमनुभूयते। उक्तं च "नाकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते न च श्रूयते।" इति दिशा सर्वाऽपि क्रिया केनचिद् परोद्देश्येनैव अनुष्ठीयन्ते। पारलौकिक्योऽपि यज्ञ-दान-तपोऽनुष्ठान-शास्त्रपरिशीलन-उपनिषदादि श्रवणं मोक्षार्थिभिः अभ्यस्यमाणः मोक्षाय कस्मैश्चिद् महते वा श्रेयसे कल्पन्ते, अत्र नास्ति संशीतिलेशावसरः इति।

इत्थमेव प्रजापालन-शासनपद्धतयोऽपि विविधा राजनीतिशास्त्रे अन्यत्र वा शास्त्रशरीरे समवलोक्यते। चिरात् समतीते काले राजशासनानुसारेण राजतन्त्रानुसारेण च प्रजासु एकस्मिन् देशे एकस्य कस्यचिद् सैन्यद्रव्यादिप्रचुर-साधनसम्पन्नस्य प्रभुत्वमभूत्। स यत् वाञ्छति तदैव करोतिस्म। कदाचित् च एवंविधे शासने निरंकुशतायां वर्तमानः कश्चन शासकः प्रजासु अन्यायम् अहितम् अपि कर्तुं शक्नुयात्। यतो हि प्रभुता-मदम् अभिमानं च समुद्पादयति, तथा सति अहितम् आददानि कस्मिश्चिद् राजनि प्रजाविषादं अनेकविधं दुःखमपि अनुभवितुम् अर्हति।

चिरमतीतेषु वर्षेषु सर्वामपि अपेक्षितां मर्यादां विहाय विषयवासनासु प्रसृतमतयः राजानः बहुविधानि प्रजालुण्ठनादीनि अकार्याणि अन्यायानि समन्वतिष्ठन्। अयं खलु शाश्वतिकः सिद्धान्तः यद् समस्या समाधानं गवेषयति। एवंविधेभ्यः निरंकुशेभ्यः शासकेभ्यः आत्मनस्त्राणाय कैश्चन मनीषिभिः प्रजातन्त्रपद्धतेराविष्कारः कृतः। अनयाऽपि सरण्याः प्रजया यादृश-सुखस्य समृद्धेः न्यायस्य च अपेक्षा कृता सा न खलु सफला सकला च परिदृश्यते। अत्र च प्रज्ञावद्भिः महद्भिर्महानुभावैः यथा चैवविधैः पूर्वमहानुभावैः राज्यपालन-धर्मपालन-सदाचार-संरक्षणादिषु केचन सारगर्भिताः सिद्धान्ताः निश्चिताः, मन्वादिभिर्मनीषिभिः येन मार्गेण वर्णाश्रमादि

निर्णयः तत्र च [illegible] अनुष्ठेया धर्मा निर्दिष्टा, तथैव यावद्भिः तत्त्वदर्शिभिः हरिश्चन्द्र-भगीरथ-दिलीप- दशरथ-युधिष्ठिर-जनमेजय-प्रभृतीभिः ते वर्णिता आदर्शा अतीव विनयभावेन प्रजासु वात्सल्येन च यावता पालिता संरक्षिता वर्धिताश्च तावता प्रजासु सर्वत्र सुखस्य शान्तेः समृद्धेश्च निवासोऽभूत्, एवंविधया प्रजाशासनरीत्या महत् सम्मानं समादरोऽपि तैरन्वभूयत यतो हि ते शास्त्रद्रष्टारः अभवन्। धर्मशास्त्रस्य नीतिशास्त्रस्य दर्शनशास्त्रस्य अन्येषामपि प्रसिद्धानां समेषां शास्त्राणां सम्यग् ज्ञानम् तेषाम् अभूत्। शास्त्रमर्यादया वर्तमानानां अकल्याणस्य चर्चैव न भवति। किन्तु इदानींतने काले सर्वमपि विपरीतं जातम्। ते तु वदन्ति राष्ट्रे धर्मस्य चर्चाऽपि न कर्तव्या, ते च अहर्निशं '***धर्मनिरपेक्षता***' इति शब्दं मुहुर्मुहुरटन्तः धर्मनिरपेक्षताशब्दस्य स्वमपि अर्थमजानाना तदा अस्य शब्दस्य अर्थं परान् कथं बोधयेयुः। इमे खलु ज्ञान-दुर्बला शिष्टाचार-दरिद्रा इदमपि न जानन्ति यथास्मिन् लेखे पूर्वं संकेतितं यत् सर्वाऽपि क्रिया सफला भवति। प्रजाशासन-क्रियया सत्स्वपि गौणेषु अन्येषु प्रयोजनेषु मुख्यं तावत् प्रयोजनं धर्मस्य प्रचारणं प्रसारणमेव। उक्तं च भगवता-

"***धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः***" (मनु ८/१५)

प्रजानां परिपालनं राज्ञां धर्मः। इयं धार्मिकी व्यवस्थैव राजधर्मः राष्ट्रधर्मः राजनीतिर्वा कथ्यते। धर्मस्य रक्षा प्रजानां रक्षा। धर्मस्य नाशः प्रजानां विनाशः। वयं तु अनुभवामः यदि मे स्वल्पं सुखं अन्याय जनितं अनुभवन्तः आगामि महादुःखगर्तपातं विवेकान्धत्वेन पश्यन्ति। यदि पश्येयुः कथं सदाचारं परित्यजेयुः।

भगवता सर्वज्ञेन मनुना महाराजेन श्रीमुखेन समुद्घोषितं यद्- "***वेदोऽखिलो धर्ममूलम्***" वैदिको हि धर्मः केवलं धर्म अन्यस्तु अधर्मेव। शास्त्रज्ञानमन्तरा स्वेच्छया समाचारिता तथाविधा आचारा विचाराश्च नैवाहिकाय नवामुष्मिकाय च सुखाय भवेयुः। तर्कशास्त्रेऽपि महामुनिना कणादेन सम्यग् उक्तम्- "***यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः***" अस्मिन खलु सूत्रे अखिलमपि सिद्धान्तं रहस्यं च सम्यग् गुम्फितम्, '***परनित्यान्तरङ्.गापवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः***' इति न्यायेन यथा व्याकरणशास्त्रे पूर्वशास्त्रार्थे परशास्त्रं बलवत् तथा सूत्रं '***विप्रतिषेधे परं कार्यम्***' पदादपि अन्तरंगं बलवत् अन्तरङ्गात् अपि चापवादम्। तथैव धर्मरक्षणे धर्मनिःश्रेयसोर्मध्ये निःश्रेयसः बलवत्त्वम्। निश्रेयस् शब्देन शान्तिः, वैराग्यं ज्ञानं भक्तिः इति सर्वमपि संगृहीतम् भवति। इमा खलु सर्वाऽपि धर्मस्यैव शाखा प्रशाखा। यदि च राजा यस्मिन् शासने न प्रसीदति अपितु विषीदति, अनेकविधानि च कष्टानि अनुभवति तदेव शासनं कुशासनं गीयते।

इदमेव इदानीमपि भवति, यतो हि राजा धर्मदण्डं गृहीत्वैव आत्मानं प्रजां च रक्षितुं शक्नोति। अमीषां अविवेकिनां तथाकथित-शासकानां धर्मनिरपेक्षताकुमन्त्रे धर्मदण्डस्य कथैव न भवति। तस्याभावेन च यस्मै यद् यद् रोचते तत् तत् स्वैरितया समाचरति। किम्बहुलम्, प्रोज्झित-धर्माणां मानव-पशूनां आहारव्यवहारविषये पशुभ्यो व्यतिरेको न संतिष्ठेत्। तेन च मानवतायाः सर्वथा ह्रासैव परिलक्ष्यते। सुखं शान्तिश्च तदैव समुन्मिषेत् यदा च धर्मशास्त्रानुसारेण शासनं भवेत्। उक्तं च भगवता श्रीकृष्णेन-

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते"

अपि च महाराजेन मनुनाऽपि कथितम्-

"सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।"

-मनु० ७/५४

अनेन स्पष्टं ज्ञायते यद् धर्मशिक्षाविधुरा राजनीति विधवैव भामिनी, अमंगलायैव कल्पेत। तथा च धर्मनिरपेक्षता वदतां मुखमुद्रणाय सर्वैरपि बद्धपरिकरैर्भाव्यम्। धर्मविहीनाया राजनीतेः कुत्रापि कथा नास्ति। अन्तरानेन कथमपि देशस्य कल्याणं भवितुं नार्हति।

○ ○ ○

वैदिक जीवन दर्शन

डॉ0 महावीर,
एम0ए0 (वेद,संस्कृत,हिन्दी) डी.लिट्.व्याकरणाचार्य
प्रोफेसर एवं निदेशक वैदिक शोध संस्थान,
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0,हरिद्वार

वेद मानव-मात्र को जीवन के कल्याण का श्रेष्ठतम मार्ग दिखाने वाला पवित्रम ज्ञान है। वेदों में वह जीवन दर्शन प्रतिपादित किया गया है, जो मानव की आसुरी वृत्तियों को दूर कर दैवी वृत्तियों का जागरण करता है। वेद संसार के कोटि-कोटि मानवों को सम्बोधित करते हुए कह रहा है-

"शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः" हे अमृत पुत्रों ! सबके सब सुनो ।

अमृत पुत्र कहकर सम्बोधित कर वेद हमें जीवन का सच्चा सुख अथवा आनन्द प्रदान करने वाला जीवन दर्शन सुनाना चाहता है। हम जीवन और जगत् को किस रुप में देखें,ताकि संसार के सत्य का साक्षात्कार कर सकें। सारी भ्रान्तियाँ, समस्त सन्देह दूर हो जायें, सब प्रकार के भेद-भाव मिट जायें और विश्व-मानव एकत्त्व प्राप्त कर लें। आज सारा संसार विभिन्न धर्मो ,विभिन्न जातियों,नाना प्रकार के मत-मतान्तरों और धाराओं मे बँटा हुआ है। परन्तु वेद की दृष्टि में संसार के सभी मानव एक हैं। जैसे उस ईश्वर के बनाये सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, बादल, वर्षा, वृक्ष, वनस्पति सबके लिए हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए हैं।

वैदिक दर्शन का मूलभूत विचार यह है- 'प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब कुछ नहीं है, प्रकृति के पीछे आत्मतत्त्व है, जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं। शरीर है, परन्तु शरीर ही सब कुछ नहीं, शरीर के पीछे आत्मतत्व है, वही तत्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते हैं।[१] वेद का चिन्तन त्यागवादी है न कि भोगवादी। संसार के भोग्य पदार्थों को देखकर आँखें बन्द करना उचित नहीं, संसार को भोगो, परन्तु त्यागपूर्वक, संसार में रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर पानी में कमल-पत्र की तरह, घी में पानी की बूँद की तरह। भोग और त्याग का समन्वय भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल वैदिक दर्शन का मूलाधार है।

आत्मज्ञान : वैदिक जीवन दर्शन की उत्कृष्ट अवस्था है- आत्म ज्ञान अथवा आत्म दर्शन। बृहदारण्यक उपनिषद में ऋषि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के मनोरंजक संवाद में इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'[२]

---

१. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार-'वैदिक संस्कृति के मूल तत्व' पृ० सं०-२०

२. बृहदारण्यकोपनिषद्-२।४।५

आत्मा के सम्बन्ध में यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'तू सबकी नाप और सबकी कसौटी है।'[१]

आत्मदर्शी व्यक्ति के लिये भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं और वह सब प्राणियों में एक ही आत्म-तत्व के दर्शन करता हुआ सबमें समभाव रखकर लोकोपकार में प्रवृत्त होता है।[२]

परमात्म सत्ता : जैसे शरीर में चेतनता देखकर, उसमें किसी आत्म-सत्ता का विचार उठता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में एक नियामिका तथा व्यवस्थापिका शक्ति की प्रतीति एक विश्वात्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। उस परम-सत्ता पर अटूट विश्वास और ईश्वर संसार के कण-कण में व्याप्त है, प्रत्येक प्राणी के अच्छे बुरे सभी कर्मों को वह देखता है, यह मानकर सदा शुभ-कर्म करना यह वैदिक दर्शन का सार तत्व है। यजुर्वेद में कहा है- 'योगी उसे देखता है जो हृदय-गुहा में छिपा है।[३] वेद में स्थान-स्थान पर ईश्वर को विश्व का पिता, माता, भ्राता, सखा, बन्धु एवं जनिता कहा गया है। वेद-मन्त्रों में परमात्मा के विविध गुणों और शक्तियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। परमात्मा की अनुभूति से आत्मा की नैतिक भावना प्रखर हो जाती है।

वैदिक आस्तिकवाद की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक आत्मा का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है। मेरे और मेरे परमात्मा के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं। जब परमात्मा मेरे हृदय में है तो वह अन्य किसी की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है- 'तू हमारा है, हम तेरे हैं।'[४]

कर्म सिद्धान्त : वैदिक जीवन दर्शन का एक प्रमुख अंग है- कर्म सिद्धान्त, मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसको उस कर्म का वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति शुभकर्मों की ओर हो जाती है। वेद में कहा है कि मनुष्य जैसा पकाता है वह पकाने वाले को वैसा ही प्राप्त होता है।[५]

ब्रह्म साक्षात्कार या मोक्ष : वैदिक दर्शन में मानव जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष माना गया हैं मुक्ति वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सब वासनाओं को त्यागकर पूर्ण काम हो जाता है और सब प्रकार के कष्ट-क्लेशों से दूर विशुद्ध, दिव्य आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। परमपिता परमेश्वर मुक्त स्वभाव है, उनकी ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक है। प्रभु

---

[१] सहस्त्रस्य प्रमासि सहस्त्रस्य प्रतिमासि। यजु० १५।६५

[२] यजु० ४०। ६, ७

[३] वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्। (यजु० ३२ । ८)

[४] त्वमस्माकं तव स्मसि (ऋग्० ८।९२।३२)

[५] आ यो धर्माणि प्रथमः संसाद ततो वयूंषि कृणुषे पुरुणि।
धारयुर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत।।अथर्व० ५।१।२

निर्विकार हैं, एकरस एवं आनन्दस्वरूप हैं। इसके विपरीत मनुष्य की मुक्ति परिश्रम-साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं। मनुष्य यज्ञ, योग एवं उपासना आदि के द्वारा जितना-जितना परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करेगा, उतना ही अधिक आनन्द का अनुभव करेगा। मुक्ति की दशा में जीवात्मा-परमात्मा का अत्यन्त सामीप्य होता है। यजुर्वेद में कहा गया है-

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजु० ३१।१८

अर्थात् मैंने इस परमात्म देवरूप पुरुष को जान लिया है जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी है और अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है। अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

इस प्रकार वैदिक जीवन दर्शन के केन्द्रीभूत विषय है परमात्मा, आत्मा, प्रकृति, कर्मफल, मोक्ष, ऋत एवं सत्य। इनके अतिरिक्त भी ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दू हैं, जिन पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

समत्व भावना : वेद के अनुसार सब मनुष्य भाई-भाई हैं, जन्म से न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। इस समानता के भाव को धारण करते हुए हम सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करें।

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।" ऋग्० ५।६०।५

एक ऋचा में कहा गया है "सब चलने वालों का मार्ग पर समान अधिकार है।"

समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे।"ऋग्० २।१३।२

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त (१०।१८) समता का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत करता है-

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

अर्थात् हे मनुष्यों ! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पहले के विद्वज्जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं, उसी प्रकार आप लोग

भी ज्ञान-सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन एवम् उपासनीय प्रभु की उपासना करो। आप सबका वचन और विचार एक समान हो। सबका चित्त एक दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ। आप लोगों के संकल्प और भाव एक समान रहें। आपके हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों, जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक भली भांति हो सके।

प्राणिमात्र में मित्र दृष्टि : वैदिक ऋषि सम्पूर्ण संसार को मित्रता की दृष्टि से देखने का संदेश देते हैं। वेद कहता है-

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षमहे।" यजु० ३६।१८

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गयी है-

"स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।" (अथर्व १।३१।४)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है-

प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हो-

"शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।" (यजु० ३६।८)

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थल पर कामना की गयी है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ-

यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि। अथर्व० १७।१।७

सौमनस्य की भावना :

वेदमन्त्रों में सभी जनों में समभाव, परस्पर सौहार्द की भावना व्यक्त की गयी है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक दूसरे से मधुर-वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे, जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहें, इसी से राष्ट्र उन्नति और समृद्धि को प्राप्त होता है। आज के स्वार्थपरक युग में स्नेह और सौहार्द का यह सन्देश और भी आवश्यक है। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।

आदि मन्त्रों में यह भावना उत्कृष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है।

मानव कल्याण की भावना :

ऋग्वेद संसार को सन्देश देता है कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिए।

"पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्० ६।७५।१४)

अथर्ववेद में भी कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो-

"तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः"। अथर्व० ३।३०।४

ऋग्वेद कहता है-

"सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव"। ऋग् ६।१०५।५

मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसे ही तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा।

वेद की दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है-

ऋषिः स यो मनुर्हितः। ऋग् १०।२६।५

ऋत और सत्य की भावना :

वैदिक जीवन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है- ऋत और सत्य। बाह्य जगत की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को 'ऋत' कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार 'सत्य' है। वेद में 'ऋत' और 'सत्य' की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यथा-

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतरय धीतिर्वृजनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।।
ऋतस्य दृष्ट्वा धरूणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वप्रषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन माव ऋतमा विवेशुः।। (ऋग् ४।२३।८-६)

अर्थात ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं, विश्व के नाना रमणीय पदार्थो में ऋत मूर्तिमान हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थो की कामना की जाती है। ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है।

इसी प्रकार वेद सत्य की महिमा से भरा पड़ा है। वेद-मन्त्रों में कहा गया है कि जिस प्रकार द्यु-लोक का धारण बाह्य लोक से सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे ही वास्तविक रूप में इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है-

'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।' ऋम्० १०।८५।१

अर्थर्ववेद के भूमि-सूक्त में भी पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थों में सर्वप्रथम सत्य का ही परिगणन किया गया है-

सत्यं बृहदृमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० १२।१।१

यजुर्वेद में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है। अश्रद्धा की अनृत या असत्य में है।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।। यजु० १६।७७

भद्र-भावना :

वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी विशेषता उनकी भद्र-भावना है। यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्श हीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। मानव को परमोच्च देव-पद पर अधिष्ठित कराने वाली भद्रभावना वैदिक प्रार्थनाओं में पदे-पदे देखी जा सकती है।

जैसे- आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सद्मिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे।।

यज्ञमय जीवन की कामना :

वेद-मन्त्रों में यज्ञीय जीवन जीने की प्रेरणा स्थान-स्थान पर दी गयी है। वेद कहता है-

उतिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुःप्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय।। अथर्व० १८।६३।१

हे वेद-पाठ के देवता ! उठो, देवताओं को यज्ञ का सन्देश सुनाओ। आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्ति की वृद्धि करो और यज्ञकर्त्ता को हर प्रकार से बढ़ाओ।

इयं ते यज्ञियाः तनूः (यजु० ४।१३)

तेरा शरीर प्रभु प्राप्ति के लिए है।

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् (अथर्व० १८।४।२)

यज्ञमय और योगमय जीवन का सन्देश वेदमाता इस प्रकार देती है-

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ।। ऋग्० १०।५७।१

हे ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभो ! शान्ति तथा ऐश्वर्य के अभिलाषी हम सुपथ से कभी भी विचलित न हों। हम यज्ञमय जीवन से कभी पृथक् न हों। अदान-भावना तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रु हमारे भीतर न रहें।

वेद कहता है-

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्योः षड्वीशमवमुच्यमानः। अथर्व० ८।१।४

हे पुरुष ! उठ खड़ा हो, आगे बढ़, उन्नति कर, नीचे मत गिर, अवनति की ओर मत जा। यदि मृत्यु भी तेरे मार्ग में आकर खड़ी हो जाए तो भी परवाह मत कर, मौत की बेड़ियों को काटता हुआ आगे बढ़।

इस प्रकार वेद प्रतिपादित जीवन दर्शन, मानव मात्र को कल्याण और परमानन्द का सुमार्ग प्रतिपादित कर विश्व में सुख, शान्ति और विश्व बन्धुत्व की गंगा प्रवाहित करता है।

* * *

महाभारत में धर्म और राजनीति

डॉ0 विक्रम कुमार
प्रोफेसर, दयानन्द शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

धर्म :

महाभारत में इतिहास, धर्मशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र का त्रिवेणी रूप में अद्भुत संगम दृष्टिगोचर होता है। विषयवस्तु व घटनाओं की दृष्टि से जहाँ यह महाकाव्य इतिहास है वहाँ प्रसंगवश धर्म एवं राजनीति भी यत्र-तत्र चर्चित हुई है। इस ग्रन्थ का अन्त:साक्ष्य इसे धर्मशास्त्र का नाम देता है- धर्मशास्त्रमिदं महत्।[1] धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।[2]

संस्कृत साहित्य में धर्म विषयक एवं राजनीति विषयक भिन्न-भिन्न शास्त्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु महाभारत पुरुषार्थचतुष्टय को ही स्वयं में समेटे हुए हैं, यह सत्य है। धर्म-शास्त्रों में धर्म का अभिप्राय मुख्य रूप से उदात्त मानवीय आधार तथा कर्त्तव्य हैं। "धृ" धातु से निष्पन्न धर्म शब्द का अभिप्राय उन गुणों व लक्षणों से है जो किसी भी वस्तु के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। अत: मानव को मानव बनाये रखने वाले समस्त गुण ही मानव-धर्म हैं जो सार्वकालिक व सार्वदेशिक हैं। मनुष्य को अभिलषित अभ्युदय व नि:श्रेयस को प्राप्त कराने में सहायक साधन भी धर्म हैं। वे आचार व व्यवहार भी जो उदात्त एवं उत्थापक होते हुये सर्वमान्य व सर्वप्रतिष्ठित हैं, धर्म के ही अंग हैं जिसकी ओर छान्दोग्य उपनिषत्कार ने संकेत किया है- त्रयो धर्मस्कन्धा: यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।[3]

महाभारत के शान्तिपर्व में धर्म एवं राजनीति की विशद चर्चा है। बड़े भाई कर्ण की मृत्यु से शोकाभिभूत युधिष्ठिर को व्यास मुनि ने यह परामर्श दिया कि उन्हें पहले राजा या शासक के धर्म का पालन करना चाहिये तत्पश्चात् जीवन के संन्ध्याकाल में ही यतिधर्म का अनुपालन करना चाहिये। व्यास के परामर्श पर ही युधिष्ठिर ने शरशय्याशायी भीष्म पितामह के पास चारों भाई व श्रीकृष्ण सहित जाकर धर्म एवं राजनीति सम्बन्धी प्रश्न किये। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को जो उत्तर एवं उपदेश दिया वह शान्तिपर्व में पूर्णतया उपलब्ध होता है। विषयवस्तु की दृष्टि से शान्तिपर्व दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में राजधर्म का वर्णन है तथा उत्तरार्ध में मोक्ष का। चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्य,

---

[1] आदिपर्व २, ३८३

[2] वही ६२, ५३

[3] छान्दोग्य उप. २. २३. ।

माता-पिता एवं गुरु के प्रति कर्त्तव्य, आपद्धर्म, आत्म-संयम, यतिधर्म, सत्य-पालन तथा जीवन के प्रतिं तीनों पुरुषार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि विषय इस पर्व में विवेचित हुये हैं। यहाँ बताया गया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास जितना सहायक तथा विश्वसनीय मार्ग है उतना ही गृहस्थ व शासक द्वारा स्वधर्म का पालन करते हुए निष्काम बुद्धि से अपने दायित्व को पूर्ण करने का मार्ग भी मुक्ति के लिए सहायक है।

इस पर्व में विशेषत: धर्म तथा राजनीति की ही शिक्षा विस्तार से मिलती है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म का सर्वप्रथम स्थान है। शान्तिपर्व में उल्लिखित है कि अर्थ व काम से धर्म उत्तम है।

धर्मो राजन् गुणश्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।।४

जीवन में व्यवहार-संचालन एवं प्रजोत्पत्ति के लिए आवश्यक अर्थ व वाञ्छित काम का भी महत्व है। सुपरिष्कृत कामसुख की सिद्धि अर्थ के बिना कठिन है, अत: अर्थ विषय सुख का अनिवार्य साधन है और अर्थ धर्म के बिना सुस्थिर नहीं रह पाता। इसलिए शान्तिपर्व में कथन है-

धर्मं समाचरेत्पूर्व तथार्थ धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत्पश्चात् सिद्धार्थस्य हि तत्फलम्।।५

अर्थ और काम को धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से निम्नकोटि का मानते हुये धर्ममूलक अर्थ एवं काम के महत्व को विद्वानों ने स्वीकारा है। अत: शान्ति पर्व में उल्लेख है कि जो मानव इन तीनों को समान रूपेण सेवन करता है वही उत्तम है-

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्यास्त्वेकसेवी स नरो जघन्यः।
द्वयोस्तु दक्षं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे।।६

परन्तु तीनों को समान महत्व देकर व्यावहारिक जीवन को जीने के संदेश के साथ-साथ महाभारतकार धर्म के पलड़े को अर्थ और काम से भारी ही मानते हैं-

धर्मश्चार्थश्च कामश्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिंल्लोके परे चैव धर्मवित्सुखमेधते।।७
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः।।८

---

४. शान्तिपर्व १६१-८ ५. वही १६१.२६
६. शान्तिपर्व १६१.३८ ७. शान्तिपर्व ६२.४८
८. शान्तिपर्व २६७.६

संसार में धर्म से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। जहाँ धन में सुख का अंशमात्र है वहाँ धर्म परमसुखकारक है-

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।६
धने सुखकलाकाचिद् धर्मे तु परमं सुखम्।।१०

तीनों लोकों के जन धर्मपूर्वक आचरण के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं-

धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः।११

ऋषिजन धर्म का अवलम्बन पाकर ही संसार सागर को तैर जाते हैं। समस्त लोक इसी पर प्रतिष्ठित है। धर्म के द्वारा ही देवताओं ने स्वर्ग को प्राप्त किया है। अर्थ=धन यदा समस्त प्रयोजन भी धर्म में ही स्थित है-

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेणदेवा दिविष्ठा धर्मे चार्थः समाहितः।।१२

शान्तिपर्व में धर्म का तात्पर्य कोई मन्तव्य विशेष अथवा संस्थागत कोई कर्मकाण्ड-पूजा पद्धति विशेष यद्वा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अन्धश्रद्धालु होना नहीं है। अपितु जीवन प्रणाली एवं आचार विशेष है, जो समाज के सदस्यों का, उसके व्यवहारों, कार्यों तथा गतिविधियों का नियमन करता है। जो धारण करता है वही धर्म है-

धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।१३

अभ्युदय से तात्पर्य सांसारिक लौकिक, भौतिक पदार्थों की उन्नति है तथा निःश्रेयस से अभिप्राय पारलौकिक, आगामी जन्म एवं मोक्ष-प्राप्ति आदि की उन्नति। प्रायः लौकिक व पारलौकिक उन्नति में विरोध प्रतीत होता हैं परन्तु यहाँ दोनों प्रकार की उन्नति में समन्वय का दर्शन होता है। धर्म ही एक मात्र ऐसी सीढ़ी है जिसके द्वारा दोनों प्रकार की उन्नति सुगमता से हो जाती है। भीष्म पितामह के अनुसार मूलमन्त्र है- पारस्परिक सद्व्यवहार। जो व्यवहार हमारे लिए प्रतिकूल है वह व्यवहार हमें अन्यों के साथ नहीं करना चाहिए। जैसा व्यवहार हम अपने प्रति अन्यों से चाहते हैं वैसा ही व्यवहार हमें अन्यों के प्रति भी करना चाहिए। व्यवहार का यह स्वरूप धर्म का सर्वस्व है। इसे समानता का भाव भी कहा जा सकता है। धर्म का यह सामान्य एवं मूलभूत सिद्धान्त समाज के लिए सामंजस्य और

---

६. शान्तिपर्व २७६.६
१०. शान्तिपर्व २६३.५५
११. शान्तिपर्व २६७.६
१२. शान्तिपर्व १६१.७
१३. शान्तिपर्व ११०.११

सद्भाव का सूत्र बन जाता है। सबके सुख दुख हमारे हैं इस तथ्य को हृदयंगम कर सबके साथ अनुकूल व्यवहार करना धर्म का सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप है।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः।।१४

प्रायः जीविका अर्जन करते समय ही प्राणी से अधर्म का आचरण हुआ करता है। अधर्म एवं असत्य मार्ग के आश्रय के बिना आजीविका चलाना या भौतिक उन्नति कर पाना असम्भव समझा जाता है। परन्तु महाभारतकार इस मान्यता से असहमत हैं। उनका कथन है- जीवों से द्रोह न करके जीविका का निर्वाह किया जाता है, वही परम धर्म है। विश्व में सब प्राणियों से मित्रता का व्यवहार करते हुये, मन वचन, कर्म से सबके हित का कार्य करना ही धर्म है-

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले।।
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणामनसा वाचा स धर्म वेद जाजले।। १५

धर्म के लक्षण प्रसंग में शान्ति पर्व के कुछ कथन संग्राह्य एवं संप्रेरणीय हैं-

नास्ति सत्यात् परो धर्मः। शा.प. १५७.२४
अंहिसैव हि सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता। शा.प. २५७.६
दमेन सदृशं धर्म नान्यं लोकेषु शुश्रुम। शा.प. १५४.१०
दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः। शा.प. १५४.७
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते। शा.प. १५४.११
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः। शा.प. ११०.१०
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः। शा.प. २५६.१२

अनेकधा सांसारिक व्यवहारों के आचरण के समय धर्म के विषय में निर्णय करना अति कठिन होता है। बहुधा मिथ्या व्यवहार और हिंसा आदि अधर्मात्मक कार्यों को विशेष अवस्थाओं में लोग धर्म-रूप होने पर प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अतः महाभारतकार सदाचार, स्मृति, वेद एवं अर्थ-प्रयोजन को धर्म के प्रमाण यद्वा लक्षण स्वीकार करते हैं-

---

१४. शान्तिपर्व २५१.१६

१५. शान्तिपर्व २५४.६, ६

१६. अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। शा.प. १२.१६, २१.११, ३७.७, १३०.१५, १४८.६-७, १६१.५, १५४.६-१६, १५५.१, ४, ५, ६, १३, २६७.१३-१४

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्।।१७

धर्म के निर्णय के लिए प्रमुख प्रमाण वेद हैं पुनः स्मृतियां, तत्पश्चात् सत्पुरुषों, सात्विक जनों के आचार, अर्थ व कर्म का प्रयोजन-किस प्रयोजन के लिए कर्म का आयोजन किया जा रहा है इसे भी धर्म के निर्णय में प्रमाण माना है। यदि उचित प्रयोजन के लिए कर्म है तो वह भी धर्म है। धर्म के सम्बन्ध में मतभेद होने पर महान् व्यक्तियों के मार्ग को ही उचित माना जाता है-

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था।१८

शान्तिपर्व में वर्णित है- धर्मनिर्णय के विषय में कोई संशय उत्पन्न होने पर दक्षवेदशास्त्रज्ञाता अथवा धर्मशास्त्रवेत्ता पण्डित जो व्यवस्था देवें उसे ही धर्म स्वीकार करना चाहिए।

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये।।१६

इस प्रकार महाभारत में धर्म का विशद वर्णन उपलब्ध है जो मानव जाति के समस्त वर्गों, अशिक्षित, अर्धशिक्षित, शिक्षित एवं प्रशिक्षित जनों के लिए मार्ग प्रदर्शक है। आज की वारांगनेय राजनीति की हुल्लड़बाजी के वातावरण में धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने के जो ढिंढौरे पिटे जा रहे हैं वह सर्वथा निन्दनीय एवं स्वार्थ प्रेरित है। राजनीति धर्म के बिना अन्धी होती है। धर्म उसे दृष्टि प्रदान करता है और जब पतनोन्मुख राजनीति मार्गभ्रष्ट होकर समग्र प्रजा को लीलने लगती है तब इसी दृष्टि को पाकर वह राजनीति "राजधर्म" बन जाता है जिसकी छत्रछाया में किसी भी प्रकार की अनिष्ट की आशंका नहीं रहती।

राजनीति :

महाभारतकार इसी राजधर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं यदि राजधर्म को राष्ट्र से तिलांजली दे दी जाती है तो त्रयी विद्या समुद्र में डूबने लगती है, सभी आश्रमों के धर्म विरूद्ध होने लगते हैं-

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा च भवेयुर्विरुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां गताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे।।२०

यदि राजधर्म स्खलित होने लगे तो अन्य प्रजाओं के सभी धर्म शिथिल होकर विचलित होने लगेंगे। जैसे लगाम घोड़े को व अंकुश हाथी को नियन्त्रण में रखने वाला है वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को यथायोग्य नियमों में निबद्ध रखने वाला यही राजधर्म ही है-

---

१७. शान्तिपर्व २५१.३

१८.

१६. शान्तिपर्व ३७.१५,

२०. शान्तिपर्व ६३.२८

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम्।।२१

वस्तुस्थिति यह होती है कि राजा अपने राज्य में सुव्यवस्था के दौरान केवल अर्थ अपितु धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का भी कारण बनता है। धर्महीन, कर्त्तव्यहीन, आलसी, प्रमादी, निराश, उदासीन एवं जो केवल भौतिक चकाचौंध में ही उलझकर रह जाते हैं, उन समस्त प्रजाओं को वह मोक्ष पथ का अनुगामी भी बनाता है। अत: वह पुरुषार्थ चतुष्टय का कारण बनता है और उसकी नीति मात्र राजनीति न रहकर राजधर्म बन जाता है-

त्रिवर्गोऽत्र समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।
मोक्षधर्मश्च विस्पृष्टः सकलोऽत्र समाहितः।।२२

राजा ही युगप्रवर्तक होता है। भीष्मपितामह उपदेश करते हुये कहते हैं कि राजा ही सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग की सृष्टि का कारण बनता है। वह अपनी सुव्यवस्था से सतयुग एवं दुर्व्यवस्था से कलियुग की स्थापना कर सकता है-

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्।।२३

राजा को युग का स्रष्टा मानने पर ही "यथा राजा तथा प्रजा" की लोकोक्ति सिद्ध होती है। इसका अभिप्राय यही है कि राजा जिस प्रकार की नीति व व्यवहार से युक्त होगा उसकी प्रजा भी उसी आचरण से युक्त होगी। इसलिए वह युग का प्रवर्तक कहा जाता है। राजा के सद्गुण से युक्त होने पर उसकी प्रजा भी सद्गुण युक्त होगी और ऐसे राजा-प्रजा का काल सतयुग कहलायेगा।

महाभारत के अनुसार राजधर्म के माध्यम से राजा संन्यासी के पद को यद्वा संन्यासी के द्वारा प्राप्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। व्यास का कथन है- जो राजा काम-क्रोध से रहित होकर दण्डनीति के नियमानुसार प्रजा का पालन करता है तथा सब प्राणियों पर समदृष्टि रखता है वह संन्यासियों के द्वारा प्राप्य ब्रह्मपद को प्राप्त करता है-

अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर।
समेक्षिणश्च भूतेषु भैक्षाश्रमपदं भवेत्।।२४

संन्यासी भोगयोग्य वस्तुओं को त्याग कर जो पुण्य-लाभ प्राप्त करता है उस पुण्य-लाभ को राजा प्रजापालन रूप राजधर्म की श्रेष्ठता के द्वारा ही प्राप्त कर लेता है-

---

२१. शान्तिपर्व ५६.५
२२. शान्तिपर्व ५६.४
२३. शान्तिपर्व ७०.२५
२४. शान्तिपर्व ६६.५

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत्।।२५

राजा के गुण एवं कर्त्तव्य–

राजा के गुण एवं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में भी महाभारतकार विस्तार से वर्णन करते हैं। उनके मत में राजा का प्रमुख गुण जितेन्द्रियत्व है। जितेन्द्रिय राजा ही प्रजापालन एवं शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है :-

जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन्।२६

तदनन्तर "उद्यम" राजा का द्वितीय गुण है। महाभारत में उद्यमशील राजा की ही प्रशंसा है तथा निरूद्यमी राजा की उपमा गृह में स्थित नारी से की गयी है-

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशाम्यते च राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः।।२७

महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के गुणों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अध्याय ७१ में राजा के ३६ गुणों का उल्लेख किया गया है। राजा के कर्त्तव्यों में प्रमुख कर्त्तव्य समस्त प्रजा को धर्माचरण में प्रवृत्त कराना है। यह तथ्य है कि राजा प्रजा को धर्माचरण में तभी प्रवृत्त करवा सकता है जब वह स्वयं धर्माचरण करता हो। इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक संग्राह्य हैं-

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा हि राज्ञां धर्मः सनातनः।।
एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षयेत् प्रजाः।
भूतानां हि यथा धर्मे रक्षणं च परा दया।।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
स राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः।।
स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत्।।
अर्थसिद्धेः परं धर्म मन्यते यो महीपतिः।
ऋतां च कुरूते बुद्धिं स धर्मेण विरोचते।।२८

राजा के एक अन्य आवश्यक कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि राजा को अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा रखनी चाहिये, प्राप्त वस्तुओं की यत्नपूर्वक रक्षा करनी

---

२५. शान्तिपर्व ६६.१३
२६. शान्तिपर्व ६६.५
२७. शान्तिपर्व ५७.१
२८. शान्तिपर्व ५७.१५, ७२.२६, ६१.५, ६०.१६, ६३.७

चाहिये, रक्षित वस्तुओं की नाना उपायों से वृद्धि तथा बढ़ाये हुये धन को सत्पात्रों में दान करना चाहिए-

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।२६

इस अभिप्राय को महर्षि व्यास ने अन्य प्रकार से कथन करते हुये लिखा है कि जो राजा कर प्रणाली के माध्यम से धन को बढ़कर उसे प्रजा के कल्याण कार्यों में नहीं लगाता वह प्रशासक तस्कर होता है-

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं तमुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः।।३०

प्रजा का सम्यक् परिरक्षण न कर सकने वाले राजा के राष्ट्र में जिस किसी भी प्रकार का कोई भी अमंगल कार्य (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि) होता है उस कार्य के फलस्वरूप पाप का चौथा भाग राजा को भोगना पड़ता है-

यद्राष्ट्रे कुशलं किंचिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति।।३१

दण्ड व्यवस्था :

राजनीति में दण्डनीति प्रमुख भूमिका निभाती है। यथायोग्य दण्ड प्रयोग करना जहाँ अति कठिन कार्य है वहाँ यह कर्त्तव्य राजा के लिए अनिवार्य भी है, जिसके यथावत् पालन न हो पाने के कारण प्रशासन मूलतः प्रकम्पित होने लगता है। शान्तिपर्व में दण्डनीति के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ कथन है- प्रजा दण्ड के भय से पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है। यदि दण्ड प्रजा की रक्षा न करे तो समस्त प्रजा घनघोर अन्धकारित नारकीय दुरवस्था में डूब जाती है और वह एक-दूसरे को खाने लगती है-

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्।३२

इसमें किंचन्मात्र भी सन्देह नहीं कि यथा रीति दण्डनीति का प्रयोग करने से समस्त प्रजा की कार्यसिद्धि होती है। यदि इसका दुरुप्योग किया जाता है तो यह सर्वतोनाशी ही होता है। यदि स्वच्छ दण्डनीति नियमतः नहीं अपनायी जाती तो राष्ट्र में उच्छृंखलता अनाचार और मात्स्य न्याय का ही साम्राज्य प्रस्थापित हो जाता है-

---

२६. मनु. ७.६६   ३०. शान्तिपर्व १३७.६६
३१. शान्तिपर्व ७६.८   ३२. शान्तिपर्व १५.७

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः।।३३

शान्तिपर्व में मन्त्री, अध्यक्ष, कोष, दुर्ग, सेना, गुप्तचर, युद्ध, सन्धि आदि राजनीति के अन्य अंगों पर भी प्रकाश डाला गया है तथा राजधर्म से सम्बन्धित अन्य अनेक विषय भी उपलब्ध होते हैं।

अन्ततः "महाभारत में धर्म एवं राजनीति" विषय को उपसंहृत करते हुये महाभारतगत एक श्लोक के माध्यम से हम कह सकते हैं कि प्रशासक राजा इन्द्रतुल्य अपनी सहस्त्र आँखों से देख-परख कर वास्तविक स्थिति का सही मूल्यांकन करते हुये जिस धर्म का भलीभांति निश्चय कर लेता है वही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार करने योग्य है-

सहस्त्राक्षेण राजा हि सर्व एवोपमीयते।
स पश्यति हि यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ।।३४

---

३३. शान्तिपर्व १५.२६ द्रष्टव्य १५.२, ४, ७, १०, २६-३०
३४. शान्तिपर्व ६२.४१

* * *

पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक चुनौती और धर्म

डॉ० ब्रजेश कृष्ण कठिल,
प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
कुरुक्षेत्र बिश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा) – 13 6119

भारतीय इतिहास से पूर्वमध्यकाल (लगभग सातवीं सदीं से लेकर बारहवीं सदी ई० तक) व्यापक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह काल भारत में केन्द्रीय सत्ता के ह्रास और क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना का काल था। विघटनकारी शक्तियों के उदय और उनके पारस्परिक संघर्ष ने पूर्वकालिक गुप्त साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता का अवसान कर दिया। इसके स्थान पर सम्पूर्ण उत्तर भारत में अनेक स्थानीय राजवंशो का उद्भव हुआ जो क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना में तो सफल हुए किन्तु सम्पूर्ण उत्तर भारत को एक सबल सूत्र में बाँधने में असफल रहे। शासकों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, राष्ट्रीय एकता का अभाव, आतंरिक विघटन और समान्तवादी मनोवृत्ति के निरंतर विकास ने इस कालखण्ड में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की युगान्तकारी प्रक्रिया आरम्भ कर दी। भारतीय राजनीति के इस लगभग अराजक दौर में बाह्य आक्रमणों के आघात ने देश के समक्ष एक कठिन राजनीतिक और सामाजिक चुनौती प्रस्तुत की।

वस्तुतः पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत में राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक परिवर्तनों की जो प्रक्रिया विकसित हुई वह एक तरह के विरोधाभासों को प्रतिबिम्बित करती है। यह काल अतिशय सम्पन्नता का काल है, किन्तु इस काल में कृषिदासों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। कला और साहित्य में विपुलता इस काल की वशिष्टता है, किन्तु इनमें नवीन दार्शनिक वैशिष्ट्य का अभाव है। इसी तरह यह काल राजपूतों के अभ्युदय, उनकी वीरता और शौर्य की गाथाओं का काल है।, किन्तु इसी काल में उत्तर भारत विदेशी आक्रमणों का सामना करने में असफल रहा और उसे बार-बार पराजय स्वीकार करनी पड़ी। प्रश्न यह है कि तत्कालीन भारतीय समाज, जो बल, धन और आवागमन के साधनों से परिपूर्ण और परम्परागत मूल्य, दार्शनिक चिन्तन और धार्मिक आदर्शो की विरासत से सम्पन्न समाज था, बाह्य आक्रमण के दबाव को झेलने में क्यों असफल रहा? अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न के उत्तर में सैन्य दुर्बलताओं और राजवंशों की पारस्परिक ईर्ष्या क़ी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस आलेख का अभीष्ट इस राजनीतिक और सामाजिक चुनौती की धार्मिक प्रतिक्रिया को रेखांकित और विश्लेषित करना है।

यह महत्वपूर्ण है कि पूर्वमध्यकाल से पहले भी उत्तर भारत का क्षेत्र अनेक बार

विदेशी आक्रमणों का सामना कर चुका था। हखामनी-शासकों के आक्रमण से लेकर यूनानी विजेता सिकन्दर, बाख्त्री यवन, शक, पह्लव, कुषाण एवं हूण आक्रमणों को भारतीय समाज सह गया। इन आक्रमणकारियों ने भारत के भूभाग पर अपने राज्य स्थापित किए। उनके आगमन से अल्पकालिक सांस्कृतिक झंझावात आए लेकिन वे सभी आक्रमणकारी ब्राह्मणीय अथवा हिन्दू समाज-व्यवस्था में विलीन हो गए[२]। इसके विपरीत पूर्वमध्यकाल में अरबों और तुर्कों के आक्रमण को हिन्दू समाज पहले की तरह आत्मसात नहीं कर सका।

यद्यपि सिंध पर अरबों के आक्रमण सातवीं सदीं के प्रथमार्द्ध में ही आरम्भ हो गए थे, किन्तु मुहम्मद-बिन-कासिम[३] के द्वारा ७१२ ई० में सिन्ध पर अधिकार के पश्चात लगभग ५०० वर्षों तक मुस्लिम आक्रमण उत्तर भारत के विभिन्न राजवंशों के लिए संकट और चुनौती बने रहे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिहार राजाओं ने अरबों के भारत-प्रवेश को दीर्घकाल तक रोके रखा। ग्वालियर अभिलेख में इस वंश के संस्थापक नागभट प्रथम को म्लेच्छों अर्थात् अरबों को परास्त करने वाला बताया गया है।[४] बाद में तो अरबों के विरूद्ध प्रतिहार शासक इतने शक्तिशाली हो गए कि अरब यात्री सुलेमान प्रतिहार शासक भोज को अरबों और इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु कहता है[५]। अरबों के आक्रमण की तुलना में गजनी के तुर्कों के आक्रमण भारत के लिए निःसन्देह अधिक घातक सिद्ध हुए। अर्थलिप्सा और इस्लाम के प्रचार और प्रसार से प्रेरित महमूद गजनी ने इन आक्रमणों से विपुल सम्पदा लूटी एवं नगरों और मंदिरों का ध्वंस किया[६]। मुहम्मद गोरी और कुतुबुद्दीन के आक्रमणों का सामना राजस्थान के चाहमान[७] और बुन्देलखण्ड के चंदेलवंश[८] ने दीर्घकाल तक किया और इसी संघर्ष में इन राजवंशों की सत्ता ध्वस्त हुई। मुस्लिम आक्रमण के इस सतत प्रवाह को रोकने में तमाम प्रयासों के बावजूद भारतीय राजवंश अन्ततः असफल रहे। इस प्रक्रिया में धन-जन की प्रभूत हानि हुई और इसके साथ ही भय और निराशा भारतीय जनमानस के अंग बन गए। ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम आक्रान्ताओं के आक्रमण भारतीय राजनीति के लिए तो चुनौती थे ही, इसके साथ-साथ ये आक्रमण भयावह सामाजिक और सांस्कृतिक संकट भी थे।

अरबों के सतत आक्रमणों से हिन्दू समाज की जड़े हिल गई और सामाजिक जीवन के ढांचे में एक विलक्षण परिवर्तन हुआ। सिंध पर अधिकार करने के बाद ही इस्लाम धर्म की प्रसार नीति के अंतर्गत बड़ी संख्या में भारतीयों को मुसलमान और दास बनाया गया। इस्लामीकरण के इस ज्वार ने भारतीय हिन्दू समाज के समक्ष एक विकट संकट खड़ा कर दिया। भारतीय मनीषा को कुछ ऐसे उपायों की आवश्यकता थी जो उन लोगों को पुनः हिन्दू बना सकें जिन्हें बलपूर्वक इस्लाम में दीक्षित कर दिया गया था। यह इस काल की नई समस्या थी। इसके पहले के स्मृतिकारों ने अपने ग्रंथों में इस तरह के धार्मिक पुनरागमन की कोई व्यवस्था नहीं दी थी। तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार पूर्वमध्यकाल में नए धार्मिक नियम समाज को प्रदान किए गए। हिन्दू धर्म में पुनरागमन की यह व्यवस्था आठवीं

शताब्दी ई० में आरम्भ हुई। इसके प्रणेता महर्षि देवल है। देवल स्मृति[९] के अनुसार, महर्षि देवल सिन्धु नदी के किनारे ध्यानावस्थित थे, तभी कुछ ब्राह्मणों ने उनसे बलपूर्वक ''म्लेच्छ'' बनाए गए हिन्दुओं की रक्षा का मार्ग पूछा। इसके उत्तर में देवल ने बलपूर्वक बनाए गए मुसलमानों को हिन्दू धर्म में लौटने की व्यवस्था दी[१०]। स्मृति के अनुसार, यदि मुसलमान बनने की अवधि बीस वर्ष से कम है तो उन्हें पुन: हिन्दू धर्म में स्वीकार किया जा सकता है। स्मृति का स्पष्ट मत है कि जिन व्यक्तियों ने भय अथवा बल के कारण म्लेच्छ धर्म स्वीकार कर लिया है तथा जिन स्त्रियों का अपहरण कर गर्भवती भी कर दिया गया है, उनका भी प्रायश्चित करने के पश्चात हिन्दू धर्म में पुनरागमन किया जा सकता है। स्मृति का कथन है कि आक्रान्ता द्वारा अपहृत स्त्री तीन दिन का उपवास करने पर रजस्वला होने के पश्चात निर्दोष और शुद्ध मानी जा सकती है। गर्भवती स्त्री संतानोत्पत्ति के पश्चात पुन: हिन्दू समाज में स्वीकार की जा सकती हैं। देवल के अनुसार, स्त्री के गर्भ में यह संतान शल्य के समान है। इस शल्य के शरीर से निष्कासन के पश्चात स्त्री स्वर्ण के समान शुद्ध हो जाती है[११]। यद्यपि ऐसी स्त्रियों से उत्पन्न होने वाली संतान के विषय में स्मृति मौन है, किन्तु स्मृति के विवरण से यह निष्कर्ष निरूपित किया जा सकता है कि ऐसी संतानों को भी हिन्दू समाज-व्यवस्था के सदस्य के रूप में मान्यता दी गई थी। निश्चित-रूप से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी संतानें प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न मिश्रित जातियों के अंतर्गत स्वीकार की जाती रही होंगी क्योंकि म्लेच्छ आक्रान्ता को हिन्दू समाज-व्यवस्था के सदस्यों से सदैव ही निम्न स्वीकार किया गया[१२]।

इस सामाजिक परिवर्तन की पुष्टि अरब इतिहासकारों के वृत्तान्तों से होती है। बिलादुरी और अलबीरूनी ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि मुसलमान बनाए गए लोगों को पुन: हिन्दू धर्म में स्वीकार करने का नियम उस काल में था। बिलादुरी[१३] के अनुसार, सिंध के गर्वनर जुनैद ने राजपूताना और गुजरात में आतंक फैलाया तथा अनेक लोगों को मुसलमान बनाया किन्तु उसके उत्तराधिकारी के समय अलहिन्द के से लोग मूर्तिपूजक धर्म में लौट गए। इसी भाँति अलबीरूनी[१४] उल्लेख करता है कि हिन्दू दास अपने धर्म में वापिस लौटते है तो उन्हें उपवास के द्वारा प्रायश्चित करना पड़ता है तथा उन्हें गोबर और गोमूत्र के सेवन से शुद्ध किया जाता है। देवल स्मृति चान्द्रायण तथा पराक व्रतों और गोमूत्र और गोमय (गोबर) के सेवन का उल्लेख करती है। देवल स्मृति में सीमान्त पर स्थित सिन्ध और सौवीर जैसे म्लेच्छ देश से लौटने पर भी ''शुद्धि'' का विधान है[१५]।

जैसा कि देवल स्मृति और अरब इतिहासकारों के इन वृत्तान्तो से स्पष्ट है, विवेच्य काल के विधिकारों ने विदेशी आक्रान्ताओं के दुर्धर्ष आघातों से समाज की रक्षा का हर सम्भव प्रयास किया। यह पूर्व मध्यकाल में धर्म की नवीनता से और सर्वथा नवीन परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता का विलक्षण उदाहरण है।

पूर्वमध्यकाल में उपरिलिखित राजनीतिक संकट से जूझने के लिए धर्म के एक अन्य पक्ष पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय जाति और वर्ण-व्यवस्था अपने नियमों में प्रायः कठोर मानी जाती है किन्तु उस समय की विशिष्ट परिस्थितियों में विधिकारों ने सामाजिक नियमों में तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार अभूर्तपूर्व किए। यद्यपि ये परिवर्तन सामाजिक ढांचे के मूलस्वरूप को बनाए रखते हुए ही किए गए। देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस काल में एक नए वर्ग राजपुत्रों या राजपूतों का उद्भव हुआ और उन्हें भारतीय समाज-व्यवस्था में क्षत्रियों के रूप में सम्मानित स्थान मिला[१६]। युद्ध के वातावरण में क्षात्र धर्म प्रासंगिक हो उठता है। अनेक युद्धकर्मा क्षत्रियेतर जातियों को जिनमें विदेशी तक सम्मिलित थे, क्षत्रिय घोषित किया गया। छत्तीस राजपूत-राजवंशो की सूची में हूणों का उल्लेख है[१७]। यहाँ तक कि ब्राह्मण कुलों द्वारा राजत्व की प्राप्ति के साथ क्षत्रियत्व का स्वीकार इस काल के सामाजिक इतिहास की विशिष्ट घटना है। घटियाला अभिलेख[१८] में प्रतिहारों के मूल पुरूष हरिश्चन्द्र को ब्राह्मण और उसकी क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को क्षत्रिय कहा गया है। क्षत्रियों पर राष्ट्र एवं समाज की सुरक्षा का भार था। तत्कालीन अभिलेखों में उन्हें गो-द्विज का रक्षक और आर्यावर्त को म्लेच्छों से मुक्त कराने वाला कहा गया है[१९]।

पूर्वमध्यकाल में ही राजस्थान में आबू के समीप यज्ञ से राजपुत्रों के उद्भव की कथा गढ़ी गई, और यह स्वीकार किया गया कि इनका उदय धर्म की रक्षा के लिए हुआ है। तमाम युद्ध करने वाली जातियों को क्षत्रिय वर्ण का स्वीकार करना तत्कालीन विधि निर्माताओं की जागरूकता और देश की चुनौती के लिए समीचीन प्रतिक्रिया थी।

इतना ही नहीं, पूर्वमध्यकाल में स्मृतियों के टीकाकारों ने वर्णधर्म की व्याख्या में ढील दी और समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों को सैन्य-सेवाओं की अनुमति दी। वर्ण धर्म के नियमों में परिवर्तनों की पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से होती है। चंदेल शासकों के अभिलेखों में ब्राह्मण सेनापतियों के विवरण मिलते हैं।[२०] मुसलमानों के विरूद्ध संघर्ष करते हुए वीरगति प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख भी कुछ अभिलेखों में प्राप्त है[२१]। अनेक अभिलेखों में ब्राह्मणों की "राउत" और "ठाकुर" जैसी सामंती उपाधियां मिलती है, जिन्हें प्रायः क्षत्रिय धारण करते थे[२२]। इसी भांति वैश्यो के द्वारा क्षत्रिय कर्म अपनाए जाने की जानकारी इस युग में मिलती है। कलचुरि वंश के सामन्त वैश्य-ज़ातीय वल्लभराज की विजयों का उल्लेख एक अभिलेख में है[२३]। इसके अतिरिक्त भी अनेक वैश्यों के सेनापतियों और राज्याधिकारियों के रूप में दृष्टान्त मिलते है। एक अभिलेख में चौलुक्य कुमारपाल के द्वारा सज्जन नामक कुम्हार का चित्तौड़ के प्रशासक के पद पर नियुक्त किए जाने का उल्लेख है[२४]। यह तत्कालीन सामाजिक संकट की पृष्ठभूमि में वैश्यों और शूद्रों के प्रति यथासम्भव सामाजिक उदारता का परिचायक है।

विशिष्ट परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सम्भवत: विवेच्यकाल के धार्मिक चिन्तकों ने समायानुकूल प्रतिमानों की स्थापना की। यह ध्यान देने योग्य है कि पूर्वमध्यकाल में पृथ्वी की रक्षा करने वाले वराह अवतार को विशेष मान्यता मिली। प्रतिहार और चंदेल-कला में इस तरह की देव-प्रतिमाओं को विशेष प्रश्रय दिया गया। उल्लेखनीय है कि प्रतिहार वंशीय भोज ने स्वयं आदिवराह का विरूद धारण किया[२५]। शक्ति को प्रदर्शित करने वाला शिव का संहाररूप भी इस काल में बहुत लोकप्रिय हुआ। शिव के इस रूप में गजासुरसंहार, त्रिपुरान्तक, अंधकासुर, कामान्तक, यमान्तक आदि संहारक प्रतिमाओं का बहुविध निर्माण, प्रचार और प्रसार इस काल की अपनी विशेषता है। इसी भांति देवी का महिषासुरमर्दिनी रूप भी पूर्वमध्यकाल की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतीत होता है। देवी के इस संहारक रूप की अनेकों प्रतिमाएं सम्पूर्ण देश में लोकप्रिय हुई।[२६]

राजनीति और धर्म के प्रसंग में गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार, जब तक धर्म और राजनीति का संकट न हो तब तक धर्म के कारण राजनीतिक संघर्ष सम्भव नहीं। मजहबी व्यवस्था को राजनीति का आधार मानने पर असहिष्णुता, हिंसा और सत्ता-लोलुपता रूपी राजनीतिक विकृतियों से धर्म का सम्बन्ध जुड़ सकता है। किन्तु भारतीय परम्परा में प्रत्येक समुदाय को स्वधर्माचरण में स्वतन्त्र मानने के कारण, धर्म सत्ता के संघर्ष की ओर उदासीन था और सत्ता भी धर्म भेद की ओर सहिष्णु थी[२७]। सम्भवत: यह भारतीय परम्परा का प्रभाव ही था कि पूर्वमध्यकाल की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितयों में भी धार्मिक असहिष्णुता परिलक्षित नहीं होती। प्रतिहार वंश के शासक, जिन्होंने बहुत लम्बे समय तक मुस्लिम धर्म के प्रसार को भारत में रोके रखा, अपने व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक रूप से अत्यन्त उदार थे। उनके काल के अभिलेख इस बात का उल्लेख अनेक बार करते हैं कि इस वंश के शासकों में देवशक्ति विष्णुभक्त, वत्सराज तथा महेन्द्रपाल (द्वितीय) महेश्वर भक्त, नागभट (द्वितीय), महेन्द्रपाल (प्रथम) तथा विनायकपाल भगवती भक्त और रामभद्र आदित्यभक्त थे। किसी राजवंश की धार्मिक सहिष्णुता का यह अनुपम उदाहरण धर्म की बाह्य चुनौती के प्रसंग में रेखांकित करने योग्य है।

इस तरह पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक और सामाजिक चुनौती के समक्ष भरतीय चिन्तकों ने एक ऐसी व्यापक और प्रभावकारी धार्मिक प्रतिक्रिया का निर्माण किया जिसके दूरगामी परिणाम हुए। सम्भवत: यह उसी प्रतिक्रिया का चमत्कार है कि राजनीतिक पराभव के पश्चात भी हिन्दू समाज की मूल प्रकृति आज भी विद्यमान है।

पादटिप्पणियाँ

१. इतिहास चयनिका (डा० सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ), जर्नल आफ द यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, पृ०२१ तथा आगे।

२. बी० एन० एस० यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नॉदर्न इण्डिया, पृ०३२ तथा आगे।
३. मकबूल अहमद, इण्डो अरब रिलेशंस, पृ० ६८।
४. एपियाग्राफिया इण्डिका, भाग १८, पृष्ठ ९९ तथा आगे।
५. मकबूल अहमद, उपर्युक्त, पृ० ६९।
६. एम० हबीब,सुलमान महमूद आफ गजनी, पृ० १९।
७. दृष्टव्य, दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टी।
८. इलियट एण्ड डाइसन, हिस्ट्री आर्फ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग-२ पृ० २३१-२।
९. स्मृतिनाम् समुच्च, आनन्दाश्रम संस्करण, ग्रंथ संस्था, ४८, पृ०८५-८९।
१०. पी०वी०काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, एण्ड-२, भाग-१, पृ० ३८९-९१।
११. वही।
१२. वाई०बी०सिंह, ''चैजिंग डाइमेंशंस आफ सोशियो-पोलिटिकल आइडियल्स इन अर्ली मीडिवल इण्डिया'', ऐसेज आन इण्डोलोजी, पोलिटी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (सं० एस०डी०त्रिवेदी), पृ० ३२२।
१३. इलियट एण्ड डाउसन, उपर्युक्त, भाग-, पृ०१२६।
१४. ई०सी०एचाउ, अलबिरूनीज इण्डिया, भाग-२, पृ० १६२।
१५. देवल स्मृति, श्लोक ६५।
१६. आर०सी० मजूमदार (सं०) द क्लासिकल एज, पृ० ६४-६५।
१७. बी०एन०एस० यादव, उपर्युक्त, पृ० ३२।
१८. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-१८, पृ० ९५।
१९. इण्डिका एण्टीबवेरी, भाग-२, पृ०२०१-१२।
२०. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-१, पृ० २२२।
२१. वही, भाग-५, पृ० २०।
२२. वही, भाग-४, पृ० १५८, भाग-१६, पृ० २१६। भाग-२०, पृ० १३३।
२३. कार्पस इस्क्रिपशनस इण्डिकेरम भाग-४।
२४. दशरथ शर्मा, उपर्युक्त, पृ० २४८।
२५. आर०सी०मजूमदार (सं०) द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० ३२।
२६. ब्रजेश कृष्ण, द आर्ट अण्डर द गुर्जर प्रतिहारराज, पृ० १३५,१५३-४,१६४।
२७. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, भारतीय परम्परा के स्वर, पृ० १९।

* * *

वेदों में धर्म एवं राजनीति

डॉ0 ज्ञान प्रकाश शास्त्री

मानव एक समाज सापेक्ष प्राणी है। समाज से रहित मानव की कल्पना संभव नहीं है, उसका अस्तित्व समाज की धड़कन पर अवलम्बित हैं। समाज के सम्यक् संचालन के लिए धर्म और राजनीति दोनों की उपयोगिता है। धर्म से रहित राजनीति सूखी हुई लता के समान है, जिस पर फल तो मिलते ही नहीं हैं, लेकिन कूड़ा अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार राजनीति के बिना धर्म लंगड़ा है, वह चाहकर भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजरूपी गाड़ी को चलाने के लिए धर्म और राजनीति दोनों अपरिहार्य हैं, न केवल अनिवार्य है, अपितु एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। धर्म आत्मा है और राजनीति उसका शरीर है। शरीर के बिना आत्मा भोग करने में असमर्थ है और आत्मा के बिना शरीर हिल भी नहीं सकता। अतः एक दूसरे के सहयोग में दोनों की पूर्णता है। इसलिए धर्मनिरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म ये दोनों स्थितियाँ मानव के विकास में बाधक हैं।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के प्रथम मन्त्र में धर्म और राजनीति का समन्वय करता हुआ मंत्रदृष्टा ऋषि कहता है कि राज्य के सफल संचालन के लिए बृहत् सत्य, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इन छः सूत्रों का उचित उपयोग आवश्यक है।[१] ये ही छः सूत्र पृथिवी को धारण करते हैं।

१. सत्यं बृहत्- उक्त पृथिवी सूक्त के मन्त्र में ऋषि ने सर्वप्रथम "सत्यं बृहत्"[२] पद को अभिव्यक्त किया है। इसका अर्थ है व्यापक सत्य। राजनीति के पथ पर चलने वाले को व्यापक सत्य की पहिचान होनी ही चाहिए।

सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ ब्राह्मण ग्रन्थ का ऋषि कहता है कि देवता और प्राणों से जो भिन्न है वह "सत्" है तथा देवता और प्राण "त्यं" हैं।[३] अपने उक्त कथन को स्पष्ट करता हुआ अन्त में ब्राह्मण कहता है कि यह सब कुछ सत्य है।[४]

सत्य से निरपेक्ष होने का अर्थ है कि जीवन के गहनतम ज्ञान से निरपेक्ष होना। कोई भी राजनीति धर्म (सत्य) से निरपेक्ष होगी- अर्थात् वह अपने में सबको समाहित करके नहीं चलेगी तो वह कुण्ठा का कारण बनेगी और कुण्ठा की प्राप्ति राजनीति का लक्ष्य नहीं मानी जा सकती।

---

१. अर्थववेद, १२.१.१, "सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।"
२. वही, १२.१.१.
३. शां०आ०, ३, ६ कौ० ३४०१.६ "किं तद्यत्सत्यमिति, यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत् त्यम्।"
४. वहीं ३.६. कौ० ३४० १.६. "सत्य मित्येतावदिदं सर्वम्"।

ऋग्वेद भाष्य भूमिका में वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानन्द ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने संदेश दिया है कि वेदोक्त धर्म वह है कि जिसमें सभी लोग साथ मिलकर चलते हैं एक जैसा बोलते हैं और एक जैसा ज्ञान प्राप्त करते हैं।[५] जहाँ सबके विचार समान हैं, जहाँ सबकी सभा समिति समान हैं, जहाँ मन समान हैं, जहाँ खान-पान समान हैं, वहाँ धर्म है।[६] इसके अतिरिक्त जिनके संकल्प समान हैं, जिनके हृदय समान हैं, उनमें धर्म का निवास है।[७] इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि समता ही धर्म है और विषमता अधर्म/राजनीति का प्रारम्भ भी इसी उद्देश्य से हुआ है। विषमता को समता में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया का नाम राजनीति है।

जहाँ लोगों के मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं, वह राष्ट्र बहुत दिनों तक एक नहीं रह सकता। तभी तक कोई देश एक रह सकता है, जब तक उसकी दिशा एक है। तभी तक कोई रथ, रथ (रमणीय वाहन) बना रह सकता, जब तक उसके सभी अश्व एक ही दिशा में अपना पूरा बल लगाते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में "समिति" के एक होने का उल्लेख किया है।[८] यह भी तभी सम्भव है कि जब सभी के मन, वचन और कर्म समान हों अर्थात् आचरण में विषमता न हो। "समिति" शब्द में आया "सम्" स्वयं इस तथ्य की उद्घोषणा कर रहा है कि बिना आचरण साम्य के समिति एक नहीं हो सकती और बिना समिति के हम सभासद् अर्थात् सभ्य नहीं बन सकते।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म का अर्थ सत्य है और सत्य का अर्थ है "समता" तथा उस समता की प्राप्ति का साधन है राजनीति। इसलिए राजनीति को धर्म सापेक्ष होना ही चाहिए। धर्मनिरपेक्ष राजनीति विषमता को जन्म देती है और विषमता कुण्ठा को और कुण्ठा दुःख के रूप में प्रकट होती है।

यदि दुःख मुक्ति मानवता का लक्ष्य है तो राजनीति का आधार समता ही हो सकती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमने भारतीय गणतन्त्र को धर्म निरपेक्ष घोषित कर दिया। यह तो मात्र एक प्रतिक्रिया है। इससे पूर्व एक हजार वर्ष तक भारतीय धर्म राजनीति निरपेक्ष बना रहा। इसी का परिणाम था कि हमसे कम शक्तिशाली लोग हम पर शासन करते रहे। एक हजार वर्ष की लम्बी गुलामी के इतिहास में कदाचित् किसी सन्त ने

---

[५] ऋग्वेद १०, १९१.२

[६] वहीं, १०, १९१.३

[७] वही, १०, १९१,४

[८] वही, १०, १९१.३

एक बार भी ऐसा नहीं कहा कि इस देश की आजादी होनी है। विदेश जाना पाप है, यह तो अनेकश: धर्मग्रन्थों ने कहा, परन्तु दासता पाप है, यह कहने का साहस मध्ययुगीन धर्म नहीं दिखा पाया। इस कारण धर्म भी अक्षुण्य नहीं रह सका और न राजनीति पथभ्रष्ट होने से बच सकी। दोनों कलुषित हो गये। इस कलुष की कालिमा से जन्म लेने वाली स्वतन्त्रता भी हमें खण्डित ही मिली और उसमें निरन्तर पिछले पचास वर्षों में विषमता का जहर घोला जा रहा है। इसका कारण धर्म निरपेक्ष होना है। जीवन में जो कुछ भी अर्थपूर्ण है, वह धर्म है। जिससे मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, वह सब धर्म है। धर्म से रहित राजनीति को स्वीकार करने वाले समाज में, उसी प्रकार की दुर्गन्ध उठने लगती है, जैसी कि सड़ी हुई लाश में आती है। अत: धर्म निरपेक्ष राजनीति का अवलम्बन देश हित में उचित नहीं माना जा सकता है।

राजा के बिना राजनीति अर्थहीन है। राजा के प्रमुख गुणों का उल्लेख करता हुआ यजुर्वेद कहता है कि उसका सर्वप्रमुख गुण सत्यवादी और सत्य तथा न्याय को पथ पर चलना है।[९] इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि राजा और राजपुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें, जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है। वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है।[१०] एक अन्य स्थल पर राजा के चयन योग्य निम्न ग्यारह गुण बताए गए हैं।[११] १-उपयाम गृहीत- जिसने सत्य नियमों को यम के समान धारण कर रखा है। २-ध्रुवसदम्-योग विद्या के मार्ग पर अटल स्थित है। ३-नृषदम्-जो जनता जनार्दन के हृदय में विराजमान है अर्थात् जिसे उसकी योग्यता के कारण सब चाहते हैं। ४-मन:सदम्-जो लौकिक विज्ञान में अग्रणी है। ५-अप्सुसदम्- जो जल विज्ञान द्वारा जल में स्थित सम्पदा का दोहन करने या कराने में समर्थ हैं। ६-घृतसदम्-जो घृत आदि बल व ओज प्रदान करने वाले पदार्थों का भक्षण करने से तेजस्वी है। ७-व्योमसदम्-विमान आदि से आकाश में गमन करने में समर्थ है। ८-पृथिविसदम्-जो पृथ्वी पर भ्रमण करने वाला है। ९-अन्तरिक्षसदम्-आकाश में चलने वाला है। १०-दिविसदम्-जो न्याय और प्रकाश करने में समर्थ है। ११-नाकसदम्-जो दुख से रहित समाधि में स्थिति हो सकता है।

उपर्युक्त मन्त्र में प्रतिपादित राजा के ग्यारह गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वही राजा होने के योग्य है जो सत्य और न्याय के प्रति समर्पित है। जिसने अपने जीवन में धर्म के दोनों रूपों[१२] अभ्युदय और नि:श्रेयस् का सम्यक् समन्वय किया हुआ है अर्थात् जिसमें

---

[९] यजुर्वेद, ६.१०-देवस्याहं सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योतमं नाकमा रुहेयम्।

[१०] वही ६, १२ "एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं बाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाचं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्।"

[११] वही, यजुर्वेद ६.२ ।

[१२] वैशे० १.१.२ यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि स धर्मः।

सम्भूति और विनाश, विद्या और अविद्या, भक्ति और ज्ञान, कर्म और उपासना साथ साथ रहते हैं।[13] जिसके जीवन का लक्ष्य नरक न होकर अर्थात् मोक्ष है। वह व्यक्ति राजा होने योग्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में धर्म निरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म दोनों में से कोई भी पक्ष स्वीकार्य नहीं हैं। वस्तुत: देखा जाए तो धर्म का अभ्युदय मूलक पक्ष राजनीति है। राजनीति का सीधा सा अर्थ है कि समाज और व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित करना और धर्म का मतलब है कि जीवन के श्रेष्ठतम मूल्य, इसलिए इन दोनों में विरोध नहीं है, प्रत्युत ये एक दूसरे के सहकारी हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो धर्म का साधन राजनीति है क्योंकि राजनीति के माध्यम से वर्णाश्रम धर्म तथा अन्य मर्यादाओं की स्थापना करना सुकर है। जिन्हें धर्म का उपदेश सुपथ नहीं दिखा पाता, राजनीति का दण्ड उनका मार्ग प्रशस्त कर देता है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि धर्म निरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म न देशहित में है, न समाज हित में और न व्यक्तिहित में।

अर्थववेद के पृथिवी सूक्त में आए "जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्"[14] मन्त्र के आधार पर पं० शिवकुमार शास्त्री तथा डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त[16] का मन्तव्य है कि उक्त मन्त्र में साम्प्रदायिक झगड़ों को मिटाकर देश को समृद्ध करने का उपाय बताया गया है अर्थात् शासन को धर्म निरपेक्ष रहकर सभी धार्मिक समुदायों में सद्भावना बनाए रखने में सहयोग करना चाहिए। उक्त मन्त्र का अर्थ वे करते हैं कि यह पृथिवी अनेक धर्मों वाले तथा अनेक भाषा भाषी लोगों को एक घर के साधन धारण करती है। उक्त मनीषी द्वय का यह विचार मन्त्र में आए "विवाचसं नानाधर्माणम्"[17] पदों के आधार पर लिया गया है।

निस्संदेह उक्त अर्थ को ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक होते हैं ? क्या वेद अनेक धर्मों को स्वीकार करता है ? निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि धर्म केवल एक है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि धर्म ही सत्य है इसलिये सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि वह धर्म कहता है और धर्म बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि वह सत्य बोल रहा है।[18] यदि धर्म अनेक होंगे तो धर्म को सत्य से भिन्न भी मानना होगा, जो कि किसी को भी स्वीकार नहीं होगा, क्योंकि तब फिर धर्म और अधर्म के बीच विभाजक रेखा खींचना नहीं रह जायेगा।

---

१३. यजुर्वेद ४०.११.१४

१४. अथर्व १२.१.४५

१५. शास्त्री, शिवकुमार, श्रुतिसौरभ, पृ० ४२६-३०

१६. गुप्त, डॉ० रामेश्वर दयाल, दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत वैदिक राजदर्शन पृ० १७५, लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, १६७६

१७. अथर्व ० १२.१.४५

१८. शत० ब्रा० १४.४.२.२६ यो वैस धर्म·सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वंदन्तमाहुर्धर्म वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति।

आचार्य मनु ने धर्म का लक्षण करते हुए "दशकं धर्म लक्षणम्"[१९] के सिद्धान्त की उद्‌घोषणा की है। यहाँ पर मनु स्पष्ट करते हैं कि धर्म तो एक है, लेकिन लक्षण उसके दस हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में धर्म निरपेक्ष शासन प्रणाली की संकल्पना नहीं की गयी है। मन्त्र में आए "नानाधर्माणम्"[२०] का आशय यह माना जा सकता है कि अनेक गुणों वाले अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोग पृथिवी पर रहते हैं, जैसे एक घर में रहने वाले सदस्य भिन्न स्वभाव के होने पर भी सद्‌भाव से रहते हैं, उसी प्रकार "वसुन्धरैव कुटुम्बकम्" की भावना से प्रत्येक को आपस में सामंजस्य बैठाना चाहिए। यह वेद का सन्देश है।

धर्म के साथ गठबन्धन हो जाने पर राजनीति कुटिलता का परित्याग कर देती है फिर राजनीति सत्य और असत्य को एक मानकर नहीं चल सकती, धोखा देना फिर संभव नहीं रह जाता। निर्णय करते समय अपने और पराये का मोह जाता रहता है, फिर वही होता है, जो होना चाहिए। इसलिए धर्म का आधार भी समता है और राजनीति का भी। समता के पथ से विचलित धर्म अधर्म बन जाता है और राजनीति कूटनीति बन जाती है। तब न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित की कसौटी मात्र स्वार्थ रह जाता है। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने के सिद्धान्त के विपरीत अपनी उन्नति में सबकी उन्नति है, यह स्वार्थ दर्शन मुखर हो उठता है। तब धर्म और राजनीति का मूल स्तम्भ न्याय ढह जाता है।

अत: यह अपेक्षित ही नहीं आवश्यक भी है कि धर्म के साथ राजनीति का सुखद संयोग बना रहे, तभी धर्म इस धरा पर जीवित रह सकता है और राजनीति मानव मात्र से आगे प्राणिमात्र के कल्याण का साधन बन सकती है।

---

[१९] मनुस्मृति ६.९२

[२०] अथर्व १२.१.४५

○ ○ ○

छान्दोग्योपनिषद में धर्म और राजनीति

डॉ० मनुदेव बन्धु,
अध्यक्ष वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

धर्म का रहस्य- धार्मिक आदर्शों ने भारतीय संस्कृति को विशेष स्वरूप प्रदान किया है। धर्म उस अलौकिक और रहस्यमय शक्ति का प्रतीक है। जिसकी नींव पर व्यष्टि रूप में मानव और समष्टि रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है। धर्म केवल आचार संहिता मात्र नहीं है। उसकी धारणा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश है।[1] इसका सम्बन्ध उन महनीय तत्त्वों से है जिसके आश्रय से मानव अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वस्तुतः उपनिषदों में धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है-आत्मज्ञान की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति।

छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के महनीय और उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर नैतिकता और सदाचार का उपदेश है। जो मानव को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करता हुआ उस श्रेष्ठतम और सूक्ष्मतम ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य बनाता है। यही कारण है कि धर्म के साथ कर्म की व्याख्या की गयी है।

धर्म के तीन स्कन्ध- यज्ञ, अध्ययन, दान, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, उपासना, तप आदि अनेक धार्मिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है। इसमें धर्म के तीन स्कन्धों का कथन किया गया है।[2]

१. यज्ञ, अध्ययन और दान को प्रथम

२. तप को द्वितीय

३. ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन पर्यन्त आचार्यकुल में वास करने को धर्म का तृतीय स्कन्ध कहा गया है।

जो इसका पालन करता है वह पुण्य लोकों को प्राप्त होता है जो इनका पालन करते हुए ब्रह्म भाव में समीचीन स्थित रहता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

यज्ञ- उपनिषदों में यज्ञ का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। यज्ञ का तात्पर्य केवल अग्नि होत्र आदि ही में सीमित नहीं रह गया अपितु "पुरुषो वाव यज्ञः"[3] इत्यादि से एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत कर मानव जीवन को यज्ञ की संज्ञा दी है जिसमें सम्पूर्ण जीवन-काल को तीन भागों में विभाजित कर उन्हें प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन तुल्य कहा है।

तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य को उस जीवन यज्ञ की दक्षिणायें कहा है।[४] अभिप्राय यह है कि जीवन की सम्पूर्णता और सफलता तभी है जबकि इन उपर्युक्त गुणों का जीवन में पालन किया जाय।

इस सवनत्रय के अनुष्ठान के महत्त्व को और अधिक व्याख्यापित करती हुई उपनिषद् कहती है कि जो सवनत्रय को अच्छी तरह जानता हुआ इनका अनुष्ठान करता है वह रोगमुक्त होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है। वह जो खाता है, जो पीता है, जो रमण करता है, वह ऋत्विजों के समान ही है और जो हंसता है, गमन करता है, संयोग करता है, वह स्तोत्र और शस्त्र के समान है।[५] उसका पुनर्जन्म "सोष्यति" और "असोष्ट" क्रिया के समान है और मरण 'अवभृथ' (यज्ञ के पश्चात् स्नान) के तुल्य है।[६]

प्रथम प्रपाठक में "यज्ञं विततम्"[७] पदों का उल्लेख आया है जिसमें विदित होता है कि बड़े-बड़े यज्ञों का भी प्रचलन था, जिन्हें प्रस्तोता[८] उद्गाता,[९] प्रतिहर्त्ता[१०] नामक ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। ऋत्विजों का चयन उनकी योग्यता पर आधारित था। यदि ऋत्विक् अपने-अपने उद्गीथ आदि स्तुतियों से अनुगत देवताओं को न जानते थे तो ऋत्विक् कार्यों में प्रवृत्त होते थे तो उनका सिर गिर जाता था।

वायु को यज्ञ का कारण बताते हुए यज्ञ की मन और वाणी दो वर्त्तनियों का उल्लेख हैं।[११] ब्रह्मा नामक ऋत्विक् उन दोनों में से एक वर्त्तनि को मन से संस्कृत करता है और दूसरी वर्त्तनि को होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी से संस्कृत करते हैं।[१२] यदि ब्रह्मा नामक ऋत्विक् प्रातरनुवाक के प्रारम्भ हो जाने पर परिधानीया ऋचा के उच्चारण के पूर्व बोल उठता है तो उस यज्ञ की एक वर्त्तनि नष्ट हो जाती है और वह यज्ञ भी उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार की एक चक्र पर चलने वाला रथ। यज्ञ के नष्ट होने पर वह यजमान भी नष्ट हो जाता है।[१३]

यज्ञानुष्ठान में हुए अन्य दोषों के परिहार के लिए कहा है कि जब यज्ञ में ऋग्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए गार्हपत्याग्नि कुण्ड में "भूः स्वाहा" इस प्रकार पढ़कर होम करे क्योंकि "भू" नामक व्याहृति ऋग्वेद का सार है। यदि यज्ञ में यजुर्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए दक्षिणग्नि में "भुवः स्वाहा" पढ़कर होम करे क्योंकि "भुवः" नामक व्याहृति यजुर्वेद का सार है। इसी प्रकार सामवेद सम्बन्धी क्षति होने पर "स्वः स्वाहा" बोलकर आहवनीय अग्नि में होम करे क्योंकि "स्वः" व्याहृति सामवेद का सार है।[१४]

द्वितीय प्रपाठक में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन का वर्णन है।[१६] इस सवनत्रय के विधिविधान का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहती है कि प्रातः सवन में प्रातरनुवाक के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसु देवता-सम्बन्धी साम को गाये। तब प्रार्थना

करे। तत्पश्चात् गार्हपत्याग्नि में हवन करे।[१७] माध्यन्दिन सवन से पूर्व दक्षिणाग्नि कुण्ड के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रूद्र देवता सम्बन्धी साम को गाये। तब प्रार्थना करे। तदनन्तर हवन करे। इसी प्रकार तृतीय सवन के पूर्व आहवनीय अग्नि के उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और वैश्वदेव सम्बन्धी साम को अच्छी प्रकार गाये। तत्पश्चात् प्रार्थना करे और आह्वनीय कुण्ड में होम करे।[१८]

पञ्चम प्रपाठक में एक प्रकरण है कि यदि पुरुष महत् की प्राप्ति की इच्छा करता हो तो उसे अमावस्या तिथि में दीक्षित होकर पूर्णिमा तिथि की रात्रि में सर्वौषध के मन्थ को दधि और मधु के साथ मिलाकर "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" इस प्रकार बोल कर अग्नि में घी का हवन कर स्रुवा लगा हुआ द्रव्य मन्थ नामक पात्र विशेष में रख दे।[१९] इसी प्रसङ्ग में "वसिष्ठाय स्वाहा", "प्रतिष्ठाय स्वाहा", "सम्पदे स्वाहा", "आयतनाय स्वाहा" नामक मन्त्रों से घृताहुति दे।[२०] यह दैनिक क्रियाकलाप का एक अङ्ग था।

एक स्थान पर राजा अश्वपति कहते हैं कि मेरे राज्य में कोई यज्ञ न करने वाला नहीं है।[२१] वैश्वानर विद्या के प्रकरण में "प्राणाय स्वाहा", "व्यानाय स्वाहा", "अपानाय स्वाहा", "समानाय स्वाहा" और "उदानाय स्वाहा" आदि मन्त्रों से आहुति देने का प्रावधान है।[२२] जो कोई इसको जानता हुआ अग्नि होत्र करता है वह उसी प्रकार है जिस प्रकार अंगारों को हटाकर भस्म में हवन करना।[२३]

अध्ययन- अध्ययन को धर्म को प्रथम स्कन्ध के रूप में कहा गया है। उपनिषद् के अध्ययन से विदित होता है कि अध्ययन-क्रम जीवन पर्यन्त चलता था। जीवन का प्रथम चरण अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का तो उद्देश्य ही शिक्षा प्राप्ति था किन्तु गृहस्थ के लिए भी स्वाध्याय प्रमुख कर्त्तव्य था। वानप्रस्थी भी अरण्यों में रहते हुए अध्ययन-अध्यापन में रत दिखाई पड़ते थे। संन्यासी तो अपना शेष जीवन ब्रह्म विद्या-आत्मविद्या जैसी आध्यात्मिक गुत्थियों के सुलझाने में ही व्यतीत कर देते थे।

मनुष्य ज्ञान के द्वारा न केवल धर्म और काम की प्राप्ति करता है अपितु मोक्ष की भी प्राप्ति करता है। उपनिषद् के अन्त में कहा है कि "जो व्यक्ति आचार्यकुल से वेदों का अध्ययन करके यथा-विधि गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करके, समावृत्त होकर कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, धार्मिक कर्मों को करता हुआ आयुपर्यन्त रहता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। तथा पुनः लौट कर नहीं आता। अर्थात् फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता।[२४] इस प्रकार मानव जीवन की पूर्णता स्वाध्याय में कही गयी है।

दान- छान्दोग्योपनिषद् में विद्या दान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा है- "यदि कोई समुद्र से परिवेष्ठित और धन से परिपूर्ण पृथ्वी भी दे तो भी उस दान से यह (विद्या) दान अधिकतर

है।[२५] एक प्रसङ्ग में कहा गया है कि राजा जानश्रुति पौत्रायण श्रद्धादायी, बहुदायी और बहुपाकी राजा था। जिसने स्थान-स्थान पर ऐसे आवास स्थान (धर्मशाला) बनवा रखे थे जहाँ पर यात्रीगण विश्राम करते थे तथा निःशुल्क भोजन भी ग्रहण करते थे।[२६] पञ्चम प्रपाठक में उल्लेख है कि जो उपासक ग्राम में रहते हुए इष्ट (अग्निहोत्र), आपूर्त्त (धर्मशाला, उद्यानादि) तथा दान करते हैं, वे पितृलोक को प्राप्त करते हैं।[२७] प्रस्तुत उद्धरण दानशीलता के सुन्दर और उत्कृष्ट रूप को दर्शाता है।

तप– तप मानव-जीवन का प्रमुख अंग है। तप के आचरण से ही प्रजापति ने लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित किया हैं तप के द्वारा ही त्रयीविद्या का आविर्भाव एवं त्रयी विद्या से भूः, भुवः, स्वः तीनों व्याहृतियों के आविर्भाव का कथन है तथा इन व्याहृतियों को अभितप्त करने पर ओंकार रूप ब्रह्म के प्रकाशित करने का वर्णन है।[२८] मधु विद्या के प्रकरण में तप से त्रयी विद्या के ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। जो कि यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्यादि की प्राप्ति में हेतु है।[२९]

चतुर्थ प्रपाठक में भी प्रजापति द्वारा लोकों को लक्ष्य बनाकर ध्यान रूप तप के किये जाने का उल्लेख है। उन तप किये गये लोकों से उन्होंने सार रूप रस निकाले। पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को सार रूप में ग्रहण किया। तत्पश्चात् अग्नि से ऋग्वेद्, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद को निकाला।[३०] तप आत्मज्ञान की प्राप्ति में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। ब्रह्मचारी के लिए तप को दक्षिणा कहा है।[३१] ब्रह्मचर्य और तप का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं सत्यकाम जाबाल, उपकोसल, इन्द्र और विरोचन आदि के द्वारा जो अनेकों वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, वह स्वयमेव उनके तपोमय जीवन की ओर संकेत हैं।

शंकराचार्य ने तप का अर्थ "कृच्छ्रचान्द्रायणादि" किया है तथा इसे वानप्रस्थ और परिव्राजक का धर्म कहा है। इनके अनुसार परिव्राजक के ज्ञान, यम और नियम तप ही है।[३२] किन्तु उन्होंने केनोपनिषद् के भाष्य में "तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्"[३३] कह कर शरीर, इन्द्रिय और मन के समाधान को तप कहा है।

यज्ञ दान एवं तप का परम प्रयोजन साधन के शरीर एवं मन को शुद्ध करना ही है। जैसा कि गीता में भी कहा है– "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"[३४] उपनिषद् दान न देने वाले, श्रद्धा न करने वाले तथा यज्ञ न करने वाले व्यक्ति को असुर स्वभाव वाला कहती है।[३५] तथा श्रद्धा और तप में लीन रहने वालों को ब्रह्मलोक का अधिकारी बताती है।[३६]

ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था का अंग होकर समाज से सम्बद्ध है। परन्तु मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना धर्म का अङ्ग है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे

धर्म के एक स्कन्ध के रूप में वर्णित किया है जो इसके अनुपम महत्त्व को द्योतित करता है। इसकी महत्ता इन्द्रिय संयम की भावना से है।

अष्टम् प्रपाठक में तो ऋषि ने ब्रह्मचर्य को यज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया है। जिसको यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि जो ब्रह्मचर्य रूप साधन से ज्ञाता बनता है, वही उसको प्राप्त करता है और जिसको "इष्ट" इस प्रकार कहते हैं। वह भी ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य रूप साधन के ही द्वारा आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है।[३७]

जो इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं; उन्हीं को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है तथा वे स्वेच्छानुसार लोक-लोकान्तरों में विचरण करता है।[३८] इसी प्रकरण में आगे कहा है कि जो "सत्रायण" इस प्रकार कहा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य के द्वारा ही "सत्" त्राण को प्राप्त होता है और जो "मौन" इस प्रकार कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा को जानकर मनन करते हैं।[३९] जो "अनाशकायन" कहा गया है वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि वह आत्मा नष्ट नहीं होता जिसको ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जाता है। जिसको "अरण्यायन" कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि 'अर' (कर्मकाण्ड) और 'ण्य' (ज्ञानकाण्ड) नामक दो समुद्र हैं जिनके द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकते हैं।[४०]

इसी प्रपाठक में आया है कि आत्मज्ञान के प्राप्त्यर्थ विरोचन ने ३२ वर्ष तथा इन्द्र ने १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था।[४१] तात्पर्य यह है कि यद्यपि यज्ञ, इष्ट, तप आदि अनेक साधन ब्रह्मप्राप्ति में कहे गये हैं परन्तु वे सब ब्रह्मचर्य के द्वारा ही साध्य हैं। अतः ब्रह्मप्राप्ति का मूल कारण ब्रह्मचर्य ही है।

अहिंसा- छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" अर्थात् विद्यालयों से अन्यत्र भी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[४२] एक अन्य प्रसङ्ग में कहा गया है कि "संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतम्" वर्ष में कभी मांस न खायें- इस व्रत को धारण करें।[४३]

वस्तुतः प्राणियों की हिंसा की बात दूर रही अपितु वाङ्मात्र से कटुभाषण करने तक को हत्या के सदृश माना गया है। वह यदि पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा ब्राह्मण आदि किसी को भी कटु वचन कहता है तो उसे लोग कहते हैं कि तुम्हें धिक्कार है। तुम पितृघाती हो और मातृघाती आदि हो।[४४] एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्मज्ञानियों के हनन कर्त्ता तथा उसके साथ आचरण करने वाले को पतित कहा है।[४५]

सत्य-सत्य को धर्म की उत्पत्ति में हेतु बताया गया है।[४६] सत्यकाम- जाबाल परिचारिका का पुत्र है। वह हारिद्रुमत गौतम के समीप ज्ञानप्राप्ति के लिए जाता है। ऋषि द्वारा गोत्र पूछे जाने पर वह अपने गोत्र की अज्ञानता का सत्य कथन करता है। गौतम यह कहकर कि

अब्राह्मण सत्यभाषण कहने में समर्थ नहीं हो सकता। तुम सत्य से पृथक नहीं हुए हो, अतः हे सोम्य ! समिधा लाओ। मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा।[४७] षष्ठ प्रपाठक में उल्लेख है कि "यदि वह सन्दिग्ध पुरुष चोरी का अकर्त्ता होता है तो सत्य से वह अपनी आत्मा को सत्ययुक्त करता है। वह सत्यवादी पुरुष उस सत्य से अपनी आत्मा को आच्छादित कर तप्त परशु को ग्रहण करता है। वह दग्ध नहीं होता है अतः छोड़ दिया जाता है।[४८] प्रस्तुत प्रसङ्ग से सत्य का आचरण करने वाले के प्रति दिव्यन्याय का कथन सत्यवादी की महिमा को दर्शाता है।

सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिए। क्योंकि जब विशेष रूप से जानता है तभी सत्य को कहता है। न जानता हुआ सत्य को नहीं कह सकता।[४९] अष्टम् प्रपाठक में "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणों नाम सत्यमिति"[५०] अर्थात् उस इस ब्रह्म का निश्चय ही सत्य नाम है। सत्य का निरुक्तिपरक अर्थ है कि 'सत्य' पद में जो 'सत्' है वह अमृत है, जो 'ति' है वह मर्त्य है और जो 'यम्' है वह दोनों का नियमन करता है। जिससे ये दोनों उसके वश में रहते हैं। एवं वित् पुरुष निश्चय ही प्रतिदिन स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।[५१] तात्पर्य यही है कि सत्य ब्रह्मस्वरूप है, उसका अच्छी प्रकार जीवन में आचरण करने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है।

अस्तेय- उपनिषद् कहती है कि सोने की चोरी करने वाला, सुरापान करने वाला, ब्रह्मवेत्ताओं का हनन करने वाला, गुरुतल्पगामी तथा जो इन चारों के साथ आचरण करता है वह भी पापी होता है।[५२] ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी चोरी, गुरुपत्नी गमन, जुआ, मद्यपान, असत्य भाषण और इनके साथ आचरण कर्त्ता को भी पापी कहा है।[५३] कैकेय नरेश अश्वपति अपने राज्य की स्थिति को बताते हुए कहते हैं कि "मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कृपण है, न मद्यपायी है, न अनग्निहोत्री है और स्वैरी पुरुष और तथा स्वैरिणी नारी भी नहीं है।"[५४] इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के स्कन्ध के रूप में योगदर्शन वर्णित अधिकांश यमों और नियमों का वर्णन किया गया है।

नीतिनिर्देश - नैतिकता धर्म की आधारशिला है। छान्दोग्योपनिषद् में नैतिक आचरणों का उल्लेख मानव के व्रत के रूप में किया गया है।

१- मंगलविधायक धर्म का पालन करना चाहिए।[५५]
२- उदार विचार रखने चाहिए।[५६]
३- अग्नि की ओर मुख करके न तो आचमन करना चाहिए और न थूकना चाहिए।[५७]
४- किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए।[५८]
५- तप करते हुए की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[५९]
६- वृष्टि की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६०]

७- ऋतुओं की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६१]

८- लोक कल्याण की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६२]

९- पशुओं के कल्याण की उपेक्षा न करे।[६३]

१०- कभी मांस का भक्षण न करे।[६४]

११- ब्रह्मज्ञानियों की निन्दा न करे।[६५]

१२- सब में आत्मभाव रखकर व्यवहार करे।[६६]

उपर्युक्त सभी कथन धर्म की भावना से अनुप्राणित हैं। उपनिषद् कहती है कि मानव क्रतुमय प्राणी है। इस लोक में जिस क्रतु (कर्म) अथवा संकल्प वाला होगा, मरने के बाद वह वैसा ही होगा।[६७] आठवें प्रपाठक में कर्मजित लोकों और पुण्यजित्त लोकों का उल्लेख है। ऋषि का कथन है कि जिस प्रकार इस लोक में कर्मों से प्राप्त लोक (भोग-साधन) क्षय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार पुण्यजित् लोक भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आत्मा को तथा सत्य कर्मों को जानकर यहाँ से जाते हैं। उनका सब लोकों में कामाचार होता है।[६८]

वस्तुतः धर्म आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार करता है। वह मनुष्य को सदाचरण की ओर प्रवृत्त कर अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति में प्रबल सहायक होता है। यह मूल रूप से प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत उपलब्धि है। मनुस्मृति का कथन सत्य है कि "मरने के बाद बन्धु-बान्धव विमुख हो जाते हैं। केवल धर्म ही उस मनुष्य का अनुसरण करता है।[६९]

आपद्धर्म-उषस्ति चाक्रायण (चक्र नामक ऋषि का पोता) ओलों की वर्षा से नष्ट कुरु प्रदेश (मेरठ प्रदेश) में निर्धन अवस्था में अपनी पत्नी के साथ किसी दूसरे ग्राम में जा बसे। उषस्ति को भूख लगी। किसी हाथी वाले से जूठे उड़द खाकर अपनी भूख मिटाई। जब जूठा पानी पीने को दिया तब उषस्ति ने मना कर दिया।[७०] ऐसा प्रतीत होता है कि आपत्ति काल में ही अनुचित आचरण करना चाहिए। आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति। जैसे-तैसे भोजन प्राप्त करके प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि प्राणयुक्त शरीर से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। मनु का भी कथन है-आपत्तिकाल में जीवनधारण हेतु जो मनुष्य यहाँ-वहाँ से अन्न को ग्रहण कर लेता है वह कीचड़ से आकाश की भान्ति पाप से युक्त नहीं होता।[७१]

राजनीतिक व्यवस्था-छान्दोग्योपनिषद् के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थिति शान्तिपूर्ण रही होगी; जिसके परिणामस्वरूप राजा अपना अधिकांश समय आध्यात्मिक ज्ञान-जिज्ञासा में लगाते थे। बड़े-बड़े सभा वेश्म[७२] और समिति[७३] होते थे जहाँ विचार विमर्श तथा सभाएँ नियोजित करते थे। श्वेतकेतु पञ्चालों की समिति में आया। यहाँ समिति का अर्थ राजपरिषद् है।[७४]

द्वितीय प्रपाठक में “सवनत्रय” के प्रसङ्ग में उपासक राज्य[७५], वैराज्य[७६] स्वराज्य[७७] तथा साम्राज्य[७८] की प्राप्ति की कामना करता है जो तत्कालीन विभिन्न प्रकार की शासन प्रणाली की ओर संकेत कर रहा है। मैक्डानल और कीथ ने वैराज्य पद की व्याख्या करते हुए उसको राजतन्त्र का एक प्रकार माना है। इनके अनुसार राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, साम्राज्य इत्यादि शब्द अनिवार्यत: अधिकार अथवा शक्ति के विविध रूपों को व्यक्त करते हैं।[७९] एक प्रसङ्ग में कहा गया है- इतने काल तक वह विद्वान् साध्यों के ही आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है।[८०]

उपनिषद् में आये पाञ्चाल[८१] कैकेय[८२] इत्यादि पदों से विदित होता है कि प्रत्येक राज्य की अपनी निश्चित सीमायें होती थीं, जिनमें विभिन्न प्रकार की राज्यप्रणाली थी और उन पर राज्य करने वाले राजा, अधिपति आदि नामों से जाने जाते थे। प्रजा की सुविधा के लिए नि:शुल्क भोजन और आवास की व्यवस्था होती थी।[८३] राज्यव्यवस्था कठोर होने से राज्य में चोर, मद्यप, स्वैर और स्वैरिणी का अभाव था।[८४] चोरी करने पर चोर को कठोर दण्ड दिया जाता था।[८५] राजा न्यायप्रिय होते थे। राज्यव्यवस्था समुन्नत थी।

सन्दर्भ–

१- वेद और ऋषिदयानन्द, डॉ० श्री निवास शास्त्री, पृ० १७२ ।

२- त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।
छान्दोग्योपनिषद् २/२३/१
तुलना करो- गीता १८/५
यज्ञदानतपः कर्म न व्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

३- पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति तत्प्रातः सवनम्।
छां० उप० ३/१६/१-४

४- अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छां० उप० ३/१७/४

५- छां० उप० ३/१६/६ से ३/१७/४

६- क- तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य
तन्मरणमेवास्यावमृथः। छां० उप० ३/१७/५
ख- **Bathing at the end of a principal sacrifice for purification :**
-Vaman shiv Ram Apte- “Sanskrit English Dictionary”.

७- तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय। छां० उप० १/१०/७

८- क- स प्रस्तोतारमुवाच। प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता।
ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति।
छां० उप० १/१०/८-६
ख- छां० उप० १/११/४

९- एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति। छां० उप० १/१०/१०

१०- एवमेव प्रतिहर्त्ता रमुवाच। छां० उप० १/१०/११

११- तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी। छां० उप० ४/१६/१

१२- तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा। छां० उप० ४/१६/२

१३- अन्यतरामेव वर्त्तनिं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा। छां० उप० ४/१६/३

१४- तद्यद्युक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये विरिष्टं सन्दधाति। छां०उप० ४/१७/४-६

१५- यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो हवा एष। छां० उप० ४/१७/८

१६- ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनम्। छां० उप० २/२४/१

१७- पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन। छां० उप० २/२४/३-६

१८- छां० उप० २/२४/७-१६ तक

१९- छां० उप० ५/२/४

२०- छां० उप० ५/२/५

२१- न में स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्ययोनानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।। छां० उप० ५/११/५

२२- छां० उप० ५/१६/१ से ५/२३/२ तक

२३- छां० उप० ५/२४/१

२४- आचार्यकुलाद् वेदमधीष्य यथाविधानं गुरो कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विद्धदात्मनि.........एवं वर्त्तयन्यावदायुः षं ब्रह्मलोकभमिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते। छां० उप० ८/१५/१

२५- यद्यप्यस्मा इमाम द्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां पृथिवीं दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति। छां० उप० ३/११/६

२६- जानश्रुतिर्ह श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। सह सर्वत आवस्थान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव में ऽत्स्यन्तीति। छां० उप० ४/१/१

२७- अथ य इमें ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते। छां० उप० ५/१०/३

२८- प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रमीविद्याः सम्प्रास्वत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षरणि सम्प्रास-वन्त भूर्भुवः स्वरिति। तान्यभ्यतपतेभ्योऽमितप्तेभ्य ओंकारः। छां. उप० २/२३/२-३

२९- छां० उप० ३/१/३ से ३/३/२ तक

३०- छां० उप० ४/१७/१ से ४/१७/३ तक

३१- छां० उप० ३/१७/४

३२- तप एव द्वितीयस्तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि..... परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमा नियमाश्च तप एवेति..........। छां० उप० २/२३/१ पर शांकर भाष्य

३३- केनोपनिषद् ४/८ पर शांकर भाष्य

३४- गीता १८/५

३५- तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धानमयजमानमाहुरासुरो...।
-छां० उप० ८/८/५

३६- तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति..........। छां० उप० ५/१०/१

३७- अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव । छां० उप० ८/५/१

३८- तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति। छां० ८/४/३

३९- अथ यत्सत्त्रयणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्। छां० ८/५/२

४०- छां० ८/५/३

४१- छां० ८/७/३ से ८/११/३ तक

४२- छां० ८/१५/१

४३- छां० उप० २/१६/२

४४- स यदि पितरं व मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा। छां० ७/१५/२

४५- स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवंश्च गुरोस्तल्पमावसन्। ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरंस्तैरिति। छां० ५/१०/९

४६- धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया और दान से बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है (सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति)।

-भारतीय संस्कृति-एक समाजशास्त्रीय समीक्षा, गौरी शंकर भट्ट, पं० १०२

४७- नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वानेष्ये। न सत्यादगा इति।-छां० उप० ४/४/५

४८- छां० उप० ६/१६/१२

४९- छां० उप० ७/१६/१ से ७/१७/१ तक

५०- छां० उप० ८/३/८

५१- तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतियमिति तद्यत् "सत्" तदमृतमयं यत् "ति" तन्मर्त्यमथ यत् "यम्" अहरहर्वा एवं वित् स्वर्गलोकमेति। -छां० उप० ८/३/५

५२- छां० उप० ५/१०/६

५३- सत्प मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदमभ्यंहुरोगात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडेपथो विसर्गे धरुणेषुतस्थौ।। -ऋग्वेद १०/५/६

५४- छां० उप० ५/११/५

५५- साधवोधर्माः च गच्छेपुरुष च नमेयुः। छां० उप० २/१/४

५६- महामनाः स्यात्तद्व्रतम्। छां० उप० २/११/२

५७- न प्रत्यङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१२/२

५८- न काञ्चन परिहरेत्तद् व्रतम्। छां० उप० २/१४/२

५९- तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम्। -छां० उप० २/१४/२

६०- वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१५/२

६१- ऋतून् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१६/२

६२- लोकान् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१७/२

६३- पशून् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१८/२

६४- संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतम्। छां० उप० २/१९/२

६५- ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/२०/२

६६- सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्। -छां उप० २/२१/४

६७- अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। -छां० उप० १/१४/१

६८- तद्यथेह कर्मजितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितोलोक क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति। -छां० उप० ८/१/६

६९- मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं स्थितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।।
-मनुस्मृति ४/२४१

७०- न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति। न वा अजीविष्यमिमानरवादन्निति होवाच। कामो म उदपानमिति।।
-छां० उप० १/१०/४

७१- जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते।। मनुस्मृति १०/१०४

७२- प्रजापतेः सभावेश्म प्रपद्ये। -छां० उप० ८/१४/१

७३- श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति। - छां० उप० ५/३/१ से ५/१०/१० तक

७४- उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति, डॉ० विजय बहादुर राव, पृ० १६६

७५- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम वयं राज्याय। छां० उप० २/२४/४

७६- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं वैराज्याय। छां० उप० २/२४/८

७७- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं स्वाराज्याय। छां० उप० २/२४/१२

७८- आदित्यमथ वैश्वदेवं लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं साम्राज्याय। छां० उप० २/२४/१३

७९- मैक्डानल और कीथ- वैदिक इण्डेक्स, भाग-२, पृ० २४७

८०- एता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता। छां० ३/१०/४

८१- श्वेतकेतुर्हारूणेय पञ्चालानां समितिमेयाय। छां० उप० ५/३/१

८२- तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रति। छां० उप० ५/११/४

८३- जानश्रुति हे पौत्रायणः श्रद्धादेयोबहुदायी। छां० उप० ४/१/१

८४- छां० उप० ५/११/५

८५- अहार्षीत स्तेयमकार्णीत् परशुमस्मै तपतेति। छां० उप० ६/६/१

* * *

ऋग्वेदीय धर्म एवं राजनीति

डॉ0 दुर्गाप्रसाद मिश्र
संस्कृत – विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ

भारतीय संस्कृति में धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म वस्तुतः भारतीय संस्कृति का प्राण है। अति प्राचीन काल से धर्म को एक प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। भारत वसुन्धरा अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों की क्रीड़ा-स्थली रही है। धार्मिक सहिष्णुता का जो आदर्श हमें यहाँ देखने को मिलता है वह विश्व की अन्य संस्कृति में दुर्लभ है।

प्राचीन भारतीयों के धर्म के विषय में निश्चित ज्ञान हमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है जिसमें वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् की गणना की जाती है। वैदिक साहित्य का निर्माण करने वाले ऋषि धार्मिक वृत्ति से ओत प्रोत थे, धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का सृजन किया। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें जिन देवताओं की स्तुति में बहुत से मन्त्र लिखे गए हैं, वे भौतिक शक्तियों के रूप में एक सर्वोपरि सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रकृति-पूजा वेदकालीन धार्मिक जीवन का आदि स्रोत है। मनुष्य अपनी सांस्कृतिक बाल्यावस्था में प्रकृति के विभिन्न रूपों को देख कभी प्रसन्न हुआ, कभी भयभीत हुआ और कभी स्तम्भित। आर्य अनेक देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। प्रत्येक देवता को संसार के सृस्टा तथा नियत्ता के रूप में दर्शाया गया है। वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की पृष्ठ भूमि में एक सर्वोपरि व सर्वनियामक सत्ता की कल्पना की और- 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' द्वारा एकेश्वर-वाद का सूत्रपात किया। यही एकेश्वर वाद बाद को सर्वेश्वरवाद का स्वरूप धारण कर लिया। जिसका विकास आगे 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वचनों में हुआ।

वैदिक धर्म की एक विशेषता यह थी कि इसमें जिस देवता की स्तुति की गई उसी को सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि मान लिया गया। कभी वरूण कभी इन्द्र को सर्वोपरि मानकर अन्य देवताओं की उत्पत्ति इनसे मानी गई है। देवताओं की बहुलता से घबड़ाकर ही शायद वैदिक ऋषि ने 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का विधान किया। देवताओं की संख्या सीमित करते हुए द्यावापृथिवी, मित्रावरुण, उषारात्रि आदि सूक्तों का प्रणयन किया। चिन्तन के अन्तिम चरण में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाला कि परम तत्त्व (सत्) एक ही है। जिसे ज्ञानी लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से जानते हैं।

वैदिक युग में धार्मिक जीवन में प्रारम्भ से ही दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(१)भक्ति की धारा (२) यज्ञीय कर्मकाण्ड की धारा। देवताओं की स्तुति भक्ति भाव से ओतप्रोत है। उससे ऐहिक सुख, समृद्धि आदि के लिए प्रार्थना की गई है वरूण, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित वेदमन्त्र इसी प्रकार की भक्ति के प्रतीक हैं। यहीं से वैदिक युग के वाद की भक्ति-धारा प्रवाहित हुई।

वेदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में यज्ञ का क्रिया कलाप कितना व्यापत हो गया था। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही यज्ञ की भाषा में होता है। मधुच्छंदा ऋषि कहते हैं- 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित हैं, यज्ञ के देव हैं, ऋत्विक् हैं, होता है तथा रत्नों के भण्डार हैं', यज्ञ का प्रभाव राजशक्ति पर भी पड़ा और राजाओं को भी राज्याभिषेक द्वारा मूर्धाभिषिक्त होना पड़ता था तथा अश्वमेघ यज्ञ द्वारा चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त करनी पड़ती थी।

मानव व्यतिरिक्त अन्य प्राणि-वर्ग अपनी जिस स्वाभाविक गति से चलता है उसमें न धर्म का ध्यान है न अधर्म का। धर्म और अधर्म की चर्चा मानव समाज में ही की जाती है। मानव की ऊर्ध्व चेतना ही शुभ और अशुभ में भेद कर सकती है। नीतिशास्त्र, सदाचार के नियम इसी हेतु मानव ही के लिए हैं।

वेदकालीन राजनीति पर विचार करने के पूर्व एक भ्रान्त धारणा को समझना अत्यावश्यक है। वैदिक विद्वानों का मन्तव्य है कि वेद कालीन आर्य विभिन्न जातियों तथा कबीलों में बंटे हुए थे।[२] ऋग्वेद[३] में यत्र तत्र अनेकों नाम उल्लिखित हैं जिनको जाति-सूचक माना गया है। ऋग्वेदीय पञ्चजनाः[४], पञ्चकृष्टयः[५], पञ्चचर्षणयः[६], पञ्चक्षितयः[७] आदि शब्द बार बार उल्लिखित हैं। इतिहास के विद्वान् इन शब्दों का अर्थ पाँच जातियाँ या कबीले करते हैं तथा यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पुरु को उनसे सम्बन्धित करते हैं। किन्तु इसका अर्थ साधारणतया पृथ्वी का समस्त जनसमुदाय किया गया है। यदु आदि जातिसूचक न होकर राजाओं के नाम हैं जैसा कि पुराण वाङ्मय में वर्णित है। प्रो० रामदेव जी के अनुसार आर्यों के कई प्रकार के राज्य थे जिनमें सार्वभौम राज्य सर्वोपरि था।[८]

वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन करने पर हमें दो प्रकार की नीतियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रथम सरल एवं निष्कपट व्यवहार जो शत्रु से भी वैसा ही किया जाता है जैसे मित्रों से। वैदिक वाङ्मय में सामान्यतः इसी नीति के पालन एवं प्रेरणा की प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं। दूसरी छल छद्म युक्त नीति जो सदैव शत्रुओं से ही व्यवहार की जाती है, विशेषकर छली शत्रुओं के साथ। इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों में अनेकत्र इसके वर्णन प्राप्त होते हैं। आचार्य सायण ने इन्हें शर्धनीति एवं वर्णनीति कहा है। वेद में इन्द्र शब्द से राजा के गुणों को स्पष्ट किया गया है। ऋषि दयानन्द भी यजुर्वेद[९] में इन्द्र का अर्थ सभापति करते हैं।

वैदिक साहित्य के सिंहावलोकन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राजनैतिक

व्यवस्था की इकाई ग्राम था जिसका अधिकारी ग्रामणी था, गोत्र या गोष्ठी इसके अंग थे। ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उनको संगठित रखना, ग्राम में शान्ति व्यवस्था रखना इसका मुख्य कार्य था। अनेक ग्रामों को मिला कर विश बनता था जो अनेक ग्रामों का समूह था, इसका अधिकारी विश्पति कहलाता था। विभिन्न विशों के समुदाय को जन कहते थे जिसका सत्ताधीश राजा था। जो वंशक्रमागत था या जिसका चुनाव होता था। वरुण को बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है। वरुण नैतिक नियमों का नियामक था उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था उसके बन्धन पापी अत्याचारियों के लिए शक्तिशाली थे।[११] ऋग्वेद में अनेक राजाओं का उल्लेख आता है जिससे विभिन्न राज्यों या राष्ट्रों का ज्ञान होता है। इस समय के राज्यों में अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पुरु, तृत्सु, भरत आदि हैं। अन्य राज्यों में क्रिवि (सिन्धु के तट पर) कीकट (मगध) चेदि (यमुना) मत्स्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

शासन पद्धति : शासन सम्बन्धी विभिन्न संविधान प्रचलित थे। राजपद निरंकुश नहीं था। सभा[१२] समिति[१३] आदि संस्थाओं द्वारा राजपद को संचालित व नियंत्रित किया जाता था। सभा समिति ने एक प्रकार से जनतांत्रिक वातावरण निर्मित कर दिया था अत: जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली का उदय हुआ। यजुर्वेदीय स्वराट्[१४] व विराट्[१५] शब्द प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के द्योतक हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में तो आठ[१६] प्रकार के संविधानों का उल्लेख मिलता है।

वैदिक काल के राजा के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों को साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. राज्य की आन्तरिक व्यवस्था प्रजाहित, पालन आदि से सम्बन्धित कर्तव्य

२. राज्य की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित कर्त्तव्य। दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का सुन्दर विवेचन ऋग्वेद के वरुण तथा इन्द्र से सम्बन्धित सूक्तों में किया गया है। वरुण देवता की कल्पना के समय ऋषि के मन में तत्कालीन आदर्श राजा की घरेलू नीति का चित्र था तथा इन्द्र की कल्पना के समय उसकी वैदेशिक नीति का चित। ऋग्वेद में वरूण को नैतिकता का देवता माना गया है। उसके नैतिक नियमों को ऋत् कहा गया है। ऋत् का अर्थ है सत्य तथा अविनाशी सत्ता। इसके द्वारा विश्व में सुव्यवस्था एवं प्रतिष्ठा स्थापित होती है। ऋत् विश्व व्यवस्था का नियामक है। देवता ऋत् के स्वरूप हैं अथवा ऋत् से उत्पन्न हुए हैं तथा वे अपनी दैवी शक्तियों के द्वारा ऋत् की रक्षा करते हैं। ऋत् एक विश्व व्यापी भौतिक एवं नैतिक व्यवस्था है। जो लोकहितकारी सुदृढ़ है जिसमें गुप्तचर, दूत आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन्द्र का वृत्र या अहि पर आक्रमण, अग्नि, सोम, विष्णु द्वारा सहायता करना, तत्कालीन राजाओं द्वारा दस्युओं से

किये गये युद्धों का भास कराते हैं। वस्तुतः यह आर्य एवं दस्यु युद्ध की प्रतिच्छाया कहा जा सकता है। इन्द्र का यह स्वरूप हमारी वैदेशिक नीति का द्योतक है।

धर्म का आधार नीति है। नीतिशास्त्र धर्म और अधर्म, सदाचार और कदाचार, शुभ और अशुभ, भद्र और अभद्र के विवेचन से सम्बद्ध है और अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करने वाला है। उसने शुभ को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया है और इस रूप में मानव के सामने एक आदर्श की स्थापना की है जो समस्त सद्‌गुणों का आश्रय है। धार्मिक प्राणी इसी को ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। महर्षि कणाद ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'यतो अभ्युदयनिः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः जो मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि करा दे वही धर्म है। अभ्युदय मानव सभ्यता की प्रगति का द्योतक है जिसमें ऐश्वर्य, काम और यश की प्रधानता है। वेद मानव को दीन नहीं अदीन बनाना चाहते हैं- अदीनाः स्याम शरदः शतम्। राष्ट्र सत्य एवं धर्म पर आधारित तथा लोक कल्याणकारी होना चाहिए।[१७] राजा को राष्ट्र की रक्षा, धन का श्रेष्ठ वितरण, कृषि वाणिज्य आदि पर नियंत्रण, श्रेष्ठ आचरण की वृद्धि, दुष्टों का दमन तथा सज्जनों की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए।

राजनीति को सामान्यतः कुटिल नीति माना जाता है परन्तु वेदों के अनुसार राजनीति कूटनीति न होकर ऋजुनीति होनी चाहिए। वेद ऋजुनीति का विवेचन इस प्रकार करते हैं-

ऋजुनीति नो वरुणो मित्रोनयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम् तव प्रणीती पितरौ न इन्द्रो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः। (ऋ० १.९०.१, १.९१.१) राजा प्रजा में जिन श्रेष्ठ गुणों की कामना करे उन गुणों को पहले स्वयं धारण करे। राजा जनता के लिए परमेश्वर का प्रतिनिधि तुल्य है जैसे परमेश्वर में अनेक दैवी गुणों और शक्तियों का निवास है वैसे ही राजा भी विभिन्न दिव्य शक्तियों को धारण करके देदीप्यमान, प्रतापी और प्रजा के लिए पितृवत् पालन और रक्षा करने वाला हो। राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[१८]

वैदिक युग में कदाचित् विशुद्ध रूप में गणतंत्र का अस्तित्व न रहा हो किन्तु राजतन्त्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णतः जनतांत्रिक था। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति शासन (सत्ता) का एक विश्लेषक पक्ष है जिसमें धर्म मानव मात्र का कल्याण है तथा राजनीति प्रजा हित में राजा द्वारा सम्पादित कार्य हैं। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होते हुए भी प्रजा का रक्षक, पालक है। वह निरंकुश न हो जाए इसीलिए उसे समस्त कार्यों का सम्पादन धर्म पूर्वक करने का विधान किया गया है।

सन्दर्भ

१. अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। ऋग्वेद १/१/१.

२. (क) वैदिक एज-(भारतीय विद्या भवन) पृ० २४५-२५०
(ख) ऋग्वैदिक कल्चर-ए०सी०दास-पृ० ४५, ३५२-३६७.

३. ऋ० ७/१८/६-२०

४. ऋ० ३/५६/८, ८/३२/७२, ६/६५/२३, १०/४५/६.

५. ऋ० २/२/१०, ४/३८/१०, १०/६०/६, १०/१६६/६.

६. ऋ० ५/८६/२, ७/१५/२, ६/१०१/६.

७. ऋ० १/७/६, १/१७६/३, ५/३५/२, ६/४६/७, ७/७५/४, ७/७६/१.

८. भारतवर्ष का इतिहास खण्ड २ पृ० ३३७.

६. यजु० ३/१५.

१०. अबुहने राजा वरूणो वनस्योर्ध्वं। ऋ.१/२४/७
उरूं हि राजा वरूणश्चकार। ऋ.१/२४/८
अवैनं राजा वरूणः ससृज्य। ऋ. १/२४/१३.

११. ऋ. १/२५/१/२१

१२. ऋ. ८/४/६, १०/७१/१०, ७.१.४.

१३. १/६५/८, ६/६२/६, १०/६७/६.

१४. यजु० १५/१३.

१५. यजु० १५/११.

१६. ऐ० ब्रा० ८/३/१४.

१७. अथर्व० १२.१.१.

१८. ऋ० ६/६२/६

* * *

वेद-वर्णित राष्ट्र-धर्म

डा0 वीनेश अग्रवाल
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0, हरिद्वार

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' कहकर मनुजी महाराज ने वेद को धर्म का मूल उद्घोषित किया है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिवार समाज, अथवा राष्ट्र को धारण करने वाला तत्त्व धर्म है। 'धारणाद् धर्म इत्याहु:' 'धर्मो धारयते प्रजा:' 'धर्मो रक्षति रक्षित:' इत्यादि वचनों से धर्म का महत्त्व सुस्पष्ट हो जाता है। धर्म के बिना कोई व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता ।धर्म शब्द बहुत व्यापक है। जैसे पिता और पुत्र का, गुरु और शिष्य का, पति और पत्नी का भाई और बहिन का धर्म अर्थात् कर्त्तव्य। वैसे ही जिस राष्ट्र में हम रहते हैं, उस राष्ट्र का भी कोई धर्म है। राष्ट्र धर्म का अभिप्राय है- राष्ट्र में निवास करने वाले नागरिकों का धर्म। वेद में इस राष्ट्र धर्म का निरूपण अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में हुआ है। यजुर्वेद का निम्नमन्त्र राष्ट्र धर्म का साङ्गोपाङ्ग और स्पष्ट वर्णन करता है-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् । आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानडवानाशु: सप्ति: पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधय: पच्यन्ताम् । योगक्षेमो न: कल्पताम्।। यजु० २२।२२

अर्थात् विश्वभावन ब्राह्मण ब्रह्म तेज से सम्पन्न हों। राष्ट्र में क्षत्रियगण शूरवीर, धनुर्धर, रोगमुक्त और महारथी हों। गायें दुधारू, बैल भारवाहन में सक्षम, अश्व शीघ्रगामी, नारियां शोभामयी रथी विजयशील हों और इस यजमान का युवा पुत्र निर्भय वीर हो। आवश्यकतानुसार वर्षा हो, वनस्पतियां फलवती हों और हमारा योग क्षेम हो।

अथर्ववेद का भूमि सूक्त इस दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्रवासी के लिए पठनीय है। राष्ट्र-धर्म का जैसा हृदयस्पर्शी वर्णन इस सूक्त में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं है। एक-एक मन्त्र देश प्रेम से भरा हुआ है। 'माता भूमि: पुत्रो ऽहं पृथिव्या:' यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथिवी माता का पुत्र हूँ। यही है वह भावना, जिससे भावित होकर देशभक्त अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं।

भूमि सूक्त में राष्ट्रोन्नति के उपाय निरूपित करते हुए कहा गया है-

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु (अथर्व० १२।१।१)

अर्थात बृहत् सत्य, उग्र ऋत, (सत्यकर्म, सत्य ज्ञान) दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं।

राष्ट्र भावना के मूलाधार हैं- एक देश (भौगोलिक एकता) एक केन्द्रीय शासन (संगठनात्मक एकता) एक संस्कृति (भावना की एकता) एक सभ्यता (ऐतिहासिक एकता) और एक भाषा (अभिव्यक्ति प्रणाली की एकता) वेदों में इन सबका विस्तृत वर्णन किया गया है।[१]

राष्ट्र

उपर्युक्त पांचों आधारों का, अथवा और भी संक्षेप में कहें तो, देश और राज्य के संगठनात्मक ऐक्य का नाम 'राष्ट्र' है।[२] राष्ट्र देश की समग्रता, भावात्मक संगठन और राजनीतिक एकता का द्योतक है- यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि ऋग्वेद में सामाजिक संगठन की पांच क्रमिक विकास भूमियां बतायी गयी हैं। इनकी प्रथम इकाई 'कुल' कहलाती है, यह कुलप के संरक्षण में परिवार के सदस्यों के अनुशासन बद्ध संगठन का नाम है।[३] कुलों का समूह 'ग्राम' कहलाता है।[४] जो ग्रामणी के नेतृत्त्व में काम करता है। ग्राम से बढ़कर 'विश्' नामक समूह होता है, जिसका मुखिया 'विश्पति' कहा जाता है।[५] जैसे आजकल अनेक ग्रामों की एक बड़ी पंचायत होती है, वैसे ही पहले विश् रहे होंगे। विश् के नागरिक विट् कहलाते थे ये एक विश् से दूसरे विश में आते-जाते रहते थे। विश् से बृहत्तर समूह 'जन' कहलाता है।[६] 'जन' राजा के शासन-तन्त्र से सीधा सम्बन्ध रखता होगा, क्योंकि राजा को 'जनरक्षक' कहा गया है।[७]

राष्ट्र से भी बृहत्तर 'साम्राज्य' होता है। इसके शासकों को क्रमिक उच्चता के अनुसार अधिराज, राजाधिराज, एकराट्, सम्राट, स्वराट, विराट् और सर्वराट् कहा जाता है। ये अपना पद-गौरव-प्रदर्शन करने के लिए राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरूषमेध सर्वमेध आदि यज्ञ करते थे।[८]

ऐतरेय ब्राह्मण में तत्कालीन शासन-पद्धतियों का भी उल्लेख है।[९] 'भौज्य' एक विशेष प्रकार का गणराज्य था। 'स्वाराज्य' राष्ट्रपति की प्रधानतावाला गणराज्य था।[१०] स्वाराज्य से विपरीत 'वैराज्य' गणतन्त्र राष्ट्रपति रहित होता था।[८] जहां किसी व्यक्ति विशेष में ही शासन की प्रभुसत्ता रहती थी उसे 'राज्य' कहते थे। अनेक राज्यों को अधीन रखने वाले शासन का नाम 'साम्राज्य' था।

राष्ट्र की इस प्रकार की संरचना में भौगोलिक एकता का विचार प्रमुख हैं। राजा

भूमि की रक्षा करने की शपथ लेते हुए कहता था- 'हे पृथ्वीमाता ! तुम मेरी हिंसा न करो और मैं तुम्हारी हिंसा न करूं।' भाव यह कि देश और राजा इस प्रकार परस्पर हितैषी हों जैसे माता और पुत्र।[११] देश एक भावात्मक सत्ता भी है और इस शब्द से जितना भौगोलिक सीमा का बोध होता है, उतना ही या प्रसङ्गानुसार उससे भी अधिक 'प्रजा' का कथन होता है। इसीलिए कहा है कि 'प्रजा' ही राष्ट्र है'।[१२] राष्ट्र के विचार में प्रजा का विचार ही सब कुछ है। प्रजा के हित और संरक्षण में ही राष्ट्र की सुरक्षा है। प्रजा की समृद्धि, धन धान्य, सम्पन्नता, नीरोगता, संक्षेप में शोभा और दीप्ति ही राष्ट्र का वास्तविक राष्ट्रत्व है।[१३] इनसे विहीन राष्ट्र राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं। जब प्रजा-हित ही राष्ट्र का सर्वस्व है, तब प्रजा को ही अपना हित देखने का वास्तविक अधिकार है। अतः वेदों ने राष्ट्र की प्रभुसत्ता प्रजा में रखी हैं। धर्म, यज्ञ और राज दण्ड प्रजा के भावात्मक प्रतीक माने जाते हैं। अभिषेक के समय सविता, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रूद्र, मित्र और वरूणकों आहूतियां दी जाती हैं। इनमें सविता धर्म-पालन, सोम कृषि और वनस्पति की समृद्धि, रूद्र-पशुरक्षण और वरूण धर्म-रक्षण की शक्ति प्रदान करते हैं। ये शक्तियां राजा और प्रजा का हित-साधन करने के लिये हैं। वैदिक विचार धारा में राजा की विशेषता उसके धर्म संस्थापक रूप में है। प्रजाओं का सच्चा अधिपति धर्म है, राजा तो दण्ड (शासन) का वह रूप है जो धर्म की संस्थापना और रक्षा करता है। राजा को राज्य एक धरोहर की भांति सौंपा जाता है। अपने उपभोग के लिये नहीं, अपितु कृषि वृद्धि के लिए और सर्वविध पोषण द्वारा प्रजा के कल्याण के लिये।[१४] राजा एक ट्रस्टी के समान है, राजा का अभिषेक संस्कार भी यह प्रकट करता है। सत्रह स्थानों से सम्भृत जलों से राजा का अभिषेक कराया जाता है। यह भी प्रतीकात्मक संस्कार है। समुद्र जल प्रजाओं के प्रति भक्ति का संकेत करता है, परिवाही जल भूमा या समृद्धि की प्रेरणा देता है और स्थावर हृद का जल राजा के प्रति प्रजा की दृढ़ भक्ति का विश्वास दिलाता है।

वैदिक वाङ्मय में वर्णित राज्याभिषेक की विधि से यही सिद्ध होता है कि राजा को सदैव प्रजा के कल्याण में ही तत्पर रहना चाहिये। राजा को सब प्रकार की सुविधाएं, अधिकार प्राप्त होने पर भी उससे संयमी, ब्रह्मचारी और तपस्वी होने की अपेक्षा की जाती है।[१५]

राज्य संचालन के लिए सभा, समिति और मन्त्रिपरिषद् का गठन किया जाता था। **चर्तुवण** राज्याभिषेक के समय चारों वर्णो के मनुष्य उपस्थित रहते थे। सबके मध्य पुरोहित यह घोषित करता है कि 'सब प्रजाओं का राजा यह व्यक्ति है, किन्तु ब्राह्मणों का राजा सोम हैं।[१६] धर्म का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, अतः ब्राह्मण क्षत्र से ऊपर है इसीलिए ब्राह्मणों की गणना प्रथम होती है।[१७] वेद का अध्ययन-अध्यापन करने से

ब्राह्मण और भी ऊँचे है, देवतुल्य है।[१८] अतः कहा गया है कि ब्राह्मण के अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता है।[१९] क्षत्रिय प्रजा को धर्म पथ पर लाता है और ब्राह्मण उसे धर्ममय बनाता है। क्षत्र-ब्रह्म दोनों ही प्रजाओं में धर्म को धारण कराते हैं, अतः दोनों में पूर्ण सौमनस्य होना चाहिए। दोनों की परस्पर प्रतिष्ठा होती है।[२०] बुद्धि और क्रिया का सामन्जस्य हुए बिना कोई कार्य ठीक नहीं हो सकता, राष्ट्र उन्नति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय को मिलकर देशहित में लगे रहना चाहिये।[२१]

ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं, वैश्य और शूद्र भी राष्ट्र के साथ सौमनस्य रखें, चारों वर्णों में परस्पर सौहार्द हो, वे एक मन से तथा मिल जुलकर कार्य करें। वेद में अनेक स्थानों पर यह शिक्षा दी गई है। अतः अपने धर्म वा कर्त्तव्य में लगे रहकर सभी को सब के प्रति मित्रभाव रखना चाहिए।[२२]

परिवार-यजुर्वेद का 'योषा' शब्द पारिवारिक सौमनस्य की अनिवार्यता प्रकट करता है। राष्ट्र में सहृदयता के विस्तार का प्रथम सोपान परिवार ही है। व्यक्ति सर्वप्रथम परिवार में ही आत्मविस्तार करता है। यही वह अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का अभ्यास करता है और परहित साधन में लगना सीखता है।

व्यष्टि धर्म-वेदों में जहां राष्ट्र धर्म के सम्बन्ध में समष्टि गत चिन्तन हुआ है वहां व्यष्टिगत राष्ट्र धर्म का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। अथर्ववेद के सौमनस्य सूक्त में 'नः' शब्द का तीन बार प्रयोग प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत योगक्षेम, आरोग्य, पुष्टि, तेजस्विता, परिश्रमशीलता आदि की कामना करता है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य का शरीर चट्टान जैसा सुदृढ़ हो।[२३] और वह तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सह से परिपूर्ण हो।[२४] अनुचित कार्य को देखकर उत्पन्न होने वाला क्रोध 'मन्यु' है तथा विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति का नाम 'सह' है। यह भी उपदेश है कि परिश्रम किये बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, देव भी सहायता नहीं करते।[२५] अतः उन्नतिशील जीवन की प्राप्ति के लिए उद्यमी होना चाहिए।[२६]

इस प्रकार वेद में विशद रूप में व्यष्टिगत, समष्टिगत राष्ट्र धर्म का सुन्दर निरूपण किया है।

सन्दर्भ–

(१) द्रष्टव्य- श्री राधा कुमुद मुकर्जीकृत 'हिन्दू-सभ्यता' अध्याय ३-४
(२) ऋग्वेद- ४।४२।१
(३) ऋग्वेद-१०।१७६।६
(४) ऋग्वेद-१।४४।१०, ३।३३।११, १०।६२।११
(५) वही १।३७।८

(६) वही २।२६।३, १०।८४।२, १०।६१।२

(७) ऋग्वेद-३।४३।५ 'गोप्ता जनस्य'

(८) अथर्व० ३।१।४, ऐत० ब्रा० ८।१५

(९) ऐत० ब्रा० ८/३

(१०) तौत्तिरीय ब्रा० १।३।२२

(११) शतपथ ब्रा० ५।४।३।२० और टीका

(१२) 'राष्ट्राराणि वै विशः।'- ऐत० ब्रा० ८।२६

(१३) 'श्री वैं राष्ट्रम्'। शत ब्रा० ६।७।३।७

(१४) इयं ते राट्..................यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि वरूण।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।। शत० ब्रा० ५।२।१।२०

(१५) ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। अथर्व० ११।५।१७

(१६) शत ब्रा० ५।३।३।१२

(१७) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। पुरुष सूक्त

(१८) शत० ब्रा० २।२।२।६

(१९) उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते।। अथर्व० ५।१९।६

(२०) ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रें ब्रह्म। ऐत० ब्रा० ८/२

(२१) यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं देशं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ।। यजु० २०।२५

(२२) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६।१८

(२३) अश्मा भवतु नस्तनूः यजु० २९।४९

(२४) तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।। यजु० १९/९

(२५) 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'। ऋग ४।३३।११

(२६) 'कृधी न उर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे'। ऐत० ब्रा० २/२

☐ ☐ ☐

तुलसी के काव्य में धर्म और राजनीति

डॉ0 मृदुल जोशी
प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ऋषिकेश

'हिन्दू धर्मकोश' में 'धर्म' को किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है, वही उस पदार्थ का 'धर्म' है।[१] वैशेषिक दर्शन ने धर्म की अत्यन्त वैज्ञानिक परिभाषा दी है- 'यंतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' अर्थात् धर्म वह है जिससे इस जीवन का अभ्युदय और भावी जीवन में निःश्रेयस की सिद्धि हो। 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' के अनुसार जो धारण किया जाये, वही धर्म है। धारण वही वस्तु, व्यवहार या चिनतन-पद्धति की जा सकती है, जिससे जीवन में उन्नति हो, उत्कर्ष हो। स्थूल रूप से 'धर्म' के दो रूप माने जा सकते हैं- (१) जीवन-शैली, (२) उपासना-पद्धति। मनुष्य को कैसी जीवन-शैली अपनानी चाहिए, इस विषय में प्राचीन मनीषी, चिन्तकों ने विस्तार से चर्चा की है इसके अन्तर्गत व्यवहार, विचार, कर्त्तव्य-सबका समावेश हो जाता है। समाज में, पारस्परिक सौहार्द, सौमनस्य, शान्ति और सुव्यवस्था हेतु धैर्य, क्षमा, दमन, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध-शून्यता को धर्म के सर्वमान्य लक्षणों के रूप में स्वीकार किया गया है।[२] मनु ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा के सन्तोष को धर्म की कसौटी माना है।[३]

अग्रेता ऋषि, मनीषियों के चिन्तन के अनुकूल ही तुलसी ने अपने काव्य में 'धर्म' को-जीवन शैली और उपासना-पद्धति **(religion)** दोनों रूपों में ग्रहण करते हुए व्यापक अभिव्यक्ति दी है। तुलसी का चिन्तन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि उनके लेखन-काल में रहा होगा। धर्म की जितनी अनुपम व विशद् अवधारणा तुलसी काव्य में मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने स्मृतिकार के अनुरूप ही मनुष्य के वे सभी गुणों और व्यवहार को धर्म की संज्ञा दी है जो उसकी आत्मिक उन्नति में सहायक तथा समाज के लिये उपादेय हैं। इसीलिये वे सत्य,[४] परोपकार,[५] दया[६], अहिंसा[७], तप, दान[८], इत्यादि को 'धर्म' की संज्ञा देते चले हैं। इन सभी जीवन मूल्यों के अनुपालन में 'श्रद्धा'[९] की भूमिका असंदिग्ध है।

धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है,[१०] अतः एक सभ्य, सुसंस्कृत, उन्नत समाज में व्यक्ति का समाज के प्रति, परिवार के प्रति, गुरुजनों के प्रति, मित्र के प्रति, आत्मा के प्रति क्या कर्त्तव्य (धर्म) होना चाहिए-तुलसी ने इसका सम्यक् निरुपण किया है। सन्तान का धर्म है कि वह माता-पिता अथवा सास-ससुर के प्रति श्रद्धा, सेवा और सम्मान की

भावना रखे। तुलसी के नायक राम का समूचा जीवन ही इस 'धर्म' की सिद्धि हेतु प्रयासरत है। राम स्वयं तो 'पुत्र-धर्म' का निर्वाह कर ही रहे हैं, अन्य के लिये प्रेरक भी बने हैं। वन-गमन के समय सीता व लक्ष्मण को दिया गया उनको उपदेश-इसी कर्त्तव्य के अनुपालन की कथा कह रहा है।[११, १२ तथा १३] चित्रकूट में, भारत को भी राम यही शिक्षा देते हैं कि पिता का आज्ञा-पालन करना ही पुत्र का परम धर्म है।[१४] परस्पर प्रेम, त्याग, सौहार्द और समर्पण की भावना बनाये रखना ही 'भ्राता-धर्म' है। तुलसी का काव्य इस दृष्टि से अमूल्य है। राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न चारों ही इसकी जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। भरत का चरित्रांकन करते समय सम्भवतः इसी भावना को तुलसी ने 'भायप भगति'[१५] की अभिधा दी है।

शिष्य को गुरु के प्रति श्रद्धा, प्रेम, विनय, सेवा, संकोच के साथ एक निश्चित दूरी बनाये रखते हुए भयमिश्रित सम्मान का भाव रखना चाहिए, यही 'शिष्य-धर्म' भी है। राम-लक्ष्मण सर्वत्र इस भाव को बनाये रखे हैं।[१६,१७] यही नहीं तुलसी भी उसी भाव को बल देने हेतु प्रत्यक्ष वक्ता बन गये हैं।[१८] गुरु का भी कर्त्तव्य (धर्म) शिष्य की ज्ञान-दृष्टि में विस्तार करना तथा दृष्टि-दोष (अज्ञान) का नाश करना है।[१६,२०]

परस्पर प्रेम, समर्पण और निष्ठा-भाव ही पति-पत्नी का धर्म है। 'रामचरितमानस' में राम-सीता, शिव-पार्वती, शंकर-सती, अत्रि-अनुसुइया, रावण-मन्दोदरी इसके अन्यतम उद्धरण हैं। पति एवं पत्नी दोनों का ही परम् धर्म है कि दुःख-सुख, हानि-लाभ में एक दूसरे के सहभागी बनकर रहें। अयोध्याकाण्ड में सीता इसी धर्म की अधिवक्ता बनी हैं।[२१,२२] अरण्य काण्ड में अनुसुइया ने जो 'पातिव्रत्य धर्म'[२३] का खाका खींचा है, उससे अनुशासित समाज एक विकृति-मुक्त, उत्शृंखलता-रहित सुन्दर रूप को धारण कर सकता है।

किष्किन्धाकाण्ड में 'मित्र' के जो लक्षण बताये गये हैं तुलसी-निरूपित 'मित्र-धर्म' का ही पर्याय हैं।[२४]

धर्म का एक रूप उपासना-पद्धति भी है। परम् सत्ता को मानकर उसकी अर्चना करना। वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर एक है। वह विश्व की सर्वोच्च सत्ता है, उसे अनेक नामों से याद किया जा सकता है।[२५] उपनिषदों का भी यही मत है।[२६] वेदों का मानना है उसका कोई आकार नहीं होता अतः उसकी मूर्ति भी नहीं बनायी जा सकती है।[२७] वह सर्वव्यापी, तेजस्वी, शरीर रहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पापमुक्त, कवि, मनीषी, स्वयम्भू, समस्त पदार्थों का निर्माता है।[२८] तुलसी ने भी ईश्वर के मूल रूप को ऐसा ही स्वीकार किया है।[२९,३०,३१] उन्होंने स्पष्ट स्वीकारा है कि राम वस्तुतः अपरिमित बल वाले अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, एक, अगोचर, गोविन्द (अर्थात् वेद वाक्यों द्वारा जानने योग्य), इन्द्रियों से अतीत द्वन्द्व को हरने वाले, विज्ञान की घनमूर्ति तथा पृथ्वी के आधार हैं।[३२] वे तो केवल भक्तों के कारण मनुष्य चरित्र में सगुण लीला कर रहे हैं।[३३,३४] वेदों में प्रकृति, जीव, ब्रह्म तीनों शाश्वत व अनादि माने गये हैं। जीव सृष्टि-फल का स्वाद लेता है। जबकि ब्रह्म 'द्रष्टा'

मात्र है।[३५] तुलसी ने भी जीव को अजर अनादि माना है लेकिन उसके बन्धन का कारण 'माया' है।[३६] अन्यथा वह तो ईश-अंश है।[३७] मैं-मेरापन ही माया है।, जिसने समस्त जीवों को वशीभूत कर रखा है। माया का प्रभाव सर्वव्यापी है।[३८] तुलसी के अनुसार जो माया को, ईश्वर को, अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिये। जो (कर्मानुसार) बन्धन मोक्ष देने वाला सबसे परे और माया का प्रेरक है, वह ईश्वर है।[३९] जीव को माया के बन्धन से मुक्त करने के लिये तुलसी ने जिस उपासना-पद्धति पर बल दिया है, वह भक्ति है। तुलसी ने राम के श्री-मुख से कहलाया है कि 'धर्म' के आचरण से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्ष को देने वाला है। जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है।[४०] अनवरत संत-सेवा, भजन, इष्ट-निर्भरता, गुण-कीर्तन, पूजन इत्यादि भक्ति के अंग मानते हुए भक्त को काम, क्रोध दंभ, लोभ मोह के विमुक्त माना गया है।[४१] तुलसी ने भी भक्त द्वारा अनन्य चिन्तन से गीता की भाँति[४२] ईश प्राप्ति की बात दोहरायी है।[४३] तुलसी ने राम द्वारा शबरी को 'भागवत धर्म' समझाया है। नवधा भक्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने क्रमश: सन्त-संगति, राम-कथा-प्रेम, गुरु-सेवा, अमानी रहना, ईश-गुण-कीर्तन, मंत्र-जप, दृढ़विश्वास, भजन, सन्त धर्म का अनुपालन करते हुए शील, दम, विरक्ति का अभ्यास, समस्त विश्व में ईश्वर रूप-दर्शन, हानि-लाभ में समदृष्टि रखते हुए सन्तोष, स्वप्न में भी पर-दोष अदर्शन, सबसे सरल और छलहीन व्यवहार, ईश्वर-निर्भरता-ये नौ भेद बताये हैं।[४४] वस्तुत: उपासक व उपासना के समस्त पहलू इसमें समाहित हो गये हैं।

निर्मल वर्मा ने अपने एक निबन्ध धर्म, 'धर्मतन्त्र और राजनीति' में राजनीति के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए माना है कि राजनीति का तन्त्र एक विशिष्ट समाज में मनुष्यों के पारस्परिक संबन्धों को निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया में उन नियमों, विधियों और कानूनों का विधान बनता है, जो उन आदर्शों को रेखांकित करते हैं, जिनसे कोई राज्य-सत्ता अपनी वैधता प्राप्त करती है।[४५]

आज की राजनीति 'राजा' से 'जन' में हस्तान्तरित होती हुयी 'जनेच्छा' से 'दल', 'दल' से 'व्यक्ति' की निरंकुश इच्छा में सिकुड़ती चली गयी है। साम्प्रतिक दलगत, विकृत, मूल्यहीन राजनीति प्रजातंत्र का खुला मज़ाक है। यद्यपि तुलसी-काव्य में 'प्रजातंत्र' की बात न होकर 'राजतंत्र' का वर्णन है, लेकिन वह राजशाही आज की राजनीति की तुलना में कहीं अधिक उज्जवल, कहीं अधिक पारदर्शी और कहीं अधिक उच्चतर मूल्यों की वाहक रही है।

तुलसी के काव्य में कहीं भी सत्ता-मोह दृष्टिगोचर नहीं होता। राजनीति धर्म-प्रेरित है, जहाँ त्याग की भावना बलीभूत है। धर्म से यहाँ तात्पर्य किसी सम्प्रदाय विशेष से न होकर मानवीय-मूल्यों से है। वंश परम्परानुगत मिलने वाला राज्य भी राम को आकर्षित नहीं कर पता।[४६,४७,४८] भरत भी अनायास मिले राज्य का परिचालन त्याग-वृत्ति से करते हैं। यहाँ भी स्व-सुख भोग के स्थान पर कर्त्तव्य-बोध और अनासक्त भाव ही अधिक है।[४६]

जिस भाँति भरत 'राज' कर रहे हैं, आज के सत्तालोलुप, स्वार्थी, कुटिल राजनीतिज्ञों के लिये शिक्षाप्रद है।[५०] तुलसी द्वारा वर्णित व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था है। साम्प्रतिक विकृत राजनीतिक परिवेश में चुना हुआ नेता जोड़-तोड़ के चलते सत्ता पाता भी है या नहीं, समस्त प्रजा एक स्तर से उसका वर्चस्व मानती भी है या नहीं, बेहद विवादास्पद है। लेकिन राम के राज्याभिषेक के तो समाचार-मात्र से समस्त प्रजा हर्षोत्फुल्ल हो उठती है।[५१] एकमत से पाये राज्य को भी राम विवाद उठने पर व्यापक भलाई को देखते हुए त्यागने में एक क्षण भी नहीं लगाते। सत्ता का मोह तो उन्हें छू भी नहीं गया है।[५२]

तुलसी ने यत्र-तत्र राजा-प्रजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी संकेत दिया है।[५३] अयोध्याकाण्ड में राम कहते हैं कि मुखिया मुख के समान होना चाहिये, जो खान-पान में तो अकेला है परन्तु विवेकपूर्वक सब अंगों का पालन-पोषण करता है।[५४] इसी प्रकार सत्ताधीश के मंत्रियों को निर्भीक, स्पष्टवादी व राजा को यथास्थिति का सही मूल्यांकन देने वाला होना चाहिये। भय या चाटुकारितावश दी गयी मन्त्रणा सत्ताधीश के लिये घातक हो सकती है।[५५] रामचरितमानस में तुलसी ने मन्दोदरी[५६] और प्रहस्त[५७] द्वारा लंकेश के लिये जो कहलवाया है वह राजनीति के क्षेत्र में दूरदर्शिता, नीति और विवेक का उद्धरण है। प्रहस्त और विभीषण ने सदैव 'नीति' को सामने रख कर बात की है।[५८,५९] तुलसी का स्पष्ट मानना है- 'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें',[६०] अर्थात् नीति जाने बिना क्या राज्य रह सकता है ? वस्तुतः वही राजा धन्य है जो न्याय कर सकता है।[६१]

साम, दान, दण्ड और भेद-राजनीति के ये चार प्रमुख अंग हैं। तुलसी काव्य में न्यूनाधिक सबके दर्शन होते हैं। कुशल राजनीतिज्ञ राम समयानुसार दण्डित करते हुए तो दृष्टिगोचर होते ही हैं,[६२] उचित अवसर पर भेद-नीति का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते। वे तो इतने चौकस हैं कि विभीषण से अपनी सेना के समक्ष भी मुखर रूप से मन्त्रणा प्राप्त नहीं करते। इसके लिए भी नितान्त गुप्त मन्त्रणा करते हैं।[६३] अंगद की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि 'साम दान अरू दण्ड विभेदा, नृप-उर बसहिं नाथ कह बेदा।'[६४] राजनीति में शत्रु-पक्ष के सबल होने की समस्त संभावनाओं को भेद-नीति द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। राम ने भी सर्वत्र इसका सहारा लिया है। चाहे मेघनाथ के बल को क्षीण करने की बात हो,[६५] चाहे रावण-यज्ञ विध्वंसकी,[६६] अथवा रावण-मृत्यु-भेद की,[६७] विभीषण द्वारा सूचना पाकर ही पूरी की जा सकी है।

तुलसी की राजनीति धर्ममय है। यहाँ धर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय-विशेष का संरक्षक होना नहीं अपितु मानवीय और उदार नीति से सम्पृक्त होना है। विभीषण के शंकाकुल होने पर राम ने जिस 'धर्म-रथ' की चर्चा की है, स्पृहणीय है। राम ने कहा कि 'विजय-रथ' के शौर्य और धैर्य दो पहिये हैं। सत्य और शील (सदाचार) उसकी दृढ़ ध्वजा बल, विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होना) और परोपकार ये चार घोड़े हैं, जो क्षमा, दया,

समता रूपी डोरी से रथ में जुड़े हुए हैं। ईश-भजन ही रथ चलाने वाला सारथि है। वैराग्य ढाल है, संतोष तलवार है, दान परशु है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ ज्ञान कठिन धनुष है, निर्मल और स्थिर मन तरकश है। शम (मन का वश में होना), अहिंसादि यम और शौचादि नियम से बहुत से बाण हैं। ब्राह्मण और गुरु का पूजन अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर तो संसार (जन्म-मृत्यु) रूपी महान् दुर्जेय शत्रु को भी जीत सकता है। रावण की तो बात ही क्या है? वस्तुतः जिस शासक में ये गुण होंगे, प्रथमतः तो वह सबका प्यारा होगा, उसका कोई शत्रु ही नहीं होगा। यदि दुर्भाग्य से शत्रु हो भी तो उक्त व्यक्ति में इन गुणों से इतना दृढ़ आत्म विश्वास और साहस उत्पन्न होगा कि वह सफलता ही प्राप्त करेगा।

तुलसी के नायक के शासनारूढ़ होते ही सर्वत्र आनन्द और मंगल का साम्राज्य प्रसरित होता है।[६९] वस्तुतः शासक की सुव्यवस्था द्वारा ही सभी सुखी, साधन-सम्पन्न, निर्भय और शोक रहित हो गये हैं।[७०] चतुर्दिक् अगाध सन्तोष परिव्याप्त है, इसलिये परस्पर बैर-भाव भी नहीं-

'दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज,
जीतहु मनहि सुनिअ अस राम चन्द्र के राज।[७१]

यही तुलसी-निरूपित आदर्श व्यवस्था है और आज के परिप्रेक्ष्य में भी यही काम्य है।

पाद टिप्पणी

१. हिन्दू धर्मकोश, डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान समिति प्रयाग, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, पृ० ३३६

२. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।

मनुस्मृति, २.

३. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विध प्राहुः सद्धर्मस्य लक्षणम्।

-मनुस्मृति, २,१२.

४. धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना।

-श्री राम चरित मानस अयोध्याकाण्ड (मोटा टाईप, भाषानुवादसहित) गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण सं. २०१६, पृ० ३८०

५. परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीडा सम नहिं अधमाई।
-वही उत्तरकाण्ड, पृ० ८७५

६. धर्म कि दया सरिस हरि जाना'

-वही, पृ० ६४१

७. 'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा',

-वही, पृ० ६५५

८. 'प्रगट चारि पद धर्म के'

-वही, पृ० ६२६

(धर्म के चार चरण सत्य, दया, दान, तप-प्रतिष्ठित हैं)

६. 'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई, बिनु महि गंध कि पावई कोई।'
-वही पृ० ६१६

१०. हिन्दू धर्म कोश, पृ० ३३६

११. 'ऐहिंते अधिक धरम नहिं दूजा, सादर सास-ससुर पद पूजा'

-अयोध्याकाण्ड, पृ० ३५४

१२. 'मातु-पिता', गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभायँ,
लहेउ लाभु तिन्ह जानकर, नतरु जनमु जग जायँ।

-अयोध्याकाण्ड, दोहा सं०-७०, पृ० सं० ३६१

१३. 'अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई, करहु मातु पितु पद सेवकाई'

-वही, पृ० ३६१

१४. मोर तुम्हार परम पुरुषारथु, स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु
पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई, लोक वेद भल भूप भलाई

-अयोध्याकाण्ड, पृ० ५५१

१५. वही, अयोध्याकाण्ड पृ० ४७८

१६. 'सभय सप्रेम विनीत अति संकुच सहित दोउ भाई।
गुरु-पद पंकज नाई सिर बैठे आयसु पाई'

-वही, बालकाण्ड, दोहा सं. २२५, पृ० १६२

१७. बार-बार मुनि अग्या दीन्हीं, रघुबर जाइ सयन तब कीन्हीं

-वही पृष्ठ० १६३

१८. 'बन्दऊँ गुरु-पद पदुम परागा', वही पृ० ३.

१६. 'श्री गुरु पद-नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।'

-वही, पृ० ३

२०. गुरु पद-रज मृदु मंजुल अंजन, नयन अमिअ दृग दोष विभंजन',

-वही, पृ० ४

२१. 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं, मो कहुँ-सुखद कतहुँ कछु नाहीं,

-वही, पृ० ३५७

२२. 'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुम्हहिं उचित तप मो कहुँ भोगू ?

-वही पृ० ३५६

२३. "जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं, वेद पुरान संत सब कहहीं।
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखई कैसें, भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहई, सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।
बिनु अवसर भय तें रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई।
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई।"

-वही, पृ० ५६६

२४. जे न मित्र दुःख होहिं दुःखारी, तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।
निजः दुःख गिरि सम रज करिजाना, मित्रक दुःख रज मेरु समाना।
जिन्हकें असि मति सहज न आई, ते सठ कत हठि करत मिताई।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा, गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरा।
देत लेत मन संक न धरई, बल अनुमान सदा हित करई।
विपति काल कर सतगुन नेहा, श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।

-किष्किन्धाकाण्ड, पृ० ६२७

२५. "इद्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णे गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तयग्निं यमं मातरिश्वानर्माहुः।

-ऋग्वेद, १-१६४-४६

२६. "स ब्रह्म स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सो क्षरस्स परमः स्वराद
स इन्द्रस्स स कालाग्निस्स चन्द्रमा।"

-कैवल्य उपनिषद् ८

२७. 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'
-यजुर्वेद, अं. ३२, मं. ३

२८. "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू, स्वयम्भूर्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

-यजुर्वेद अं. ४, मं. ८

२६. "अमलमखिलमनवद्यमपारम्"- राम चरित मानस, अरण्य काण्ड, पृ० ५७७

३०. "जदपि बिरज व्यापक अविनासी"-वही, पृ० ५७७

३१. "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।"

-वही, पृ० ६०४

३२. "बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं,
गोबिन्द गोपर द्वन्द्वहर विग्यानघन धरनीधरं।"

-वही, अरण्यकाण्ड, पृ० ६०४

३३. “पूरन काम राम सुख रासी, मनुज चरित कर अज अविनासी’
-वही पृ० ६०३.

३४. ‘ब्रह्म अनामय, अज भगवंता, ब्यापक अजित अनादि अनंता।
गो, द्विज, धेनु, देव हितकारी, कृपा सिंधु मानुष तनुधारी।
-वही, सुन्दरकाण्ड, पृ० ६८६-६८७

३५. “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।”
-ऋग्वेद मण्डल-१, सूक्त १६४, मं. २०

३६. जो सबके रह ग्यान एक रस, ईश्वर जी वहिं भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी, ईस बस्य माया गुनखानी।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।
-रामचरितामनस, उत्तराकाण्ड, पृ० ६०६

३७. ईस्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो मायाबस भयउ गोसाईं, बंधे कीर मरकट की नाई। -वही पृ० ६४७

३८- “मैं अरु मोर तोर तैं साया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लागि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।”
-वही, अरण्यकाण्ड पृ० ५८२

३९. माया, ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।
-वही, अरण्यकाण्ड, दोहा सं. १५, पृ० ५८२

४०. “धर्म ते विरति जोग तें ग्याना, ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।
जातें बेगि द्रवऊँ मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई”
-रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ५८२

४१. “संत चरन पंकज अति प्रेमा, मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा, सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।
मम गुन गावत पुलक सरीरा, गदगद गिरा नयन बह नीरा।
काम आदि मद दंभ न जाके, तात निरन्तर बस मैं ताकें।
-रा.च.मा., अ.का., पृ० ५८३

४२. “अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः।
-श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ८, श्लोक सं. १४,
सं. २०११ (एकादश संस्करण) पृ. सं. २०६

४३. “वचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहिं निःकाम
तिनह के हृदय कमल चहुँ करऊँ सदा विश्राम।
-रा.म.मा., अरण्यकाण्ड, दोहा सं. १६, पृ० ५८३

४४. प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरि रति मम कथा-प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करई कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा, पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील विरति बहु करमा, निरत निरंतर सज्जन धरमा।
सातँव सम मोहि मय जग देखा, मो तें संत अधिक कर लेखा।
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा, सपनेहुँ नहि देखई परदोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना, मम भरोस हियँ हरष न दीना।
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई, नारिं पुरुष सचराचर कोई।
-रा.च.मा., अरण्य काण्ड, पृ० ६०७-६०८

४५. 'शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ० १६६

४६. "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।"
-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, श्लोक सं. २, पृ० ३०७

४७. "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू, विधि सब विधि मोहि सन्मुख आजू।"
-वही पृ० ३३६

४८. "नाहिन रामु राज के भूखे, धरम धुरीन विषय रस रुखे।"
-वही पृष्ठ ३४५.

४६. "सुनि सिख पाई असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि"
-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, दो. सं. ३२३, पृ० ५५८

५०. भूषन बसन भोग सुख भूरी, मन तन बचन तजे तिन तूरी।
अवधु राजु सुर राजु सिहाई, दशरथ धनु सुनि धनदु लजाई।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा,- चंचरीक जिमि चंपक बागा
-रा.च.मा. अयोध्याकाण्ड, पृ० ५५८

५१. राम राज अभिषेक सुनि, हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि।
-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ८, पृ० ३१३

५२. लोभु न रामहि राजु कर।
वही, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ३१

५३. "सेवक करपद नयन से, मुख सो साहिब होई।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकवि सरारहिं सोई।"
-रा.च.मा., अयोध्या काण्ड, पृ० ५४५

५४. "मुखिया मुख सो चाहिए, खानपान कहुँ एक।
पालई पोषई सकल अँग, तुलसी सहित विवेक।"
-रा.च.मा. अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ३१५, पृ० ५५१

५५. "सचिव बैद गुरु तीन जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीन कर होइ बेगहिं नास।"
-रा.च.मा., सुन्दर काण्ड, पृ० ६८६

५६ "नाथ बयरु कीजे ताही सों, बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।"
-रा.च.मा., लंका काण्ड, पृ० ६१३

५७. "कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती, नाथ न पूर आव एहि भाँति"
तथा
"सुनत नीक आगें दुःख पावा, सचिवन अस मत प्रभुहिं सुनावा"
तथा
"वचन परम हित सुनत कठोर, सुनहिं जो कहहिं ते नर प्रभु थोरेः।"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, पृ० ७१५

५८. "नीति विरोध न करिअ प्रभु, मन्त्रिन्ह मति अति थोरि"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, दोहा सं. ८, पृ० ७१५

५९. "नीति विरोध न मारिअ दूता"
-सुन्दरकाण्ड, पृ० ६७४

६०. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६४१

६१. "धन सो भूपु नीति जो करई"
-रा.च.मा., उत्तरकाण्ड, पृ० ६६३

६२. "भय बिनु होइना प्रीति"
रा.च.मा., सुन्दर काण्ड, पृ० ७०३
तथा
विनय न मान खगेस सुनु, डाँटेहिं पइ नव नीच।
वही, दोहा सं. ५८, पृ० ७०३

६३. "कह लंकेस मंत्र लगि काना"
रा.च.मा., लंका काण्ड, पृ० ७१७

६४. वही, लंकाकाण्ड, पृ० ७४३

६५. लंकाकाण्ड पृ० ७७५

६६. वही, पृ० ७८६

६७. "नाभिकुण्ड पीयूष बस याकें, नाथ जिअ रावनु बल ताके"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, पृ० ८०७

६८. 'सुनहु सखा कह कृपानिधाना, जेहिं जय होई सो स्यन्दन आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विबेक दम परंहित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजनु सारथी सुजाना, बिरति चर्म संतोष कृपाना।

दान परसु बुध सक्ति प्रचंडा, बर बिग्यान कठिन कोदण्डा।

अमल अचल मन त्रोन समाना, सम जम नियम सिली मुख नाना।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाके, जीत न कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।
महा अजय संसार रिपु, जीति सकई सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनंहु सखा मति धीर।
-वही लंकाकाण्ड, पृ० ७८१

६६. राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका।
बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग"
-रा.च.मा., उत्तरकाण्ड, दोहा सं. २०, पृ० ८५७

७०. दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।
-वही, पृ० ८५७

७१. -उत्तरकाण्ड, पृ० ८५६

☐ ☐ ☐

वेदकालीन मन्त्रिमण्डल

डॉ0 बलवीर आचार्य
रीडर संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक हरयाणा

वैदिक साहित्य में राज्य संस्था के पूर्ण विकास की सूचना उपलब्ध है। राजनीति के आचार्यों ने राजा के सात अङ्ग स्वीकार किये हैं:- १.राजा, २.अमात्य, ३.कोश, ४. दण्ड (सेना), ५. जनपद, ६. पुर (दुर्ग) और ७.प्रजा।[१]

इन सात अङ्गों में अमात्य (मन्त्रि या मन्त्रिमण्डल) का स्थान दूसरा है। ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक संस्थाओं के रूप में सभा और समिति का विकास हो चुका था। इन संस्थाओं के माध्यम से राज्य सञ्चालन के लिए जनप्रतिनिधि राजा के साथ मिलकर विचार विमर्श करते थे। ये जनप्रतिनिधि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते थे। अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें "रत्निन्" कहा गया है। इन्हीं को 'राजानः' और 'राजकृतः' भी कहा जाता था। ये राजशक्ति के रूप में राजा को एक मणि (पर्णमणि) प्रदान करते थे।[२] अथर्ववेद के अनुसार इनकी संख्या पाँच थी[३]- सूत, रथकार, कर्मार, ग्रामणी और राजानः। राजानः का तात्पर्य भावी राजा के, जिसके अभिषेक का प्रस्ताव है, कुटुम्बीगण तथा अन्य राजगण से था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह संख्या बढ़कर बारह हो गयी। यह इस प्रकार है- ब्राह्मण (पुरोहित) राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृत्ति, सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्रिय, संगृहीता, भागदुक और अक्षवाप।[४] राजन्य के विषय में कुछ विद्वानों का यह मानना है कि राजन्य वह व्यक्ति है जिसका अभिषेक होने जा रहा है। इस मत के अनुसार उक्त सूची से राजन्य को पृथक् कर केवल ग्यारह राजकर्त्ता माने जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस सूची में दो राजकर्त्ता और बढ़ाये गये हैं। वे हैं गोविकर्त्तन और पालागल।[५] मैत्रायणि संहिता में दो राजकर्त्ताओं की और वृद्धि की गई है जो तक्षण और रथकार हैं।[६] पंचविश ब्राह्मण में यह संख्या कम कर दी गई है। इस के अनुसार जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो रहा है, उसका भ्राता, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामीण, क्षत्रिय और संगृहीता है।[७]

मन्त्रिमण्डल के सदस्य :

शतपथ ब्राह्मण में इन राजकर्त्ताओं को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है। एक वर्ग को राजवंशीय राजकर्त्ता और दूसरे को अराजवंशीय राजकर्त्ता नाम से सम्बोधित किया गया है।[८] प्रथम श्रेणी राजकर्त्ता राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृत्ती,

भावी-राजा का भ्राता, भावी राजा का पुत्र और क्षत्रिय हैं। इन राजवंशीय राजकर्त्ताओं

को अनुकूल बनाये रखना बहुत आवश्यक था। क्योंकि ये लोग राजघराने के होते थे। इसलिए कभी भी राजा के विरोध में षड्यन्त्र रच सकते थे। इनके षड्यन्त्र रचने से राज्याभिषेक में विघ्न पड़ने की पूरी-२ संभावना बनी रहती थी, इसलिए प्रयत्न पूर्वक राजा इन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। उत्तर वैदिक काल में राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले "रत्नहवींषि" संस्कार से मन्त्रिमण्डल और राजकर्त्ताओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। यह संस्कार "राजसूय यज्ञ" का अभिन्न अंग था। इस संस्कार पर वेबर, जायसवाल और घोषाल प्रभृति विद्वानों ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

रत्नहवींषि संस्कार के अनुसार राजा प्रत्येक रत्निन् के घर जाता और वहाँ समुचित देवता को बलि अर्पित करता था। पाँच ग्रन्थों में इन रत्नियों के नाम आये हैं, इनके आधार पर निम्नलिखित एक सारिणी तैयार की है।

रत्नहवींषि में रत्नियों की सूची

क्रम	तैत्तिरीय संहिता 1.8.9	मैत्रायणी संहिता 11.6.5 IV.3	काठक संहिता XV.4	तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.7.3. और आगे	शतपथ ब्राह्मण 5.2.5.1
1.	ब्रह्मन्	ब्रह्मन्	बृहस्पति के लिए पुरोहित	ब्रह्मन्	सेनानी
2.	राजन्य	राजन्य	इन्द्र के लिए राजा	राजन्य	पुरोहित
3.	महिषी	महिषी	अदिति के लिए महिषी	महिषी	याजक
4.	परिवृत्ती	परिवृत्ती	नैर्ऋत के लिए परिवृत्ती	वावाता	महिषी
5.	सेनानी	सेनानी	अग्नि के लिए सेनानी	परिवृत्ति	सूत
6.	सूत	संगृहीतृ	अश्विनों के लिए संगृहीतृ	सेनानी	ग्रामणी
7.	ग्रामणी	क्षतृ	सवितर के लिए क्षतृ	सूत	क्षतृ
8.	क्षतृ	सूत	वरुण के लिए सूत	ग्रामणी	संगृहीतृ
9.	संगृहीतृ	वैश्यग्रामणी	मरुत् के लिए वैश्यग्रामणी	क्षतृ	भागदुक्
10.	भागदुक्	भागदुक्	पूषन् के लिए भागदुक्	संग्रहीतृ	अक्षावाप
11.	अक्षावाप्	तक्षन्	अक्षावाप	भागदुक्	गोविकर्त्तन
12.		रथकार	रुद्र के लिए गोव्यच्छा	अक्षावाप	पालागल
13.		अक्षावाप			परिवृत्ती
14.		गोवित्कर्त्त			

रत्नहवींषि संस्कार में राजा जिन लोगों के द्वार पर जाता था, उनका राजनीतिक महत्त्व अनेक अवतरणों में भली-भाँति प्रकट होता है। वहाँ बलपूर्वक यह कहा गया है कि राजा इन रत्नियों को अपने राज्य का आधारस्तम्भ मानता है। रत्नियों को राज्य देने और लेने वाले "राष्ट्रस्य प्रदातारः एते परदातारः" कहा गया है।[८] इन्हें राजशक्ति का अंग "क्षत्रस्य वा एतान्यगांनि[९] कहा गया है। यह वर्णन मनु और अन्य विचारकों द्वारा वर्णित राज्य के सात अंगों का स्मरण कराता है। वहाँ यह भी कहा गया है कि यदि रत्निन् ओजस्वी और तेजस्वी हो तो वह राष्ट्र भी ओजस्वी और तेजस्वी होगा।[१०] मैत्रायणी संहिता में रत्नियों को राजशक्ति का अनिवार्य अंग कहा गया है, जिनकी तेजस्विता से सम्पूर्ण राष्ट्र तेजस्वी होता है।[११] तैत्तिरीय ब्राह्मण में रत्नियों को राष्ट्र को प्रदान करने वाला और धारण करने वाला कहा गया है।[१२] राजसूय के अवसर पर राजा प्रत्येक रत्नी से कहता है कि वह निश्चित रूप से राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिए राजा का अभिषेक होता है।[१३] राजसूय के इस कृत्य का लक्ष्य राजा के लिए जनता के इन महत्त्पूर्ण व्यक्तियों की स्वामिभक्ति प्राप्त करना होता था।

अधिकांश रत्नियों के घर राजा जिस मन्त्र का उच्चारण करता है उसमें वह कहता है कि मैं रत्नियों के लिए ही अभिषिक्त हुआ हूँ और मैं इन्हें अपना निष्ठावान् अनुगामी बनाता हूँ।[१४] अन्य अनेक स्रोतों से भी यह पुष्ट हो जाता है कि पुरोहित, राजन्य, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ और संग्रहीतृ आदि विशिष्ट व्यक्ति थे। इन्हें ऐसा व्यक्ति कहा गया है जो राजा का अभिषेक करते हैं और साथ मिलकर राजपद को शक्ति प्रदान करते हैं।[१५] इस संस्कार में जिन अधिकारियों को रत्निन् कहा गया है वे राजसूय यज्ञ के ही एक अन्य संस्कार यज्ञ खड्ग के हस्तान्तरण में भी, जो द्यूत क्रीड़ा का एक अंग था, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने गए हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय शाखा के अनुसार यह यज्ञखड्ग सूत और ग्रामणी को भी हस्तान्तरित किया जाता है, ताकि वे राजा के अधीनस्थ बने रहें।[१६] इसी सन्दर्भ में कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के अवतरण में यह खड्ग पुरोहित को दिया जाता है, जो इसे रत्नियों को हस्तान्तरित कर देता है। अंत में यह अक्षावाप के हाथ में जाता है जो इससे क्रीड़ाक्षेत्र तैयार करता है।[१७] राजा तथा उसके कर्मचारियों और आश्रितों के पारस्परिक संबन्धों को रत्नहवींषि संस्कार द्वारा पुनीत बनाया जाता था और इन्हें धर्म संस्कारों का रूप प्रदान किया जाता था। जिन रत्नियों के पास राजा इस अनुष्ठान के क्रम में जाता था वे निश्चय ही उसके घरेलू परिचर और प्रशासन तंत्र के अंग थे। ब्राह्मण कालीन राज्य व्यवस्था में इन दोनों वर्गों के कर्मचारियों के मध्य कोई स्पष्ट रेखा खींचपाना कठिन है। इन रत्नियों की सांविधानिक स्थिति क्या थी, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत से विद्वान् इन रत्नियों को उच्चाधिकारी मानते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये रत्निन् एक राजपरिषद् के अंग थे। यह तो हो सकता है कि

विभिन्न राज्यों में उनकी संख्या में कुछ अन्तर रहा हो, क्योंकि राजसूय यज्ञ, भरतों, कुरुओं और पंचालों, तीनों के राज्यों में होता था। शतपथ ब्राह्मण से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह यज्ञ विदेह में भी प्रचलित रहा होगा, जिसमें रत्नियों की संख्या बारह रही होगी।

इन रत्नियों अथवा राज्याधिकारियों का स्वरूप निम्न प्रकार रहा होगा।

१. ब्राह्मण अथवा पुरोहितः

राजा के धार्मिक कृत्य करने वाला ब्राह्मण पुरोहित कहलाता था।[१८] वह राजगुरु होता था और समय-समय पर आवश्यकतानुसार परामर्श एवं मंत्रणा देता था, पुरोहित राजा के साथ युद्ध के समय में भी रहता था। वह राजा की विजय के लिए प्रार्थना करता था। राजा का सबसे बड़ा हितचिन्तक अथवा निकटस्थ पुरोहित माना जाता था। पुरोहित शब्द का निर्वचन निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है- "पुर एनं दधति"[१९] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सर्वप्रथम मन्त्र में अग्नि को पुरोहित कहकर पुकारा गया है.।[२०] महर्षि दयानन्द ने अग्नि का अर्थ परमात्मा भी किया है। इस मन्त्र में परमात्मा को पुरोहित कहकर पुकारा गया है।

शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में रत्नियों में पुरोहित का स्थान सर्वप्रथम माना गया है। इससे शासन तन्त्र में उसकी प्रमुखता का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। पुरोहित जहाँ राजा का परामर्श दाता होता था, वहाँ यज्ञों और अनुष्ठानों के द्वारा राजा को दैवी कृपा का पात्र भी बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में उसे राष्ट्र गोप कहा गया है।[२१] इससे उसके राजनैतिक महत्त्व का बोध होता है। इस रत्नी-सूची में ब्राह्मण अथवा पुरोहित को ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि मानना केवल पूर्वाग्रह ही कहा जायेगा। वस्तुतः राजनैतिक क्षेत्र में पुरोहित का महत्त्व प्रशासन कार्य में धार्मिक एवं बौद्धिक सहयोग के कारण ही था न कि किसी सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण।

रत्नी-सूची के पुरोहित के सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण में पुरोहित का स्थान सेनानी के पश्चात् है[२२] तथा पंचविश् ब्राह्मण के वीरों की सूची में उसका नाम राजभ्राता और राजपुत्र के अनन्तर है।[२३] इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस काल में धीरे-धीरे पुरोहितों का महत्त्व भी घटता जा रहा था।

ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है वहाँ कहा गया है कि देवता पुरोहित विहीन राजा के अन्न को स्वीकार नहीं करते, इसलिए यज्ञ की इच्छा वाले राजा को एक पुरोहित रखना चाहिए कि "देवता मेरे अन्न को ग्रहण कर लें।" राजा पुरोहित का संपादन करता है वह स्वर्ग को ले जाने वाली अग्नियों को

स्थापित करता है। पुरोहित ही राजा का आहवनीय अग्नि है, स्त्री गार्हपत्य है पुत्र दक्षिणाग्नि है। राजा पुरोहित के लिए जो कुछ करता है वह आहवनीय अग्नि में होम करने के समान है। पुरोहित के द्वारा वे अग्नियाँ अपने उग्ररूप को छोड़कर अभीष्ट होम से प्रसन्न होकर इस राजा को स्वर्ग पहुँचाती हैं। पुरोहित की प्रसन्नता से मन के उत्साह रूप शौर्य को, शारीरिक बल को, राष्ट्र को और प्रजा को प्राप्त कराने वाली होती है। अभीष्ट होम के अभाव में यदि ये उग्र रूप धारण कर लें तो अप्रसन्न होकर वे ही इस राजा को स्वर्ग लोक से गिरा देती हैं, उसे शौर्य से, शारीरिक बल से, राष्ट्र से और प्रजा से च्युत कर देती हैं।

आलंकारिक रूप से इस विषय का विस्तार करते हुए ब्राह्मण कार कहते हैं- यह पुरोहित उपद्रव कारिणी क्रुद्ध पाँच शक्तियों वाला वैश्वानर अग्नि है। उसकी वाणी में एक शक्ति होती है, दोनों पैरों में एक, त्वचा में एक, हृदय में एक और उपस्थ में एक शक्ति होती है। उन जलती हुई पाँच शक्तियों के साथ पुरोहित राजा के पास आता है। जब राजा कहता है- हे भगवन्। अबतक आप कहाँ रहे? और सेवकों से कहता है-हे परिचारकों ! तृण निर्मित आसन पुरोहित के लिए लाओ। राजा के इन प्रिय वचनों से पुरोहित की वाणी में जो बाधिका शक्ति होती है, उसका शमन हो जाता है। इसके बाद जब पुरोहित के चरण प्रक्षालन के लिए जल आता है तो जो उसके पैर की क्रुद्ध शक्ति होती है, उसे वह शान्त करता है। इसके बाद जब उसे वस्त्रादि से अलंकृत किया जाता है। तब उसकी त्वचा में जो क्रुद्ध शक्ति होती है उसका शमन हो जाता है। तत्पश्चात् जब धन आदि के द्वारा उसे तृप्त करते हैं तो उसके हृदय में जो क्रुद्ध शक्ति होती है वह शान्त हो जाती है। जब वह पुरोहित राज प्रसाद में बिना किसी बाधा के उन्मुक्त रूप से विचरण करता है तो उसके उपस्थ की अग्नि शान्त होती है।

इस प्रकार होम के द्वारा प्रसन्न एवं शान्त शरीर वाला वह पुरोहित राजा को स्वर्गलोक पहुँचाता है और उसे शौर्य, शारीरिक बल, राष्ट्र एवं प्रजा से समृद्ध करता है। वही पुरोहित यज्ञ के अभाव में अशान्त शरीर एवं अप्रसन्न होकर राजा को स्वर्ग लोक से वञ्चित कर देता है और उसे शौर्य, बल, राष्ट्र एवं प्रजा से भी च्युत कर देता है।[२४]

पुरोहित वरण :

पुरोहित का वरण करते समय राजा निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है-

"भूर्भुवः स्वरोममोऽहमस्मि, स त्वं; स त्वमस्योऽहं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, सामाहमृक्त्वं, तावेव संवहावहै।"

पुरोहित का वरण कर लेने पर राजा द्वारा प्रदान किये गये आसन का पुरोहित

अभिमन्त्रण करता है। तत्पश्चात् अभिमन्त्रित आसन पर वह बैठता है। उसके बाद राजा पाद प्रक्षालन के लिए जल देता है। पुरोहित उस जल को देखता हुआ, मन्त्र पाठ करता है-

"अस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयाम्यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापः।[२५]

अर्थात हे जल ! मैं पुरोहित इस राष्ट्र में धन-सम्पदा का सम्पादन करता हूँ। अतः मैं द्योतनात्मक तुम दिव्य जलों की ओर देखता हूँ।

पाद प्रक्षालन के पश्चात् अवशिष्ट जल का अभिमन्त्रण करते हुए कहता है- "पैरों को धोने से बचा हुआ यह जल मेरे शत्रु को भस्म करे।"

इस प्रकार पुरोहित की वरण विधि में भी राष्ट्र की रक्षा का दिव्यभाव विद्यमान है।

पुरोहित की योग्यता

राजा का पुरोहित कैसा होना चाहिए इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि जो ब्राह्मण तीन पुरोहितों और उसके तीन पुरोधाताओं का पूर्ण ज्ञाता हो, वह राजा का पुरोहित होना चाहिए। ये तीन पुरोहित अग्नि, वायु और आदित्य और उनके क्रमशः तीन पुरोधाता पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं। राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता व्यक्त करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस राजा का ऐसा ब्राह्मण राष्ट्र का रक्षक पुरोहित होता है, दूसरे राजागण उस राजा के मित्र बन जाते हैं और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है। वह क्षत्र से क्षत्र को और बल से बल को जीत लेता है। जिस राजा का ऐसा राष्ट्ररक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजाः (विशः) उसको निरन्तर एवं एकमत होकर नमन करती हैं।[२६]

पुरोहित का पद वैदिक काल से ही बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह राजा का गुरु होता था और राजा को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयास करता था। राजा के कार्यों के औचित्य और अनौचित्य का वह निर्णायक था। शासन की नीति के संचालन में भी उसका बहुत महत्त्व था। पुरोहित को यह अनिवार्य था कि वह राजनीति और धर्म दोनों प्रकार के शास्त्रों में निपुण होना चाहिए। राजा की अनुपस्थिति में वह शासन का संचालन भी कर सकता था।

पुरोहित का उपयोग अन्यत्र भी किया जा सकता था। प्राचीन ग्रन्थों और काव्यों में वर्णन है कि राजा लोग अपने विशेष महत्त्वपूर्ण सन्देशों को दूसरे राज्य में पुरोहित द्वारा भी भेजा करते थे।

पुरोहित के घर जाकर राजा जो याग करके हवि प्रदान करता था उसका देवता इन्द्र, हवि-कपाल पुरोडाश तथा दक्षिणा ऋषभ होती थी।

विधि का रक्षक :

पुरोहित पर गुरुतर कार्य विधि की रक्षा का होता था। न्याय का निर्णय राजा स्वयं नहीं कर सकता था। उसको पुरोहित से विधि की व्याख्या कराकर निर्णय देना होता था। वैदिक काल में विधि के लिए पारिभाषिक शब्द धर्म था।[२७] इस शब्द की उचित जानकारी के अभाव में आधुनिक विचारक पुरोहित को मात्र धर्म का अधिष्ठाता मानते हैं, जबकि उसकी स्थिति प्रमुख न्यायधीश के रूप में परामर्श दाता की थी। विधि (धर्म) के नियमों को 'व्रत' कहा जाता था। विधि की रक्षा का भार मुख्य रूप से राजा और पुरोहित दोनों का होता था। इसी कारण इन दोनों को शतपथ ब्राह्मण में 'धृतव्रतौ' (अर्थात् संविधान के नियमों का रक्षक) कहा गया है।

सेनानी :

राज्यशक्ति को सुदृढ़ करने तथा उसे बाह्य एवं आन्तरिक भयों से सुरक्षित रखने के लिए सेना की अपरिहार्यता मानी गई है। राज्य के विरूद्ध बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से राजा और प्रजा की रक्षा करने के लिए सेना का संगठन किया जाता है। राज्य के सात अंगों में सेना का बहुत महत्त्व है। अत: व्यवस्थित प्रकार की सेनाओं को संगठित करने के विस्तृत निर्देश वैदिक संहिताओं और प्राचीन शास्त्रों में दिये गये हैं। विविध प्रकार के आयुधों से सुसज्जित, सुसंगठित, मनुष्य आदि के समूह को सेना कहते हैं।[२८] राज्य के सात अंगों में सेना का वही स्थान है, जो शरीर में मन का है।[२९] राज्यरूपी वृक्ष के ये पुष्प पल्लव हैं।[३०] इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार मन के द्वारा आत्मा इन्द्रियों का संचालन करता है, उसी प्रकार राजा सेना के द्वारा राज्य का संचालन करता है। जिस प्रकार पुष्प पल्लवों से समृद्ध वृक्ष उन्नति का स्वरूप है, इसी प्रकार समृद्ध राज्य में ही सेनायें सशक्त हो सकती हैं।

प्राचीन आचार्यों का यह कथन है कि सेना के आश्रय से ही धर्म की स्थिति होती है। अत: धर्म की अपेक्षा भी यह श्रेष्ठ है। जिस प्रकार पृथिवी पर जीव निवास करते हैं, उसी प्रकार, बल पर धर्म का निवास है।[३१] सेना के बिना न तो राज्य सुरक्षित रहता है, न कोष का अधिक संग्रह होता है और न ही शक्ति का विकास होता है। कोष और शक्ति की वृद्धि तथा शत्रुओं का विनाश व्यवस्थित सेना ही कर सकती है।[३२] अत: प्रशासन के लिए व्यवस्थित, सुसंगठित और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सेना की परम आवश्यकता है।

वैदिक आर्य राज्यों में सेना का संगठन किया जाता था और उसे एक सर्वोच्च पदाधिकारी की देखरेख में रखा जाता था। सेना का यह सर्वोच्च अधिकारी सेनानी कहलाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के रत्नों में सेनानी सर्वोच्च रत्न था। भावी राजा के राज्याभिषेक यज्ञ के अवसर पर राजा सेनानी के निमित्त सर्वप्रथम आहुति देता

था। प्रस्तावित राजा की नियुक्ति में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद् के नवम् मण्डल के एक सूक्त में सोम को राजपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। सोमराजा शत्रु-जय हेतु अपनी सेना के साथ शत्रु से गौएँ प्राप्त करने के लिए युद्धभूमि की ओर प्रस्थान करता है। इस अवसर पर उसकी सेना के आगे-आगे सेनानी इस सेना का संचालन करता हुआ उत्साह के साथ गमन करता हुआ दिखलाया गया है। उसकी सेना भी अपने सेनानी के अधीन हर्षोल्लास पूर्वक पीछे-पीछे गमन करती हुई वर्णित है।[३३]

यजुर्वेद में एक स्थान पर सेनानी वेश में रुद्र की स्तुति की गयी है। रुद्र की स्तुति में कहा गया है- "ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त अथवा चमचमाते हुए बाहुरक्षक धारी सेनानी वेशधारी रुद्र को नमस्कार है।[३४] इसी प्रकार यजुर्वेद में कई प्रसंगों में सेनानी का उल्लेख है। यजुर्वेद में एक प्रसंग में सूर्यदेव का वर्णन राजा के रूप में है। इस प्रसंग में उसका सेनानी उनके रथ के अग्रभाग में आसीन वर्णित है।[३५]

अथर्ववेद में सेनापति की नियुक्ति के विषय में निम्न प्रकार से वर्णन पाया जाता है- "हे राजन् ! तुझसे अधिक शक्तिशाली इस सेनापति को मैं तेरी सहायता के लिए नियुक्त करता हूँ, जिस से प्रेरित हुए सैनिक सदा विजय प्राप्त करते हैं, कभी पराजित नहीं होते। सेनापति राजा को सम्पूर्ण राजमण्डल और मनुष्यों में एकमात्र सर्वश्रेष्ठ बनाता है।[३६]

सेनानी के गुण एवं योग्यता :

वेद के अनेक मन्त्रों में सेनापति की योग्यता, गुणों तथा कर्त्तव्यों के विषय में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। सेनापति से प्रार्थना करते हुए प्रजाजन कहते हैं- "हे इन्द्र! तु संग्राम में विजय प्राप्त कर। सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुगण को नीचा दिखा, जो हमें नष्ट करना चाहते हों, उन्हें अधोगति रूपी अंधकार में ले जा।"[३७]

सम्पूर्ण सेनाओं में शीघ्रकारी वर्षभ के समान भयंकर शत्रुरोदक, रिपुप्रकम्पक, निरन्तर प्रयत्नशील, विजयशील आत्मवशी, बाहुबल से पूर्ण, युद्धशील, उग्रधन्वा आदि विविध रूपों में सेनापति का वर्णन करते हुए योद्धाओं का सेनापति के साथ मिलकर विविध शस्त्रास्त्रों से शत्रु सेना का विनाश कर वीरता प्रदर्शन करने का अति तेजस्वी वर्णन वेदों में किया गया है।

सेनानी के घर जाकर राजा द्वारा किये जाने वाले रत्नहवींषि याग में देवता अनीकवान् अग्नि, हवि, कपाल पुरोडाश तथा दक्षिणा हिरण्य की होती थी।[३८]

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता के अनुसार सेनानी का स्थान रत्नियों में पाँचवां है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे छठा और शतपथ ब्राह्मण में प्रथम स्थान दिया गया है।[३९] ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं की साम्राज्यवादी

मनोवृत्ति के विकास के कारण ब्राह्मण युग के अन्त तक सेनानी का पद काफी महत्त्वपूर्ण हो गया था। अधिकांश ग्रन्थों में इसके पाँचवें स्थान के कारण तथा पंचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में इसके अनुल्लेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शासन विभाग की तुलना में सेना विभाग का महत्त्व कुछ कम था।[४०]

सेनानी के घर पर पवित्र वैदिक देवता अग्नि को हवि प्रदान किया जाता था। सेनानी अग्नि देवता का पार्थिव प्रतिनिधि प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में अग्नि का उल्लेख सेना के अग्रणी नेता के रूप में भी हुआ है।[४१] सेनानी का कार्य भी युद्धों में सेना का नेतृत्व करना ही था।

ग्रामणी

वैदिक काल में राज्य के उच्च कार्यकत्ताओं में ग्रामणी का स्थान भी सेनानी के समान ही महत्त्वपूर्ण होता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सूक्त में दक्षिणा के महत्त्व का वर्णन है। इस सूक्त में, दक्षिणा देने से दाता पुण्यभागी बनता है, उसे यश प्राप्त होता है, उत्सव एवं समारोहों में वह प्रथम आमंत्रित किया जाता है, वह राजपद पाने का अधिकारी बन जाता है, आदि शब्दों से दक्षिणा दाता की प्रशंसा की गई है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि दक्षिणा दाता ग्रामणी पद पाता है।

ऋग्वेद के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ग्रामणी पद विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित बतलाया गया है। उसमें कई ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें सेनानी और ग्रमणी का उल्लेख साथ-साथ है।[४१] इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ग्रामणी पद भी सेनानी के समान ही वैदिक आर्य राज्यों में महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित होता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में वैदिक राज्यों के विविध व्यवसायियों, शिल्पियों, कार्यकर्त्ताओं आदि का संकेत रूप में उल्लेख है। इसी प्रसंग में ग्रामणी की ओर भी संकेत मिलता है। इस वर्णन में ग्रामणी को सम्मान का पात्र बतलाया गया है।[४२] अथर्ववेद के इस प्रसंग में, प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पर्णमणि को सम्बोधित करता है- हे पर्ण। ग्रामणी को मेरा सहायक बना।[४३] अथर्ववेद में ग्रामणी वैदिक राजा के रत्नों में से एक महत्त्वपूर्ण रत्न बतलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ग्रामणी राज्य के उच्च कार्यकर्त्ता के रूप में वर्णित है।

संहिताओं में ग्रामणी का उल्लेख वैश्यग्रामणी के रूप में हुआ है। इससे यह पता चलता है कि वह गाँव में रहने वाले लोगों का प्रधान होता था। एक अनुमान यह है कि वह राजधानी में रहने वाला वंशानुगत क्षेत्रस्वामी था। लेकिन ऐसा कोई आधार भी नहीं मिलता, जिससे सिद्ध होता हो कि वह सदा राजधानी में ही रहता हो। भरतों, कुरुओं और पंचालों के राज्य इतने बड़े नहीं हुए थे कि राजा अपने अपने राज्य के सभी भागों में सरलता पूर्वक आवागमन न कर सकता हो। यह निश्चय करना कुछ कठिन

सा ही है कि ग्रामणी का वास्तविक कार्य क्या था। इस बात की पूरी संभावना लगती है कि वह युद्धक्षेत्र में जनता के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करता हो, और यह भी संभव है कि वह ग्रामीण जनता की सामान्य देख-रेख का काम भी करने लगा हो। इससे यह ज्ञात होता है कि ग्रामणी सैनिक, असैनिक दोनों प्रकार का संयुक्त पदाधिकारी था, जिसके सैनिक असैनिक दोनों प्रकार के कर्त्तव्य होते थे।

ग्रामणी पद का वास्तविक अर्थ ग्रामनेता अथवा जनसमूह का नेता था, यह स्पष्ट नहीं है। अनेक विद्वान् ग्रामणी को ग्रामनेता मानते हैं, परन्तु कतिपय अन्य विद्वान् उसे जननेता स्वीकार करते हैं। बाल्मीकीय रामायण में भी ग्रामणी का उल्लेख प्रतिष्ठित पदाधिकारियों में है।[४४] महाभारत में ग्रामणी जननेता के रूप में वर्णित है।[४५]

रत्नहवींषि याग में ग्रामणी का देवता मरुत् तथा हवि कपाल पुरोडाश प्रतिपादित किया गया है। इसकी दक्षिणा चितकबरी गौ मानी गयी है।

सूत :

राजा के मन्त्रिमण्डल अर्थात् रत्नियों में सूत का भी उल्लेख किया गया है। वैदिक वाङ्मय में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यजुर्वेद में एक स्थान पर सूत-वेशधारी रुद्र की स्तुति की गई है और सूत के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है।[४६] वेदभाष्यकारों ने इस प्रसंग में सूत को सारथि माना है। उनका यह मानना है कि इस प्रसंग में सूत का विशेष लक्षण दूसरे को न मारने वाला (अहत्य) है। सूत युद्ध में रथ संचालन करता था। वह योद्धा के रूप में कार्य नहीं करता था, अर्थात् दूसरे (शत्रु) को मारता नहीं था। परन्तु कुछ विद्वान् 'अहत्यै' पद का अर्थ अवध्य करते हैं। उनके मतानुसार सूत राजा का प्रशस्तिकार अथवा विशेष ऐतिहासिक घटनाओं का संकलनकर्त्ता होता था। इसी कारण उसे अवध्यता का अधिकार दिया गया था। सूत के इस विशेष स्वरूप की ओर ही यजुर्वेद के इस मन्त्र में संकेत किया गया है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के एक मन्त्र में इस विषय की अप्रत्यक्ष रूप से पुष्टि की गयी है। इस मन्त्र में सूत का सम्बन्ध नृत्त से जोड़ा गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि सूत की उत्पत्ति नृत्त के लिए (नृत्ताय सूतम्) हुई है।[४७] नृत्त एक अत्यन्त उपयोगी कला है। इस कला द्वारा मनुष्य अपने इंगित, आकार, चेष्टा तथा शरीर के विविध अंगों द्वारा भाव व्यक्त करता है। इस संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सूत का स्वरूप भी इससे मिलता जुलता रहा होगा। यह वर्णन मध्यकालीन राजा, महाराजाओं की स्तुति करने वाले भाटों अथवा चरणों से मिलता हुआ सा दिखाई देता है। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा सूत के घर जाकर वरुण को हवि अर्पित करता है, जिसके लिए दक्षिणा के रूप में घोड़ा देने का विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट व्यक्ति सारथी था।[४८] एक अन्य स्थान पर इसका जो उल्लेख मिलता है उसमें इस

अधिकारी को और स्थपति को एक ही माना गया है।[४९] स्थपति शब्द के शासक वास्तुकार, प्रधान, प्रधाननिर्माता, बढ़ई और चक्रनिर्माता आदि अनेक अर्थ संभव हैं।[५०] इनमें से शासक और प्रधान न्याय कर्त्ता ये दो अर्थ अधिक ग्राह्य माने गये हैं। लेकिन रथ के साथ सूत के सम्बन्ध को देखते हुए, चक्रनिर्माता अर्थ सन्दर्भ के अधिक निकट बैठता है। सूत संभवतः सारथि और रथकार दोनों के कार्य करता था। चूँकि उसके कार्यों का सम्बन्ध शारीरिक श्रम से था, शायद इसीलिए परवर्ती काल में उसका सम्मान कम हो गया। किन्तु पूर्ववर्ती काल में उसका महत्त्व पर्याप्त था।

अथर्ववेद में सूत को राजा के रत्नों अथवा राजकर्त्ताओं में परिगणित किया गया है। वैदिक राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर उसे राजपद देने में सूत की अनुमति भी वांछनीय होती थी। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर प्रस्तावित राजा पर्णमणि को सम्बोधित करता हुआ कहता था- "हे पर्ण! सूत को मेरा सहायक बना।"[५१]

शतपथ ब्राह्मण में इन दोनों को "अराजवंशीय राजकर्त्ताओं (यथा वै राज्ञोऽराजानो राजकृतः) की श्रेणी में परिगणित किया गया है।"[५२] रामायण महाभारत में भी सूत का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में सूत राजा की मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य बतलाया गया है। सूत का प्रधान कर्त्तव्य अपने समय की, विशेष रूप में अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित, ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करना था। मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु सूत की योग्यता एवं उसके गुणों का वर्णन करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है-"आठ गुणों (सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊध्न, अपोहन विज्ञान और तत्त्वज्ञान) से युक्त प्रगल्भ, अनसूयक, पचास वर्षीय, श्रुति और स्मृति का ज्ञाता, विनीत, समदर्शी, कार्य में विवदमान पुरुषों में समर्थ, सात प्रकार के घोर व्यसन रहित और पौराणिक सूत होना चाहिए।[५३] महाभारत के इस उद्धरण के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सूत भी राजा के समीप रहता हुआ, इसी श्रेणी का कार्य करता होगा।

क्षत्रिय :

राजा के छत्र को धारण करने वाले अथवा उसकी रक्षा का भार ग्रहण करने वाले को क्षत्रिय का पद दिया गया था।

क्षतृ के दो अर्थ बताए गए हैं- तक्षक और क्षत्रधर। किन्तु इनमें से प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त नहीं है। क्योंकि वह तक्षन् नामक रत्नि पर अधिक लागू होता है, और इसीलिए क्षतृ का यह अर्थ अनुचित सिद्ध हो जाता है। संभवतः यह राजा का परिपार्श्वक भी रहा हो।

सूत की तरह परवर्ती काल में उसका स्थान भी नीचे आ गया और वह वर्णसंकर

जाति के सदस्य के रूप में तिरस्कृत कर दिया गया। क्षत्तृ का थोड़ा सा सम्बन्ध सविता से भी दिखलाया गया है, जो देवताओं का प्रेरक था। रत्नहवींषि याग में क्षतृ के देवता, सविता को कपाल, पुरोडाश की हवि प्रदान की जाती थी। दक्षिणा के रूप में श्वेत बैल अथवा दो जुड़वा गायें दी जाती थी।

संग्रहीता :

यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक मन्त्र में संग्रहीता नाम के एक अधिकारी की ओर संकेत किया गया है।[५४]

विद्वानों ने संग्रहीता को अर्थ विभाग का विशेष पदाधिकारी माना है। वह भी राजकर्त्ताओं में था। टीकाकारों के मत को दृष्टिगत करते हुए तथा अर्थशास्त्र के सन्निधाता नामक अधिकारी से इसकी समानता स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह कोषाध्यक्ष था।[५५] अधिकांश ग्रन्थों में भागदुक् के साथ इसके उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है। अनेक विद्वानों ने संग्रहीतृ का अर्थ वल्गा धारण करने वाला **(Holder of the reins)** या रथचालक स्वीकार किया है।[५६] तथा इस आधार पर उसे प्रमुख योद्धा का सारथी माना है।

संगृहीता का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद में नहीं मिलता। इनका उल्लेख यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में है, इससे प्रतीत होता है कि नियमित रूप से राजकर वसूलने की परम्परा तथा राजकोष की व्यवस्था उत्तर वैदिक युग में भली-भांति पुष्ट हो चुकी थी।

इसका शाब्दिक अर्थ लगाम पकड़ने वाला या चालक है।[५७] अत: यह रत्निन् कोई निम्न श्रेणी का सारथि था, जो मुख्य योद्धा के सारथि के रूप में कार्य करने वाले सूत से भिन्न था। गोहरण अनुष्ठान में रथ की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रथ का निर्माण या संचालन करने वाले नाना प्रकार के लोगों को ऐसी प्रतिष्ठा प्रदान कि जाए। संग्रहीतृ के सारथि होने का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उसके घर पर राजा रत्नहवींषि याग में अश्विनों को हवि अर्पित करता था।

कुछ विद्वान् संग्रहीता को युद्धभूमि में युद्ध काल में इधर-उधर बिखरी हुई युद्ध सम्बन्धी सामग्री को संग्रह करने वाला कर्मचारी मानते हैं। इस दृष्टि से तो उसका सम्बन्ध राजकोष से जोड़ना उचित प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे रथयोजिता भी माना गया है।

भागदुक् :

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में विविध प्रकार के व्यवसायियों, कर्मचारियों, विशेष

अधिकारियों आदि की ओर संकेत किये गये हैं। इसी प्रसंग में भागदुक् नाम के एक कर्मचारी की ओर संकेत है।[५८] भागदुक् को अर्थविभाग का कर्मचारी बतलाया गया है। उसका मुख्य कर्त्तव्य राज्य की जनता से कर संचय करके उसे राजकोश में संग्रहीत करना माना गया है। यद्यपि रत्नियों की सूचियों में भागदुक् का स्थान कुछ नीचे है, फिर भी वह महत्त्वपूर्ण रत्निन है। एक स्थान पर इस शब्द का अर्थ भागों का वितरक किया गया है।[५९] अर्थात् भागदुक् वही काम करता था जो पूषन् की विशेषता बताई गई है। चूँकि भागदुक् के घर पशु देवता पूषन् को हवि अर्पित की जाती है।[६०] जिसका काम भागों को बाँटना था, इसलिए इसकी पूरी संभावना है कि अन्न के रूप में या पशुओं के रूप में जो भाग राजा के पास आता था वह राजपदाधिकारियों के बीच बाँटा जाता था। संभवतः उत्तर वैदिक काल में पशुपालकों और किसानों से अतिरिक्त खाद्य साामग्री प्राप्त की जाती हो और भागदुक् उस राजा के सेवकों के बीच बाँटने का काम करता रहा हो।

भागदुक् यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है भाग दुहने वाला अथवा भाग संचय करने वाला। गाय दुहने वाला जैसे गाय को शनैः शनैः दूध दुहकर पात्र में संचित करता है, इसी प्रकार भागदुक् राज्य की प्रजा से भाग-संचय (कर-संचय) करने वाला कर्मचारी था। उसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चुका था। ऋग्वेद में राजा को प्राप्त होने वाले ऐच्छिक उपहारों को बलि कहा गया है। किन्तु उत्तर वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। संभव है इस भाग का अभिप्राय यहाँ धर्मसूत्रों में उल्लिखित षष्ठांश से ही हो।

अक्षावापः

भाष्यकारों ने अक्षावाप को द्यूताध्यक्ष माना है और चूँकि ऋग्वेद के अक्षनिन्दा कृषि प्रशंसा सूक्त में द्यूत की विशेष निन्दा की गई है, इससे यह संकेत मिलता है कि ऋग्वेदीय आर्य राजाओं ने द्यूत पर नियन्त्रण रखने के लिए इस पदाधिकारी की आवश्यकता अनुभव करते हुए इसकी नियुक्ति की होगी। इसलिए अक्षावाप को राज्य के उच्च कार्यकर्त्ताओं में स्थान दिया गया है। हिन्दू पालिटी के विद्वान् लेखक जायसवाल ने इस मत से अपनी असहमति प्रदर्शित की है। उनके अनुसार अक्षवाप अर्थ विभाग का एक विशेष अधिकारी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अक्षपटल नाम के पदाधिकारी के समकक्ष था।[६१] यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में अक्षराज का उल्लेख है।[६२] परन्तु यह अक्षवाप से भिन्न है। क्योंकि अक्षराज तो अत्यन्त कुशल जुआरी अर्थात् जुआरियों का सरदार होता था।

शतपथ ब्राह्मण में अक्षावाप के साथ अक्ष (पाँसा) और जुआ खेलने वाली पटरी

का भी उल्लेख है, जिससे द्यूत क्रीड़ा के साथ इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा होगा, यह संकेत मिला है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीड़ा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवों का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्त्ता :

इस रत्नी का उल्लेख तीन सूचियों में मिलता है किन्तु तीनों सूचियों में इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी संहिता में इसे गोविकर्त्ता, काठक संहिता में गौव्यच्च और शतपथ ब्राह्मण में 'गोविकर्त्तन्' कहा गया है। जायसवाल महोदय ने इसे जंगलों का प्रधान अधिकारी माना है।[६३] तथा घोषाल ने इसे शिकारियों का प्रधान माना है।[६४]

गो शब्द वैदिक भाषा में सामान्य पशुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक राज्यों में वन अपेक्षाकृत अधिक थे। इन वनों को स्वच्छ कर आर्य-बस्तियाँ स्थापित की जाती थीं और अरण्यभूमि, कृषि भूमि में यथा सम्भव परिवर्तित कर दी जाया करती थी। उस समय में वनों में अरण्य पशुओं की संख्या अधिक होती थी। इसलिए वनों की शुद्धि करना आवश्यक था। इसलिए उनके इस कार्य की सिद्धि के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। इस विशेष पदाधिकारी को गोवित्कर्त्ता के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में एक मन्त्र में "गां विकृन्तन" नामक एक अधिकारी का संकेत प्राप्त होता है। संभवत: यह गोवित्कर्त्ता ही होगा।[६५] इस अधिकारी को वर्तमान समय के पदाधिकारी वन अधिकारी (अरण्यपाल) के समकक्ष माना जा सकता है। यजुर्वेद के एक अन्य प्रसंग में शूद्र को वनों का पालन करने वाला (अरण्यपति) कहा गया है।[६६] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

पालागल :

यह राजा के आदेशों को निर्दिष्ट व्यक्तियों अथवा स्थान तक पहुँचाने वाला कर्मचारी था। पालागल एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश ले जाने वाले दूत का कार्य करता था। इसे वर्तमान युग का संदेश वाहक (हरकारा) कहा जा सकता है। अल्तेकर महोदय उसे परवर्ती युगों के विदूषक की भांति राजा का अन्तरंग मित्र मानते हैं किन्तु शतपथ ब्राह्मण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वह संदेशवाहक का काम अथवा दौत्य कर्म करता था।[६७] यह शूद्र वर्ण का होता था।[६८] शूद्र होते हुए भी उसका राजनैतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य घटनाओं, कुचक्रों एवं विचारधाराओं की सूचना वह राजा को देता था। साथ ही राजकीय सन्देश दूसरे राज्यों में पहुँचाने का कार्य करता था। इस प्रकार राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध युद्ध और विग्रह की स्थिति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महिषी :

शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों की सूचियों में तीसरा स्थान महिषी को प्राप्त है। इसका शाब्दिक अर्थ पटरानी (प्रधान रानी) है, जिससे संकेत मिलता है कि राजा अनेक रानियों से विवाह करता था, इससे बहुपत्निप्रथा की पुष्टि होती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि रानी मनोनीत राजा की अर्धांगिनी का स्थान पूर्ण करती है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में जो व्याख्या दी गई है, उससे इस अनुमान का समर्थन नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि महिषी, जिसके घर अदिति को हवि अर्पित की जाती थी, पृथ्वी की द्योतिका है, जो दुधारु गाय और माता की तरह लोगों का भरण-पोषण करती है और उसकी मनोकामनाएँ पूर्ण करती है। इससे यह भी सन्देश मिलता है कि उत्तर वैदिक काल की राज्यव्यवस्था में मातृत्व को महत्त्व प्राप्त हो गया था। इससे यह भी प्रकट होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत राजा की पत्नी की ही नहीं थी बल्कि शासन व्यवस्था में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक अनुष्ठानों में भी पत्नी का सहयोग अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ कर्म का अधिकारी नहीं होता था।[६६] ऐसी स्थिति में राजसूय के अवसर पर पत्नी की उपस्थिति निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही होगी। किन्तु रत्नी-सूची में महिषी की महत्त्वपूर्ण स्थिति उसके शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्वों की ओर भी स्पष्ट संकेत करती है, क्योंकि रत्नी सूची के सभी सदस्य प्रायः राजनैतिक एवं प्रशासकीय महत्त्व के व्यक्ति हैं। महिषी की स्थिति सर्वसाधारण के लिए राजमाता की थी, जो न केवल पारिवारिक जीवन में राजा की पत्नी होती थी बल्कि राष्ट्रीय जीवन में राजा के साथ प्रजा पालन के गुरुत्तर उत्तरदायित्व का वहन करती थी। कानून की दृष्टि से महिषी का स्थान सर्वोच्च था।

रत्निन् के रूप में अन्य दो रानियों के उल्लेख से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

परिवृत्ती :

तीन संहिताओं में चौथा और एक ब्राह्मण में पाँचवां नाम परिवृत्ति का माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में परिगणित रत्नियों की सूची में उसे विधिवत् सम्मिलित नहीं किया गया है। रत्नियों का परिगणन करने के पश्चात् परित्यक्ता पत्नी के रूप में उसका उल्लेख किया गया है। उसका कोई पुत्र नहीं है। राजा उसके पास इसलिए आता है कि उसका कोई अनिष्ट न हो।[७७] यद्यपि यहाँ जिस प्रकार का उल्लेख किया गया है उससे यह पता नहीं चलता कि राजा कैसी पत्नी का समर्थन प्राप्त करना चाहता है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह राजा का अनिष्ट करने का सामर्थ्य अवश्य रखती थी। अन्य रीतियों की तरह वह राजा की सहायता का स्रोत नहीं, अपितु ऐसे विरोध का स्रोत समझी जाती थी, जिसे शमित रखना आवश्यक था।

वावाता :

रत्निन् के रूप में राजा की प्रिय पत्नी अर्थात् वावाता का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में है, जिसमें इसका स्थान चौथा माना गया है। वावाता का स्थान उसके प्रति राजा के प्रेम और विशेष कृपा पर निर्भर था।

राजा की परिवृत्ति और वावाता नामक इन दोनों पत्नियों के राजनैतिक महत्त्व का कारण प्रायः अज्ञात है। संभव है कि इन राजपत्नियों को सम्मानित करने के लिए तथा इन्हें विरोध का अवसर न प्रदान करने के लिए ही रत्नी वर्ग का सदस्य माना गया है।

इन तीनों का रत्नी वर्ग का सदस्य होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उत्तर वैदिक समाज में स्त्रियों की दशा इतनी उच्च थी कि राजनैतिक कार्यों में भी सहयोग करती थी। सम्भव है कि सामान्य स्त्रियाँ राजनैतिक जीवन से अलग रही हों जैसा कि मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों के सभा-गमन के विरोध से प्रकट होता है।[७१] किन्तु इसके विपरीत पंचविश ब्राह्मण में वीरों की सूची में महिषी की गणना तथा राजपत्नियों की रत्नी मण्डल की सदस्यता इस बात को प्रमाणित करती है कि स्त्रियाँ नियमतः राजनैतिक जीवन से पृथक् नहीं थीं।

सन्दर्भ

१- स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते।।मनु० ६.२६४
स्वाम्यमात्यजनदुर्गकोशदण्ड मित्राणिप्रकृतयः।।कौटिल्य० ६.१
याज्ञ० १.३५३, विष्णु धर्म सूत्र ३.३३ आदि

२. अथर्ववेद १:२६.१-६

३. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितोजनान्।।
अथर्व० ३-५.६
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितोजनान्।।
अथर्व ३.५.७

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१

५. शत०ब्रा० १.१.३.५

६. मैत्रायणि संहिता ५.६.२

७. ता० ब्रा० १६.१.४

८. राजानो राजकृतः, अराजानो राजकृतः। शत० ब्रा० १८.२.२.१३

९. तैत्ति०ब्रा० १.७.३.१

१०. मैत्रा० सं० ४.९.८

११. यस्य वा एतान्योजस्विनी भवन्ति तद्राष्ट्रमोजस्वि भवति यस्य वा तानि तेजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्रं तेजस्वी भवति। मैत्रा सं० ८.३

१२. मैत्रा० सं० ८.३.४

१३. तैत्ति०ब्रा० १.७.३.१

१४. शत० ब्रा० ५.३.१.१-१२

१५. शत०ब्रा० ४.३.१.१२

१६. ता० ब्रा० १६.१.४

१७. शत०ब्रा० ५.४.४. १५-१६

१८. आप०श्रौ०सू० XVIII १८,१४-१६१

१६. शत० ब्रा० ४.६.२.१३

२०. निरुक्त १२.२

२१. अग्निमीड़े पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्होतारं रत्नधातमम्। ऋग् १.१.१

२२. ऐत० ब्रा० ८.२४-२८

२३. शत० ब्रा० ५.३.१

२४. ता० ब्रा० १६.१.४

२५. ऐत० ब्रा० ४०.१

२६. ऐत० ब्रा० ४०-२

२७. म० ब्रा० २.८,५,६ । गो० गृह्य० ४.१०.७,८

२८- क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलमश्नुते यस्यैवं विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितस्तस्मै विशः संजानते सम्मुखा एकमनसो यस्येवं विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः। ऐत० ब्रा० ४०.४

२६- तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यदधर्म-तस्माद् धर्मात्परं नास्ति...। शत ब्रा० १४

३०- सेना शस्त्रास्त्र संयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका। शुक्रनीतिसार ४.७.१

३१- बलं मनः। वही १.६.२

३२- सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च। वही

३३- यू०एन० घोषालः ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज पृ० २३१

३४- शुक्रनीतिसार ४.७.४-६

३५- ऐत० ब्रा० ३६.१, शत०ब्रा० १४.१

३६- ऋग्वेद-१.६.६

३७- यजुर्वेद १७.१६

३८- यजुर्वद १५.१५

३९- युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्।। अथर्व ४.२२.५

४०- वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छा पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः।।
यजु० १८.७०

४१- शत० ब्रा० ५.२.५.१

४२. शत० ब्रा० ५.२.५.१, तैत्ति० ब्रा० १.७.३. तैत्ति० सं० १.८.६

४३. घोषाल-स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर; पृ० ३०७

४४- अथर्ववेद-३.१.१

४५- यजुर्वेद १५ । १५-१६

४६- नर्माय पुश्चलूं हसाय कारि यादसे शावल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणा-वादं पाणिह्न तूणवध्मं.....। यजु० ३०/२०

४७- .....अथर्व० ७.५.३

४८- वा० रा० युद्धकाण्ड- १६.११७

४९- महा० शान्तिपर्व १०, ११/१३५

५०- नभो बभ्भलशाय व्याधिनेन्नानाम्पतये नमो नमो भुवस्य हे त्यै जगताम् पतये नमो, नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः, सूताया हन्त्यै.....। यजु० १६.१८

५१- नृत्याय सूतंगीताए शैलूषं धर्माय सभाचरन्वरिष्ठायै भी मलन्नम्मयि रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषरवं प्रमदे कुमारीपुत्रं.....यजु० ३०.६

५२- शत० ब्रा० ५.३.१.५

५३- शत०ब्रा० ५.४.४.१७-१८

५४- मोनियर-विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी

५५- अथर्व ७.५.३.

५६- शत० ब्रा० १८.२.२.१३

५७- महाभारत शान्तिपर्व ६ से ११/८५

५८- यजु० १६-२०

५९- जायसवाल-हिन्दू पॉलिटी, पृ० २०२

६०- शत०ब्रा० ५.३.१.८ पर इंग्लिश की टीका

६१- जायवाल-हिन्दू पालिटी : पृ० २०२

६२- शत० ब्रा० ५.३.१.८

६३- ऋतये स्तेन हृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्तयै क्षत्तारमौपद्रष्ट्यायानुक्षत्तारम्बलायानुचरम्भूम्ने परिष्कन्दम्प्रियाय प्रिय वादिन मरिष्ट्या अश्वसादं स्वर्गाय भागदुघं.....।

यजु० ३०.१३

६४- शत०ब्रा० १.१.२.१७

६५- शत०ब्रा० ५.३.१.६

६६- डा० जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी पृ० २०२, २०३

६७- यजु० १८-३०

६८- जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी पृ० २०३

६९- हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एजेज पृ० २४६

७०- यजु० ३०/१८

७१- यजु० १६/१८

७२- शत०ब्रा० ५.३.१.११

७३- शत०ब्रा० १३.५.५.८

७४- शत०ब्रा० ५.१.६.१०

७५- मै० सं० ४.७.४

❖ ❖ ❖

कौटिल्यअर्थशास्त्र में वर्णित धर्म और राजनीति

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारत में हमें राज्य व्यवस्था के विकास में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान दिखलाई पड़ता है। धर्म और राजनीति के घनिष्ठ सम्बन्धों की जानकारी हमें सबसे पहले वैदिक साहित्य से मिलती हैं। जहाँ राजा की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए पुरोहित अनेक अनुष्ठानों का आयोजन करता था। लेकिन वैदिकोत्तर काल में जब राजतन्त्र का आधार सुदृढ़ हो गया तो इस सम्बन्ध का रूप भी बदल गया। अब वैदिक कर्मकाण्ड जहाँ राजा की सत्ता को सुदृढ़ करते थे वहीं उस पर अंकुश भी लगाते थे। लेकिन कौटिल्य अर्थशास्त्र से हमें जिन धार्मिक विधानों और कार्यों की जानकारी मिलती है उनका उद्देश्य राजा की सत्ता को सीमित करने के बजाय उसे सुदृढ़ करना है। यद्यपि अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति पर कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है। लेकिन फिर भी अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। इनसे प्रकट होता है कि राज्य की आन्तरिक नीति के निर्धारण में और बाहरी शत्रुओं से निपटने में धर्म का प्रभावकारी ढंग से उपयोग किया जाता था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्यव्यवस्था का मूल आधार वैदिक धर्म को माना जा सकता है। वैदिकोत्तर काल में सामाजिक ढाँचे की आधारशिला वर्णाश्रम व्यवस्था की व्याख्या कौटिल्य उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनके दर्शन हमें धर्मसूत्रों में होते हैं। वह इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक वर्ण स्वधर्म पर चले और जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है वह आनन्द की प्राप्ति करता है। पर जो अपने धर्म का उल्लंघन करता है उसका नाश हो जाता है। इसीलिए कौटिल्य राजा को निर्देश देता है कि वह लोगों को धर्म से विमुख न होने दें और स्वयं भी धर्म का पालन करे। क्योंकि राजा जैसा आचरण करता है प्रजा भी उसी तरह का व्यवहार करती हैं। इसीलिए एक स्थल पर राजा को धर्मप्रवर्तक कहा गया है। लेकिन यहाँ धर्मप्रवर्तक से तात्पर्य किसी नये धर्म के प्रवर्तक से नहीं है बल्कि उस अवस्था में राजा को धर्मप्रवर्तक बताया गया है, जहाँ वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया हो।

चतुर्वर्णाश्रयस्ययम् लोकस्याचाररक्षणात्। नश्यतां सर्वधर्माणम् राजा धर्मप्रवर्तकः। **III.I**

इससे स्पष्ट है कि राजा को मनोनुकूल समाज व्यवस्था स्थापित करने की स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है बल्कि उसे विनष्ट व्यवस्था को पुनरुत्थापित करने को कहा गया है।

कौटिल्य राज्य की विदेश नीति के निर्धारण में भी धर्म का महत्वपूर्ण स्थान मानता है। उसके अनुसार राजा को विजित लोगों के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं का आदर करना चाहिए तथा विजितों के क्षेत्रीय और धार्मिक त्यौहारों, स्थानीय देवी-देवताओं और विद्वानों के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करना चाहिए।**XIII.5**। इसी कारण राजा को विजितों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन करने को कहा गया है। साथ ही उसके लिए यह भी आवश्यक बताया गया है कि वह स्वयं उनके धार्मिक रीति रिवाजों का पालन तो करे लेकिन साथ ही उनके बीच ब्राह्मण समाज व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों को भी लागू करें।

कौटिल्य का ब्राह्मणों के प्रति विशेष दृष्टिकोण उस समय की विशेष परिस्थितियों को उजागर करता है क्योंकि वे प्रचलित समाज व्यवस्था के वैचारिक संरक्षक थे और धार्मिक कार्यों से उनका विशेष सम्बन्ध था। इसी कारण अर्थशास्त्र में उन्हें सबसे अधिक सम्मान प्रदान किया गया है। इसमें कहा गया है कि मानवों में उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो स्वर्ग में देवताओं को-

ये देवा देवलोकेषु च ब्राह्मणः। **XIV.3**

कौटिल्य यज्ञ में ब्राह्मणों को पौरोहित्य करने और बदले में दान-दक्षिणा पाने के अधिकार को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है। राज्य न केवल उनके इन अधिकारों को कायम रखता है वरन् कानूनों द्वारा उन पर अमल भी कराता है। उदाहरणार्थ यदि पुरोहित की मृत्यु हो जाती है तो यज्ञ के छोटे-बड़े स्वरूप और महत्व के अनुसार निर्धारित दक्षिणा उसके उत्तराधिकारी को दी जानी चाहिए।**III.14**

यदि यजमान यज्ञ पूरा होने के पहले ही पुरोहित को पदमुक्त कर देता है तो वह दण्ड का भागी बनता है।**III.14** इससे प्रकट होता है कि दक्षिणा देना यजमान की इच्छा पर निर्भर नहीं बल्कि यह उसकी जिम्मेदारी थी जिसका पालन राज्य करवाता था।

राज्य का धर्म से गहरा सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है जिसमें अनेक देवताओं को राज्य संरक्षण प्रदान करने को कहा गया है। दुर्गनिवेश के सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि नगर का उत्तरी भाग नगर देवता और ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रखा जाए।**II.4** नगर के मध्य में देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित किया जाए।**II.4** नगर के मुख्य द्वारों के नाम चार प्रमुख देवताओं के नामों पर ब्रह्मा, ऐन्द्र, याम्य और

सेनापत्य रखे जाए और राजधानी के अन्दर पूजापाठ और तीर्थ के स्थान बनवाए जाऐं। इसी तरह सीताध्यक्ष (कृषि-अधीक्षक) के कार्यों का विवेचन करते हुए कौटिल्य कहता है कि बुवाई के समय भगवान प्रजापति कश्यप को नमस्कार करने और सीता का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए एक मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए।II.24

अर्थशास्त्र में आग, बाढ़ और ऐसी ही अन्य दैवी विपत्तियों के निवारण हेतु अनेक धार्मिक अनुष्ठान बताये गये हैं। यद्यपि यह नहीं बताया गया है कि ये अनुष्ठान राज्य को करने थे अथवा नहीं, किन्तु राजपुरोहित के लिए जो योग्यताएं रखी गयी है, उनसे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस तरह के अनुष्ठान राज्य की ओर से भी किये जाते होंगे। कौटिल्य के अनुसार राजा अपने राज्य में ऐसे व्यक्तियों को बसाए जिन्हें तंत्र-मंत्र की सिद्धि प्राप्त हो और जो इस प्रकार दैवी-विपत्तियों का निवारण कर सके।IV.3 प्राकृतिक संकटों से प्रजा की रक्षा के निमित कौटिल्य ने राजा के दायित्वों का जो संकेत दिया है, वह राजा के दायित्वों के सम्बन्ध में आदिम दृष्टिकोण से मेल खाता है। पर इन दायित्वों का निर्वाह राजा स्वयं पुरोहित बनकर नहीं करता है बल्कि वह इसके लिए अलग पुरोहित नियुक्त करता है।

कौटिल्य ने धर्म और धार्मिक संस्थाओं से जुड़े स्थानों की सुरक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। उसके अनुसार ब्राह्मणारण्य (ब्राह्मण के रहने के वन) सोमारण्य (सोमवन) देवस्थान, यज्ञस्थान और पुण्यस्थान में आने वाली समस्त बाधाओं को राजा को दूर करना चाहिए।III.9 तथा इन स्थानों से छेड़छाड़ करने वाले व्यक्ति के लिए भी दण्ड का विधान किया गया है। साथ ही यज्ञादिकर्म, पूजापाठ और धार्मिक संस्कारों में प्रयोग की जाने वाली सभी वस्तुओं में शुल्क में छूट दी गयी है।II.2 इस प्रकार इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य राज्य की धार्मिक नीति से काफी प्रभावित था। अर्थशास्त्र में एक स्थल पर राजा को दैवी शक्ति के प्रति उत्तरदायी बताया गया है। उसके अनुसार यदि राजा किसी निर्दोष को दण्ड दे तो उसे चाहिए कि उसने उस दण्ड के कारण जितना अन्याय किया है उसका तीस गुना जुर्माना वरूण को अर्पित करते हुए जल में डाले और बाद में यह रकम ब्राह्मणों के बीच बांटे। ऐसा करने से राजा अन्यायपूर्ण दण्ड के पाप से मुक्त हो जाएगा। क्योंकि वरुण पापी मनुष्यों का शासक है- अदण्डयदण्डनेराज्ञो दण्डस्त्रिंशदगुणे अंभसि। वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम् II,IV.13 लेकिन कौटिल्य राजा के दैवी अधिकार को किस हद तक मानते थे यह कहना तो कठिन है। लेकिन एक स्थान पर यह कहा गया है कि गुप्तचर लोगों को यह बताएं कि राजा इन्द्र के रूप में पुरस्कार देता है और यम के रूप में दण्ड। अतः उसकी अवहेलना करने वाले लोग दण्ड के भागी बनते हैं। इससे कौटिल्य देवताओं के साथ राजा की तुलना करता है तो उससे पुरोहितों की नहीं बल्कि राजा की शक्ति बढ़ती है।

राजा के प्रति अधिकारियों की असंदिग्ध निष्ठा पर कौटिल्य का कथन है कि उच्चाधिकारियों की मुख्य निष्ठा धार्मिक रीतिरिवाजों के प्रति नहीं बल्कि राजा के प्रति होनी चाहिए। उसका कथन है कि न्यायाधीश के पद पर केवल वही व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं जो धार्मिक प्रलोभनों से परे हो। उदाहरणार्थ यदि एक पुरोहित जो राजा के कहने पर भी यज्ञाधिकार विहीन व्यक्ति को वेद की शिक्षा देने से इन्कार कर देता है तो ऐसे व्यक्ति को बर्खास्त कर देना चाहिए। राजा के गुप्तचर अमात्य को राजा के विरूद्ध कार्यवाही करने के लिए भड़काते हैं। ऐसे अमात्य जो इन परिस्थितियों में उत्तेजित न हो उन्हीं को न्यायाधीश नियुक्त करने योग्य माना गया है।I-10 कौटिल्य के इस कथन से सूचित होता है कि न्यायाधीश आदि उच्चाधिकारियों की मुख्य निष्ठा राजा के प्रति होनी चाहिए और यदि उसके निर्वाह में धार्मिक मान्यताओं का उल्लंघन होता है तो उनका उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं होना चाहिए।

कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मणीय संस्थाओं पर भी राज्य का नियन्त्रण था। कौटिल्य ने देवताध्यक्ष नामक एक अधिकारी की व्यवस्था की है जिसका काम नगरीय और ग्रामीण क्षेत्र की विभिन्न प्रकार की देवोत्तर सम्पत्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा करके राजकोष में जमा करना है।V.2 यहाँ इसका तात्पर्य मन्दिरों का राज्य को दिये जाने वाले किसी नियमित संग्रह से है या मन्दिरों की जब्त की गयी सम्पत्ति के संग्रह से है। यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन चूंकि देवताध्यक्ष के कर्त्तव्यों का उल्लेख कोषपूर्ति प्रकरण में दिया गया है इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राज्य के प्रयोजन के लिए देवोत्तर सम्पत्ति का भी उपयोग किया जा सकता था।

राज्य की नीतियों पर धर्म के प्रभाव का ऊपर जो विश्लेषण किया गया है उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बहुत सी बातों में धार्मिक मान्यताओं को अलग रखकर कौटिल्य राज्य की नीति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिससे दोनों का आपसी सम्बन्ध दो परस्पर विरोधी रूपों में व्यक्त हुआ है। ब्राह्मणीय जीवन पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के अर्थात् वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के अनुकूल है उस अंश तक वह उसका पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीतिरिवाज राज्यशक्ति के विस्तार में बाधक है उनका वह त्याग कर देता है। शान्तिपर्व में भी यही विचारधारा दृष्टिगत होती है जिसके अनुसार जो गुरु या मित्र राज्य के सातों अंगों के हितों के विरूद्ध आचरण करे उसे मार देना चाहिए। 57.5 अथवा उसका परित्याग कर देना चाहिए। 57.6-7

कौटिल्य राज्य निस्सन्देह देवताओं और मन्दिरों का विशेष ख्याल रखता है और पुरोहितों के विशेषाधिकारों के दावों को भी मान्यता प्रदान करता है और साथ ही अपधर्मी सम्प्रदायों के प्रति भेदभाव-पूर्ण नीति बरतता है। परन्तु फिर भी उसकी

भेदभाव की नीति उस आत्यंतिक सीमा तक नहीं पहुँचती जिसके दर्शन हमें 'लॉज' में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित राज्यधर्म के सिद्धान्त में होते हैं। इसके अनुसार राज्य की एकता और अखण्डता बनाये रखने के लिए कुछ धार्मिक विश्वासों और प्रयासों को सभी वर्गों के लोगों द्वारा मनवाना चाहिए और ऐसा न करने वालों के लिए कारावास या मृत्युदण्ड तक का भी विधान किया गया है। लेकिन ऐसी उत्पीड़न की योजना कौटिल्य अर्थशास्त्र में नहीं मिलती। यद्यपि कौटिल्य इस बात पर जोर देते हैं कि तीनों वेदों पर आधारित धर्म का पालन किया जाना चाहिए लेकिन वैदिक धर्म को न मानने वालों के सन्दर्भ में वह इतना ही कहता है कि इन लोगों के निवास स्थानों पर नजर रखनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर इनकी सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। उन्हें दंडित तभी करना चाहिए जब वे चोरी, मारपीट, मानहानि या स्त्री-हरण जैसे अपराध करें। अतः इन व्यवस्थाओं की तुलना 'लॉज' में वर्णित साम्प्रदायिक असहिष्णुता की नीति से नहीं की जा सकती।

इस प्रकार कौटिल्य वर्णित राज्य अपेक्षाकृत सहिष्णु तो है किन्तु यह सही नहीं है कि वह धर्म निरपेक्ष है क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य की नीतियों से धार्मिक प्रभाव का पूर्ण बहिष्कार है, जो कौटिल्य के राज्य में देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र से राज्य की नीतियों पर धार्मिक प्रभाव देखने को मिलता है।

* * *

वैदिक परिप्रेक्ष्य में धर्म शब्द का अर्थ और अभिप्राय

डा0 दिनेशचन्द्र शास्त्री
वेद विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

धर्म शब्द संस्कृत का एक ऐसा शब्द है जिसके अर्थ बड़े व्यापक होते हैं।[1] इस शब्द का अनुवाद संसार की किसी भी भाषा के एक शब्द में नहीं किया जा सकता।[2] धर्म का शब्दार्थ होता है, "जो धारण करे"- धारणाद्धर्म[3] : (म्)। किसी वस्तु के जो गुण ऐसे हैं जिनसे वह अपने रूप में धारित रहती है, बनी रहती है, उन गुणों को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। इस यौगिक अर्थ के आधार पर प्रयोग में धर्म शब्द के बड़े विस्तृत अर्थ हो जाते हैं। किसी वस्तु के भौतिक व रासायनिक गुण **(Physical and Chemical properties)** उसके धर्म है। किसी वर्ण और आश्रम के नियम और कर्त्तव्य उसके धर्म हैं। राज्य नियम **(Laws and Statutes)** धर्म हैं। इसीलिए कानून की पुस्तकों **(Statutes books)** को संस्कृत में धर्मशास्त्र कहा जाता है। राज्य नियमों के अनुसार न्याय करने को धर्म कहा जाता है। न्यायाधीश को धर्मपति, धर्माध्यक्ष और धर्माधिकारी कहा जाता है[4] तथा न्यायालय को धर्माधिकरण कहा जाता है। इसी भाँति किसी सभा-समाज के नियमोपनियम उसके धर्म हैं। आत्मा, परमात्मा, परलोक और कर्मफल में विश्वास और इस विश्वास के आधार पर परमात्मा की उपासना और तदनुकूल आचरण को भी धर्म कहते हैं क्योंकि, शास्त्र की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा की सत्ता में तथा परलोक और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास के बिना तथा परमात्मा की उपासना-जो कि मनुष्य के लिए पुण्य का काम है[5], धर्म में बैठे बिना मनुष्य का वास्तविक धारण नहीं हो सकता- उसका जीवन वास्तविक जीवन नहीं बन सकता। इसके बिना वह जीवन में वास्तविक उन्नति और सच्ची सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। यदि हम धर्म के इस महाविस्तृत अर्थ को ध्यान में रख लें तो किसी को यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि धर्म किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता और उन्नति में बाधक है।

धर्म का वास्तविक अभिप्राय

वैदिक धर्म में केवल परमात्मा में विश्वास रखने और उसी की उपासना करने को ही धर्म नहीं माना जाता। यह पूर्ण धर्म नहीं है, यह तो धर्म का केवल

एक अंग है। शास्त्रकारों ने धर्म का लक्षण यह किया है कि "जिस आचरण से सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय की प्राप्ति भी होती हो तथा मोक्ष की प्राप्ति भी होती हो उस आचरण को धर्म कहते हैं।"[६] हमारे शास्त्रों के अनुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने का यह फल होना चाहिए कि हमें इस दुनिया में किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहना चाहिए। हमें उसके द्वारा सब प्रकार की सांसारिक उन्नति कर सकनी चाहिए और सब प्रकार की सांसारिक सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकनी चाहिए। और यह सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय इस प्रकार प्राप्त हो कि उसे प्राप्त करते हुए हम पाप में लिप्त न हों, पवित्र बने रहें, जिससे जब हम इस संसार से विदा हों तो उस पवित्रता के परिणाम स्वरूप हम सीधा मोक्ष की अवस्था में पहुँचें और उस अवस्था में पहुँचकर ब्रह्म-साक्षात्कार से मिलने वाले अलौकिक आनन्द का उपभोग करने के अधिकारी बन सकें। इस प्रकार के आचरण को वेदों के अनुसार धर्म के नाम से कहा जाता है।

पाद टिप्पणी :

1. **The word Dharma is used in various contexts in the Vedas, the Upanishads etc. such as virtue, merit, attributes, nature, quality duty, Law, right, righteousness, property etc. All included in Dharma according to Manu, Patanjali and others. The truth, non-violence, non-stealing, celibacy and non-possession are the main headings or principles of Dharma. Adharma is just contradictory to Dharma.**

   (परोपकारी, सितम्बर 1995, पृष्ठ 333)
2. **महाभारतम्, कर्णपर्व 69, 59**
3. **आचार्य प्रियवत वेदवाचस्पति, मेरा धर्म, पृष्ठ 132**
4. **देखो, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ 412**
5. **पाणिनि के अनुसार धर्म शब्द के दो अर्थों में एक अर्थ पुण्य का काम भी है। जैसे कि– धर्म चरति धार्मिकः (4.4.41)**
6. **वैशेषिक दर्शन (1.1.2)**

* * *

राजनीति में धर्म का स्थान : वैदिक दृष्टिकोण

डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार
वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

मनुस्मृति में राजनीति के साथ धर्मों के समन्वय को बहुत महत्त्व दिया गया है। वहाँ लिखा है कि जहाँ सभासदों के देखते-देखते धर्म-अधर्म के द्वारा और सत्य अनृत के द्वारा कुचला जाता है, वहाँ सभासदों का ही दोष होता है।[1] धर्म नष्ट होने पर विनाश उपस्थित कर देता है और रक्षित होने पर रक्षा करता है। इसलिये राष्ट्र में धर्म का कभी हनन नहीं करना चाहिये।[2] यदि राष्ट्र में धर्म पर अधर्म हावी हो जाता है तो चौथाई दोष अधर्म के कर्ता का होता है, चौथाई साक्षी देने वाले का, चौथाई सब सभासदों का और चौथाई राजा का होता है।[3] इसलिए राजा को चाहिए कि वह धर्मासन पर बैठकर, समाहित होकर राज्यकार्यों को देखें।[4] धर्म संशय के निर्णय के लिए राजा त्र्यवरा परिषद् का निर्माण करता है जिसमें एक विद्वान् ऋग्वेद का ज्ञाता, दूसरा यजुर्वेद का ज्ञाता और तीसरा सामवेद का ज्ञात होता है।[5] इस प्रकार वेदों की ही व्याख्या करने वाले मनु की दृष्टि में राजा धर्माध्यक्ष होता है। वेद में भी राजा को धर्माध्यक्ष, धर्मकृत् और धर्मणस्पति विशेषणों से स्मरण किया गया है-

राजा का प्रतिनिधि कह रहा है कि मैं प्रजाओं के राजा, अद्भुत गुणकर्मों वाले, धर्माध्यक्ष, अग्रणी नृपति से जो निवेदन कर रहा हूँ उसे वह सुनें।[6] शान्ति का अग्रदूत राजा धर्माधिपति है, प्रजा को पवित्र करने वाला है, बहुत धन सम्पन्न है। उसके चलाये हुए नियमों में सारे प्रजाजन चलते हैं।[7] उस इन्द्र राजा के गीत गाओ, जो ज्ञानी है, धर्मकृत् है, विपश्चित् है और स्तुति के योग्य है।[8]

ये मन्त्र राजा के धर्मानुकूल कार्य करने पर प्रकाश डालते हैं।

राजा को वेद में अग्रनायक और तेजस्वी होने के कारण 'अग्नि' तथा कान्ति का उपासक होने के कारण 'सोम' नाम से स्मरण किया गया है। इन नामों से स्मरण करता हुआ वेद राजा को कहता है- "तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम राज्य में धर्म कर्मों का पोषण करते रहो। हे अग्निस्वरूप राजन्! तुम अग्नि की तरह चमको, सहस्रजित् बनो, देवदूत और प्रशंसनीय बनो और धर्मों का पोषण करते रहो।[9] "हे शान्ति के अग्रदूत सोम नामक राजन्! आप पर्जन्य की तरह वर्षा करने वाले हो, सूर्य के समान देदीप्यमान हो, प्रजा में धर्म-कर्म ज्ञान-विज्ञान आदि की वर्षा करना आपका कर्त्तव्य है। आप वर्षक

बनकर प्रजा में धर्मों का धारण-पोषण करते रहे" ।[१०]

वेदों में अदिति राष्ट्रभूमि का नाम है। उसमें नियुक्त राज्याधिकारियों को आदित्य कहा गया है। उन्हें सम्बोधन करके वेद कहता है- "हे राज्याधिकारियों, जिसे तुम उत्कृष्ट नीतियों से ले चलते हो, और धर्म मार्ग पर चलाते हो वह मनुष्य दुरितों से पार होकर, अक्षत होकर उन्नति को प्राप्त करता है और पुत्रपौत्रादि प्रजाओं से बढ़ता है" ।[११]

राजा का एक नाम 'वायु' भी है, क्योंकि वह वायु के समान प्रगति करता है और दूसरों को प्रगति कराता है। वायु नाम से सम्बोधन करके उसे कहा गया है- "हे राजन् आप धर्म मर्यादा पर चलते हुए प्रजा की समस्त सम्भाव्य विपदाओं से रक्षा करते हो। हे राजन्, धर्मानुकूल आचरण करते हुए और प्रजा से करवाते हुए आप असुरों द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों से प्रजा की रक्षा करते हो" ।[१२]

कभी-कभी धर्म के नाम से राज्य में प्रदूषण भी चल पड़ता है। अनेक कुपन्थ चल पड़ते हैं, जो सच्चाई पर नहीं होते। भोले-भाले लोगों को प्रलोभनों द्वारा आकृष्ट करके उन्हें फंसाया जाता है। वेद के अनुसार राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि राज्य में धर्म-प्रदूषण न होने दें। "अग्नि नामक अग्रनायक राजा को चाहिए कि वह अमर अर्थात्-सजीव (जागरूक) होकर राष्ट्र में विद्वानों की पूजा करे और धर्म-प्रदूषण से राष्ट्र को बचाता रहे" ।[१३]

जिस राज्य में धर्म का पालन नहीं होता वहाँ उच्छृंखलता बढ़ जाती है, प्रजाएँ अपने कर्त्तव्य की मर्यादा में रहना छोड़ देती है, अधार्मिक लोग अधर्म के कुचक्र चलाने लगते हैं, राज्य दूषित, कलंकित और अपवित्र हो जाता है। अत: वेद की दृष्टि में राजा का कर्त्तव्य है कि धर्मप्रचार द्वारा राष्ट्र की पवित्रता को स्थिर रखे।[१४] "हे सोम राजन्, आप से निकलने वाली धर्म की किरणें राज्य के सभी स्थानों में पहुँच जाती हैं एवं धर्म के द्वारा आप राष्ट्र को पवित्र करते हो और सम्पूर्ण राष्ट्र के अधिपति होकर शोभा पाते हो।"[१५]

राष्ट्र में मित्र और वरुण नाम के दो राज्याधिकारी होते हैं। उन्हें सम्बोधन करके कहा गया है कि "हे मित्र और वरूण नामक विद्वान् राज्याधिकारियों, आप दोनों धर्म का पालन करवा कर ही अपने व्रतों की रक्षा करते हो।"[१६]

'इन्द्र' नाम से राजा को आमन्त्रित करते हुए कहा गया है "कि तुम धर्म से भी तीक्ष्ण हो, धर्म के द्वारा बलवान् होते हो।"[१७] 'ग्रावा' नाम से विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "प्रेरक सविता देव अर्थात्-परमेश्वर या राजा तुम्हारे अन्दर धर्म की प्रेरणा करे। तदनुसार तुम विद्यादानादि धर्मों के प्रचार में लग जाओ" ।[१८]

'इन्द्र' नाम से प्रजाजनों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "आप धर्म के मार्ग से चलो और धर्म की योजना कराना जानो, तभी तुम्हारी उत्तम कीर्ति होगी"।[१९]

इस प्रकार वेद के अनुसार राजा, राज्याधिकारीगण, प्रजाएं सबको धर्म-मार्ग पर चलना उचित है। जिस राष्ट्र में धर्म का पालन होता है, उस राष्ट्र के लोग राष्ट्र की उन्नति को देख कर सहसा पुकार उठते हैं- "देखो, राष्ट्र की उन्नति का सूर्योदय हुआ है, जो धर्म पर आश्रित है। राज्य में धर्मानुकूल शासन होने से सब अमित्रे, वृत्र, दस्यु, असुर और सपत्न नष्ट हो गये हैं। हम चाहते हैं कि यह धर्मोदय सदा ही बना रहे और राष्ट्र उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच जाये"।[२०]

पाद टिप्पणियाँ

१. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।।८.१४

२. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।८,१५

३. पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति।।८.१८

४. धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्यलोकपालेभ्यः कार्यदर्शन मारभेत्।।८.३

५. ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्म संशयनिर्णये।।१२.११२

६. विशां राजानमभ्दुतमध्यक्षं धर्मणामिम्। अग्निमीक्ते स उ श्रवत्।।ऋ० ८,४३,२४

७. विश्वो यस्यव्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः। पुनानस्य प्रभूवसोः।।ऋ० ९,३५,६

८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे।।ऋ० ८,६७,१

९. समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि। देवानां दूत उक्थ्यः।।ऋ० ५, २६,६

१०. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणिदधिषे।।ऋ० ९,६४,१

११. अरिष्टः समर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये।।ऋ०१०,६३,१३

१२. त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणा सूर्यात्पासि धर्मणा।।ऋ० १,१३४,५

१३- अग्निर्हि। देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथो धर्माणि सनता न दूदुषत्।। ऋ० ३,३१

१४- विश्वा धामानि विश्व चक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि।।ऋ० ६,८६,५

१५- स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोमः धर्मभिः।
त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्रं हिन्वन्ति धीतिभिः।।ऋ० ६,१०७,२४

१६. धर्मणा मित्रावरूणा विपश्चिता व्रता रक्षेये असुरस्य मायया।।ऋ० ५,६३,७

१७. आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतजानस्तुविष्मान्।।ऋ० १०,४४,१

१८. प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत।।ऋ० १०,१७५,१

१६. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नतस्य सुश्रियः। विदाना अस्य योजनम्।।ऋ० ६,७,१

२०. विभ्राड्बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा।। ऋ० १०,१७०,२

● ● ●

गीत गाते रहो

–महावीर 'नीर'

गुरुकुल कांगड़ी

गीत गाते रहो, गुन-गुनाते रहो।
जिन्दगी की खुशी को, बढ़ाते रहो।।
साधना भी यही,
कामना भी यही,
भाव अपने बदल, मुस्कराते रहो............
दर्द मिलते रहे,
कष्ट आते रहे,
कारवाँ ना रुके, ध्येय पाते रहो............
नाश का खेल तो,
रुकने वाला नहीं,
सोच कर क्यों थके, पग बढ़ाते रहो........
मातमी धुन बजी,
अर्थियाँ भी उठी,
आँख नम ना करो, अश्रु गाते रहो.........
फूल बनकर जियो,
धूल में ना मिलो,
जन्म अनमोल है, खिलखिलाते रहो........
दिल मचलने लगे,
पग थिरकने लगे,
रात किसकी सगी, गुद-गुदाते रहो..........
गम तो बिखरा पड़ा,
दर्द बनकर खड़ा,
प्यार के मेघ बन, रस लुटाते रहो...........
बागवाँ से कहो,
ले सुधि बाग की,
आँधियों से लड़ो, चम-चमाते रहो..........
उग्र मौसम बना,
मौत बनकर खड़ा,
सूर्य बनकर जियो, तम भगाते रहो.........
मौत तो मौत है,
आएगी एक दिन,
कर्म अपना करो, भोग पाते रहो............
जहर जो घोलते,
राष्ट्र की गंध में,
उनके नामोंनिशां, सब मिटाते रहो.........
महक बनकर जियो,
शूल बिखरे पड़े,
गंध ऐसी बनो, मन लुभाते रहो............
पात झर ना सके,
फूल बिखरें नहीं,
आशियाने को, अपने सजाते रहो............
तेज के पुञ्ज हो,
तप के कुन्दन बनो,
ऊँचे-ऊँचे बढ़ो, यश कमाते रहो............
देख करके चलो,
ठोकरे ना लगे,
पथ के रोड़ों को, अपने हटाते रहो.........
शूर बनकर जियो,
क्रूर बनना नहीं,
जग नमन में झुका, सिर नवाते रहो........
देश की आन बन,
शान से तुम जियो,
दिल में ऐसे बसो, याद आते रहो...........
आग बनकर जियो,
राख बनना नहीं,
दीप से तुम जलो, जगमगाते रहो............
हिमशिखर से गलो,
गंग-धारा बनो,
प्यास जन्मों की, अपने मिटाते रहो.........
गहरे सागर बनो,
ऊँचे पर्वत बनो,
आसमां की तरह, सब पे छाते रहो.........
रूप देखा करो,
सपने बुन-बुन जियो,
भावना की नदी में, डुब-डुबाते रहो........
सबको जीवन मिले,
सबकी आशा फले,
सबके सपनों का, भारत बनाते रहो.........
सत्य बनकर जियो,
झूठ मर जाएगा,
'नीर' ऐसे बनो, सबको भाते रहो...........

गुरुकुल - पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका
Monthly Research Magazine

पं० जयचन्द विद्यालंकार - अंक

सम्पादक

डॉ० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार - अंक

सम्पादक
डॉ० महावीर
एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

मार्च - जून-९९	वर्ष 51 वां	चैत्र-आषाढ़ सं. 2056

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ0 धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : डॉ0 विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर – हिन्दी विभाग

सम्पादक : डॉ0 महावीर
प्रोफेसर एवं निदेशक
वैदिक शोध संस्थान

सह–सम्पादक : डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ0 जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रकाशक : प्रो0 श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव

मूल्य : 25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेदमञ्जरी

इन्द्रस्य पूजा

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः।। ऋग् १.४.५

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।

उत यदि च **निदः** निन्दितारो जनाः **नः ब्रुवन्तु** अस्मान् कथयन्तु यत् **अन्यतः चित्** एकैकस्मात् स्थानादपि **निर् आरत** निर्गच्छत, एवं बहुतराणि कष्टानि प्रदद्युः, तथापि वयम् **इन्द्रे इत्** परमेश्वरे खलु **दुवः** पूजां **दधानाः** धारयन्तः स्याम।

अस्माभिरद्य परमेशभक्त्या व्रतं गृहीतम्। वयम् इन्द्रस्य पूजकाः सञ्जाताः। परं न जाने कुतो ऽस्माकम् ईश्वरपूजा नास्तिकेभ्यो न रोचते। ते वाञ्छन्ति यद् वयमपि तत्सदृशा नास्तिका भवेम, वयमपि नास्तिकानां दलस्य सदस्या भूत्वा जगदीशादेशविरूद्धानि कार्याणि कुर्याम, चोरयेम, वञ्चयेम, हिंसोपद्रवं चरेम। अस्माकं प्रातःसायम् ईश्वरप्रणिधानं ते न श्लाघन्ते। ते नो व्यङ्ग्यवचोभिर्विध्यन्ति। ते ऽस्मान् कथयन्ति—वञ्चका यूयं, धूर्ता यूयम्, ध्यानस्य छलेन स्वात्मानं महात्मानं प्रकटयितुम् इच्छथ मानवाँश्च स्वप्रभावपरवशान् कृत्वा प्रतारयितुम् अभिलषथ। तेषाम् एतादृशैर्वाग्बाणैराहता अस्माकमनेके सहयोगिनो, यैरस्माभिः साकं प्रभुपूजायाः संकल्पः कृत आसीत्, पूजां त्यक्तवन्तः सन्ति। किन्तु हे परमेश, अस्मभ्यं तु तादृशं बलं वितर यत् कामं निन्दका अस्मान् निन्देयुः, कामम् अस्मान् उद्वेजयेयुः, भर्त्सयेयुः, व्यथयेयुः, कियदपि कष्टं प्रदद्युः, परं वयं भवत्पूजनं न परित्यजेम।

जानीमो वयं यद् दुष्टानाम् एवंविधानि कृत्यानि सोढुं दुःशकानि भवन्ति। यदा बहुसंख्यका निन्दका एकीभूय हास्यपूर्णैः करतलनादैः क्लेशयन्ति विरोधवचांसि ब्रुवन्ति, संभारं दहन्ति, तत्काले सत्ये दार्ढ्यं प्रकाशयितुं विरला एव क्षमाः। परं वयं तु वाञ्छामो यत् कठिनेष्वपि कालेषु प्रभुपूजायां स्थिराः स्याम। निन्दकाश्चेद् ब्रूयुः—अस्माद् गृहान्निःसरत, अस्मान्नगरान्निःसरत, देशान्निःसरत, तदापि वयं हताशा न भवेम। कश्चिद् रिपुरस्मच्छरीरे पाषाणं बद्ध्वा ऽस्मान् समुद्रे प्रक्षेप्तुं तत्परो भवेद्, वह्नौ प्रज्वालयितुं सक्रियो भवेत्, पर्वतशिखरात् पातयितुम् उद्यतो भवेत्, तदापि वयम् ईश्वरपूजां न मुञ्चेम। वयं ध्रुवसमाः प्रह्लादसमाश्च भगवद्भक्ता भवेम। अस्माकं प्रभुभक्तिं विलोक्य शत्रुरप्यस्मान् प्रशंसेत्।

एवंविधश्चेद् अस्माकम् परमेश्वर विश्वासो भवति, तदा प्रभुकृपाप्रसादम् वयमवश्यं प्राप्स्यामः। निन्दकनिन्दानां शत्रुबाधानां च कृष्णा घटाः स्वयमेव विनंक्ष्यन्ति। परमैश्वर्यसम्पन्नः प्रभुरिन्द्रः स्वकीयां दिव्यैश्वर्यवृष्टिम् अस्माकं मूर्ध्नि करिष्यति।

—डा० रामनाथ वेदालङ्कारः
पूर्व आचार्योपकुलपतिश्च
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वारम्

सम्पादकीय...

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व भगवती भागीरथी के पावन तट पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करते हुए बहुत बड़ा सपना देखा था कि इस संस्था में विद्या प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी अपने ज्ञानालोक से न केवल भारतवर्ष को अपितु भूमण्डल को प्रकाशित करेंगे। प्रारम्भिक काल से ही गुरुकुल में वैदिक ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ आधुनिक विषयों का अध्ययन, अध्यापन एव उच्चस्तरीय शोध–कार्य होता रहा। यहीं कारण है कि इस ऐतिहासिक शिक्षण संस्थान से शिक्षाा प्राप्त स्नातकों ने विविध विषयों में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। स्वामी समर्पणानन्द, आचार्य अभयदेव, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पं० विश्वनाथ जी, पं० धर्मदेव जी विद्यार्मातण्ड, डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार प्रभृति वैदिक विद्वानों ने वेद व्रिषयक उच्च–कोटि के ग्रन्थों से वैदिक साहित्य की श्री–वृद्धि की, तो पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, आचार्य रामदेव, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, डॉ० हरिदत्त वेदालंकार आदि मनीषियों ने इतिहास विषयक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना कर इतिहास के झरोखे से वैभवशाली, विजयी भारत के दर्शन कराये। ये वे इतिहासकार थे जो किसी विदेशी इतिहास लेखक के उच्छिष्ट–भोजी न होकर अपने ज्ञान–चक्षुओं से अतीत को देखकर उसे लिपि–बद्ध करते थे। स्वाधीन भारत में देशवासियों के हृदयों में आत्म–गौरव की दिव्य भावना जागृत करने के लिए इस प्रकार के प्रामाणिक इतिहास लेखन की परम आवश्यकता थी।

गुरुकुल के यशस्वी स्नातक तथा प्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जहां प्रबुद्ध विद्वान, लेखक, इतिहासविद् थे, वहां स्वतन्त्रता संग्राम में अनेक क्रान्तिवीरों के प्रेरणा स्रोत भी थे। उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान के जिला लायलपुर के ग्राम डिजकोट में पिता श्री करमचंद नारंग के यहां ५ मार्च १८९८ को हुआ था। उन्होंने १९१९ में गुरुकुल से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। कई वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन कार्य किया। उनके समक्ष दो प्रमुख ध्येय थे। एक प्रामाणिक इतिहास लेखन और दूसरा देश की स्वाधीनता। १९२० में असहयोग आन्दोलन के दिनों में जब सरकारी स्कूलों और कॉलेजो के बहिष्कार की आंधी आई तो अनेक स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। लाहौर में नेशनल कॉलेज की स्थापना हुई और पं० जयचन्द्र जी वहां इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। यहीं पर अमर शहीद भगतसिंह और उनके साथियों ने श्री जयचन्द्र जी के चरणों में बैठकर देशभक्ति का पाठ पढ़ा था। श्री विद्यालंकार जी ने गुरुकुल कांगड़ी, नेशनल कॉलेज लाहौर के अतिरिक्त राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई इत्यादि अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों में अध्यापन कार्य किया। इतिहास लेखन का कार्य भी निरन्तर चलता रहा। वे उच्चकोटि के इतिहासकार और सफल अध्यापक थे। हम कुलवासियों का मस्तक ऐसे यशस्वी स्नातकों के स्मरण से ऊंचा हो जाता है। हमारा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि हम उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्त्व को श्रद्धापूर्वक स्मरण करें और नई पीढ़ी को स्मरण करायें।

१९९८ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का जन्मशती वर्ष था, तभी से यह हार्दिक इच्छा थी कि भारतवर्ष के प्रामाणिक, विद्वान लेखकों की लेखनी से उनके गौरवशाली कर्तृत्त्व को अभिव्यक्ति प्रदान की जाये।

गुरुकुल पत्रिका यह अंक उस भावना को साकार रूप प्रदान करने का एक लघु प्रयास मात्र है। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर जिन मूर्धन्य लेखकों ने लेख दिये हैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मेरा धर्म है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन लेखों को पढ़कर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्राचीन यशस्वी स्नातकों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्त्व को जानने की इच्छा अनेक हृदयों में अवश्य जगेगी।

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम

यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ। मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने जीवन सुमन अर्पित कर हम धन्य हो जायें, 'अर्चन्ननु स्वराज्यम्' स्वतन्त्रतादेवी की अर्चना में तन, मन, धन सब कुछ समर्पित कर दें, यह हम भारतवासियों की वैदिक प्रार्थना हैं। माताओं की माता भारतमाता का हिमालय रूपी शुभ्र किरीट, गंगा की धारा रूपी मुक्ताहार, कश्मीर की कुंकुम केसर क्यारी रूपी सौभाग्य सिन्दूर सदा अक्षुण रहे, हम कोटि–कोटि सन्तानें इस राष्ट्र देवी के चरणों की सदैव वन्दना करते रहें और इस देश के वैभव को चरमोत्कर्ष पर पहुंचायें, इससे श्रेष्ठ भावना और क्या हो सकती है? इस भावना से भावित होकर वीर भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपतराय सदृश देशभक्तों ने हंसते–हंसते प्राणों की आहूति दी। मेजर आशाराम त्यागी, ब्रिगेडियर होशियार सिंह आदि वीरों ने सीमाओं की रक्षा करते करते लहू से धरती को लाल कर दिया। भारतवासियों के प्रति घृणा, तिरस्कार के दूषित भाव को लेकर पाकिस्तान का निर्माण हुआ था। पाकिस्तानी दरिन्दों ने भारत को उजाड़ने के लिए कौन सा घृणित कर्म नहीं किया? धरती के स्वर्ग कश्मीर को, वीरभूमि पंजाब को नष्ट करने के लिए उग्रवाद का जहर फैलाया, बार– बार पराजित होने पर भी निर्लज्जता पूर्वक घुसपैठ का सहारा लेकर भारत की शौर्य परम्परा को ललकारा। राष्ट्रीय सीमा नियन्त्रण रेखा का उल्लंघन कर दोस्ती के लिए आगे बढ़े हुए हाथ को धोखे से काटने का कुटिल षड़यन्त्र किया। औरगंजेब, अफजल खां, मोहम्मद अली जिन्ना की कलुषित मनोवृत्ति को जीवित रखते हुए राम, कृष्ण की भूमि पर आक्रमण कर लिया। विश्वासघात कर हमारी सैकड़ो मील भूमि पर कब्जा कर लिया। भारत के सिंहों को सोता हुआ देखकर पाकिस्तानी चूहे उछल–कूद मचाने लगे, लेकिन जब भारतीय शेरों की निद्रा टूटी और उन्होंने देखा कि चोर घर में घुस आये हैं तो वे दुश्मन पर कहर बनकर टूट पड़े। अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए, कारगिल की ऊँची चोटियों पर फिर से तिरंगा फहराने का पावन संकल्प लिए हुए ये वीर आगे बढ़ते रहें, विकटतम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कदम रूके नहीं। बलिदान, देशभक्ति साहस और वीरता का एक नया स्वर्णिम अध्याय जोड़ दिया, अजय आहूजा, विवेक गुप्ता, विजयन्त थापर, आमोल कालिया, हनीफुद्दीन, सौरभ कालिया, एम० विश्वनाथन सदृश युवा वीरों ने । इन महान देशभक्तों की वीरता के आगे पाकिस्तानी चूहों को भागना पड़ा। द्रास, मशकोह, जुबेरहिल, टाईगरहिल की चोटियों पर फिर से राष्ट्र ध्वज जगमगा उठा। सौ करोड़ का यह देश चट्टान की तरह एक हो गया।

ऐ वीरों! आपका अप्रितम शौर्य मण्डित बलिदान सदा अमर रहेगा। युगों युगों तक भारतीय बालक और युवक श्रद्धापूर्वक आपको स्मरण करते रहेंगे। सचमुच आप मर कर भी अमर हो गये। आपको हमारा शत–शत प्रणाम।

हमारे कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय भारतवर्ष का एक ऐसा अनुपम शिक्षा संस्थान है, जिसका अपना स्वर्णिम इतिहास है। सौ वर्षों के कालखण्ड में इस संस्थान से शिक्षा प्राप्त स्नातकों ने जीवन के

विभिन्न क्षेत्रों में आदर्शों और सफलताओं के मानदण्ड स्थापित किये है। इस सफलता के पीछे जहां स्वामी श्रद्धानन्द का तप, त्याग और बलिदान है, वहां समय समय पर इस संस्था का मार्गदर्शन करने वाले आचार्यों और कुलपतियों की पावन परम्परा भी प्रमुख कारण हैं। स्वयं आचारवान् होकर शिष्यों को आचरण की शिक्षा देने वाले, अपने औरस पुत्रों की अपेक्षा शिष्यों पर अगाध स्नेह की वर्षा करने वाले आचार्यों और महर्षि कण्व, सान्दीपनि की परम्परा को जीवित रखने वाले कुलपतियों ने इस संस्था का गौरव बढ़ाया है। मध्य–मध्य में मेघों की काली घटायें भयभीत और निराश भी करती रही, किन्तु आज नई सहस्राब्दि में प्रवेश करने के लिए तैयार इस विश्वविद्यालय का स्वरूप देखकर हृदय, प्रसन्नता से भर आता है। चारों और विकास की रमणीय छटा, प्राचीन विद्याओं के साथ आधुनिकतम ज्ञान–विज्ञान का प्रकाश। एक ओर वेद, दर्शन, संस्कृत और संस्कृति है तो दूसरी ओर कम्प्यूटर, प्रबन्धन, सूक्ष्म जीव विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान भी है। बालकों के लिए उच्च शिक्षा है तो बालिकाओं के लिए भी पृथक रमणीय परिसर है। देखते–देखते गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सफलता के अनेक सोपान पार करता हुआ उच्च शिखर पर आरूढ़ हो गया है।

इन सारी सफलताओं का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वे है विश्वविद्यालय के यशस्वी **कुलपति डॉ० धर्मपाल जी**। विश्वविद्यालय के कुलाधिपति **श्री सूर्यदेव जी**, परिद्रष्टा **प्रो० शेरसिंह** जी एवं आर्य जगत के महान संन्यासी, गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति के उन्नायक, **पूज्य स्वामी ओमानन्द जी** से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन लेते हुए डॉ० धर्मपाल जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को देश की शीर्ष शिक्षा संस्था बनाने का संकल्प किया हुआ है, और इस संकल्प को मूर्तरूप देने के लिए वे मान–अपमान, लाभ–हानि की चिन्ता न करते हुए कर्मयोगी बनकर अहर्निश संस्था के अभ्युदय में लगे हुए हैं। सौम्यता की प्रतिमूर्ति, मृदुभाषी डॉ० धर्मपाल जी से मिलकर व्यक्ति प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकता। वे जहां आर्य समाज के कार्यकर्त्ता और अग्रणी नेता है, सुयोग्य शिक्षक, वक्ता और लेखक हैं, वहां अत्यन्त सफल प्रशासक भी हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण मानचित्र उनकी आंखों में समाया रहता है। यही कारण है कि तीन–तीन वर्ष के दो कार्यकाल सफलतापूर्वक पूर्ण कर लेने के पश्चात शिक्षा जगत की पारखी आंखों ने उन्हें पुनः कुलमाता की सेवा का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इस तृतीय कार्यकाल में हमारे लोकप्रिय कुलपति जी का व्यक्तित्व कुन्दन बनकर चमकेगा। हम माननीय कुलपति जी के उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घायु और चन्द्रोज्वल कीर्ति की कामना करते हुए प्रसन्नता के इन क्षणों में हार्दिक अभिनन्दन और वन्दन करते है।

प्रो० महावीर
प्रधान सम्पादक

❖ ❖ ❖

भौगोलिक इतिहास के परिकल्पक
पण्डित जयचन्द्र विद्यालङ्कार

आचार्य डा० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

१९१९ में स्नातक होने के बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार नेशनल कालेज लाहौर में इतिहास के अध्यापक नियुक्त हुए। उनके शिष्यों में क्रान्तिकारी वीर भगत सिंह भी थे। उन्हीं का पत्र लेकर श्री भगत सिंह दिल्ली में पण्डित इन्द्र विद्यावापचस्पति के समाचार पत्र में कार्य करने के लिए आए थे। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार भी उन दिनों वहीं कार्य कर रहे थे। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय जयचन्द्र जी के इतिहास ज्ञान तथा उत्कट क्रान्तिकारी विचारों के प्रबल प्रशंसक थे। १९३३ में उनके ग्रनथ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सुप्रसिद्ध मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया था। १९५० में कोटा में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वह सभापति थे। प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व, संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के वह आधारस्तंभ थे। जनपदीय सांस्कृतिक आन्दोलन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि हिन्दी की प्राणदायिनी शक्ति और चेतना तो ग्रामवासिनी भारतमाता के उन मन्दिरों से प्राप्त होगी जिन्हें जनपद की संज्ञा दी जाती हैं। बाहय भिन्नता और आन्तरिक एकता ही भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्षण है और यही जनपदीय लोक चेतना में प्रतिबिम्बित है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डा० सत्येन्द्र तथा बाबू वृन्दावन दास उनकी योजना के प्रबल प्रशंसक थे। भौगोलिक स्थिति से देश के इतिहास और जनजीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन–विवेचन करने वाले वह देश के प्रथम इतिहासकार थे। १९२७ में लाहौर में आयोजित इन्डियन साइंस कांग्रेस की भूगर्भ विज्ञान संगोष्ठी में डा० डडली स्टाम्प ने इस प्रविधि पर प्रकाश डाला था और फिर स्वयं १९२९ में एशिया नामक पुस्तक में एशियाई देशों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं का विवरण देते हुए यह प्रमाणित किया था कि इतिहास पर पुरानी भौगोलिक परिस्थितियों का व्यापक तथा प्रेरक प्रभाव पड़ता है। इसके ठीक एक वर्ष बाद १९३० में पण्डित जयचन्द्र जी ने 'मातृभूमि और उसके निवासी' पुस्तक हिन्दी में लिखकर डा० डडली स्टाम्प के कार्य को आगे बढ़ाया। इस दृष्टि से अब तक भारतीय भाषाओं अथवा अंग्रेजी में कोई कार्य नहीं हुआ था। यही कारण है कि भारतीय ओरियंटल कान्फ्रेंस के सभापति पुरावेत्ता रायबहादुर डा० हीरालाल जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा– 'पण्डित विद्यालंकार की यह एक नई सूझ है जो भूगोल को शास्त्र का रूप दे रही है। अभी तक भूगोलों के ग्रन्थकार किसी देश के विभाग, पर्वत, नदी, नाले इत्यादि का वर्णन देकर संतोष कर लेते थे परन्तु भौगोलिक स्थिति से इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन जहाँ तक ज्ञात है पहले पहल पण्डित जयचन्द्र जी ने ही किया है।'

डा० हीरालाल जी के उक्त कथन में सत्यता है क्योंकि डा० स्टाम्प से भी पहले १९२५ में 'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' लिखकर पण्डित जी अपना लक्ष्य प्रस्तुत कर चुके थे। स्वयं

पण्डित जी का कहना था कि भारत वर्ष की जातीय भूमियों की पहचानने का महत्व पहले पहल मैंने १९२१ के स्मरणीय साल दिखलाया था। उनकी पहचान जहाँ एक तरफ भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन की बुनियाद है, वहाँ भारतीय राष्ट्र के भावी जीवन की भी वही इकाइयाँ हैं। इतिहास–समाज शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उनका जीतना महत्व है, राष्ट्रीय जीवन के नेताओं के लिए उससे भी कहीं अधिक।'

इस दृष्टि से पण्डित जी ने १९२१ में कानपुर से प्रकाशित पत्रिका 'प्रभा' में 'भारतवर्ष का स्वाभाविक स्वरूप : स्वाधीन सहोदर जातियों का एक स्वेच्छाकृत संघ' लेख लिखकर अपनी स्थापना विद्वानों के सम्मुख रखी थी। इस लेख ने वर्लिन में इतिहास के अध्येता डा० विनाय कुमार सरकार को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द कल्चरल हेरिटेज' में पण्डित जी की शोध सामग्री का आधार रूप में उपयोग किया। डा० काशी प्रसाद जायसवाल तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पण्डित जी के कार्य का भरपूर समर्थन किया। पण्डित जी की इस नई दृष्टि ने राष्ट्रीय इतिहास लेखन की नींव डाली। उनके इस कथन में वास्तविकता निहित है कि भारतवर्ष की शताब्दियों से मंद हो चुकी जातीय चेतना आज फिर जाग रही है, उस दशा में उस जाति या राष्ट्र के प्रत्येक अंग को अपने ठीक ऐतिहासिक स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। यही कारण है कि अपने देश के राष्ट्रीय जीवन में भी आज हम प्रत्येक पुराने जातीय विभाग को अपनी एकता को फिर से स्थापित और सिद्ध करने के लिए बेचैन होता देखते हैं, पण्डित जी ने इस सम्बन्ध में हिन्दूकुश, हिमालय, उत्तरभारतीय मैदान, विन्ध्यमेखला और दक्खिन के चार विभागों के नये प्रस्तावित आधार पर प्राचीन मण्डलों के निर्धारण की अपेक्षा प्राचीन काल की जनपद विभाग शैली की संगति को स्वीकार किया तथा उत्तरापथ और दक्षिणापथ के पाँच स्थलों का निर्धारण किया। पण्डित जी ने सप्रमाण बताया कि हिन्दी खण्ड या मध्यमण्डल के चार विभाग हैं– अन्तर्वेद, विहार, चेदिकोशल तथा राजस्थान। भौगोलिक आधार पर स्वाभाविक प्रान्तों के गठन का समर्थन करते हुए उन्होंने हिन्दी खण्ड, पूरब खण्ड, दक्खिन खण्ड, पच्छिम खण्ड, उत्तर पच्छिम खण्ड तथा पर्वत खण्ड का विस्तृत विवरण दियां तथा भारत वर्ष के प्रान्तों का परिगणन करते हुए भारत की प्रमुख भाषाओं का आधार वहाँ की नस्लों को बताया। आर्य और द्राविड़, आर्य वंश और आर्य स्कंध, दरदी शाखा, ईरानी शाखा, आर्यावर्ती शाखा, मुंड (शावर) और किरात (तिब्बतवर्मी) चीन किरात, स्यामचीनी तथा तिब्बती वर्मी या किरात स्कंध का विवेचन किया। इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला की भारतवर्ष की लिपियों में चाहे जितने परिवर्तन होते रहे हैं पर वर्णमाला लगभग एक ही रही है। आज वह समूचे भारत, तिब्बत, बर्मा, स्याम और कम्बुज की तथा अंशत: मलायु द्वीपावली के बाकी अंश, अफगान स्थान और मध्य एशिया की भी वही वर्णमाला थी। इस प्रकार वर्णमाला के सम्बन्ध में आर्य और द्राविड़ का भेद कुछ नहीं है। आर्य वर्णमाला को द्राविड़ भाषाओं ने भी अपना लिया है और वही वर्णमाला भारतवर्ष के पड़ोस की किरात भाषाओं (तिब्बती, नेवारी), स्यामी भाषा और आग्नेय (तलैंग, कम्बुजी, जावाद्वीप की कीव आदि) भाषाओं ने भी अपना ली है। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि पारिभाषिक शब्द संस्कृत से तथा सिंहली पालि से लेती हैं। तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम संस्कृतखान की शरण लेती हैं। इस अंश में भी आर्य और द्राविड़ कुछ भेद नहीं रहा। तिब्बती तथा मंगोल भाषा का पुराना वाङ्मय भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है। तात्पर्य यह कि समूचे भारत का साहित्य और वाङ्मय एक है।' इस प्रकार जातीय भूमि, नस्ल तथा भाषा के आधार पर विदेशी इतिहासकारों द्वारा किया गया विभाजन मिथ्या और निराधार है। भारतीय इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री पुराणों में निहित हैं। विदेशी विद्वान पार्जीटर

ने पुराणों की सामग्री का पर्यालोचन करते हुए कुछ बातें कहीं। पण्डित जी ने पार्जीटर की स्थापनाओं से असहमति जताते हुए पाठ की शुद्धि और नई व्याख्या पर बल दिया। उन्होंने कम्बोज देश पर सर्वथा नई सामग्री प्रस्तुत की। प्रो० क्रूशे तथा डा० ग्रियर्सन की कल्पना को उन्होंने निराधार बताया। डा० हेमचन्द्र राय चौधुरी तथा डी० आर०भण्डारकर की स्थापना को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। कालिदास द्वारा रघुवंश में प्रस्तुत सामग्री का उन्होंने ऐतिड्य प्रमाणित करते हुए बताया कि रघु की दिग्विजय का वर्णन यथार्थ है क्योंकि वह भूगोल, जनविज्ञान तथा भाषाविज्ञान से संगत है। पण्डित जी ने पुराणवर्णित स्थानों की पहचान में भी मौलिकता दिखाई है। उदाहरण के लिए शुक्तिमान् पर्वत की पहचान के विवाद में वह डा० रमेशचन्द्र मजूमदार पर कटाक्ष करते हुए लिखते हैं कि कुनार का स्रोत हिन्दूकुश की पूरवी जड़ में है जिसके दूसरी तरफ पामीर ए बरवां है। डा० मजूमदार जैसे प्रमाणिक विद्वान उसमें और सुलेमान में भेद नहीं कर सकते, इससे केवल यही सूचित होता है कि भौगोलिक विषयों को हमारे देश में अभी तक बहुत हलकेपन से हथियाया जाता है।

पण्डित जी में शोध की ईमानदारी पर्याप्त मात्रा में थी। वह स्थापनाओं में दुराग्रही नहीं थे। उन्होंने अपनी स्थापनाओं में परिवर्धन तथा संशोधन भी किया है। जैसे राल्चा प्रदेश को पहले वह भारत से बाहर का समझते थे पर बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि वही कम्बोज देश है क्योंकि वह कश्मीर के ठीक उत्तर है तथा तुखार या बदख्शां से उसकी एक तरफ की पूरी सीमा सटी हुई है। पार्जीटर का विरोध यत्र तत्र किया गया है। जैसे पुराणों में भारत के पच्छिम खण्ड को अपरान्त कहा गया है। वायु पुराण में अपरीता: पाठ है। पार्जीटर इसे अशुद्ध मानते हैं पर पण्डित जी इसे शुद्ध मानते हैं। उत्तरापथ के अपरीत आधुनिक अपरीदियों के पूर्वज थे उन्होंने पाणिनि, बसुबन्धु तथा आसंग को पेशावरी पंजाबी बताया। आवश्यकता पड़ने पर पण्डित जी ने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण भी किया। जैसे 'कैचमेंट एरिया' शब्द के लिए 'प्रस्रवण क्षेत्र' तथा सिन्क्लिनट के लिए 'अन्त: प्रवण' शब्द का निर्माण उन्होंने किया। चोटी के अर्थ में धार शब्द पालि के पब्भार तथा संस्कृत के प्राग्भार के निकट है। ताँता के अर्थ में यह शब्द उपयुक्त है। धौलाधार और सिरी कन्दधार शब्द इसका समर्थन करते हैं। यहाँ उन्होंने डा० स्टाइन की धारणा का विरोध किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इतिहास तथा भूगोल जैसे गंभीर विषयों का हिन्दी में लेखन तथा विचार मंथन सर्वप्रथम पण्डित जी ने जिस विद्वता तथा सूझबूझ के साथ किया, वैसा उनसे पूर्व नहीं हो सकता था। डा० जायसवाल ने पटना से ३१ जुलाई १९३१ को उन्हें पत्र लिखकर सम्मति दी थी कि आपने विभिन्न विद्वानों की अब तक की नई खोजों का उपयोग किया है और उनमें अपनी नई खोजें जो महत्वपूर्ण हैं, जोड़ी हैं। इस प्रकार समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखने की अब तक किसी ने चेष्टा न की थी। आचार्य गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने १९२९, १९ सितम्बर को लिखा था– ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशक से ही हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ सकता है।

श्री जयचन्द्र जी ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा तथा भारतभूमि और उसके निवासी ग्रन्थ लिखकर भारत के और विशेषत: हिन्दी के गौरव को वैसे ही बढ़ाया जैसे ओझा जी ने भारतीय लिपि माला ग्रन्थ लिखकर हिन्दी को दीप्ति प्रदान की थी। खेद है, जयचन्द्र जी की पद्धति पर भारतीय इतिहासकारों ने अपेक्षित कार्य नहीं किया।

◆ ◆ ◆

इतिहास लेखन में राष्ट्रीय दृष्टि के प्रस्तोता– पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

डा० भवानीलाल भारतीय
८/४२३, नन्दन वन, जोधपुर

"इतिहास शुष्क घटनाओं तथा विगत का स्थूल इतिवृत्त ही नहीं है अपितु वह अतीत के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की धड़कन को पहचानने का प्रमुख साधन है", इस तथ्य का उद्घाटन करने वाले प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार ने जहाँ एक प्रबुद्ध विद्वान् का जीवन जिया वहाँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य को भी निभाया।

उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान के जिला लायलपुर के ग्राम डिजकोट में करमचंद नारंग के यहाँ ५ मार्च १८९८ को हुआ। उनके पिता ने मुलतान में शिक्षा प्राप्त करते समय पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के व्याख्यान सुने थे अत: उनका झुकाव आर्यसमाज की ओर गत शताब्दी के अन्तिम दशक में हो गया था। करमचन्द नारंग आर्य समाज के सुधारवादी विचारों से इस हद तक प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी दुकान पर दो चमारों को नौकर रक्खा। उनके यहाँ आटा पीसने का काम भी चमारिन को सौंपा हुआ था। जब १९०२ में महात्मा मुन्शीराम ने गंगा किनारे गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की तो बालक जयचन्द्र को उसमें प्रविष्ट कराया गया। यहाँ से उन्होंने १९१९ में स्नातक बन कर विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। इतिहास के अध्ययन में उनकी विशेष रूचि थी और अध्ययन समाप्त करने के साथ ही उन्होंने निश्चय किया कि भारत के वास्तविक इतिहास के शोध और लेखन को ही वे अपने जीवन का उद्देश्य बनायेंगे। कई वर्षों तक वे गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक रहे। १९२० में असहयोग आन्दोलन के दिनों में जब सरकारी स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की आंधी आई तो अनेक स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। इसी समय लाहौर में नेशनल कालेज की स्थापना हुई और जयचन्द्र जी की वहाँ इतिहास के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। एक अन्य आर्यसमाजी विद्वान पं० उदयवीर शास्त्री इसी कालेज में दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे। शहीद भगत सिंह और उनके साथी सुखदेव ने इन तेजस्वी आचार्यों के चरणों में बैठकर देशभक्ति का पाठ पढ़ा था।

पं० जयचन्द्र ने इतिहास की राष्ट्रीय व्याख्या ही नहीं की, देश के स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग भी लिया। १९४२ के आन्दोलन में उन्हें कारावास का दण्ड मिला। वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के वर्षों तक सदस्य रहे। उनके जीवन की एक उल्लेखनीय घटना का विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। बिहार षडयंत्र केस में पटना में कुछ क्रान्तिकारियों पर मुकद्मा चलाया गया तो उनके विरूद्ध अदालत में जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये उनमें जयचन्द्र जी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'भारत का भौगोलिक आधार भी थी। अभियोजन पक्ष की दलील यह थी कि इस पुस्तक में देश के राजमार्गों और सड़कों के महत्व का जिस रूप में वर्णन किया गया है उसे पढ़कर इन क्रान्तिकारियों को यह पता लग जाता है कि किस सड़क का पुल तोड़ना है तथा किस रेलमार्ग में बाधा खड़ी की जा सकती है। अभियुक्तों की ओर से प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा पुरातत्ववेत्ता डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने पैरवी की थी और वे पं० जयचन्द्र

जी के विवेचन कौशल से अत्यन्त प्रभावित हुए थे।

उनके द्वारा लिखित इतिहास के प्रमुख ग्रन्थ हैं— (१) भारतभूमि और उसके निवासी (२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (३) भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न (४) इतिहास प्रवेश अथवा भारतीय इतिहास का अनुशीलन (५) भारतीय कृष्टि का क ख (६) भारतीय इतिहास की मीमांसा आदि। भारतीय इतिहास की रूपरेखा पर उन्हें १९३३ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया जो साहित्य जगत् का सर्वश्रेष्ठ सम्मान था। भारतीय इतिहास परिषद ने उनके सम्पादन में २० खण्डों में भारत का विस्तृत इतिहास लिखवाने की एक वृहद् योजना बनाई थी किन्तु १९४२ के आन्दोलन में जयचन्द्र जी के भाग लेने और जेल जाने के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ़ा। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें लाहौर के किले तथा कैम्बलपुर (अटक) की जेल में रक्खा। १९५० में उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। यह अधिवेशन राजस्थान के कोटा नगर में सम्पन्न हुआ। इसके बाद सम्मेलन में गुटबाजी बढ़ी और भाषा और साहित्य का यह अखिल भारतीय मंच पारस्परिक द्वन्द्व तथा विग्रह का शिकार होकर सर्वथा निष्प्राण हो गया। उनकी प्रबल इच्छा थी कि भारत के राष्ट्रीय जागरण का वास्तविक इतिहास पूर्ण शोध तथा गवेषणा के पश्चात लिखा जाये तथा इसमें महर्षि दयानन्द तथा उनके अनुयायियों की भूमिका को विस्तारपूर्वक संबद्ध किया जाये। इसके लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किये। इसके लिए उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन कुलपति तथा मुख्याधिष्ठाता पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति तथा पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार से परमर्श किया तथा गुरुकुल में ही ऐसा शोध केन्द्र स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा। इस बारे में उन्होंने समय समय पर प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, तत्कालीन शिक्षा मंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० चिन्तामणि द्वारकानाथ देखमुख तथा प्रमुख भाषा वैज्ञानिक डा० सुनीति कुमार चटर्जी से व्यापक परामर्श किया था। इस बसका विस्तृत विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में दिया है जो प्रकारान्तर से उनकी आत्मकथा ही है।

देश के स्वतंत्रता संग्राम में ऋषि दयानन्द की भूमिका को सुदृढ़ प्रमाणों से स्थापित करने का उनका उद्योग आर्य समाज के इतिहास का एक ज्वलन्त अध्याय है। इस तथ्य को उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक में विस्तार से प्रस्तुत किया है। आगे चलकर उनके ही एक शिष्य पृथ्वी सिंह महता विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ हमारा राजस्थान (१९५० में प्रकाशित) में इस विषय को सप्रमाण विवेचित किया है। सितम्बर १९५४ में विद्यालंकार महोदय ने लगातार छः दिन तक अपने क्रान्तिकारी जीवन के संस्मरण पृथ्वी सिंह महता तथा दो अन्य सज्जनों को सुनाये थे। उन लोगों ने इन्हें नोट भी किया था। यदि वे प्रकाशित होते तो आजादी की लड़ाई के एक विस्तृत अध्याय का प्रकाशन हो जाता। भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवाद के लिए गठित समिति के भी वे सदस्य थे। पंजाब सरकार ने हिन्दी सेवाओं के लिए उन्हें सम्मानित किया था। २९ अक्टूबर १९५८ को लिखे अपने एक लेख में उन्होंने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है— "भारतीय राष्ट्र जब यूरोपीयों से हार कर पस्त पड़ा था तब बुद्धिवाद का शंख बजा कर दयानन्द ने उसे फिर जगाया। वह इतिहास को पलटने वाली घटना थी।" साहित्य और इतिहास की इस अमर विभूति का निधन २१ फरवरी १९७७ को हुआ। उनका १०१ वाँ जन्मदिन ५ मार्च १९९९ को है।

❖ ❖ ❖

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की साधना के कुछ पक्ष– काशी के वातायन से

प्रो० अमरनाथ पाण्डेय
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत–विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,वाराणसी
एवं पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार का वाराणसी से विशेष सम्बन्ध रहा। उनका जन्म ४ दिसम्बर, १८९८ में लायलपुर, पंजाब में हुआ और निधन ११ फरवरी, १९७६ को।

यदि श्री जयचन्द्र जी के वाराणसी से सम्बन्द्ध कार्यों की समीक्षा न की जाय, तो उनका जीवनवृत्त अधूरा रहेगा। प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल पटना में रहते थे। श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री जयचन्द्र आदि भी उनसे मिलने पटना जाते थे और श्री जायसवाल जी के आवास पर कुछ समय तक रहते थे। श्री जायसवाल जी के आवासपर ही वाराणसी के प्रसिद्ध लेखक तथा कलाविद् श्री रायकृष्णदास जी से श्री जयचन्द्र जी का परिचय हुआ। श्री जयचन्द्र जी वाराणसी आये और श्री शिवप्रसाद गुप्त जी मिले। जयचन्द्र जी भारतीय इतिहास पर पुस्तक लिखना चाहते थे, अत: उसके लिए स्थान तथा आर्थिक सहयोग चाहते थे। जयचन्द्र जी कुछ समय तक काशी विद्यापीठ से सम्बद्ध रहे तथा इतिहास के प्राध्यापक के रूप में कार्य करते रहे। श्री जयचन्द्र जी श्री रायकृष्णदास जी से मिले। राय साहब का एक मकान रामघाट पर था। श्री रायकृष्णदास के पुत्र डॉ० आनन्दकृष्ण से मालूम हुआ कि उनके पिता जी ने श्री विद्यालङ्कार के आवास की व्यवस्था गङ्गा के तट पर स्थित रामघाट के अपने मकान पर कर दी। वहाँ निवास करते हुए श्री विद्यालङ्कार ने 'इतिहास–प्रवेश' की रचना की। 'इतिहास–प्रवेश' का प्रथम भाग सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से १९३८ में प्रकाशित हुआ था। उस समय श्री विद्यालङ्कार जी काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक थे। पुस्तक की 'वस्तु–कथा' के अन्त में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होता है– काशी विद्यापीठ, बनारस, कार्तिक पूर्णिमा, १९९५ वि०पुस्तक बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी को समर्पित है। पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं, उनके सम्बन्ध में श्री विद्यालङ्कार का कथन इस प्रकार है– "पुस्तक के चित्रों के चुनाव में प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा गया है। एक–एक चित्र को सम्मिलित करने से पहले उसके सम्बन्ध में मैंने अपने मित्र रायकृष्णदास जी और डॉ० मोतीचन्द्र जी

के साथ बैठकर विवेचना और आलोचना की है।"—वस्तुकथा, पृ० ३। इतिहास—प्रवेश के प्रथम भाग की वस्तुकथा में इतिहास के विषय में अपनी दृष्टि का उल्लेख किया है— "राष्ट्रीय दृष्टि से मनन करने का अर्थ यह हर्गिज नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमजोरियों को नजरअन्दाज करें। उल्टा उन्हीं को समझने के लिए हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं, क्योंकि अपने इतिहास को समझने के लिए जो अन्तर्दृष्टि हममें हो सकती है, वह विदेशियों में नहीं हो सकती।"— वस्तुकथा, पृ० २।

प्रथम भाग की वस्तुकथा में श्री विद्यालङ्कार ने बनारस के श्री दुर्गाप्रसाद तथा श्री श्रीनाथ साह के प्रति आभार व्यक्त किया हैं।

'इतिहास—प्रवेश' का द्वितीय भाग १९३९ में निकला था। यह सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था।

मुझे 'इतिहा—प्रवेश' के द्वितीय भाग (संस्करण—१९३९) की उस प्रति का अवलोकन करने का भी सौभाग्य मिला, जिसे श्री विद्यालङ्कार ने अपने हस्तलेख में भारतीय पुरातत्व विभाग के विद्वान्अध्यक्ष रावबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षित को समर्पित किया है। यह प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत—कला भवन में विद्यमान है।

'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' का भूमिकाखण्ड १९३० के उत्तरार्ध में तथा १९३१ के प्रारम्भ में काशी में लिखा गया। श्री विद्यालङ्कार श्री काशी प्रसाद जायसवाल से अत्यधिक प्रभावित थे। इस ग्रन्थ के लेखन में उन्होंने मन्त्रों तथा श्लोकों के अनुवाद के लिए पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा से सहायता ली थी। सिंहल शब्दकोश के कार्यालय के श्रीयुत जूलियस द लानरेल ने पत्रद्वारा श्री विद्यालङ्कार के कई प्रश्नों का समाधान किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी मेरे वेद के गुरु थे। प्रो० सक्सेना भाषाविज्ञान तथा साहित्य के।

श्रीविद्यालङ्कार को प्रान्तीय नाम मालूम करने के लिए सिंहल प्रवासी भिक्खु आनन्द कौसल्यायन, मद्रास के श्रीयुत हरिहर शर्मा, काशीविद्यापीठ के भूतपूर्व छात्र श्री रामन्ना, श्री मालचन्द्र आप्टे, तथा श्री पटनायक से विशेष सहायता मिली थी। 'भारतीय इतिहास की रुपरेखा' की वस्तुकथा में श्री जयचन्द्र जी लिखते हैं कि काशी विद्यापीठ के पुस्तकालय का उपयोग आचार्य नरेन्द्रदेव जी की कृपा से हुआ था तथा काशी सरस्वती भवन का उपयोग डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री की कृपा से। डॉ०काशीप्रसाद जायसवाल तथा राहुल जी श्री विद्यालङ्कार के विशेष प्रेरक थे।

डॉ० आनन्दकृष्ण जी से वाराणसी में मालूम हुआ कि श्री जयचन्द्र जी अत्यधिक परिश्रमी थे। जब इतिहास पर पुस्तक लिख रहे थे, तब छः—छः घण्टे एक आसन पर बैठे रहते थे और अपने शिष्यों को लिखाते जाते थे। वे लेखन में मूल के आधार पर ही अपना मत स्थिर करते थे। पाश्चात्य भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का उपयोग उन भाषाओं के माध्यम से ही करते थे। जो तथ्य उपलब्ध होते थे, उनका पूर्ण परीक्षण करने के बाद ही अपने

लेखन में उनका सन्निवेश करते थे।

श्री विद्यालङ्कार ने 'इतिहास–परिषद्' नामक संस्था बनाई थी। काशी विद्यापीठ, वाराणसी में इसका विशाल आयोजन हुआ था। सम्मेलन में देश के उच्चकोटि के इतिहासविद् उपस्थित हुए थे। इसमें भारतीय इतिहास के लेखन के सम्बन्ध में निश्चय हुआ था। इतिहास–लेखन के लिए श्री राजेन्द्र प्रसाद जी ने एक लाख रु० की धनराशि उपलब्ध करायी थी। अनेक परिस्थितियों के कारण इतिहास–लेखन का कार्य आगे न बढ़ सका।

श्री विद्यालङ्कार का संस्कृत–ज्ञान परिष्कृत था। उनकी पुस्तक 'उत्कीर्ण शिलालेखाञ्जलि' में पाँच' में पाँच शिलालेखों का संग्रह है। शिलालेखों का हिन्दी भाषा में अनुवाद है और संस्कृत में महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय श्री विद्यालङ्कार साहित्य–सम्मेलन, प्रयाग के अध्यक्ष थे। पुस्तक मास्टर खेलाड़ी लाल, बनारस से प्रकाशित हुई थी। उन्होंने पुस्तक अपने गुरु न्याय–साङ्ख्य–वेदान्त–तीर्थ श्रीमत्पण्डित योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य को समर्पित की थी। श्री भट्टाचार्य के प्रति श्रीविद्यालङ्कार के हृदय में अत्यधिक श्रद्धा थी।

यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि श्री जयचन्द्र जी क्रान्तिकारी थे। उनकी गतिविधियाँ बहुत गुप्त रहती थीं। वे और उनके मित्र कूटों के आधार पर व्यवहार करते थे। जो क्रान्तिकारी थे, वही उन कूटों को जानते थे।

डॉ० आनन्दकृष्ण जी से मालूम हुआ कि श्रीविद्यालङ्कार जी श्री रायकृष्णदास के घर पर बनने वाले भोजन में प्रयुक्त होने वाले धृत आदि के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिया करते थे तथा उनकी प्रामाणिकता तथा अप्रमाणिकता के विषय में अपना मत रखते थे। श्रीविद्यालङ्कार का मत रहता था कि भोजन की पौष्टिकता नष्ट न हो तथा जहाँ तक सम्भव हो, उसे सादा रखा जाय।

◆ ◆ ◆

बहु–आयामी जयचन्द्र विद्यालंकार

प्रो० वेदव्रत वेदालंकार
C-198, सर्वोदय एन्क्लेव
नई दिल्ली–१७

भाई मनोहर जी से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की ओर से स्वर्गीय श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार की स्मृति में एक संस्मरण ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मनोहर जी का आग्रह था कि क्योंकि मैं इतिहास का विद्यार्थी एवं अध्यापक रहा हूँ, इसलिये उनके सम्बन्ध में कुछ लिखूं। आज ८८ वर्ष की अवस्था में स्मृतियां कुछ धुंधली होनी प्रारम्भ हो गई हैं और स्वास्थ्य भी कुछ ठीक नहीं है, फिर भी कुछ लिखकर भेज रहा हूँ।

सबसे पहले मैंने उन्हें एक राष्ट्रीय विद्यापीठ में अध्यापक के रूप में जाना था तब मैं गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में विद्यार्थी था। असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होने पर गांधी जी के आह्वान् पर लाला लाजपतराय ने लाहौर में अपने 'सर्वेंट्स ऑफ दी पीपल सोसाइटी' के परिसर में 'नेशनल कालेज' की स्थापना की थी। मेरे बड़े भाई (स्वामी) देशराज जी और (सरदार) भगतसिंह उसमें दाखिल हो गए थे और समकक्ष थे। जयचन्द्र जी वहां उपाध्यक्ष थे। गुरुकुल में दीर्घावकाश के समय जब मैं लाहौर गया, तब मेरा उनसे साधारण सा परिचय हुआ। वैसे उन्होंने लाहौर के नेशनल कालिज के अलावा गुरुकुल कांगड़ी, राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ भारतीय विद्याभवन बम्बई, इत्यादि अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों में अध्यापन किया और ख्याति प्राप्त की। बाद में जब मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय हरिद्वार में पहुँचा तो वहाँ साधारण महाविद्यालय में मेरा ऐच्छिक विषय इतिहास था। उस समय मैंने जयचन्द्र को एक उत्कृष्ट कोटि के मौलिक इतिहास लेखक के रूप में जाना। तब तक उनके शोध पर आधारित कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे और इसके लिये उनकी प्रशंसा भी हुई थी। मुझे उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिससे मुझे बहुत लाभ हुआ और मैं प्रभावित हुआ, और मेरे मन में उनके प्रति सम्मान की भावना बन गई।

श्री जयचन्द्र जी ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनके कारण वे ख्याति प्राप्त इतिहास लेखक, समालोचक और शोधकर्त्ता के रूप में जाने गए। हिन्दी में मौलिक इतिहास लेखक के रूप में उनका अपूर्व योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। वे कुछ सरकारों और विद्वत्परिषदों द्वारा पुरस्कृत और सम्मानित किये गए। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (दो भाग) पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें प्रतिष्ठित मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया। पंजाब सरकार ने साहित्य सेवा के लिये सम्मानित किया। भारत सरकार ने भारतीय कृष्टि का क ख पर सम्मानित किया और 'भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद करने वाली समिति का सदस्य नियुक्त किया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे एक वर्ष प्रधान भी रहे। भारतीय इतिहास परिषद के वे संस्थापक प्रधान मंत्री थे।

सन् १९३७ में जब मुझे गुरुकुल विश्वविद्यालय में इतिहास के उपाध्याय के रूप में अध्यापन का अवसर मिला तब मैं जयचन्द्र जी के और अधिक निकट आया। वे और उनकी धर्मपत्नी कौशल्या जी जब कभी गुरुकुल आये तो मुझे उनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। उनके साथ इतिहास, राजनीति विज्ञान और समाज शास्त्र तथा देश की तात्कालिक अवस्था के विषय में ज्ञानचर्चा होती थी। उनकी कुछ बातें मेरे स्मृति पटल पर भलीभांति अंकित हैं। वे प्रचण्ड राष्ट्रवादी थे। प्रत्येक बात को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते और विचारते थे। एक सक्रिय राष्ट्रवादी के रूप में उनका उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलनों से भी सम्बन्ध रहा। वे काफी समय तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी रहे और जेलयात्रा भी की। आचार्य स्वामी अभयदेव जी ने मुझे गुरुकुल विश्वविद्यालय के साधारण विद्यालय (आर्ट्स कालिज) के आचार्य के अतिरिक्त विश्वविद्यालय का शिक्षा अध्यक्ष भी बना रखा था। इस हैसियत से मुझे शिक्षा क्षेत्र के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से मिलने तथा कुछ विश्वविद्यालयों के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा पत्राचार का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९४२ के दीर्घावकाश में मैं इसी सिलसिले में हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बनारस गया हुआ था और वहां जयचन्द्र जी के पास ही ठहरा हुआ था। उनके निवास पर कुछ मंत्रणायें चल रही थी। गांधी जी का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ होने वाला था। एक दिन उन्होंने मुझे कहा कि एकाध दिन के बाद रेल मार्ग से जाना ठप्प हो जायेगा, तुम जल्दी निकल जाओ। क्योंकि मेरा परिवार अवकाश के कारण पंजाब में डलहौजी पहाड़ पर गया हुआ था, उन्होंने मेरे जिम्मे लगाया कि मैं पंजाब के क्रान्तिकारी व कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें वहां की राजनीतिक परिस्थिति और गतिविधियों से अवगत कराता रहूँ। इस बात को विस्तार से लिखना यहां अभिप्रेत नहीं है। मेरा अभिप्राय यह अवगत कराने का है कि वे किस प्रकार और कितने समर्पित भाव से राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े हुए थे।

उनके जिस परामर्श ने मुझे सब से अधिक प्रभावित और प्रेरित किया उसका उल्लेख किये बिना मेरे संस्मरण अपूर्ण रहेंगे। उन्होंने कहा कि अन्य विषयों की भांति, हमारे इतिहास लेखक, विशेषतया आंग्ल भाषा में लिखने वाले, पाश्चात्य चिन्तन से बहुत प्रभावित रहे हैं। हमें उसे बदलकर राष्ट्रीय और निष्पक्ष दृष्टि से सोचना और लिखना होगा। दूसरी बात उन्होंने कही कि साधारणतया लेखक दूसरों द्वारा लिखी बातों को आधार बना कर लिख मारते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वयं मूल स्रोतों तक जाकर अपने विचार बनायें और उनको आधार बना कर लिखें। मुझे यह बात बहुत जंची और मैंने अपने अध्यापन और लेखन में वैसा करने का ही प्रयास किया। लगभग दस साल के अध्ययन—अध्यापन के आधार पर मैंने प्राचीन 'भारतीय राजशास्त्र' पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखा। उसका क्या हुआ, इस विस्तार में मैं यहां नहीं जाना चाहता।

अट्ठासी वर्ष की आयु में, स्वास्थ्य और स्मृति के कुछ क्षीण हो जाने के बावजूद, मैंने स्वर्गीय श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के सम्बन्ध में अपने कुछ संस्मरण और उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में लिखने का कुछ प्रयास किया है। यह उस बहुआयामी विद्वान्, समालोचक, शोधकर्त्ता और राष्ट्रवादी चिन्तक व शिक्षक को मेरी श्रद्धाजंलि है।

❖ ❖ ❖

अग्निपुञ्ज–जयचन्द्र

श्री सुभाष विद्यालंकार
पूर्व कुलपति–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सन् १९३७ की बात है उन दिनों मुझे गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया गया था। घर और गुरुकुल के वातावरण में जमीन आसमान का अन्तर था। तब मेरे मन पर जो बातें अंकित हुई थी उनमें गुरुकुल के ख्याति प्राप्त कुछ स्नातकों के नाम भी थे। इन्हीं में पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार भी थे। उन्हीं दिनों जयचन्द्र जी को उनके ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। तब इस पुरस्कार को प्राप्त करनो अद्वितीय विद्वत्ता माना जाता था। बड़ी कक्षा में पहुँचने पर मुझे उनके ग्रन्थ 'इतिहास प्रवेश' को पढ़ने का अवसर मिला। बचपन से ही मुझे इतिहास के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, किन्तु जयचन्द्र जी नें इतिहास का प्रतिपादन अनूठी शैली में किया है। वे किसी काल का इतिहास लिखते समय सम्पूर्ण भारत का राजनीतिक परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। अब तक मैंने इतिहास की जो पुस्तकें पढ़ी थी उनकी अपेक्षा जयचन्द्र जी की प्रस्तुति सर्वथा निराली थी। उनके ग्रन्थ को पढ़ कर पाठन के मन पर सारे देश की राजनीतिक परिस्थिति का दृश्य अंकित हो जाता है। जयचन्द्र जी इतिहास की घटनाएं प्रस्तुत करते हुए इनकी भौगोलिक पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करते जाते हैं। एक दिन मैंने अपने इतिहास के अध्यापक जी से पूछा कि जयचन्द्र जी ये सब घटनाएं कैसे लिखते हैं। मेरे अध्यापक महोदय स्वयं गुरुकुल के मेधावी स्नातक थे और सम्भवत: जयचन्द्र जी के शिष्य भी। उन्होंने बताया कि पण्डित जयचन्द्र जी अपने अध्ययन कक्ष में सम्पूर्ण भारत का मानचित्र फैलाकर देश की सीमाओं, पड़ोसी देशों और सीमावर्ती भौगोलिक परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहते हैं। इस एकान्त मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप वे जिन ऐतिहासिक तथ्यों और निष्कर्षों पर पहुँचते हैं उन्हें लिखते जाते हैं, इसलिये उनकी शैली अन्य इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न हैं। वे देश के समग्र इतिहास और तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों को इतिहास वेत्ता की निष्पक्ष दृष्टि से प्रस्तुत करते जाते हैं।

वर्ष बीतते गये, किन्तु मुझे गुरुकुल में जयचन्द्र जी के दर्शन करने का सौभाग्य नहीं मिला। मैं महाविद्यालय में पढ़ने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त ही हुआ था और देशवासी भारत को स्वाधीन करने की मांग लगातार कर रहे थे। देश के सम्पूर्ण वातावरण में नेता जी सुभाषबोस की आजाद हिन्द फौज की यशोगाथा गूंज रही थी। उनहीं दिनों जयचन्द्र जी गुरुकुल पधारे और मुझे जीवन में पहली बार उनके दर्शन करने और ओजस्वी विचार सुनने का अवसर मिला। साधनानिष्ठ तपस्वी जैसी क्षीण काया, ऊँचा माथा मोटे चश्में के पीछे से अन्तस्तल तक भेदती हुई पैनी दृष्टि, नोकीली और उभरी हुई नाक, गौर वर्ण, धीर–गम्भीर स्वर और खादी का कुर्ता पाजामा तथा जैकेट सरलता, सादगी और विनम्रता की साक्षात् प्रतिमा थे जयचन्द्र जी। १९५३ में दिल्ली आ जाने पर जयचन्द्र जी से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। वे और मैं नई दिल्ली के जनपथ पर बने संसद सदस्यों के आवासों में रहते थे। हमारे निवास आमने–सामने ही थे, अत: पण्डित जी से प्राय: प्रतिदिन भेंट होती रहती थी। देश को स्वाधीन हुए कुछ वर्ष बीत चुके

थे। जयचन्द्र जी के देशभक्त क्रान्तिकारी मस्तिष्क ने जिस स्वाधीन भारत का सपना अपने हृदय में बचपन से संजोकर रखा था उसका लेशमात्र भी पूरा होता न देख वे उद्विग्न और निराश रहते थे और कहते थे कि क्या इन्हीं काले अंग्रेजों की हुकूमत में रहने के लिये भारत के सपूतों ने अपने जीवन की आहुति भारत माता के चरणों में अर्पित की थी ? जयचन्द्र जी का सम्पूर्ण जीवन और कृतित्व देश को पराधीनता की बेड़ियों से छुटकारा दिलाने, भारतीय संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा कराने और हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान दिलाने के लिये ही समर्पित था। उन्होंने जीवन में स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई काम नहीं किया। अपने जीवन में उन्होंने इतिहास, संस्कृति, कृषि, भारतीय वाङ्मय, भौगोलिक इतिहास आदि अनेक विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखें। ये सब ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे गये। मुझे एक विद्वान से यह भी सुनने को मिला 'यदि जयचन्द्र जी अपने ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखते तो उन्हें निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और मान्यता मिलती।' जयचन्द्र जी का निराश और भग्न हृदय मस्तिष्क अपने ही विचारों में खोया अन्तस्तल की वेदना भी व्यक्त न कर सकने के कारण प्राय: मौन और अन्तर्मुख ही रहता था। कभी प्रसंगवश अपने जीवन के संघर्षों और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के भोलेपन की बातें सहसा उनके मुख से निकल पड़ती थीं। वे भारतीय इतिहास परिषद् के संस्थापक थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद को उन्होंने इस परिषद् का अध्यक्ष मनोनीत किया था। स्वाधीन भारत का संविधान तैयार करने के लिये गठित संविधान सभा के अध्यक्ष पद पर डा० राजेन्द्र प्रसाद सर्वसम्मति से चुने गये थे। राजेन्द्र बाबू की हार्दिक इच्छा थी कि देश के संविधान का प्रामाणिक हिन्दी रूप भी साथ–साथ तैयार होता रहे। इस कार्य के लिये जिन विद्वानों को आमंत्रित किया गया था उनमें श्री जयचन्द्र जी प्रमुख थे। जयचन्द्र जी ने इस समिति के सलाहकार पद के लिये गुरुकुल के एक योग्य स्नातक का नाम सुझाया था। किन्तु वे स्नातक इतने भोले और सीधे थे कि कुटिल नौकरशाहों की हिन्दी विरोधी चालें नहीं समझ सके और साधारण क्लर्क के पद पर काम करने के लिये तैयार हो गये। वे जीवन भर इसी पद पर काम करते रहे। जयचन्द्र जी इन स्नातक बन्धु के निपट भोलेपन की तो कम किन्तु सरकारी अफसरों की कुटिल मनोवृत्ति की चर्चा मुझसे प्राय: किया करते थे।

सात वर्ष की अवस्था में जयचन्द्र जी को उनके पिताजी ने सन् १९०६ में गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया था। उन दिनों गुरुकुल का वातावरण देश में व्याप्त पुनर्जागरण की धारा से अत्यधिक प्रभावित था। देशवासियों में बन्धुत्व और अपनेपन की जो भावना थी उससे गुरुकुल भी अछूता नहीं था। बचपन में उनके मन पर राष्ट्रीयता की जो छाप पड़ी उसी का यह प्रभाव था कि उनका जीवन राष्ट्रीय गौरव और आत्मसम्मान की पुन: प्रतिष्ठा के लिये सदैव समर्पित रहा। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये वे न केवल स्वयं क्रान्तिकारी बने अपितु अनेक क्रान्तिकारियों के दीक्षा गुरु भी। एक बार जयचन्द्र जी ने बताया कि सन् १९०८ में वे चौथी कक्षा में पढ़ते थे। एक दिन भोजनशाला में आकर हमारे आचार्य जी कहा कि हैदराबाद में अकाल पड़ गया है, इसीलिये तुम लोग अपने भोजन में कटौती करो। इससे जो रुपया बचेगा वह वहाँ भेजा जायेगा। हैदराबाद के दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिये हमें अपना पेट काटकर भी कुछ भेजना चाहिये यह नया विचार तब पहली बार हमारे मन के क्षितिज पर आया। उन्होंने यह भी बताया कि तब देश में स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। मेरा और मेरे बहुत से साथियों का मुख्य ध्यान तबसे उसकी ओर रहने लगा। मास्टर नन्दलाल जी हमें पंजाब के उर्दू अखबारों से ताजा घटनाएं सुनाया करते थे। पंजाब में तब गरमागरमी जारी थी। सरदार अजीत सिंह भारत से खिसक रहे थे और लाला हरदयाल खिसकने से पहले गुरुकुल आकर दो दिन ठहरे थे। उन्होंने हम लोगों से देश की चर्चा की थी। हमें यह देख बड़ा उत्साह मिलता था कि गुरुकुल में हम देश की सेवा के लिये तैयार हो रहे हैं।

ब्रिटिश सरकार समझती थी कि क्रान्तिकारी बनाने के लिये ही गुरुकुल स्थापित किया गया है। अपने इस सन्देह की पुष्टि के लिये सरकार लगातार प्रयत्न भी करती रहती थी किन्तु इन सब के बावजूद यह भी एक तथ्य है कि उन दिनों गुरुकुल क्रान्तिकारियों की शरण स्थली बना हुआ था। देशभक्त क्रान्तिकारियों के लिये गुरुकुल के द्वार सदा खुले रहते थे। निर्जन वन में स्थापित गुरुकुल में अज्ञातवास करने के लिये क्रान्तिकारी आते रहते थे। राजेन्द्र लाहिड़ी, गेंदालाल दीक्षित, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल, कृष्ण सिंह बारसाट, बटुकेश्वर दत्त आदि अनेक क्रान्तिकारी लम्बी अवधि तक गुरुकुल में रहे और उनका बाल बांका नहीं होने पाया।

सरदार भगत सिंह, पण्डित जयचन्द्र जी के शिष्य थे। जयचन्द्र जी ने शचीन्द्रनाथ सान्याल के क्रान्तिकारी संगठन को भी सक्रिय सहयोग दिया था। श्री सान्याल ने अपनी पुस्तक 'बन्दीजीवन' में लिखा भी है, "इस लोक संग्रह के कार्य में अध्यापक जयचन्द्र जी ही प्रधान रूप से सहायक थे। पंजाब में जिस विप्लव आन्दोलन की नींव पड़ी उसका सम्पूर्ण श्रेय श्री जयचन्द्र जी को ही है। तिलक स्कूल ऑफ पोलेटिक्स के छात्रों से जो मैं परिचित हुआ वह जयचन्द्र जी की कृपा से। आपकी सहायता से मुझे ऐसे आदमी भी मिले, जिन्हें मैं अत्यन्त कष्ट साध्य एवं विपद संकुल स्थानों पर भेज पाया।"[१] सरदार भगत सिंह ने पुलिस की पकड़ से बचने के लिये दिल्ली में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के साथ जो दिन बिताये उनकी अलग ही कहानी है।

जयचन्द्र जी ने गुरुकुल कांगड़ी के अतिरिक्त राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, कौमी कालिज लाहौर, बिहार विद्यापीठ, काशीविद्यापीठ और भारतीय विद्या भवन मुम्बई आदि शिक्षा संस्थाओं में काम किया। उन्होंने अपने शिष्यों में क्रान्ति की चिंगारी जलाई और उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत किया। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में गुरुकुलों में दीक्षित ब्रह्मचारी के 'समिधा समिद्धः' के जिस स्वरूप का वर्णन है उसी की छवि मुझे जयचन्द्र जी और उनके क्रान्तिकारी शिष्यों में दिखाई देती थी। प्राचीन भारत में विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुलों में आकर ब्रह्मचारी तीन समिधाएं लेकर आचार्य का अन्तेवासी बनने की प्रार्थना किया करता था। अग्नि में डाली जड़ समिधा अग्नि का स्पर्श पाते ही दीप्तिमती और तेजस्विनी बन जाती है। उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य में ज्ञानाग्नि का आधान कर उसे तेजस्वी और ज्ञान सम्पन्न बना देता है। जयचन्द्र जी गुरु–शिष्य की इसी महिमामयी परम्परा का आजीवन परिपालन करते रहे।

उन्होंने देश के स्वाधीनता संग्राम में न केवल सक्रिय योग दिया अपितु उनके छोटे भाई देवचन्द्र नारंग का लाहौर में बलिदान भी हुआ। श्री नारंग हिन्दी के प्रचार–प्रसार के लिये समर्पित थे। विभाजन के बाद उनके भाई इन्द्रचन्द्र नारंग ने इलाहाबाद में हिन्दी भवन का कार्य नये सिरे से प्रारम्भ किया।

जयचन्द्र जी अपने युग के प्रसिद्ध इतिहासकार शोधकर्त्ता, समालोचक और लेखक थे। उनकी लेखनी और वाणी दोनों ही ओज से परिपूर्ण थी। देश की स्वाधीनता के पचास वर्ष पश्चात् अब भारत का इतिहास नये सिरे से सही परिप्रेक्ष्य में लिखने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। राष्ट्रीय अस्मिता की अभिवृद्धि करने के इस भगीरथ प्रयत्न में जयचन्द्र जी के ग्रन्थ निश्चय ही मार्गदर्शक सिद्ध होंगे।

---

१. "कुलपुत्र सुनें" – सम्पादक डा० विष्णुदत्त राकेश

❖ ❖ ❖

गुरुकुलोद्यान के सुरभित पुष्प

श्री पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

—श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी "विद्यालय–विभाग" हरिद्वार

"वन पर्वत में नदी नीर में, माता जो पाया संदेश।
तेरी पुण्य पताका लेकर, फैला दूँगा देश–विदेश।।"

'कुलपताका' गीत की ये पंक्तियाँ जब भी, जहाँ भी गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक के कानों में गूंजती है, तो उसके सारे वदन में एक अज्ञात झुर्झुरी सी पैदा हो जाती है। यह गीत स्व० निरञ्जन देव जी 'प्रियहंस' आयुर्वेदालंकार की हृदय की गहराइयों से प्रसूत है। निरञ्जन देव जी भी पं०जयचन्द्र जी के बालसखा और स्नातक बंधु थे। यदि हम १९१९ ई० के इस स्नातक ग्रुप के स्नातकों के नामों पर प्रकाश डाले तो इस ग्रुप में एक से बढ़कर एक स्नातक दिखाई पड़ते हैं। यथा–आचार्य अभयदेव जी (देवशर्मा) गुरुकुल के अनेक वर्ष आचार्य रहे और अरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी के योग के अनुयायी श्री ईश्वर दत्त (प्रचारक बन अफ्रीका गए), श्री धर्मचन्द्र जी, निरञ्जनदेव जी, पं० रामचन्द्र जी, पं० वागीश्वर जी, पं० सत्यभूषण जी अपने समय के माने हुए आयुर्वेद विशारद, कवि व संस्कृत के विद्वान हुए। गुरुकुल में अनेक वर्षो तक मुख्याधिष्ठाता और कुलपति तथा अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक व होम्योपैथिक ग्रन्थों के रचयिता पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार इस ग्रुप के वर्चस्वी स्नातक थे। ऐसे ही श्री कृष्णस्वरूप जी (अपने बलिष्ठ शरीर के कारण गुरुकुल में चीते को दबोच, पदक पाया तथा अनेक बार स्वतन्त्रता आन्दोलनों में जेल गए) राष्ट्रीय कार्यकर्ता रहे। इसी स्नातक नभोमण्डल में विशिष्ट नक्षत्र की भाँति पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भी अपनी आभा से सबको देदीप्यमान करते रहे। गुरुकुल की शिक्षा दीक्षा ने तथा यहाँ की उत्कृष्ट एक विचारसरणी ने, यहाँ उद्दीप्त उत्कृष्ट राष्ट्र–भावना ने गुरुकुल के स्नातकों को वर्चस्वी, तेजस्वी, समाज सेवी, राष्ट्रसेवी और धर्मसेवी बनाया।

ऐसे यशस्वी स्नातक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड का जन्म १८९८ ई० में हुआ। इनकी माता का नाम पार्वती था। पार्वती माता ने ही संरक्षिका के रूप में इन्हें गुरुकुल में प्रविष्ट कराया। विद्यालंकार तक की परीक्षा इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में ही ग्रहणकी। गुरुकुल में पर्याय विषयों में इतिहास व अर्थशास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त की। आगे चलकर वे इतिहास और समाज शास्त्र के विद्वानों में अग्रणी बने। सुवक्ता व अच्छे समालोचक भी रहे। गुरुकुल कांगड़ी के साथ साथ उन्होंने राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, कौमी (नेशनल) कालेज, लाहौर तथा बिहार, विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ,एवं भारतीय विद्याभवन, मुम्बई में उपाध्याय पद पर भी कार्य किया। अपने जीवनकाल में उन्होंने हिन्दी भाषा का सदा वर्चस्व बढ़ाया। इसीलिए हिन्दी–साहित्य सम्मेलन प्रयाग की इतिहास

परिषद के दो बार सभापति रहे। उन्होंने इतिहास की उस महान् परम्परा का निर्वाह किया जो गुरुकुल में आचार्य रामदेव जी ने डाली थी। इस प्रकार जयचन्द्र जी इस सीढ़ी के ऊपरि डण्डे थे। उन्होंने भारतीय इतिहास परिषद् का निर्माण किया और उसके प्रधानमंत्री पद को भी सुशोभित किया। 'भारतीय इतिहास की रुपरेखा' पर उन्हें 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' से भी सम्मानित किया गया। वे स्वतन्त्रता संग्राम के राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी अनेक बार जेल गए। वे अपने जीवन काल में 'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी' के ससम्मान सदस्य भी रहे।

इतिहास सम्बन्धी उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनायें इस प्रकार हैं–

१. भारतीय इतिहास की रुपरेखा (भाग–२)
२. भारत भूमि और उसके निवासी
३. लघु इतिहास प्रवेश
४. इतिहास प्रवेश (प्रारम्भ काल से गाँधी तक)
५. भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न
६. जातीय–शिक्षा
७. उत्कीर्ण लेखाञ्जलि
८. बिहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन
९. भारतीय कृष्टि का (क ख)

वास्तव में पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए अनेक उपयोगी मानचित्रों एवं दुर्लभ चित्रों (सिक्कों, मूर्तियों, मन्दिरों, भवनों) को पुस्तक में संजोकर इतिहास के उस स्वर्णिम काल को हमारी आँखों के सामने चित्र–पट की भाँति प्रदर्शित किया। उन्होंने सचमुच 'गागर में सागर' भरने की कोशिश की है। 'लघु इतिहास प्रवेश' में अपने मनोभावों को महाभारत के एक श्लोक के द्वारा अभिव्यक्त किया है–

'न हि तृष्यामि पूर्वेषां श्रृण्वानश्चरितं महत् ।। २। २३। ११।।

अर्थात् पूर्वजों के महान चरित्र को सुनता मैं नहीं अघाता' और कौन ऐसा भारतीय होगा, जिसे अपने पूर्वजों पर गर्व न हो? उस समय उनकी इस पुस्तिका की इतिहास जगत् और हिन्दी संसार में भूरि–भूरि प्रशंसा हुई। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध एवं प्रमुख इतिहासकार प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने तो 'इतिहास–प्रवेश' को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी और पढ़कर कहा–"यह भारतीय इतिहास पर परिमाण को किसी भी भाषा में सर्वोत्तम ग्रन्थ है।" डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी जो भाषा–विज्ञान के पण्डित थे, उन्होंने अपनी टिप्पणी यों दी– "यह इतिहास न केवल भारतीयों के प्रत्युत समूचे विश्व के पढ़ने लायक हैं।" भारत के प्रमुख समाजशास्त्री स्व० डॉ० विनय कुमार सरकार ने यह कहकर इसका स्वागत किया कि उनकी शैली आश्चर्य जनक रुप से विशद है और पाठकों का रक्तमांस से बने स्त्री–पुरुषों से परिचय कराती है।" आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भारत भूमि' पर अपनी निम्न टिप्पणी दी कि "यह तो अद्‌भुत और अनमोल पुस्तक है। हिन्दी साहित्य को आपने अपूर्व रत्न दान किया।" श्री राहुल जी ने इसे वैज्ञानिक ढंग पर लिखा ग्रन्थ बताया। श्री हीरालाल जी ने

हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में अनुपम अलंकार बताया। वस्तुत: ऐसी सटीक टिप्पणी उन जैसे विद्वान लेखक के विषय में ही दी जा सकती थी।

हम सब इस तथ्य से भली–भाँति परिचित हैं कि अपने देश के इतिहास की शिक्षा की हमारे यहाँ बड़ी दुर्दशा रही है। पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित लोग हमारे इतिहास को विकृत रुप से पेश करते रहे हैं, किन्तु गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने सदा ही इस विकृत प्रवृत्ति को– आचार्य रामदेव जी, पं० जयचन्द्र जी, डा० सत्यकेतु जी, पं० हरिदत्त जी, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य प्रियव्रत जी, पं० सत्यव्रत जी आदि के इतिहास, धर्म, दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों द्वारा भारतीय दृष्टि से संस्कृत किया है। कहीं–कहीं तो पं० जयचन्द्र जी ने अपने इन ग्रन्थों में इतिहास लेखन के साथ–साथ राजनीति, समाज, धर्म, जाति, व्यवस्थाओं आदि पर बड़ी सुन्दर एवं सटीक समालोचनात्मक टिप्पणियाँ भी कर डाली हैं। हमारा आग्रह है कि उनके इन ग्रन्थों का इतिहास विषय में पठन–पाठन अवश्य होना चाहिए।

अपने इतिहास को लिखते हुए, जहाँ उन्हें यह लगा कि भारतीयों के बारे में बिना सोचे–विचारे कुछ का कुछ लिख दिया गया है तो वहीं उनकी लेखनी के तेवर बदल जाते हैं। मध्यकालीन युग की एक झलक देखिए– "पहली बात सर्वथा गलत है। भारत के लोग ठण्डे देशों के लोगों से किसी तरह कमजोर नहीं हैं। अब भी भारत के सैनिक संसार की सबसे बलिष्ठ सैनिक जातियों से टक्कर लेते है।" इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं– "हिन्दुओं की हार का एक यह भी कारण कहा जाता है कि उनमें अनेक देशद्रोही पैदा हो गए थे। देशद्रोह के बहुत से उदाहरण तो कल्पित हैं। जो सच हैं, उनके विषय में भी यह सोचना चाहिए कि हिन्दू राज्यों के नेता इतने जागरुक क्यों न रहते थे कि देशद्रोह के अंकुर को ही कुचल देते? हिन्दुओं की इस युग की अधोगति का असल कारण यह था कि उनकी प्रगति या आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रुक गयी थी। उनकी महत्वाकांक्षा क्षीण हो गयी थी, वे अपने राजनीतिक हिताहित की उपेक्षा करने लगे थे।

इस प्रकार गुरुकुल में गहरे आर्य विचारों में पले, राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत, सत्य के ग्रहण और असत्य के निराकरण के संस्कार से संश्लिष्ट लेखनी ने इतिहास लेखन में भी एक नयी दिशा को जन्म दिया। गूढ़ अध्ययन, मनन एवं तार्किक कसौटी पर कसकर उन्होंने अपनी इतिहास की सामग्री को प्रस्तुत किया। उनके पास साधन थे। लिखने की तड़प तो विद्यमान थी ही किन्तु भारतीय पुरातत्व के छठे सम्मेलन के सभापति स्व० रायबहादुर हीरालाल के यें शब्द कि–"इस समय विशेषकर एक बड़ी आवश्यकता उत्कट रूप में अनुभव होती है और यह है भारतीय दृष्टि से लिखे हुए एक इतिहास की।" पं० जी को कहीं न कहीं गहरे से प्रेरित कर गए। ये शब्द १९३० में कहे गए थे किन्तु इससे पूर्व १९२६ ई० में ही पं० जी ने इतिहास की रूपरेखा लिखनी प्रारम्भ कर दी थी। पर स्व० रा.ब. हीरालाल के उपरोक्त शब्द उन्हें अन्दर तक झंकार गए। सन् १९३३ में भारतीय इतिहास की रूपरेखा की १०८० पृ० की दो जिल्दे प्रकाशित हो गयी। अपनी इसी भावना को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त भी किया– "मोहनजोदडो से मोहनदास गांधी तक समूचे भारतीय इतिहास को आधुनिक खोज की रोशनी में भारतीय दृष्टि से कहने का काम शायद पहले–पहल मेरे

ही हिस्से में पड़ा है।" भारतीय दृष्टि से लिखे इतिहास के सन्दर्भ में जो सन्देश उन्होंने नयी पीढ़ी को दिया वह भी मननीय और पठनीय है– "यदि इसके द्वारा भारत के नवयुवक अपने राष्ट्र के आत्मपर्यवेक्षण, आत्मचिन्तन, आत्मस्मरण और आत्मानुध्यान का रास्ता देख सके तो मैं अपने श्रम को सफल मानूँगा।" अपने ग्रन्थ के 'उपसंहार' में लेखक ने जो लिखा वह आज के लिए भी चिन्तनीय है–"स्वतन्त्र होने पर 'अभिनव भारत' का जो रूप देखने की कल्पना जनता करती थी, वह उसे देखना नहीं मिला। पिछले चार बरस से उसके साधारण जीवन की तंगी भी चरम सीमा तक पहुँच गयी है (१९५१)। युद्ध के बाद मंहगी घटने के बजाय क्रमशः बढ़ती जा रही है और जीवन निरा संघर्ष बना हुआ है....अपनी दशा को सुधारना हमारे अपने हाथ में है। विदेशी राज से मुक्त हो जाने के कारण आज हमारे लिए उसे सुधारना पहले से सुगम है किन्तु उसके लिए पहला काम यह है कि हम अपनी स्थिति को ठीक–ठीक समझे। वैसा करने में इस ग्रन्थ से सहायता मिलेगी।" अस्तु

उपरोक्त विवरण के अनुसार हम यह कह सकते है कि वे एक अच्छे इतिहासविद् और हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक ही नहीं अपितु उच्चकोटि के लेखक व चिन्तक भी थे। उन्हें एक सुयोग्य वक्ता और संगठनकर्ता के रूप में भी जाना जाता है। लेख को दूसरे चरण में प्रवेश कराते हुए अब हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि हमारे चरित्र नायक इतिहास लेखक के रूप में ही नहीं अपितु जब ब्रिटिश सत्ता के विरोध में भारतीय युवा जोश हिलोरे मार रहा था तब उन्होंने कुछ नवयुवकों के संगठन को क्रान्ति का पाठ पढ़ाया।

जिस काल की चर्चा में हम तल्लीन है उस समय पंजाब के प्रायः सभी राजनैतिक कार्यकर्ता लाला हरदयाल, अम्बाप्रसाद सूफी, लाला लाजपतराय और अजीत सिंह आदि 'आर्य समाजी विचार स्वतन्त्रता' द्वारा प्रभावित थे। भाई परमानन्द आदि भी आर्य समाज की प्रगतिशील चेतना की उपज थे। जिनका प्रभाव बाद में क्रान्तिकारियों को पैदा करने में सक्रिय रहा। बाद में लाला जगतनारायण व महाशय कृष्ण आदि भी इस धारा में आकर मिले। पंजाब में डा० गोपीचन्द्र भार्गव आदि गांधी जी के विचार–प्रवाह से प्रभावित थे। किन्तु वे गुप्त रूप से क्रान्तिकारियों का सहयोग भी करते रहते थे। इस पीढ़ी का प्रभाव नयी पीढ़ी पर पड़ना स्वाभाविक था। पंजाब के लोग अत्यधिक भावुक और वीर होते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे मैदान में अगर डट जाये तो मर–मिटने को तैयार रहते है। श्री जयचन्द्र जी ने नेशनल कालेज, लाहौर में अध्यापक रहते हुए ऐसी पंजाब की माटी में क्रान्ति के नव अंकुरों को प्रस्फुटित किया।

गुरुकुल कांगड़ी में सात वर्ष तक विद्याध्ययन करने वाले, अपने समय के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी व उपन्यासकार श्री यशपाल ने अपनी पुस्तक 'फाँसी के फन्दे तक' में नेशनल कालेज लाहौर के प्रोफेसरों के विषय में लिखा है कि– "कालेज के प्रोफेसरों की विचारधारा का प्रभाव विद्यार्थियों के विचारों पर काफी पड़ा। इनमें प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जयचन्द्र जी प्रायः ही विद्यार्थियों की तर्क और जिज्ञासा की प्रवृत्ति को उकसाते रहते थे।"

महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में शतपथ का 'मातृमान पितृमान् आचार्यवान् पुरूषोवेद' यह महान् वाक्य उद्धृत किया है। इसमें माता–पिता और आचार्य के महत्व

पर अद्‌भुत प्रकाश डाला है। जयचन्द्र जी को अपने गुरूकुलीय शिक्षण काल में जहाँ एक से एक विद्वान् व आचारवान् आचार्यों एवं गुरुजनों का सान्निध्य प्राप्त हुआ वहीं उनकी माता भी विदुषी थी यही नहीं उनकी जीवन संगिनी श्रीमती सुमित्रादेवी भी उन्हें विदुषी मिली। (हम पहले लिख चुके है कि गुरुकुल में दाखिल भी उनकी माता जी ने ही उन्हें कराया था)। श्री यशपाल जी ने अपनी साहित्यिक गति विधियों की चर्चा करते हुए 'नेशनल कॉलेज' में हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए हुई निबन्ध प्रतियोगिता का वर्णन करते हुए जयचन्द्र जी की माता का नामोल्लेख यों किया गया है– "१९२५ ई० की एक घटना याद है। पंजाब में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नयी–नयी स्थापना हुई थी। इसके सर्वेसर्वा जयचन्द्र जी और उन दिनों लाहौर में मौजूद पुत्तुलाल जी विद्यार्थी थे। सम्मेलन में किसी एक विषय पर सर्वोत्तम निबन्ध लिखने के लिए पचास रूपये के पुरस्कार की घोषणा की थी। मैंने भी निबन्ध लिखा था। कई महीने परिणाम की प्रतीक्षा करने पर पता चला कि पुरस्कार किसी को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि निर्णायकों ने तीन निबन्धों को एक ही कोटि का ठहराया था। यह भी मालूम हो गया कि इन तीनों में से एक निबन्ध मेरा था। दूसरे दो निबन्ध लेखकों के नाम जानने के लिए खोज की तो पता लगा की दूसरा निबन्ध भगतसिंह का और तीसरा जयचन्द्र जी की 'माँ' जी का था।" इस प्रकार उनकी माता भी हिन्दी के प्रचार–प्रसार में हाथ बंटाती थी।

इस तरह जयचन्द्र जी जहाँ नेशनल कॉलेज में छात्रों को राष्ट्र भक्ति और स्वतन्त्रता की प्रेरणा देते थे, वहीं उर्दू के गहरे माहौल में हिन्दी भाषा के उत्थान, प्रचार व प्रसार में भी लगे रहते थे। यशपाल जी ने उन्हें क्रान्तिकारी विचारों के प्रणेता के रूप में भी चित्रित करते हुए लिखा है कि "नौजवान भारत सभा का क्रान्तिकारी रूप जो उस समय बना था। उसके सब सूत्र जयचन्द्र जी सम्भाले थे।" श्री जयचन्द्र जी व्यापक भौगोलिक और ऐतिहासिक शिक्षा और संगठन बढ़ाने पर जोर देते थे। किन्तु भगतसिंह, सुखदेव और भगवती भाई में नया खून था, उनमें कुछ कर गुजरने की ललक रहती थी। यहीं से कुछ मतभेद उभरे, जिन्होंने आगे चलकर गुरु और चेलों की दिशाओं को नया मोड़ दिया। श्री जयचन्द्र जी दल के लिए आदेश पालन को आवश्यक समझते थे। यशपाल जी ने उनकी इस आदेशात्मक प्रवृत्ति पर यों विचार व्यक्त किए हैं–"जयचन्द्र जी ने दुस्साहस के किसी काम में स्वयं कभी हाथ नहीं डाला, परन्तु उनसे किसी भी काम का आदेश मिलने पर यदि कार्यकर्ता आदेश का कारण और महत्व समझना चाहता तो वह उन्हें गवारा न था। वे इसे क्रान्तिकारी अनुशासन की कमी समझते थे।" गुरुकुल में वर्षों तक अधिष्ठाता रहे स्व० पं० चन्द्रकेतु जी (इनके बड़े भाई पं० सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार अफ्रीका वाले तथा छोटे भाई देशरत्न किशोरी लाल जी भगतसिंह आदि के साथी) के सुनाये संस्मरण के अनुसार पं० जयचन्द्र जी सीधे–सादे लिबास में रहते थे। सब यही जानते थे कि इन्हें पुस्तकें पढ़ने का बहुत शौक है। तो जयचन्द्र जी कुछ पुस्तके बगल में दबाये कुछ थैले में डाले और उनमें पिस्तौल छिपाये अनजान से गन्तव्य की ओर पहुँच जाते थे। खैर ।।

अब हम लेख के हृदय को संकुचित करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त की 'भारत के क्रान्तिकारी' पुस्तक से ये वाक्य अवश्य उद्‌धृत करना चाहेंगे कि सरदार भगतसिंह ने

डी.ए.वी. स्कूल में मैट्रीकुलेशन पास किया, उसके बाद वे नेशनल कॉलेज में पढ़ने लगे। जहाँ उनका परिचय सुखदेव, भगवतीचरण, यशपाल आदि से हुआ जो बाद को चलकर प्रमुख क्रान्तिकारी हुए। इस कॉलेज में जयचन्द्र विद्यालंकार के नाम के एक अध्यापक थे जो बहुत पहले ही शचीन्द्र नाथ सन्याल के प्रभाव में आ चुके थे। उन्होंने शचीन्द्रनाथ के 'बन्दी जीवन' के दूसरे भाग का अनुवाद भी किया था, जो बहुत कम लोगों को मालूम है। जयचन्द्र हिन्दू विचारों के थे पर क्रान्ति का प्रचार करते थे। कुछ भी हो इन्ही के जरिये से भगतसिंह और उनकी मित्रमण्डली का प्रवेश क्रान्तिकारी दल में हो गया। गुरु गुड़ ही रह गए और चेले चीनी हो गए। जयचन्द्र का एक प्रभाव फिर भी इन लोगों पर यह रह गया कि सबके सब 'विद्या–प्रेमी' हुए।" गुप्त जी द्वारा अभिव्यक्त इस उपरोक्त टिप्पणी से अच्छी टिप्पणी ओर क्या हो सकती है। कर्मशील लोग अपना कार्य कर जाते है और दूसरे उनके मार्ग पर चलकर अपना पथ प्रशस्त किया करते हैं। उनकी इन्हीं सेवाओं आदि के लिए तत्कालीन पंजाब सरकार ने पुरस्कारों से पुरस्कृत किया।

साधारण कुर्ते–धोती का वेश, छरहरा वदन, लम्बा चेहरा, चौड़ा मस्तक, आँखों पर उपनेत्र। उपनेत्र के पीछे से आँखों में छलकती एक दूर दृष्टि की चमक। यही है चित्राकृति उनकी।

वास्तव में गुरुकुल पत्रिका के वर्तमान सम्पादक मण्डल ने गुरुकुल गौरव के अनुरूप 'शतायुर्वै: पुरुष:' को केन्द्रित कर गुरुकुल के यशस्वी स्नातक श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के देहावसान (१९७७) के अद्यतन (१९९९) शताब्दी वर्ष पर यह विशेषांक श्रद्धाञ्जलि रूप में भेंट कर स्तुत्य कार्य किया है। स्मरण रहे– गुरुकुल क़ांगड़ी विश्वविद्यालय भी 'शतायु' होने जा रहा है तथा गुरुकुल पत्रिका के 'पचास वर्ष' पूरे हो चुके है। (१९४८–१९९९) अन्त में जयचन्द्र जी के ही गुरुकुलीय सहपाठी व स्नातक बंधु पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार की 'कुलवन्दना' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत है–

"जय–जय जननि। कुलदेवी ! तुझको बार–बार प्रणाम है।
यह मञ्जु अञ्जलि प्रेममय, अर्पित तुझे अभिराम है।।
हम हैं सदा तेरे हमारी तू, हृदय वर वासिनी।
सम्बन्ध यह तेरा हमारा नित्य है निष्काम है।।"

❖ ❖ ❖

वेद और आधुनिक गणित

डॉ० विजयेन्द्र कुमार शर्मा, रीडर गणित
एवं सांख्यिकी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

प्रस्तुत पत्र. में कुछ उदाहरणों द्वारा दर्शाया गया है कि जो हम आज आधुनिक गणित तथा विज्ञान में अध्ययन करते है वह किस प्रकार सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में उपलब्ध वेदों में प्राप्त था।

वैदिक ज्ञान सृष्टि रचना का सर्वप्रथम प्राप्त ज्ञान है। यद्यपि सृष्टि की आयु ग्रन्थों में अलग–अलग आकलित की गयी है तथापि यह वर्षों में काफी बड़ी संख्या है। अथर्ववेद के अनुसार–

"शतं तेऽयुतं हायनान द्वे युगे त्रीणि चत्वारि"

इसे विपरित क्रम में लिखने पर

"चत्वारि त्रीणि द्वे अयुतं शतं तेहायनान्"

अर्थात चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष सृष्टि की आयु आकलित की गयी है। कुछ ग्रन्थों में इस अवधि को एक अरब पिछहत्तर लाख वर्ष भी बताया गया है। इस वाड़मय में आधुनिक गणित एवं विज्ञान मूल रूप में विद्यमान स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इसी आशय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत पत्र में दिये गये हैं।

गणितज्ञ देकार्त (Descartes) ने सन् १६३७ में यह प्रकाशित किया कि किस प्रकार तीन मापों के आधार पर आकाश में किसी वस्तु की स्थिति निश्चित की जा सकती है। इन तीन मापों को तीन नियामक (x–नियामक, y–नियामक तथा z–नियामक) कहते हैं। इस प्रणाली को देकार्त नियामक प्रणाली कहते हैं।

इसके अतिरिक्त आकाश Space में किसी वस्तु का स्थान निश्चित करने की जो अन्य दो प्रणालियां हैं उनके नाम बेलनीय नियामक प्रणाली (Cylindrical system of coordinates) तथा ध्रुवीय प्रणाली (Polar system of coordinates) हैं। इन दोनों में भी तीन मापों के आधार पर ही आकाश में किसी वस्तु की स्थिति निश्चित की जाती है।

वास्तव में तीन मापों से किसी वस्तु की स्थिति निश्चित करने को ज्ञान का मूल वेद में हैं। इसके लिए निम्न ॠचा का अवलोकन करें :

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं
यः पार्थिवा निविममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विच क्रमाणस्त्रेधोरूगायः।।

भावार्थ : इसमें विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने तीन पैरों (तीन मापों) से लोकों को नाप लिया हैं।

वेद में ज्यामितिय संरचनाओं का भी वर्णन हैं। त्रिभुज और वृत्त निर्माण के संबंध में ॠचाएं

प्रस्तुत हैं :

त्रिबन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा,
रथेना यातमश्विना

भावार्थ : प्रस्तुत ॠचा में तीन लकड़ियों से बने रथ की चर्चा की गयी है।

निम्न ॠचा :

न्यहन्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्यये मधु:
परि द्यामन्य दीयते।

मे बताया गया है दो अश्विनी कुमारों ने अपने रथ के एक पहिये को पर्वत शिवर पर स्थिर किया तथा दूसरे को आकाश में उसके चारों और घुमाया अनन्त (Infinity) संख्या का विचार तथा कंप्यूटर जैसी किसी मशीन की वैदिक काल में उपस्थिति का आभास निम्न ॠचा से होता है :

सहस्त्र शीर्षा पुरूष : सहस्त्राक्ष: सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

इसमें बताया गया है कि सहस्त्र मस्तक और सहस्त्र चक्षुओं वाले विराट पुरुष के चरण भी अनन्त हैं।

संख्याओं का प्रयोग बहुत सी ॠचाओं में हुआ है। ये संख्यायें विशेष लय में होने के कारण किसी सिद्धांत को प्रतिपादित करती सी प्रतीत होती हैं। निम्न ॠचाओं का अवलोकन करें :

आविंशत्या त्रिशंता याह्यर्वाङ्
चत्वारिंशता हरिभिर्युजान:।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा
षष्टया सप्तया सोमपेयम।।

तथा

आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङ
शतेन हरीभिरूह्यमान:।
अयं हिते शुनहोत्रेषु सोम
इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय।।

उपरोक्त ॠचा में दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे और सौ इन संख्याओं का प्रयोग किया गया है

❖ ❖ ❖

आने वाली सदी....

श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी "विद्यालय-विभाग", हरिद्वार

कैसी होगी?
तुम्हारी,
इक्कीसवीं सदी—
आने वाली सदी—
फुटपाथों पर
सोने वाली।
झुग्गी—झोपड़ो में,
बसने वाली,
महलों, दुमहलों में
रहने वाली,
आकाश में उड़ने वाली,
अन्तरिक्ष में बसने वाली,
अणु, परमाणु, विषाणु
या कीटाणु वाली,
कैसी होगी ?
तुम्हारी
आनेवाली सदी।
इक्कीसवीं सदी।
नाचने, गाने वाली,
रंगरेलियों वाली,
दिन चढ़े तक
सोने वाली,
या—
सुबह—सबेरे,
खेतों पर
'हल' ले जाने वाली,
'मन्दिरों' की
घंटियों वाली,
'मस्जिदों' की
अजान वाली।
या
'सरबसांझी वाली,
दकयानुसी
विचार वाली!
भावनात्मक,
एकतावाली।
पावन ऋचाओं वाली,
'गंगा' के घाटों वाली,
'त्रिवेणी' के पाटों वाली
कहने या करने वाली।
कैसी होगी?
तुम्हारी आनेवाली सदी।
इक्कीसवी सदी।
शोरगुल, कोलाहल
मारकाट, हिंसावाली
भूखमरी लूटपाट
दंगा फसाद वाली।
आतंक या उग्रवाद वाली,
भाषा, जाति या
सम्प्रदाय वाली!
हवाला, घुटाला या
'चारा' वाली।
कैसी होगी?
हमें समझाओं।
जरा बताओ।
आशा दिलाओ।
मुंह न बनाओ।
जागो और जगाओ!
कहो,
कैसी होगी,
ऐसी होगी,
वैसी होगी!
मानव को
मानव बनाएगी,
या जोगी?
भोगी बनाएंगी
या रोगी।
देव बनाएगी,
या दानव
प्यार फैलाएगी
या ताण्डव!
जग में लाएगी,
खुशहाली
या बर्बादी!
कैसी होगी?
अब तुम्हीं बताओ?
कुछ तो समझाओं?
क्योंकि—
हर प्रश्न का उत्तर,
तुम्हें ही देना है।
तुम्हें ही खोजना है।
तुम्हें ही सोचना है।
तुम्हें ही करना है।
क्योंकि तुम—
इक्कीस वर्ष के,
अनव्याहे सपने हो,
मेरे अपने हो।
आदमी नहीं,
'कम्प्यूटर' हो।
नीचे नहीं,

ऊपर हो,
ग्रह नहीं, उपग्रह हो,
पीछे नहीं, आगे हो,
बच्चे नहीं, बाप हो,
तुम नहीं, आप हो,
ठण्ड नहीं, ताप हो,
पानी नहीं, भाप हो,
क्योंकि तुम–
स्वतन्त्र देश में
पैदा हुए हो,
पले और
बड़े हुए हो,
फिर भी
पता नहीं,
कहाँ
खड़े हो।
गम्भीर होकर,
सुनों और गुनो–
क्योंकि–
तुम्हारे लिए,
'स्वतन्त्र' या 'गणतन्त्र'
सब समान है,
तुम्हारा लक्ष्य,
धरती नहीं
आसमान है।
पिता या डैडी,
माता या मम्मी,
सब समान है।
भाषा व भूषा नहीं,
उधारी जुबान है।
'भारत' के गर्भ में,
पल रहा, यह कैसा?
अजब, अनोखा,
हिन्दुस्तान है?
सोचता हूँ,
आने वाला–कल,
परसों, तरसों, सप्ताह,
महीने, वर्ष या सदी
कैसी होगी?
क्योंकि
तुमने
गुलामी का दर्द
आभावों की गर्द
नहीं देखी,
नहीं लेखी,
अपने,
'जीवन–दाता' को,
अपने,
पिता या प्रपिता को
लंगोटी में,
चींथड़ों में,
नंगे सिर,
नंगे पैर,
बिवाई फटे,
बिना जूते,
चप्पल, पहने,
धूप–सर्दी,
बरसात सहते।
चने और
गुड़ खाते।
मोटे अनाज,
व सत्तू फाँकते।
प्याज या छाछ पीते,
जमींदार के सामने,
करदार के सामने,
गिड़गिड़ाते,
रोते–कलपते,
हाथ फैलाते,
मार खाते।
महामारियों से
दम तोड़ते
चिलचिलाती
धूम में,
कड़कड़ाती
सर्दी में।
गेहूँ उगाते, गहाते,
धान रोपते, काटते।
'रहट' चलाते
'ढेंकली' उडलते,
'चड़स' खींचते,
'बोंके' डालते
मेहनत,
मजदूरी करते,
अपने दर्दों को
अपने दु:खों को
समेटे
अपनी अस्मत को,
अपनी इज्जत को,
बचाते,
सन् सैंतालीस में,
लुटे–पीटे
'शरणार्थी बने।
चने या मूंगफली
बेचते।
फेरी लगाते,
बोझ ढोते,
कभी गिरते,
कभी उठते,
कभी भूखे,

कभी प्यासे,
कभी भर पेट,
कभी खाली पेट
नहीं देखा?
नहीं लेखा?
तुमने तो देखा,
टी०वी०, विडियो,
फ्रिज, कूलर,
एयर कण्डीशनर,
मारूति, इम्पाला,
सुजूकि, विकराला,
तुम,
ध्वनि, हवा,
पानी, मिट्टी,
सबके
प्रदूषण में,
जन्मे हो,
पले हो,
गिट–पिट में,
जागे हो।
सिट–पिट में,
आगे हो।
गाय का नहीं,
बोतल का
पीते हो।
रोटी नहीं,
'टोस्ट' खाते हो।
देशी नहीं,
डालडा खाते हो।
सूती नहीं,
टेरा कोटी,
पहनते हो।
'अण्डो' में रमे हो।
'मांस' में सने हो।
डाँस में आगे हो,
रोमांस में सजे हो।
रम में रमे हो,
ह्विस्की में जीते हो।
अत:
इस आने वाली सदी में,
अपने अतीत के,
दर्दों को,
अभावों को,
व
दु:खड़ों को,
अपनी,
विरासत को,
अपनी,
संस्कृति
व
सभ्यता को।
उसकी
गहरी
जड़ों को,
अपनी नींव को,
ईंटो को,
अपने घर की,
भीतों को,
उनमें,
बसी, सिमटी,
यादों को,
फरियादों को,
भावनाओं व
कल्पनाओं को।
जिन्दगी के यथार्थ
व आदर्श को।
भुलाकर,
मिटाकर,
तोड़कर,
अपनी सदी का,
इक्कीसवीं सदी का,
कौन सा,
सपना
साकार करोगे,
कौन सा,
भवन!
नया भवन।
खड़ा करोगे?
तो, कैसी होगी,
वह सदी?
इक्कीसवीं सदी?
कैसा होगा,
वह भवन?
"नरक"
या
"नन्दन वन"

❖ ❖ ❖

वेदमन्त्राणां पाठस्यप्रकारास्तेषां सामाजिकं भाषिकं महत्वञ्च।

डॉ० रामाशीष पाण्डेय
आचार्योऽध्यक्षश्च--संस्कृत विभागस्य
मारवाड़ी महाविद्यालय:, राँची
(राँची विश्वविद्यालय, राँची)

वेदमन्त्र शब्दार्थ :

विद्यन्ते धर्मादय: साधनोपाया यैस्ते वेदा इति विद् ज्ञाने, विद्लृलाभे, विद्विचारणे, विद् सत्तायामिति धातोर्घञ् प्रत्ययेन[1] निष्पन्नो वेद शब्दो ज्ञानस्य लाभस्य विचारस्य सत्तायाश्चावबोधक:। वेद विहितानां ज्ञानस्य, वेदमार्गानुमोदितयज्ञादिफललाभस्य, वेदोक्तधर्माचारादि विचारस्य वेदप्रतिपादित ब्रह्मसत्तायाश्च स्वीकरणार्थमेव वेद: प्रसृत:। प्रज्ञानं ब्रह्म (ऋ०), अहं ब्रह्मास्मि (यजु०), तत्त्वमसि–(साम०), अपमात्मा ब्रह्म (अथर्व०) प्रभृतिवाक्यैर्ब्रह्मतत्वाववोधो वेदादेव भवति। वेदा यज्ञार्थसंभवा:, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् प्रभृति वाक्यै: स्वर्गादिलाभो नैमित्तिककाम्यादियज्ञेभ्यो निमित्तस्य काम्यस्य च फलावाप्तिर्भवति। वेदोऽखिलोधर्ममूलम्, अथातो धर्मजिज्ञासा, आचार: परमो धर्म: प्रभृतिवाक्यै–र्धर्माचारादिविचारो वेदादेवोपलभ्यते। वेदस्य ब्रह्मणस्तस्य कार्यस्य सत्तायाश्च ज्ञानं वेदाध्ययनेन भवतीति।

मन् धातो: ष्ट्रन् प्रत्ययेन निष्पन्ना मन्त्रा ऋषिभिर्दृष्टा: संहितासु संकलिता विद्यन्ते। ऋषिभि: साक्षात्कृतास्ते मन्त्रा: स्तुतौ प्रयुक्तत्वादृक् संहितायां संकलिता ऋचो व्यपदिश्यन्ते' अनेनैन यजनकर्मणि प्रयुक्तत्वाद् यजु: संहितायां यजुर्मन्त्रा:, गेयप्रधानत्वाद् यज्ञाद्यवसरे गायनकर्मणि प्रयुक्तत्वाच्च सामसंहितायां संकलनाच्च साममन्त्रा:। अथर्वणकर्मणि प्रयुक्तत्वादथर्वसंहितायां संकलितास्तेऽथर्वमन्त्रा: प्रसिद्धा:।

वेदमन्त्राणां पाठस्य प्रयोजनम्–

वेदार्थाववोधाय वेदमन्त्राणां पाठ: प्रथम: कल्पित:। पुनश्च वेद विहितानां सामाजिकराजनीतिक धार्मिकार्थिकसाहित्यिकादि विविधतत्त्वानां ज्ञानमपि तेषां पाठस्य प्रयोजनम्। वेदा यज्ञार्थ संभवेति नित्यनैमित्तिक काम्यादियज्ञानां सम्पादनार्थमपि मन्त्राणां पाठो भवति। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवा:'[1] इति श्रुतिवचनेन यज्ञेषु

---

[1] १– हला० ६३७ पृष्ठे

प्रयुक्ता मन्त्रा यज्ञफलावाप्तये भवेयुरिति मन्त्राणां पाठो विहितः। प्रातिशाख्ये वेदाध्ययनस्य यत्फलं प्रतिपादितं तत् फलं मन्त्रपाठस्यापि विद्यते। तत्र वेदाध्ययनस्य फलं पौरुष्यं पुरुष आत्मा तत्प्राप्ति साधनं मुक्तिप्रदमिति, स्वर्ग्यं स्वर्गसाधकम्, यशस्यं यशः कीर्तिस्तस्याः साधकम्, आयुष्यम् आयुषो वर्धनं तथा विभक्ति परिज्ञानञ्च विहितम्। यद् वेदस्य प्रकृति प्रत्ययादिविभागतो ज्ञानं तस्मादपि आयुष्यादिफलं भवति।[२] वेदमन्त्र पाठस्यान्यप्रयोजनेषु तस्य पाठमात्रादपि धर्मो भवति। तथा च शिष्येभ्योः सम्प्रदानाद् वेदश्रवणाच्चापि धर्मो भवति।[३] मन्त्रपाठे तस्य मिथ्याप्रयुक्तत्वाभावोभवति।[४] संहिता नयते सौर्यमिति याज्ञवल्क्यशिक्षायामपि तस्य फलं प्रतिपादितमस्ति।[५]

मन्त्रपाठस्य प्रकारताः–

प्रयोगाश्रिता मन्त्रा ऋग्यजुः सामाथर्वसंहितासु संकलिताश्चतुर्धा सन्तीति पूर्वमेवोट्टङ्कितम्। तेषां मन्त्राणां विभागः पाठदृशा द्विधा भवति–प्रकृतिपाठो विकृतिपाठश्च। तत्र प्रकृतिपाठः संहितापाठः। यत्र कृत्स्नाङ्गानामुपदेशः क्रियते सा प्रकृतिः। मूलमन्त्राणां स्वरवर्णाद्युच्चारणनियमानुकूलः पाठः संहिता पाठः। ऋग्यजुः सामाथर्वसंहितासु संकलिता मूलमन्त्रास्तु संहिता पाठो विद्यते। संहिता पाठ एव वैदिकशब्दार्थकल्पन विद्यते।

मन्त्राणां प्रकृति पाठस्य संहिता पाठस्य वा रक्षार्थं पदानां नियमानुकूलां विकृतिं विधाय पठनमेव विकृतिपाठः।[६]

१– ऋ० १०/९०/१६

२– वा० प्राति० ८/३१–३५ (सम्पा० डॉ० वी०के० वर्मा)

३– वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः
वर्णशोऽक्षरशोज्ञानाद्विभक्तपदशोऽपि च।। वा०प्राति०८/३६

४– मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाहः पा०शि० ४२

५– या० शि०–३२

६– प्रकृतेः पृथगाङ्गानि विशेषाङ्गानि वा पुनः
प्रोच्यन्ते वेदरक्षार्थं विकृतिः सा निगद्यते।
संहितायाः पवदानाञ्च पठनं हि पृथक् पृथक्
सनियमं विकृतं कृत्वा विकृतिः प्रोच्यते बुधैः।।

विकृतिपाठस्याष्टौ भेदाः प्रचलिताः सन्ति। तत्र जटा माला शिखा रेखो रथो दण्डो ध्वजो घनश्चेति। विकृति पाठस्य कृते पदपाठस्य क्रमपाठस्यापि आवश्यकता भवति। संहितापाठस्यार्थावबोधाय पदपाठस्य प्रवृतिर्जायते। पदपाठे संहिताा मन्त्रस्य प्रत्येकेषां पदानां पृथक्करणं भवति येन तस्यार्थावबोधे सारल्यं जायते।[1] अनेन पदपाठेन क्रमपाठस्य निर्माणेऽपि साहाय्यं प्राप्यते। अतो मन्त्राणां पाठप्रकारतायां संहिता पाठः पदपाठः क्रमपाठो विकृतिपाठश्चेति।

संहितापाठे नियमस्तस्य सामाजिकं भाषिकं महत्वञ्च–

ऋषिभिर्दृष्टानां मन्त्राणां मूलरूपेण पाठः संहिता पाठः। तत्र मन्त्रस्थपदानां यादृशः क्रमो मूलपाठे विहितस्तेषां पदानां विहितप्रक्रियां पठनमेव संहितापाठः संहिता पाठस्तु प्रकृति पाठः[2]। याज्ञवल्क्यशिक्षायां संहिता नयते सौर्यमिति३ तस्याः फलं प्रतिपादितम्। पूर्वेणोत्तरः संहितः[4] इति प्रातिशाख्य[5] वचनेन पूर्वेणपदान्तेनोत्तरस्य पदादेर्मिजनमेव संहितेति। संहितापाठे पदानां संहितिरेव[5]। पदप्रकृति संहितेति ऋक्प्रातिशाख्ये। तेन पाठानां मूलप्रकृतिरेव संहिता।

पदेषु परिर्वतनं विनाऽत्र मन्त्राणां मूलपाठोऽधिगृह्यते। वेदस्य शाखानुसारं संहितापाठस्योच्चारणे भेदोऽपि प्राप्यते। एतादृशोभेदः स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकार जनितो भौगोलिकपरिवेशाश्रितः सामाजिक भाषिकप्रभावैः प्रभावितो भवति। संहितायां स्वरवर्णाद्युच्चारण भेदा भाषिकमहत्त्वसम्पन्नाः केचन् द्रष्टव्याः–

क– यकारस्यजकारोच्चारणम्–

शुक्ल यजुर्वेदे पदादौ पठितस्य यकारस्य जकारोच्चारणं भवति। यज्ञः इत्यस्मिन् पदे पदादियकारस्यजकारसदृशोच्चारणम् उपसर्गात्परस्य यकारस्य जकारोच्चारणं प्रायो न भवति। हकारस्य हल्संयुक्तस्य ऋकारस्य योगेऽपि यकारस्य जकारोच्चारणं न भवति। अथ, मा, स, न इत्येषां शब्दानां

१– पदानि संहितायाश्च पठ्यन्तेऽथ पृथक् पृथक्
विग्रहोऽपि भवेद्यत्र पदपाठः स उच्यते।।

२– यत्र कृत्स्नाङ्गानामुपदेशः क्रियते सा प्रकृतिः।

३– या० शि०–३२

४– वा० प्राति० १/१५५

५– वर्णानामेक प्राणयोगः संहिता– वा प्राति० १/१५८
वर्णानामेकोच्छ्वासोच्चारणयोगः संहिता तत्रैव–उब्वटभाष्ये

योगेऽपि यकारस्य जकारोच्चारणं न जायते। तालव्यस्थानीयस्य यकारस्य तालव्यस्थानीये गकारे परिवर्तितमुच्चारणं भाषिकं महत्वं दधाति।[1]

ख– वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणम्–

शुक्लयजुर्वेदे पदादौ स्थितस्य वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणं भवति यथा–विश्वा इत्यस्य व्विश्वा। उपसर्गात्परस्य वकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणं प्रायो न भवति। वा, वै, वां वः इत्येषां शब्दानां वकाराणां द्वित्ववकारोच्चारणं न भवति। अथ, मा, स, न इत्येषां शब्दानां परिस्थितस्य वकारस्य प्रायेण द्वित्व वकारोच्चारणं न भवति। पवर्गीयस्य बकारस्य द्वित्वोच्चारणं न भवति। अन्तस्थ वकारस्यैव द्वित्ववकारोच्चारणं विहितम्[2]।

ग– षकारस्य खकारोच्चारणम्–

शुक्लयजुर्वेदे षकारस्य खकारोच्चारणं भवति यथा शीर्षा इति पदस्योच्चारणं शीरेखेति। टवर्गयोगे षकारस्य खकारोच्चारणं न भवति। यथा–शीर्ष्णौ प्रभृतिपदेषु।

घ– रेफस्य रे उच्चारणम्–

शुक्लयजुर्वेदे श ष स ह वर्णानां योगे वर्णान्तरणेसंयुक्तस्य रेफस्य रे उच्चारणं भवति यथा–शीर्षा इत्यस्य शीरेखेति। एतादृशं परिर्वतनं स्वरभक्तिनाम्नाऽभिहितम्[3]।

ङ– मकारनकारस्य गुमादेशः–

श ष स ह रेफाच्च पूर्वस्य ह्रस्वात् परस्य मकारनकारस्य ह्रस्वगुमादेशो भवति। संयोगात्पूर्वस्य ह्रस्वस्य मकारनकारस्यापि ह्रस्व गुमादेशो भवति। श ष स ह रेफाच्च पूर्वस्य दीर्घात् परस्य मकारनकारस्य दीर्घगुमादेशो भवति। ह्रस्व गुमादेशो यथा– स भूमिं सर्वतो स्पृत्वा– स भूमि सर्वतोस्पृत्वा[4]। दीर्घ गुमादेशो यथा– देवानां सख्य मुप०– देवानाꣳ सख्यमुप०५

अनेन प्रकारेण दृश्यते यत् संहितायामुच्चारणभेदा भौगोलिक प्रभावस्य प्रतिरूपा एव। प्रातिशाख्यस्य स्थानाश्रितत्त्वमपि विश्रुतमेव। स्वरव्यञ्जन परिवर्तनादि पदवाक्यसम्बन्धत्त्वादिज्ञानं भाषाविज्ञानाश्रितमस्ति।

१– इचुयशानां तालु– अष्टा० १/१ सि० कौ० वृति द्र०

२– शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखीयरूद्रपद्धतिः– विद्याधर गौड़, पृ०–५

३– र ला वृ ऌ वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदयेसर्वत्र– वा० प्राति० ४/१६

४– शु० यजु०– ३९/९

५– तत्रैव – २५/१५

पदपाठ नियमस्तस्य भाषिक महत्त्वञ्च–

संहिताया अर्थावबोधाय पदपाठस्य प्रवृत्तिः प्रथिता। संहितायाः पदानां निगृहय पृथक् पृथक् पदानां पाठेन चार्थावज्ञाने सारल्यं भवति[१]। पदाध्ययने संहितार्थपरिज्ञानं प्रयोजनम्। क्रमपाठस्य निर्माणेऽपि तस्य महान् योगो विद्यते। भाषा वैज्ञानिक दृष्ट्या पदपाठः पदानामर्थावबोधाय प्रथमः प्रयासः। शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्ये प्राप्यते यत् पदपाठे पदे पदे विच्छेदो भवति। तत्र पूर्वेण पदान्तेनोत्तरः पदादिः संहिता न क्रियते[२]। पदपाठे इतिकरणमपि प्राप्यते। प्रगृहयसंज्ञकं यत्पदं तत् चर्चायां परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते[३]। यथा– द्वे इति द्वे, बाहू इति बाहू। संहितायामनिर्ज्ञातरेफं रिफित संज्ञं पदञ्च इति शब्देन व्यवधीयते चर्चायां परतः[४]। यथा– पुनरिति पुनः प्राणः। पदद्वयस्य द्विरूक्तौ खलु मध्ये इति शब्दस्य प्रयोगो भवति[५]। पदपाठेऽवग्रहोऽपि भवति। अवग्रहस्यार्थो भवति पदानां पृथक्करणं पदपाठे सामासिक पदानामन्येषां वा पदानां पृथक्करण मेवावग्रहः कथ्यते। पृथग्भूतस्य पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च मध्ये एकमात्रिकः कालव्यवधानो जायते[६]।

पदपाठे संक्रमस्य योगो भवति। संक्रमस्यार्थोऽपि भवति परित्यागः। पदत्रयाणां पुनरूक्तौ पदपाठे पुनरूक्तानि लुप्यन्ते[६]। अनेन प्रकारेण भाषिकं परिर्वतनं पदपाठे दृश्यत एव। पदपाठस्योदाहरणं यथाः–

यत्। जाग्रतः । दूरम् । उदैतीत्युत् । ऐति । दैवम् । तत्। ॐ इत्यूँ। सुप्तस्य। तथा । एव। एति। दूरङ्गममिति दूरम्। गमम्। ज्योतिषाम्। ज्योतिः। एकम्। तत् । मे । मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिव। सङ्कल्पम् । अस्तु।। शु० यजु०– ३४। १६

१– पदानि संहितायाश्च पठ्यन्तेऽथ पृथक् पृथक्
विग्रहोऽपि भवेद्यत्र पदपाठः स उच्यते।।

२– पदविच्छेदोऽसंहितः – वा० प्राति० १/१५६

३– प्रगृध्य चर्यायामितिना पदेषु – वा० प्राति० ४/१८

४– तत्रैव – ४/२०

५– तत्रैव – ५/३

६– पुनरूक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः
अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति।। वा०प्राति० ४/१६८ तथा वा सं० ४/१६६ उब्बट्भाष्ये।

क्रमपाठे नियमस्तस्य भाषिकं महत्वञ्च–

क्रमपाठे पदद्वयस्य युग्मानि क्रमात् पूर्वपदं त्यक्त्वा योज्यन्ते तथोत्तरपदस्य ग्रहणमपि क्रियते[1]। द्विपदानां क्रमवर्गोऽवसानं यावद्भवति। क्रमपाठोऽयं विकृतिपाठस्य कृते महत्वपूर्णः। शुक्लयजुः प्रातिशाख्यानुसारम् 'क्रमः स्मृतिप्रयोजनः[2] इति सूत्रेण संहिता विषयं पदविषयञ्च दृढ़स्मरणं करोति क्रमपाठे। संहिताया रक्षा पदानां मूलरुपस्य प्रदर्शनञ्चेति मूलप्रयोजनम्।

द्वयोर्द्वयोः पदयोर्वर्णसंहितोदात्तादिस्वरसंहिता च क्रमपाठेनैव जायते। संहितावसानस्य ज्ञानमपि क्रमपाठेनैव भवति। क्रमपाठः शिष्टानां मध्ये सम्मानमपि ददाति। द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमादसानाद पृक्तवर्जम्[3]। अनेन सूत्रेण प्राप्यते यत् क्रमपाठे द्वे द्वे पदे सन्दधाति उत्तरोत्तरं पदं सन्दधाति। अपृक्तपदं (आ, ऊ) मध्ये निधाय पदत्रयाणामपि क्रमवर्गो भवति[4]। क्रमपाठे स्थितोपस्थितस्य इति करणस्य च प्रयोगो भवति। क्रमपाठे द्विपदयोस्त्रयाणां वा पदानां क्रमो भाषा वैज्ञानिकतां दधाति। क्रमपाठस्योदाहरणं यथा–

धानावन्तं करम्भिमणम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणमपूपवन्तम्। अपूपवन्तमुक्थिनम्। अपूपवन्तवमित्यपूपवन्तम्। उक्थिनमित्युक्थिनम्। इन्द्र प्रातः। प्रातर्जुषस्व। जुषस्व नः। न इति नः[5]।

विकृतिपाठेनियमस्तस्य भाषिकं महत्त्वञ्च–

संहितायाः पदानां नियमानुकूलां विकृतिं विधाय विविधरूपेण पाठो भवति विकृतिपाठे। संहितापाठस्य रक्षार्थं मूलपदस्यपरिज्ञितानार्थञ्च श्रुतिपरम्परायां विकृतयः प्रयुक्ता[6]। विकृतेर्वैविध्यमेव विविधविकृतिपाठस्यकारणम्। एकस्यमन्त्रस्याष्टौ विकृतयोभवन्ति। एकेनापि विकृतिपाठेन मन्त्रस्य प्रकृतिर्ज्ञायते।

१– पदद्वयस्य युग्मानि पूर्वं त्यक्त्वा पदं क्रमात्
योज्यन्ते यत्र पाठोऽयं क्रमपाठो निगद्यते।।

२– वा० प्राति० ४।१८२

३– तत्रैव– ४।१८३

४– तत्रैव– ४।१८४

५– शु० यजु०– २० । २९ मन्त्रस्य क्रमपाठः

६– साक्षात्कृत धर्माणऋषयो वभूवुः तेऽवरेभ्योसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशायग्लायन्तोऽवरे विल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च। नि. १/६

अष्टौ विकृतयस्तु मन्त्राणां मूलज्ञाने सर्वथा समर्था एव। तत्राष्टौ विकृतयः सन्ति– जटा, माला, शिखा, रेखा, रथो दण्डो ध्वजो घनश्चेति। एता विकृतयो भाषावैज्ञानिकं महत्त्वमपि दधति। तत्रपदानां स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकाराणाञ्च नियमस्य पालनमावश्यकं भवति। सन्धिकार्यमितिकरणादिकञ्चापि तत्र क्रियते। विकृतिपाठानां विवरणं द्रष्टव्यम्–

क– जटापाठः–

जटापाठो विकृतिपाठस्य प्रथमोभेदः। अस्मिन् विकृतिपाठे क्रमपाठस्य क्रमेण व्युत्क्रमेण पुनः क्रमेण च पठनं भवति[१]। व्युत्क्रमस्यार्थो भवति विपरीतक्रमेण। पदेषु सन्धिकार्यमपि करणीयं भवति। यथा जटायां केशाः परस्परं सम्मील्य सनद्धा भवन्ति तथैव जटापाठे क्रमपाठस्य शब्दाः क्रमव्युत्क्रमसंक्रमैश्च सनद्धा भवन्ति। तत्रोदाहरणं यथा–

धानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणं मपूपवन्तं अपूपवन्तं करम्भिणं करम्भिणपूपवन्तम्[२]।

ख– मालापाठः–

विकृतिपाठेषु मालापाठो द्विधा– पुष्पमालाक्रममालाचेति। तत्र पुष्पमाला– यत्र त्रयाणां पदानां क्रमेण व्युत्क्रमेण संक्रमेण च पाठो भवति। क्रमण्युत्क्रमसंक्रमपद्धत्यात्रयाणां पदानामावर्तनं क्रियते सा पुष्पमाला[३]। यथा–

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतम्। घृत शोचिषे सुसमिद्धाय। सुसमिद्धाय शोचिषे घृतम्। सुसमिद्धायेति सुसमिद्धाय। घृतं तीव्रं जुहोतन। जुहोतन तीव्रं घृतम् । घृतं तीव्रं जुहोतन। जुहोतनेति जुहोतन४।।

क्रममालापाठे क्रमपाठं विपरीतं विधाय पठनीयं भवति। संहितायाः प्रारम्भिकः क्रमपाठोऽन्तिमः क्रमपाठश्च विलोमपद्धत्या पठ्यते तत्र क्रमशः एकैकं, पदं प्रारम्भस्येकमन्त्रस्येकञ्च विहाय

---

[१] क्रमं यथोक्तं प्रब्रूयाद् व्युत्क्रमेण क्रमेण च
स लक्षणं सर्वसन्धौ जटा सा प्रोच्यते बुधैः ।।

[२] शु० यजुः– २०।२५

[३] माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हिं सा
आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमण्युत्क्रमसंक्रमाः।।

[४] शु० यजु०– ३।२

पठनीयं भवति। क्रमपाठस्य मालावत् पठनेन क्रममालेति कथ्यते[1]। यथा–

यज्ञेन यज्ञम्। आसन्नित्यासन्। यज्ञमयजन्त। आसन्प्रथमानि। अयजन्त देवाः। प्रथमानि धर्माणि। देवास्तानि। धर्माणि तानि। तानि धर्माणि। तानि देवाः। धर्माणि प्रथमानि। देवा अयजन्त। प्रथमान्यासन्। अयजन्त यज्ञम्। आसन्नित्यासन्। यज्ञं यज्ञेन[2]।

शिखापाठः

जटापाठे एकमुत्तरं पदं संयोज्य यस्यां विकृतौ पठ्यते स शिखापाठः। पदोन्तरत्वे सति शिखावद् दृश्यमानत्वात् शिखेति कथ्यते। शिखापाठः। शिखायां क्रमपाठस्य क्रमेण व्युत्क्रमेण संक्रमेण च पदोत्तर सहितः पाठोभवति[3]। शिखापाठो यथा–

घानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तम्। धानावन्तमिति धानावन्तम्। करम्भिणमपूपवन्तमपूपवन्तं करम्भिणं करम्भिणंपूपवन्तमुक्थिनम्[4]।

रेखापाठः

द्विभिश्चतुः पंच पदक्रमं क्रमात् पृथक् पृथक् विपर्यस्य पुनः क्रमात् पठनमेव रेखापाठः[5]। रेखावद् दृश्यमानत्वाद्रेखेति कथ्यते। रेखा पाठो यथा–

वृहस्पते परि। परि वृहस्पते। वृहस्पते परि– द्विपदः परिदीयारथेन। रथेन दीयपरि। परिदीयारथेन[6]–त्रिपदः

ध्वजपाठः–

यत्रक्रमवर्गे ऋचायां वादेः क्रमं ब्रूयादन्ताच्च सम्यगुत्तारयेदिति क्रमेण पठनं ध्वजपाठः[6]। ध्वजपाठो यथा–

---

१. ब्रूयात् क्रमविपर्यस्य वृद्धिर्यस्यादितोऽन्ततः
अन्तश्चादिन्नयेदेवं क्रममासेति गीयते।।

२– शु० यजु० ३१/१६

३– पदोत्तरां जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते।

४– शु० यजु० २०/२९

५– क्रमाद्वित्रिश्चतुः पंच पदक्रममुदाहरेत
पृथक् पृथक् विपर्यस्य रेखामाहुः पुनः क्रमात्।

६– शु० यजुः १७/३६

७– ब्रूयादादेः क्रमं सम्यगन्तादुत्तारयेदिति
वर्गे वा ऋचि वा यस्य पठनं स ध्वजःस्मृतः।

बृहस्पते परि। [illegible] रथानाम्। परिदीय। अविता रथानाम्। दीयपरि। एध्यविता। रथेनरक्षोहा अस्माकमेधि। रक्षोहामित्रान्। जयन्नस्माकम्। रक्षोहेति रक्षः हा। युधाजयन्। अमित्राँ ऽ पबाधमानः। प्रमृणोयुधा।[1]

दण्डपाठः

दण्डविकृतिपाठोऽयं द्विधाभवति—क्रमदण्डः पददण्डश्च। क्रमदण्डे क्रमपाठस्य दण्डाकृतिः पददण्डे च पदानां दण्डाकृतिर्दृश्यते। क्रमदण्डपाठे क्रममुक्त्वा तस्य विपरीतंविधाय पुनश्चोत्तरक्रमस्य पाठं कुर्वन् अर्धर्चादेव पठनीयं भवति। दण्डपाठो यथा—

ताऽ उभौ। उभौ तौ। ता ऽ उभौ। उभौ चतुरः। चतुरऽउभौ तौ। ता ऽ उभौ। उभौ चतुरः। चतुरः पदः। पदश्चतुर ऽ उभौ तौ। ता ऽ उभौ उभौ चतुरः। चतुरः पदः। पदः सम्प्रसारयावः। सम्प्रसारयाव पदश्चतुर ऽ उभौ तौ।[2]

रथपाठः —

पादशोऽर्धर्चशो वा दण्ड पाठवद् रथपाठस्य पठनं भवति।[3] रथ पाठोऽपि द्विधा भवति—द्विपाद्रथश्चतुष्पाद्रथश्चेति। द्विपाद्रथोयथाअनिशितोऽसि। अनिशितासि। अस्यनिशितः। अस्य निशिता। अनिशितोऽसि। अनिशितासि। अनिशितऽइत्यनिशितः। अनिशितेत्यनिशिता। असिसपत्नक्षित्। असिसपत्नक्षित्। सपत्नक्षिदस्य निशितः। सपत्नक्षिदस्य निशिता।[4]

चतुष्पाद्रथो यथा—

स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः।।
नः स्वस्ति। नः स्वस्ति। नः स्वस्ति। नः स्वस्ति।।
स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः। स्वस्ति नः।।
न ऽ इन्द्रः। नः पूषा। नस्तार्क्ष्यः। नस्तार्क्ष्यः। नो बृहस्पतिः।।[5]

घनपाठः

घनपाठोऽपि द्विधाभवति—प्राचीन घनपाठो नवीनघनपाठश्च। प्राचीन घनपाठे अन्तात्क्रममादिपर्यन्तं पूर्वमानयेत् तथा आदिक्रमञ्चान्तं नयेदिति।[6] नवीनघनपाठे शिखापाठस्य प्रथमं कथनं तदनन्तरं विपरीत

---

[1] शु०यजु० १६/३६

[2] तदैव— २३/२०

[3] पादशोदर्धर्चशो वापि सहोक्त्वा दण्डवद्रथः।

[4] शु० यजु० — १/२९

[5] तत्रैव—२५/१९?

[6] अन्तात्क्रमं पठेत्पूर्वमादिपर्यन्तमानयेत्
आदिक्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः।।

क्रमपठनं पुनश्चशिखापठनमेव भवति।[1] नवीन घनपाठो यथा—धानावन्तं करम्भिणं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूप वन्त वन्तमपूपवन्तं करम्भिणं धानावन्तं धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तम्। ६ ानावन्तमिति धानावन्तम्।

विकृति पाठस्य सामाजिकं भाषिकञ्च महत्त्वम्—

साहित्यं सामाजिक चित्रस्य चित्रागारं सामाजिकवृत्तस्य वृत्तागारं सामाजिकबिम्बस्य बिम्बागारं विद्यते। शब्दार्थ सम्वसिते साहित्ये शब्दा अर्थाश्च भाषया सम्बद्धा भवन्ति। यथा शब्दानां साहित्येन सह नित्यसम्बन्धो विद्यते तथैवार्थानामपि नित्यसम्बन्धः शब्देन सह साहित्येन सह विद्यते। शब्दार्थ संवसितस्य साहित्यस्य रक्षणेन सामाजिक स्थितेश्चित्रं रक्षितं भवति, वृत्तं बिम्बञ्च रक्षितं भवति। वैदिकसाहित्ये भारतीया प्राचीनसंस्कृतिः सुरक्षिताऽस्ति। तत्र मन्त्राणां महत्त्वं सुविदितं पूर्वप्रतिपादितञ्च। मन्त्राणां रक्षणेन संस्कृतेर्ज्ञानं रक्षितं भवति। प्राचीनसंस्कृतेर्ज्ञानाय तस्य यथार्थचित्रस्य दर्शनाय च सामाजिक राजनीतिक धार्मिकादिवृत्तस्याववोधायाध्यात्मिकदृशा यज्ञादौ सम्यक् फलावाप्तये यज्ञादीनां सम्यक् सम्पादनाय मन्त्राणां रक्षणं तेषां प्रकृतेर्ज्ञानमावश्यकमेव। मुद्रणयन्त्राविष्कारात्पूर्वमेव तेषु मन्त्रेषु स्वरवर्णादिजनितं किमपि परिवर्तनं न भवेदितिहेतोस्तेषां विकृतिपाठस्य योगः सामाजिकलाभाय एव।

भाषाविज्ञानं साहित्ये प्रयुक्तानां शब्दार्थानां तत्त्वप्रकाशने निरतं वेदानां विकृतिपाठेष्वपि पदानामर्थानां सम्बन्धतत्त्वानाञ्च प्रकाशकत्वेनाङ्गभूतम्। भाषारक्षणसम्बद्धा एतादृशी प्रक्रिया विकृतिपाठरूपेण प्राचीन भारते प्रचलिताऽभूदिति तां भाषारक्षणे किमुत मन्त्ररक्षणे विकृतिपाठरूपां प्रक्रियां दृष्ट्वा भाषा वैज्ञानिका अपि विस्मिताः सन्ति। श्रुतिपरम्परायां संहितारक्षणस्य या प्रक्रिया भारते प्रचलिता नैतादृशी कुत्रापि प्राप्यते। वैज्ञानिकेऽस्मिन्नुयुगे यद्यप्यनेकानि यन्त्राणि विद्यन्ते तानि भाषाया विविधतत्त्वानां प्रकाशने निरतानि सन्ति परं पुरा एतादृशानां यन्त्राणामभावेऽपि विकृतिपाठवलेन मन्त्राः सुरक्षिता आसन्। अद्यापि वेदमन्त्राणां रक्षणं विकृति पाठ प्रयोगेण भारतस्यानेकेषु स्थलेषु क्रियते। भारताद्बहिरपि प्रक्रियेयं ज्ञायते।

पाणिनीयशिक्षानुसारं स्वरतो वर्णतो वा हीनो मन्त्रो मिथ्या प्रयुक्तो भवति। यस्यार्थस्यापेक्षा मन्त्रे क्रियते तत्र स्वरहीनेन वर्णहीनेन वा मन्त्रेण तस्यावगमो न भवति।[2] अत एव मन्त्राणां मूलपाठस्य रक्षणाय विकृति पाठस्य योगदानं भाषाविज्ञानदृशापि महत्त्वपूर्णम्।

१— शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत्॥

२— मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोपराधात्॥

निष्कर्ष :

समाजे वैदिककालादेव प्रचलिता ऋषिभिर्दृष्टा यज्ञसम्पादने प्रयुक्ताश्च मन्त्राः श्रुतिमाध्यमेनैव सुरक्षिता विद्यन्ते। मुद्रणयन्त्रस्याविष्कारात् पूर्वं श्रुतिमाध्यमेनैवे वेदमन्त्राणां रक्षणं जातमिति वेदस्य पर्यायभूतेन श्रुतिशब्देनापि ज्ञायते। श्रूयतेऽनयेति श्रुतिर्वेदस्यैव वाचकः। मन्त्राणामभ्यासेन मन्त्रावगतिर्भवति। श्रुतिवाग्यन्त्रादिदोषात्तत्र दूषणसम्भवत्वादेव मूलमन्त्राणां रक्षार्थमष्टौ विकृतयःप्रयुक्ताः। मूलमन्त्राणां रक्षणं श्रुतिपद्धत्या विकृतिपाठरूपेण प्रकल्पितम्। एकस्यैव संहिता पाठस्य निर्मितेष्वष्टसंख्यकेषु विकृति पाठेषु एकेनापि विकृतिपाठेन तेषां रक्षणं मूलप्रकृतेर्ज्ञानञ्च निश्चितमस्ति। सर्वेषां विकृतिपाठानां प्रयोगेणतु वेदस्य प्रकृतेः रक्षणं निश्चप्रचमेव।

❖ ❖ ❖

"धन्यास्ते जयचन्द्रविद्यालङ्काराः"

(सत्यदेवनिगमालङ्कारः, गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्)

यदा देशेऽस्मिन् भारते लार्डमेकाले: इत्याख्यस्य शिक्षाविद: शिक्षा सर्वत्र प्रसरति स्म, भारतीया जना भारतदेशे जन्मग्रहणानन्तरं वर्णेन शरीरेण भारतीया: सन्तोऽपि हृदयेन, मस्तिष्केण च अभारतीया भूत्वा आंग्लभाषया आंग्लवेषेण च भूषिता: सन्तो गौरवमनुभवन्ति स्म तदा रामकृष्णयोर्देशस्य इमां दुरवस्थां विनाशयितुं गुंजरातप्रान्तस्य भूमौ मूलशंकरो जन्मलेभे। प्राग्जन्मन: संस्कारेण तपस्यया च बालोऽयं मूलशंकर: कालानन्तरं वैराग्यं प्राप्य दयानन्दो बभूव। तस्यैव शिष्येण श्रद्धानन्दस्वामिना महता प्रयत्नेन पाश्चात्त्यशिक्षां विनाशयितुं भारतीयशिक्षापद्धतिञ्च प्रसारयितुं गुरुकुलशिक्षा प्रणालीं भारतस्येके कोणे तीर्थभूते हरिद्वारे कांगड़ीनाम्नि एकान्ते शान्ते महारण्ये ग्रामे १९०० खीष्टाब्दे कुल–संस्थां संस्थापयामास। शनै: शनै: शिक्षणालयस्यास्य स्नातका विद्वांसो लेखका: पत्रकाराश्चिकित्सका आर्यधर्म–धुरन्धरा देशे विदेशे च दयानन्दस्वामिन: संस्थापितस्यार्यसमाजस्य ध्वजोत्तोलका: पुरोहिता: तपस्विन: संन्यासिन:, ब्रह्मचारिण: उपदेशका: भजनोपदेशका: प्राध्यापका: व्यापारिणो देशसेवाव्रतधरा भारतीयस्वातन्त्र्य संग्राममहोत्सवम् अभिनन्दमानाश्च अभवन्। एषु एव चिरकीर्तिधरेषु स्नातकेषु लायलपुरप्राप्तान्तर्गते किजकोट नाम्निस्थाने ५ सितम्बर १८९८ खीष्टाब्दे चन्द्र इव विजयकर: जयचन्द्रो जन्म लेभे। श्रद्धानन्दस्वामिन: अन्तेवासी अयं स्नातकोपाधिना विद्यालङ्कारेणालंकृत: प्रथमं कांगड़ी गुरुकुले एव अध्यापयाञ्चकार। तदनन्तरं सूरतस्थ राष्ट्रीयमहाविद्यालय:, लाहौरस्थ कौमीकालेज:, बिहारविद्यापीठम्, काशीविद्यापीठम्, बम्बईनगरस्थ भारतीय विद्याभवनम् इत्येतेषु शिक्षासंस्थालयेषु शिक्षां विस्तारयामास। कक्षायामध्यापनकाले स्वछात्राणां मस्तिष्के भारतीयपराधीनताया: श्रृङ्खलाम् उच्छेत्तुं भावभरितान् गम्भीरान्विचारान् प्रेरयामास। तत्काले अपराधप्रवृत्ति: प्रेरणा इयमिति उद्घोषमाणा आंग्लशासका इमं स्वतन्त्रव्रतानुरागिणं धर्म धुरीणं बहुधा कारागारे प्रक्षेपयामासु:। गुरुकुलस्य स्नातकं दयानन्दोदभावकम् इमं जयचन्द्रविद्यालङ्कारं बहुकालं यावत् अवरोद्धुं न समर्था बभूवु: कारागारे। बन्दिगृहाभ्यन्तरमेव अस्य विचारा: सुदृढा: संजाता: यत् यावत् भारतीयेतिहासस्य वास्तविकं स्वच्छं स्वरूपं जना: नावलोकयिष्यन्ति तावत् तेषां हृदये आंग्लशासकान् प्रति स्वतन्त्रा विचारधारा: न प्रवर्तयिष्यन्ति। एवं विचार्य अयं महानुभाव: शुद्धभारतीयेतिहासं रचयामास। यस्मिन् ग्रन्थे आर्या भारते जन्म लेभिरे, ते नासनशिक्षिता: न चासन् नास्तिका: इत्यादीन् विषयान् विशेषेण अयं प्रसारयामास। भारतीयामार्यभाषां (हिन्दीं) प्रचारयितुम् अहर्निशमयं प्रयेते। इमं प्रयत्नमेवावलोक्य बहुधा अखिलभारतीयहिन्दीसाहित्यसम्मेलने गुरुकुलस्नातकमिमं

जयचन्द्रं विद्याधन सम्मेलनाधिकारिणः प्रधानपदे अभिषेचयामासुः। इतिहासविषयं समाजविषयञ्चाधिकृत्य अयं लेखकः नैकानि ग्रन्थरत्नानि विद्यासमुद्रात् उच्चकर्ष।

एष जयचन्द्रमहानुभावः प्रयागस्थ हिन्दीभवनसंस्थापकोऽप्यासीत्। अयं साहित्यसेवाकरणात् हिन्दीसाहित्यसम्मेलनस्य मंगलाप्रसादपुरस्कारं पंजाबसर्वकारस्य च पुरस्कारं लेभे। एतादृशाः स्नातकाः कुलभूमिभूषकाः पापाचारविनाशकाः भारतीयमृतशरीरे प्राणप्रसारकाः साहित्यव्रतकर्मणि निरताः, रताश्चवेदविद्याप्रकाशने, विद्यालङ्काराः कस्य न वन्द्या। अत एव तेषां जयचन्द्रविद्यालङ्काराणां जन्मशतयवसरे समुत्थितानि हृत्कुसुमानि श्रद्धया समर्पयत्येषो निगमालङ्कारः।

जयचन्द्र चन्द्रवत्तव कर्म
आह्लदयति भारतभूमिम्।
नवशिक्षादानप्रधानविधिं,
गुरुकुलभूमिं तव कुलभूमिम्।।
हे धैर्यधुरन्धर, धर्मप्रसारक,
विद्यालङ्कारविभूषित शिव हे।
तव कं कं श्रेष्ठगुणं गुणिनः,
कथयेम वयम् अनुजा जय हे।।

❖ ❖ ❖

दीक्षालोक

सम्पादक : श्री विष्णुदत्त जी राकेश
सह सम्पादक : श्री जगदीश विद्यालंकार

कभी 'सादा जीवन उच्च विचार' सेवा व समर्पण भाव देश के आदर्श थे। नि:शुल्क शिक्षा व तपश्चर्या का वातावरण देशवासियों का सपना था। दीक्षालोक में स्वामी श्रद्धानन्द जी, महात्मा गांधी, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य नरदेव, सत्यमूर्ति जी, सम्पूर्णानन्द जी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी व वासवानी जी जैसी विभूतियों के उद्‌बोधन पढ़कर देशवासी अतीत में विलीन अपने स्वत्व, स्वाभिमान व स्वालम्बन को खोज सकेंगे। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रशंसनीय है। विभूतियों के साथ बौनों को जोड़ना मुझे अच्छा नहीं लगा। यह तो Three X lagged race तीन टांगों की दौड़ हो गई। ऐसी दौड़ में (Fun) तमाशा अधिक हो जाता है। शक्ति प्रदर्शन कम।

प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर—१५२११६

❖ ❖ ❖

साहित्य समीक्षा-

स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

प्रधान सम्पादक : डॉ० विष्णुदत्त राकेश
सम्पादक : डॉ० जगदीश विद्यालंकार

यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिये था। फारसी में कहते हैं– 'देर आयद दुरुस्त आयद' विलम्ब से हुआ परन्तु, बहुत अच्छे ढंग से हो गया। सम्पादक द्वय व गुरुकुल कांगड़ी को इस पवित्र, ऐतिहासिक एवं करणीय कार्य की सम्पन्नता पर किन शब्दों में बधाई दूँ? गृह कलह, पदों की छीनाझपटी व कोर्ट कचहरी की व्यस्तताओं के कारण आर्यसमाज अपने एक महाबलिदानी, सर्वोच्च नेता, चुम्बकीय व्यक्तित्व, शूरता की शान व अटल ईश्वर विश्वासी स्वामी श्रद्धानन्द जी के लेखों के संकलन व प्रकाशन के प्रति उदासीन रहा। यह एक अक्षम्य अपराध है। सम्पादक द्वय ने इस पाप के कलंक के टीके को बहुत कुछ धो दिया हैं।

भारतीय जन जागरण के, स्वाधीनता संग्राम, समाज सुधार व आर्यसमाज के इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिये यह एक आवश्यक संदर्भ ग्रन्थ है। इसके बिना बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक २५ वर्षों के भारतीय समाज को समझना कठिन है। इन लेखों के प्रकाशन से अनेक छोटी बड़ी महत्वपूर्ण घटनाओं का अनावरण हो गया है।

परन्तु अभी भी यह कार्य एक प्रकार से अधूरा है।'सत+धर्म+प्रचारक' उर्दू साप्ताहिक व 'तेज' में प्रकाशित स्वामी जी के सैकड़ो सम्पादकीय व महत्वपूर्ण लेखों का भी ऐसा ही एक संकलन प्रकाशित होना चाहिये। उर्दू 'सत+धर्म+प्रचारक' में १८ वर्षों में स्वामी जी ने बहुत कुछ लिखा। उसके सभी सम्पादकीय तो उनके द्वारा लिखित नहीं हैं तथापि जितने भी हैं उनका भी सम्पादन प्रकाशन होना चाहिये। यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं ही यह कार्य कभी कर दूँगा।

इस ग्रन्थ के साथ भी लेखों में उद्धृत प्रमाणों व नाम, स्थान आदि की सूचियाँ होनी ही चाहिये। इतने बड़े महापुरुष के लेखों में ऐसे अनेक नाम व प्रमाण होते ही हैं जिनका अता पता भी होना चाहिये व निर्देशिका भी। गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस ओर भी ध्यान देना होगा।

पुनः इस ग्रन्थ की सुन्दर साज सज्जा व मुद्रण आदि के लिये बधाई भेंट करता हूँ। एक अभाव की तो पूर्ति हो गई।

प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर–१५२११६

❖ ❖ ❖

इन्द्र विद्यावाचस्पति : कृतित्व के आयाम

लेखक : प्राध्यापक कुशलदेव शंकरदेव जी कापसे

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री पं० इन्द्र जी ने देश और जाति के लिये क्या नहीं किया। तन से, मन से और धन से राष्ट्र की जो सेवा की उसका वर्णन करने में लेखनी अक्षम हैं। रोगी शरीर वाले इन्द्र जी ने मुलतान जैसी नरकीय जेल में अपना लम्बा बन्दी जीवन कैसे बिताया, यह भी किसी चमत्कार से कम नहीं। पण्डित जी ने भिन्न भिन्न चिरसंगी रोगों के होते हुए एक से बढ़कर एक विचारोत्तेजक ग्रन्थों व लेखों का सृजन कैसे कर दिया? यह सोचकर बड़ा अचम्भा होता है। वे कवि थे, पत्रकार थे, जीवनी लेखक थे, उपन्यासकार थे, निबंध लेखक थे, नाटककार थे, निबन्धकार, सम्पादक, समाज सेवी, नेता, विचारक और संस्थाओं के शिल्पी थे। जहाँ भी पग धरा—एक सृष्टि ही रच दी।

मुझे आज भी भली भाँति स्मरण है कि ४७ वर्ष पूर्व उनके निवास चन्द्रलोक में उनके समीप बैठा था तो उनके श्वास लेने की आवाज सुनाई देती थी। ऐसी शरीरिक अवस्था में पं० इन्द्र जी ने बिना राजकीय संरक्षण के, किसी पूंजीपति के आश्रय के बिना किसी अनुदान की ओर न ताकते हुए सहस्त्रों पृष्ठ लिख डाले।

ऐसे नर रत्न के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रो० कुशलदेव जी का यह अनुपम ग्रन्थ पठनीय व संग्रह करने योग्य है। कुशलदेव जी ने जिस कुशलता से इस करणीय कार्य को सम्पन्न किया है, वह अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। ग्रन्थ का एक—एक पृष्ठ लेखक के अथक परिश्रम, साहित्यिक कौशल, लग्न व प्रतिभा का परिचय देता है। इस करणीय कार्य के लिये उन्हीं जैसे विद्वान की सतत् साधना की आवश्यकता थी। उन्होंने श्रद्धेय पण्डित जी के जीवन के विविध पक्षों पर गहन चिन्तन व व्यापक अध्ययन करके ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का भगीरथ प्रसास किया है।

अच्छा होता यदि ग्रन्थ के साथ (Index) निर्देशिका भी दी जाती। यह कमी चुभती है। प्राध्यापक कुशलदेव जी को श्री पण्डित जी का एक लोकोपयोगी जीवन—चरित भी लिख डालना चाहिये। श्री पंडित जी के विचारोत्तेजक निबंधों की खोज करके इसे खण्डों में सम्पादित करके प्रकाशन का काम भी कुशलदेव जी को हाथ में लेना चाहिये। उनके 'कर्म—फल सिद्धान्त' जैसे विस्तृत निबंधों का बार—बार प्रकाशन होना चाहिये।

भाषा, भाव व शैली सब दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्युत्तम है। मैंने शोध प्रबंध तो बहुत पढ़े हैं परन्तु ऐसा शोध प्रबंध Scissoring कतरन मात्र न होकर एक ठोस कार्य है। पण्डित जी के व्यक्तित्व के अनुरूप ही ग्रन्थ लिखा गया है। प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ बहुत खलती हैं। गुरुकुल कांगड़ी का श्रद्धानन्द शोध संस्थान इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके गौरवान्वित हो गया है। मैं इसे अपना एक प्रिय ग्रन्थ (Favourite Book) कह सकता हूँ।

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अध्यक्ष
स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध संस्थान
अबोहर—१५२११६

❖ ❖ ❖

साहित्य समीक्षा-

स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

— सम्पादक द्वय

डॉ० विष्णुदत्त राकेश तथा डॉ० जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक— स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार

हिन्दी पत्रकारिता के विकास में स्वामी श्रद्धानन्द का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने अपने उर्दू साप्ताहिक, सद्धर्म प्रचारक को १९०७ में हिन्दी में निकालना आरम्भ किया। तब से लेकर पर्याप्त समय तक यह पत्र भारतीय धर्म, शिक्षा, संस्कृति तथा राष्ट्रीय गतिविधियों पर निष्पक्ष, सटीक विचार व्यक्त करता रहा। १९२० में उन्होंने एक अन्य पत्र भी निकाला। इन पत्रों में स्वामीजी ने वर्षो तक सार्वजनिक विषयों पर सम्पादकीय लेखों के रूप में जो कुछ लिखा वह वाङ्मय की अपूर्व निधि थी। यद्यपि स्वामीजी द्वारा लिखे गये साहित्य को तो सम्पादित कर प्रकाशित किया गया है किन्तु समाचार पत्रों की फाइलों में बंद इस सामग्री को प्रथम बार पाठकों के समक्ष लाने का यह प्रयास ऐतिहासिक तो है ही श्लाघनीय भी है। छ: सौ से अधिक कलेवर के इस ग्रन्थ में सद्धर्म प्रचारक के १३६ तथा श्रद्धाके ९५ सम्पादकीय संगृहीत हैं। इनके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थितियों की विस्तृत जानकारी मिलती है। डॉ० विष्णुदत्त राकेश ने ग्रन्थारम्भ में एक विशद भूमिका लिख कर विषय की महत्ता पर प्रकाश डाला है। इस प्रभावशाली विवेचन में इन सम्पादकीय लेखों के कथ्य की सम्यक् मीमांसा प्रस्तुत की गई है। आशा है स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व के समग्र मूल्यांकन में यह ग्रन्थ सहायक होगा और तत्कालीन इतिहास के अध्येता तत्कालीन परिस्थितियों को समझने में इससे भरपूर लाभ उठायेंगे। ग्रन्थ की साज सज्जा तथा छपाई उत्कृष्ट है।

डॉ० भवानी लाल भारतीय

रत्नाकर ८/४२३, नन्दन वन, जोधपुर

राजस्थान — ३४२००८

❖ ❖ ❖

The Epistemological System of Swami Dayananda

Dr. Surendra Kumar
Deptt. of Sanskrit,
Pali and Prakrit,
Maharshi Dayanand University,
Rohtak.

Epistemology is the main branch of Philosophy in which we study the origin, nature and methods of knowledge. The organised study of philosophy was started primarily to help man to ascertain truth in his daily experiecne, so as to enable him to distinguish it from the false. This ascertainment of truth, therefore, is naturally the first and foremost aim of Philosophy, and it becomes incumbent upon Philosphers to define truth and error in clear terms, and indicate the instruments and channels whereby they (truth and error) can be ascertained. The fact that the six schools of Indian philosophy have recognised the value of the preliminary ascertainment of the sources and limitations of human knowledge points to the uniquely high distinction characteristic of them all.[1] Much controversy, philosophers on the question of the theory of knowledge. Dayananda also saw the need to pen his views on this subject and it is interesting to observe how he relates his epistemological views to those propounded by his predecessors.

The charvakas deny the separate existence of the soul on the basis that the existence of the soul is not demonstrable by direct cognition. They feel that it takes its birth simultaneously with the birth of the body and is dissolved with its dissolution.[2] Criticising this view, Swami Dayananda feels that if the soul were not a separate entity in itself, how could it be that with its coming into contact with the body the letter becomes possessed of conscious efforts, and a separation of the two causes the body to be devoid of consciousness. The soul is the entity possessed of the power of sensuous perception, though itself cannot be an object of that mode of perception, exactly in the same way as the eye which cannot see itself, even though we know that it can see all objects. Through the instrumentality of the eye, the soul sees objects of the world, but it is conscious of the existence of the eye through inferential reasoning. The soul is the subject of sensuous perception, the subject and the seer of knowledge. The existence of this subject is fundamental to the whole nation of perception and knowledge. Without the former, the letter would have no meaning, just as a thing supported cannot exist wothout a supporter, an effect without a cause, an act without a doer.[3] Dayananda emphatically states that the inner self of man is certainly the knower (of truth and untruth).[4] For Swami Dayananda, the idea of the knower is an axiom, a self-evident and universally accepted truth, not in need of any process of reasoning. He agress with Shankaracharya who posits that everyone feels that his self exists and no one feels "I do not exist" had there been no general recognition of the existence of the self, everyone would have felt that "I do not exist"[5].

Shankaracharya dose not accept the idea of there being an object of knowledge separate from the self, the only entity he accepts as being existent. Distinguishing between the ontological and empirical realities, he states that this distinction of knower and known finds no meaning in the highest experience, in the trans-empirical, object-subjectless consciousness. In other words, Acharya Shankra contends that the self is itself pure consciousness, and as such cannot be either the subject or object of the knowing process. For him, the process of knowledge is nothing more than a manifestation of the ultimate reality which is the self. Swami Dayananda's position is in complete contradistinction to that of Acharya Shankara. The very fact of knowledge, states Swami Dayananda, presupposes both a subject and an object, both separate in themselves.[6] The object of the process of knowledge is everything other than the seer, i.e. God and the Universe, both of which are real. The universe cannot be classified as unreal because whatever is perceptible to the sense is bound to reflect reality and cannot be categorised as nothing.[7] When the soul becomes freed from all impurities after having devoted itself to the practice of Yoga, it becomes cognisant of the Divine Spirit.[8] Again, through the instrumentality of the eyes and the other senses, it becomes cognisant of objects of the world.[9] The fact of there being both a subject and an object of knowledge comes out in clear terms in Swami Dayananda's system when he criticises the Vaibhashika doctrine of everything being nought. Swami Dayananda posits that the fact of everything being nought is itself an object of a knowing process, and for this notion of nought to become the cornerstone of any system of philosophy, someone had to know it as such in order to make a declaration in its favour.[10]

In his opening remarks preceding his commentary on the first sutra of the Vedanta Darshana, Acharya Shankara states very emphatically that the subject and object of knowledge are by nature as contradictory to each other as light and darkness, and cannot logically have any relation between themselves.[11] The subject is the only reality, while the object is unreal. All knowledge, whether perceptual or conceptual, attempts to reveal reality or the ultimate spirit.[12] It is not, therefore, Possible for us to discover any true relation between the consciousness and the objects of consciousness.[13] Swami Dayananda's understanding of the nature and function of knowledge constitutes a condemnation of the position adopted by Acharya Shankara. For Swami Dayananda, the nature of knowledge can be seen from its function, and the function of knowledge is to provide the base for its potential knower to discriminate and be cognisant of objects. For this reason. Swami Dayananda defines knowledge as real knowledge, the knowledge of reality, the correct experience resulting from being cognisant of the attribute, nature and function of an object exactly as they are, and not otherwise. The very opposite to this results in erroneous knowledge. From this definition, we can see a natural and positive relation existing between the subject and object, the base of which is provided for by knowledge. This triad, therefore, of knower, knowledge and known will always be rendered incomplete, thus contradicting experience, should any one of the constituents be denied its validity and function. Summarising Swami Dayanda's criticism of Acharya Shankara's theory of knowledge, Ganga Prasad Upadhyaya observes, "Should, then, the reality be quite free from relationship, absolutely absolute, unrelated, and unrelatable with anything else, not known, not knowledge, not even knower ? What logical, psychological or epistemological grounds are there for such a hypothesis, much less for such a doctrine ? How to presuppose that the knower is as opposite to the known as light to darkness ? When I say that I know a table, are the conception of 'I' and the conception of the 'table' as opposite as light and darkness ? It is true that the table is not I, nor I the table, yet there is a relation between them, Which does not exist between light and darkness. The simile used is highly inappropriate and unwarranted and any super structure built on such a slippery foundation cannot but be shaky.[14]

When Swami Dayanada talks of knowledge, he refers to that knowledge free from error, doubt and distortion. This is the same knowledge that Maharshi Kanada and Maharshi Gautama refer to in their sutras by the use of the words 'vidya' and 'yathartha anubhava' respectively. However, not everything that the soul perceives via its instruments of perception constitutes knowledge. Should there exist any deficiency in the instruments of perception, then it follows naturally that the perception itself would be defective, subject to error and distortion, and filled with doubt. This no longer remains knowledge (jnana) but becomes ill knowledge, or erroneous knowledge, also called ignorance. The Sanskrit word for this ignorance is 'ajnana'. The prefix 'a' supplied before 'jnana' does not point to an absence of knowledge, but to erroneous knowledge,[15] produced through defective faculties and mental tendencies.[16] Defining this ignorance, Swami Dayananda says that it is that by which the true nature of things is not revealed and instead, a false conception of things is formed.[17] In an effort to elaborate on the characteristics of this false knowledge Swami Dayananda quotes Maharshi Patanjali :-

1. The false notion that the world of effects that we feel and see has always been existing, and will continue to exist for ever, and that by the virtue of the power of yoga the physical bodies of godly men will become imperishable, constitutes the first kind of ignorance.

2. To regard impure things as pure is the second kind.

3. To regard the source of pain as the source of happiness is the third kind.

4. To regard the inert and unconscious as possessed of soul is the fourth.[18]

This four-fold incorrect knowledge makes up 'avidya', while the reverse of it all constitutes knowledge. [19] The above description of knowledge and ignorance makes us feel that Swami Dayananda certainly disagrees with Acharya Shankara and his concept of ignorance or avidya. The latter contends that superimposing the attributes of the Unreal unto the real constitutes avidya (ignorance)[20], and ascertaining the nature of the real by separating the superimposed thing from it is called vidya (knowledge). This avidya is regarded to be eternal, beginningless and endless, and is the cause of the world of experience, launching us in the dream of life. This avidya is the logical mode of reasoning, and it represents a fall from intuition.[21] For Swami Dayananda, however, logical mode of reasoning means rational, sensible thinking, resulting in programmed, correct knowledge. What Acharya Shankara regards as knowledge is for Swami Dayanands the very height of ignorance.[22] Ignorance, emphasises Swami Dayananda, is not the absence of knowledge, but erroneous knowledge, born out of deficient instruments of experience. To regard ignorance as endless and beginningless is to indirectly state that it enjoys and existence of its own, superior to God, since, in the words of Acharya Shankara himself, it acts as a limiting adjunct on Brahman to produce the world of experience. Furthermore, no power deceptive as the maya[23] could produce the world of experience. Swami Dayananda states again and again that the world is a product of the efficient-causality of God and the material causality of matter. It is the result of a deliberate act of the creator, primarily for the benefit of the souls. Swami Dayananda agrees with Acharya Shankara when the latter says that knowldege is the knowledge of reality which is not contradicted,[24] but he disagrees with him when he says that the self is the only reality. Reality for Swami Dayananda ecompasses the Trinity of God, soul and matter.[25]

Swami Dayananda does not believe the world to be a fantasy like Acharya Shankara. It is worth knowing, because it contains the design and workmanship of the Divine creator. In fact it is the workshop in which one can investigate and finally arrive at fundamental information that gives an insight into the modus operandi of the Universal Designer. The capacity to investigate and arrive at knowledge is innate in the soul, the investigator, the subject of the knowing process which seeks to comprehend a range of reality extending from the vastest magnitude to the smallest particle.[26] This soul, called 'Indra' in vedic terminology, is endowed with instruments of investigation, the senses, significantly called 'Indriyas'. Indriya means that which pertains to Indra. Swami Dayananda explains that in the pursuit of knowledge, the soul directs the mind, and the latter directs the five senses- optic, auditory, olfactory, gustatory and tectile. The direct contact of these five senses and the mind with light, sound, small, tests and touch, in addition to feelings of pleasure and pain etc., is productive of knowledge. However, for this to be regarded as valid knowledge, it must be free from error and doubt.[27] This view creates for Swami Dayananda a position diametrical to that expressly adopted by Acharya Shankara, who positively dismisses all knowledge acquired through the sense as unreal from the transcendental standpoint, however helpful it may be in the empirical experience.[28] The philosophy of Acharya Shankara denies the reality of truth of name and form as presented by the sense organs, and so it cannot rely on sense-based knowledge, nor can it make use of it in support of its contentions. To this Swami Dayananda replies that the very purpose of the senses is to lead the investigaor to the realm of truth. It is a fact that they, the senses alone would not lead the soul to truth, and it is for this reason that the senses are aided in their functions by the antah-karana-chatushtaya, the four-functioned internal organ, (comprising mind, ego, mindstuff and Intellect) and the five koshas or sheaths (the physical, the vital, the mento-motor, the mento-sensory and the spirituo-emotional). These are the media through which the soul acquires all kinds of knowledge, carries on all the mental processes and performs its actions.[29]

In an effort to provide the seeker a positive framework of sound judgement whereby he can establish credibility and consequent validity of ideas gathered via the instruments of knowledge, Swami Dayananda suggests the following five criteria[30] :-

1- The Veda and the nature of God- All that conforms to the teaching of the Vedas and the nature, attributes and characteristics of God is correct, the reverse is incorrect.

2- Laws of nature- All that tallies with the nature is true, the reverse is untrue.

3- The prectice and teachings of the Aptas, who include the pious, truthful, unprejudicted and learned men. All that concurs with their practice and teaching is acceptable, the reverse unacceptable.

4- The purity and conviction of one's soul. What is good for one is naturally good for the world, and what is painful to one, would be naturally painful to others. This ought to be the guiding principle in one's interactions with others.

5- Eight kinds of evidence, viz. i) Direct Perception ii) Inference iii) Analogy iv) Testimony v) History vi) Deduction vii) Possibility viii) Negation.

It is only by mean of these five criteria, and not otherwise, can a seeker distinguish between truth and untruth, right and wrong. The first four criteria make up what is regarded as Swami Dayananda's unique contribution to Epistemology, since none of the six theistic schools of Indian philosophy have included any of these in their methods of knowledge. The eight kinds of evidence, though borrowed from Maharshi Gautma's Nyaya Sutras, are explained by Swami Dayananda in a manner distinctly his own. Swami Dayananda,like Maharshi Gautama sees no objection in reducing these eight methods to four, since History can be included under Testimony, and the remaining three under inference. From this we can gather that Dayananda accepts a minimum of four valid methods of knowledge, viz, Perception, Inference, Analogy and Testimony.

"In defining these methods of knowledge, though Swami Dayananda makes full use of ideas enunciated by Maharshi Gautama in his Nyaya sutras, still he distinguishes himself as an epistemologist by adding something to Gautama's theory, specially in case of perception (Pratyaksha) In explaining of Pratyaksha (percaption) Swami Dayananda goes a step further by saying that the senses and the mind can be instrumental in producing only a perception of attributes, while a perception of a substance will necessarily call for the functioning of the soul in the process.[31] Even though perception is sense-based, still mere senses do not, in fact can not function on their own. Knowledge can be absorbed, appreciated and valued only by one possessed of an innate capacity to know - hence the soul being the final court of appeal. Those who assert that an object is not apprehended by perception - it is more of inference - will appreciate this definition supplied by Swami Dayananda."

The Madhyamika Buddhists teach that all perception is of a transient nature. Each individual state of consciousness being of a momentary duration, [32] the perception of a thing at one moment differs from what it was a moment before. All knowledge is, therefore, transient, relative and phenomenal. In fact, knowledge is inexplicable and impossible, since both knower and known are non-existent from the transcendental standpoint. [33] Swami Dayananda, in a short but sweeping condemnation of this Buddhist doctrine of momentariness, argues that if all perception be of a transient character, then there should be no recollection of past events. It is, however, a universally accepted notion that we do recollect what we saw or heard in the past. Memory of past events will militate against and finally disprove the notion of perception having a a momentary character. [34] Even the Vaibhashikas are not right in believing that when a thing is known by direct perception, no mental image of the outside object is formed in one's consciousness. Direct perception, posits Swami Dayananda, is impossible unless there be the perception of an object, and that too by a perceiver. Although the object of perception is outside one's consciousness, still perception will be impeded unless there is formed in one's consciousness a mental image of the objects. [35] Hence the untenability also of the Yogachara belief that no object exists outside one's consciousness [36], because the notion of an object big like a mountain physically in the reservoir of consciousness is itself an absurdity. The mountain, in actuality, exists outside consciousness, while, in the process of perception, its mental image is formed therein. [37] Further, the Sautranika crashing that nothing is perceived through direct perception also does not snack of sensible reasoning. If all knowledge is obtained only through Inference, as the Sautranikas claim [38], then it would not be right to refer to a pitcher, saying "this is a pitcher" since such a statement can be made only by one who has a direct cognition of the pitcher. An act of inference cannot influence a statement that is possible on the strength of direct perception alone. [39]

REFERENCES

1. Muller M., Six Systems of Indian Philosophy, 1912, p. XIII
2. SDS p. 4
3. SP, pp. 504-505
4. Ibid, Introduction p. ii
5. Brahma Sutra Bhashya p. 12
6. SP., p. 514
7. Ibid, p. 520
8. Ibid, p. 206
9. Ibid, p. 505
10. Ibid, p. 513
11. Brahma Sutra Bhashya p. 90
12. Radhakrishnan S., Indian Philosophy, Volume 2. p. 505
13. Sinha J, History of Indian Philosophy, Vol. 2, Central Book Agency, Calcutta, 1952, p. 553
14. Upadhyaya G.P., Philosophy of Dayananda, Ganga Gyan Mandir, Allahabad, 1955, p. 32
15. SP, p. 67
16. Ibid
17. SP, p. 274
18. Yoga-sutra 2.5
19. SP pp. 273-274
20. Brahma Sutra Bhashya p.3
21. Radhakrishnan S. Indian Philosophy, Volume 2, p. 574
22. SP, p. 279
23. Op. cit. p. 572
24. Op. cit. p. 501

25. SP, p. 325
26. RVBB p. 55
27. SP, p. 55
28. Sharma R.N. Essentials of Indian Philosophy, Oriental Publishing House, Kanpur, 1965, pp. 246-247
29. SP, p. 289
30. SP, p. 51-52
31. SP, p. 206
32. SPS, p. 55
33. Sinha J, A History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 405
34. SP, p. 514
35. Ibid
36. SDS, p. 68
37. SP, p. 513
38. SDS, p. 80
39. SP, p. 513

Abbreviations -

SDS Sarvadarshansamgraha of Madhavacharya, Edited by Umashankar Sharma " Rishi". The chokhamba VidyaBhawan, Varansi, 1978.

SP Satyarth Prakash of Swami Dayananda Sarswati, Ramlal Kapoor trust, Bahalgarh, 1975

and

English translation - The light of truth by Chiranjeev Bhardwaj, Sarvdeshik Arya, Pratinidhi Sabha, Delhi, 1975

RVBB Rigvedadibhashyabhoomika of Swami Dayananda Saraswati, Ramlal Kapoor trust, Amritsar, 1967

and

English translation of Rigvedadibhashyabhoomika by Parmananda, Meharchanda Lachhmandas, Delhi, 1981

❖ ❖ ❖

सूचना

१– गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के समस्त स्नातकों को यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विश्व प्रसिद्ध इस शिक्षा संस्थान की स्थापना को सौ वर्ष हो रहे हैं। इन सौ वर्षों के काल–खण्ड में गुरुकुल के यशस्वी स्नातकों ने विविध क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। गुरुकुल के स्नातकों की गौरव–गाथा को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए "स्नातक–परिचायिका" के रूप में एक ग्रन्थ प्रकशित करने का निश्चय किया गया है। आपसे प्रार्थना है कि आप अपना विस्तृत परिचय तथा आपसे परिचित अन्य प्रतिष्ठित स्नातकों का परिचय चित्र के साथ भेजने का कष्ट करें।

२– स्व० आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के यशस्वी स्नातक थे। आचार्य जी ने जीवन के अन्तिम क्षण तक वेदवाणी का प्रचार प्रसार करना ही जीवन का लक्ष्य समझा हुआ था। वे अकस्मात ३० सितम्बर १९९८ की रात्रि में इस संसार को छोड़कर चले गये। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए गुरुकुल पत्रिका का श्रद्धाञ्जलि अंक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

जिन महानुभावों का आचार्य जी से निकट का सम्बन्ध रहा हो, उनसे प्रार्थना है कि वे अपनी श्रद्धाञ्जलि लेख या संस्मरण आदि के रूप में शीघ्र भेजने की कृपा करें।

प्रो० महावीर
प्रधान सम्पादक
गुरुकुल पत्रिका

❖ ❖ ❖

गुरुकुल–पत्रिका

मासिक शोध–पत्रिका

Monthly Research Magazine

वेद विशेषांक

स्थापना १९५७ विक्रमाब्द

सम्पादक

प्रो० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

वेद विशेषांक

सम्पादक
प्रो० महावीर
एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
सह-सम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

जुलाई - अक्टूबर ९९	वर्ष 51 वां	श्रावण-कार्त्तिक सं. 2056

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ0 धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : डॉ0 विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर – हिन्दी विभाग

सम्पादक : प्रो0 महावीर
प्रोफेसर एवं निदेशक
वैदिक शोध संस्थान

सह–सम्पादक : डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ0 जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रकाशक : प्रो0 श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव

मूल्य : 25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेदमञ्जरी

जयकार :

महाँ इन्द्रः परश्च नु, महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ।। ऋग्0 1.8.5

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

महान् महामहिमो वर्तते **इन्द्रः** इन्द्रनामा परमेश्वरः, **परः च नु** परमोत्कृष्टश्च वर्तते नूनम् । **महित्वम्** महत्त्वम्, जयकारः **अस्तु** भवतु **वज्रिणे** वज्रधारिणे तस्मै । तस्य **शवः** बलम् **प्रथिना** विस्तरेण यशसा **च द्यौः न** द्युलोक इव विद्यते ।

अयि भ्रातरः ! किं यूयं विश्वपतेरिन्द्रस्य परिचयं प्राप्तुमिच्छथ? शृणुत, श्रुतिस्तं परिचाययति । इन्द्रः खलु महान् वर्तते, महामहिमः कीर्त्यते । जगतीतले ऽस्मिन् ये ऽपि महान्तः कथ्यन्ते, तेभ्यो ऽपि महत्तमः स वीक्ष्यते । तन्महिम्नः सम्मुखं बहिः सूर्यश्चन्द्रस्तारका नद्यः पर्वताः सागराः, देहाभ्यन्तरं च चक्षुषी, श्रोत्रे, वाड्. मनः, सर्वं तुच्छमस्ति । इन्द्रः परोऽप्यस्ति, स परमोऽस्ति, सर्वोत्कृष्टो वर्तते । अत एवासौ परमात्मा, परात्मा, परमेश्वरः, परमो देवः, परात्परः इत्यादिनामभिः स्मर्यते । सर्वोत्कृष्टत्वादेव स संसारे स्पृहणीयतमो वर्वर्ति, अस्माकं प्रीतिभाजनम् अस्मदमीप्सायाः केन्द्रं च संपद्यते ।

इन्द्रस्य बलं विस्तारं यशश्च वयं किं वर्णयेम? किमपि लौकिकं वस्तु तदीयम् उपमानं न भवितुमर्हति । उपमानम् उपमेयाद् उत्कृष्टतरमेव भवति । परम् इन्द्राद् उत्कृष्टतरं लोके किमपि नास्ते । तथापि स्वयं बोद्धुं परान् बोधयितुं च वयं कथयामः—इन्द्रस्य बलं विस्तारो यशश्च द्युलोकतुल्यं वर्तते । द्युलोके विद्यमानं सूर्यमेव पश्यत । सूर्यस्य बलेनैव निखिलग्रहोपग्रहसहितं समग्रमपि सौरमण्डलं परस्परम् आकर्षणसूत्रेण बद्धं प्रकाशते । अन्यथास्माकं भूमिरन्ये च लोकाः सर्वेऽपि चिरान्धकारे विलीनाः स्युः । सूर्यस्य विस्तारोऽप्याश्चर्यकरः । असौ विस्तारे भूमिमपेक्ष्य त्रयोदशलक्षगुणो विद्यते । सूर्यस्य यशोऽपि दिग्दिगन्तव्यापि । सूर्यमतिरिच्य द्युलोके बहवोऽन्ये नक्षत्र—पुञ्जा अपि सन्ति येषां बलं विस्तारं यशश्च दृग्गोचरीकृत्य बुद्धिरस्माकं चक्रायते । एवं द्युलोकस्य दृष्टान्तेन परमेश्वरस्य बलादिकम् अनुमीयते ।

इन्द्रो वज्रधरोऽप्यस्ति । वज्रेण तदीया दण्डशक्तिः सूच्यते । स खलु पापपरायणान् जनान् तत्कर्मानुरुपं दण्डयति । तस्य दण्डशक्तिं यदि वयं मनसि कुर्याम तदा जीवनस्य सर्वा अपि उच्छृङ्खलताः, सर्वाण्यपि अविवेकाचरणानि समाप्तिं गच्छेयुः ।

आगच्छत, महिमानं गायामस्तस्य जगत्पतेरिन्द्रस्य । जयजयकारं कुर्मस्तस्य वज्रधारिणः ।

–डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

• • •

सम्पादकीय

गुरुकुल पत्रिका का वेद–विशेषांक सुधी पाठकों के कर कमलों में अर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। सम्पूर्ण विश्व नई सदी और नई सहस्त्राब्दि की ओर बढ़ रहा है। इक्कीसवीं सदी का भारत कैसा होगा? हम किस मार्ग पर आगे बढ़ेंगे? हमारा रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार कैसा होगा? यह आज विचार का प्रमुख विषय है। भूमण्डलीकरण की बात बड़ी तेजी से चल रही है। स्थान–स्थान पर गोष्ठियों का आयोजन हो रहा है। विषय एक ही है– इक्कीसवीं सदी का भारत या इक्कीसवीं सदी का विश्व। विज्ञान और कम्प्यूटर की नेत्र दीपक उपलब्धियों से विश्व–मानस अभिभूत है। इसी को उन्नति, प्रगति और सुख शान्ति का प्रमुख मान दण्ड मान लिया गया है। धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा और भोग की अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करना, मानव जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है। एक ओर अन्ध–श्रद्धा है तो दूसरी ओर श्रद्धा का सर्वथा अभाव। परिणाम सामने हैं– अन्ध श्रद्धा के कारण पाखण्ड बढ़ रहा है, नये–नये भगवान् भोली भाली जनता को अपने चंगुल में फंसाकर उनका जीवन नष्ट कर रहे हैं, दूसरी ओर श्रद्धा के अभाव में मातृदेवोभव, पितृदेवोभव आचार्यदेवोभव, राष्ट्रदेवोभव का अमृत उपदेश लुप्त सा हो गया है। नैतिकता के ह्रास तथा जीवन मूल्यों के विस्मृत कर देने से सर्वत्र अशान्ति, अतृप्ति, राग–द्वेष, ईर्ष्या आदि का साम्राज्य स्थापित हो रहा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में आशा, विश्वास और प्रेरणा का एक ही स्रोत दिखाई देता है और वह है सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के पवित्र अन्तःकरणों में प्रकाशित पवित्र वेद–ज्ञान। यह उस दयानिधान, परम कृपालु सर्वशक्तिमान् जगत्पिता द्वारा प्रदत्त सुधा–रस है जिसका पान कर मानव का जीवन धन्य हो जाता है। भगवती श्रुति अत्यन्त स्नेह पूर्वक कहती है–श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः। अर्थात, हे मेरे अमृत पुत्रों! सुनो। इससे अधिक स्नेह भरा सम्बोधन और क्या हो सकता है। जबसे मानव ने वात्सल्यमयी, ममतामयी जगज्जननी का साथ छोड़ा तभी से वह अशान्त है, अतृप्त है और दुःखी है। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करते समय यदि विश्व मानव इस अमर धरोहर को, प्रभु के अनुपम वरदान को श्रद्धापूर्वक हृदय में धारण कर ले तो उसके दुःखों का अन्त हो सकता है। 'नान्यः पन्था विधतेऽयनाय', कल्याण का और कोई मार्ग है ही नहीं। वही कल्याण पथ हम अपने गुरुकुल–पत्रिका परिवार को दिखाना चाहते हैं। इस संकल्प का एक छोटा सा रूप है यह वेद–विषेशांक। वेद तो अगाध, अनन्त महासागर है, इसमें असंख्य रत्न छिपे हुए हैं। प्रत्येक अपनी क्षमता, साधना और श्रद्धा के अनुरूप रत्न पा सकता है। हमने विद्वानों के कुछ शोध–लेख इस अंक में प्रकाशित किये हैं। स्थानाभाव और कलेवर वृद्धि के भय से प्राप्त सभी लेख प्रकाशित नहीं हो पा रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे प्रबुद्ध पाठक इसे स्नेहपूर्वक स्वीकार कर चिन्तन की स्वस्थ दिशा प्राप्त कर सकेंगे।

राष्ट्र नायक श्री अटल बिहारी वाजपेयी का शत–शत अभिनन्दन

भारत, विश्व का गुरु, संपूर्ण भूमण्डल को प्रकाश देने वाला, जीवन की शिक्षा देने वाला ज्ञान भास्वर, वैभवशाली राष्ट्र। आपस की फूट से परतन्त्र हुआ, सुदीर्घ काल तक पराधीनता की श्रृंखलाओं में बन्धा रहा, छटपटाता रहा। सुभाषचन्द्र बोस, क्रान्तिवीर भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपतराय, महात्मा गाँधी बनकर भारतमाता की सन्तानें राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहूतियां देती रहीं। इन अमर, शहीदों के बलिदानों से परतन्त्रता का अन्धकार दूर हुआ। 15 अगस्त का सूर्य स्वतन्त्रता का सुप्रभात लेकर राष्ट्रगगन में जगमगाया। 26 जनवरी गणतन्त्र का शुभ सन्देश लेकर आया। हमारा देश और हमारा शासन, देश की गली–गली और फूल की कली–कली मुस्कराने लगी। पं0 जवाहरलाल नेहरु ने स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री के रूप में लाल किले पर तिरंगा फहराया। लोकतन्त्र का रथ चलने लगा, झटके लगते रहे, कभी–कभी निराशा की धनपटली ने आशा और विश्वास के चन्द्रमा को आच्छादित किया किन्तु हम भारतवासियों की आस्था नष्ट नहीं हुई। 1996 से अब तक तीन चुनाव। बार–बार लोकसभा का भंग होना और बनना। अरबों–खरबों का गरीब राष्ट्र पर बोझ। विकास के रथ की गति का अवरुद्ध होना, जातिवाद का ताण्डव नृत्य, अपराध, हिंसा और भ्रष्टाचार का राजनीति में खुलकर प्रवेश। देश का भविष्य क्या होगा? लोकतन्त्र जीवित रहेगा या दमतोड़ देगा, यही चिन्ता का प्रमुख विषय। ऐसे निराशा पूर्ण वातावरण में 13वीं लोकसभा का निर्वाचन संपन्न हुआ। निर्वाचन से पूर्व कारगिल के युद्ध में भारतीय वीरों ने वीरता का नया इतिहास बनाया, तो उससे पूर्व पोखरण के परमाणु–परीक्षण ने विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों की पंक्ति में भारत को खड़ा कर दिया। इन सफलताओं के महानायक हैं माननीय अटल बिहारी वाजपेयी। राष्ट्र ने पुनः अपना भविष्य इस राष्ट्रनायक को सौंपा है। देश की जनता को पूर्ण विश्वास है कि भारत माता का यह लाड़ला पुत्र इस देश को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर अवश्य प्रतिष्ठित करेगा। भावुक और कवि, देशवासियों की दशा देखकर छटपटाने वाले, भारतमाता की चरणधूलि को अपने माथे का चन्दन समझने वाले माननीय अटल जी अब राष्ट्रनिर्माण की संकल्प–शक्ति से ओत–प्रोत होकर इस देश का भविष्य अवश्य संवारेंगे। हम आशा भरी दृष्टि से देखते हुए इस महान जननायक के पुनः प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने पर शत–शत अभिनन्दन और वन्दन करते हुए दीर्घजीवन एवं चन्द्रोज्वल कीर्ति की मंगल कामना करते हैं और परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि आपके सुयोग्य नेतृत्व में भारत देश विश्व का सर्वश्रेष्ठ देश बनकर चमके।

– प्रो0 महावीर

• • •

वैदिक मधु-गीत

– डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।। ऋ0 1.90.6

हम चाहते हैं कि प्रत्येक सत्यसाधक के ऊपर मधु बरसे, मधु का झरना झरे। पवन अपनी शीतल मन्द लहरियों के साथ मधु बहा कर लायें। कल-कल-निनादिनी सरिताएँ मधु क्षरित करें। ओषधियाँ हमारे लिए मधुमय हों।

मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता।। ऋ0 1.90.7

कभी अपने श्याम आँचल से माता के समान सबको आच्छादित करती हुई और कभी शान्त, मधुर चन्द्रिका छिटकाती हुई विश्रामदायिनी रात्रियाँ हमारे लिए मधुमती हों। जागृति और नवस्फूर्ति देने वाली स्वर्णिल उषाएँ मधुमयी हों। समस्त पार्थिव लोक मधुमय हो। पितृतुल्य पालनकर्ता द्युलोक भी मधुमय हो।

मधुमान् नो वनस्पतिर्, मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। ऋ0 1.90.8

हरित पत्रों का दुकूल ओढ़े हुए ये वृक्ष–वनस्पति हमारे लिए मधुमय हों। रश्मियों से जगत् को प्रकाशित करने वाला पावक सूर्य मधुमय हो। स्तनों से अमृतोपम दूध क्षरित करने वाली गौएँ मधुमयी हों।

इयं वीरुन्मधुजाता, मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि, सा नो मधुमतस्कृधि।। अथर्व0 1.34.1

देखो, यह सामने मधुमयी लता दिखाई दे रही हैं। यह 'मधुयष्टि' अपने अन्दर

मधुरस लेकर उत्पन्न हुई है। हे मधुलता! मधु के लिए हम तुझे खनन करते हैं। तू मधुमय है। हमें भी मधुमय कर।

जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि।। अथर्व0 1.34.2

मेरे जिह्वाग्र पर मधु हो, जिह्वामूल में मधु हो। हे मधु ! तुम मेरे एक–एक ज्ञान में, एक–एक संकल्प में, एक–एक कर्म में रम जाओ। तुम मेरे चित्त में बस जाओ।

मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः।। अथर्व0 1.34.3

मेरा घर से निकलना मधुमय हो, कार्यक्षेत्र में पग रखना और दूर–दूर जाना मधुमय हो। मैं वाणी से मधुमय बोलूँ। मैं मधुतुल्य हो जाऊँ।

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः।। अथर्व0 9.1.1

द्युलोक से, पृथिवी से, अन्तरिक्ष से, समुद्र से, अग्नि से, वायु से मधुकशा (मधुमयी वाणी) उत्पन्न होती है, अर्थात् मधुर वाणी में इन सबकी विशेषताएँ होती हैं। वह द्युलोक के समान प्रकाशक, पृथिवी के समान धारक, अन्तरिक्ष के समान मध्यस्थ, समुद्र के समान गम्भीर, अग्नि के समान ज्योतिर्मयी और वायु के समान प्राणदायिनी होती हैं। उसके अन्दर अमृत भरा होता है। उसे अपना कर सब प्रजाएं आनन्दित हो जाती हैं।

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा।। अथर्व0 9.1.14

मैं मधु उत्पन्न करूँ, मधु चाहूँ। हे जलों में विद्यमान अग्नि ! मैं तेरे समीप आया हूँ, तू मुझे वर्चस् के मधु से संयुक्त कर।

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्।। अथर्व0 9.1.16

जैसे शहद बनाने वाली मधुमक्खियाँ छत्ते के मधु में मधु मिलाती रहती हैं, वैसे ही हे अश्विनो ! हे प्राणापानो ! तुम मेरे मधुमय आत्मा में और अधिक 'वर्चस्' का मधु मिलाते रहो।

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्।।अथर्व0 9.1.17

जैसे मधुमक्षिकाएँ शहद के छत्ते में अधिकाधिक मधु मिलाती रहती हैं, वैसे ही हे अश्विनो ! हे प्राणापानो ! मेरे अन्दर तुम ब्रह्मवर्चस्, तेज, बल और ओज का मधु मिलाते रहो।

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोश्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि।। अथर्व0 9.1.18

देखो ! बादलों में मधु है, सरसता का मधु है, पवित्रता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। पर्वतों में मधु है, हरियाली का मधु है, स्रोतों और झरनों का मधु है वृक्ष-वल्लरियों और पुष्प-फलों का मधु है, वनों की शान्ति का मधु है, पाषाणों की कठोरता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। गौओं के अन्दर मधु है, गोरस का मधु है, परोपकारिता का मधु है, सौम्यता का मधु है, मातृत्व का मधु है, अहिंसा का मधु है, सरलता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। अश्वों के अन्दर भी मधु है, बल का मधु है, वेग का मधु है, वह मधु मुझे भी प्राप्त हो। आसवों में भी मधु हैं,बलोत्तेजकता का मधु है, विकारशामकता का मधु है, स्वास्थ्यवर्धकता का मधु है। वह मधु मुझे भी प्राप्त हो।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु।।अथर्व0 9.1.19

हे शुभ मधुविद्या के अधिपति प्राणापान रूप अश्वी देवो ! तुम मुझे मधुमक्षिकाओं के शहद के सदृश मीठे मधु से उज्ज्वल कर दो। मेरी वाणी को वर्चस्विता के मधु से संयुक्त कर दो, जिससे मैं जनों के प्रति सदा वर्चस्वती वाणी बोलूँ।

• • •

वेदमन्त्रेषु राष्ट्रिय-भावना

– प्रो0 वेदप्रकाशः शास्त्री
आचार्य उपकुलपतिश्च
हरिद्वारस्थगुरूकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्य

समस्त भूतलवासिनां मानवानां बहुविधाभ्युत्थानविषये स्वस्थचितैर्विद्वद्भिर्वेदानधिगत्यैव विश्वजनीनं सकलजनहृदयग्राह्यं निर्मलं विचारान्वेषणमकारि। ''सर्वज्ञानमयो हिसः'' इति निगद्यं वेदानां महत्त्वमुद्भावयता मनुना मानवानां मनसि वेदानुरागबीजं व्युप्तम्। निखिलज्ञानविज्ञानाधिगमाय वेदे विमलां सुवरदां ब्रह्मस्वरूपां मतिं वितन्वद्भिः सुमेधोभिर्या याः कामनाः कृतास्ताः सर्वा अपि पूर्णाः। यथा तरङ्गाश्रयः सलिलाशयो भवति यथा व्यभिचारिणां भावानामाश्रयः स्थायिभावाशयस्तथैव जगति वर्तमानानां सर्वासां प्रवृत्तीनामाश्रयो वेद एव विद्यते। अतएव समुदीर्यते भारतीभाषा समुदभासिते, महाभारते–

अनादिनिधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

म.भा. शान्तिपर्व अ. 232, 24

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेद शब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः।।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वयन्ते सुजातानां तान्येवैभ्या ददात्यजः।।

यथार्थज्ञानाय वेदार्थावगमे सततं प्रयत्नो विध्यः– यथा– म.भा. शान्तिपर्व 232, 25–26

यो वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारण तत्परः।
न ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञः तस्य तद्धारणंवृथा।।
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थ न वेति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा।।

म.भा. शान्तिपर्वमोक्ष 305 अ. 13–14

यं देशं समलङ्.करोति स्वजन्मना जनः स जनो नूनमेव तं देशं पितरं मातरं च मत्वा समर्चति। स्वराष्ट्रस्य विष्वगुन्नतिं द्रष्टुं कर्तुं च नक्तन्दिवं कामयते राष्ट्रभावभरितहृदयो मनुष्यः। राष्ट्रं नि पद्रवं निरवखण्डनं च कर्तुं सैन्य–सञ्चालने, राज्यस्थितिसमवेक्षणे, निरन्तरायेदण्डविधाने, निःस्वार्थभावे नेतृत्वे, निखिलजनचिन्तानुरञ्जनकरे सर्वलोकाधिकारे

च दृष्टिं निक्षिपद्भिर्मनीषिभिर्वेदसदेशादेशपरिपालनं निश्चलमतिभिर्भाव्यमेव। स्मृतिशास्त्रे मनुना समीचीनो विचारः समुन्मेषितः–

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।

मनुस्मृतिः 12/100

स्वराष्ट्रे जन्म प्राप्य ये जनाः शैशवावस्थाया युवावस्थाया वृद्धावस्थायाश्च आनन्दमनुभवन्ति ते क्वचित्सरिज्जलं पिबन्ति, क्वचित् पृथिव्यन्नमश्नन्ति, क्वचिद्वृक्षफलान्यदन्ति, क्वचिद् वने सञ्चरन्ति क्वचिच्चाटन्ति दुर्गमे पर्वते। अस्मिन्नेवार्यराष्ट्रे मुनिभिस्तपस्विभिर्महर्षिभिश्च सततं महत्तपस्तप्त्वा राष्ट्रस्य समृद्धिमयं सुखप्रदं स्वरूपं दृष्टम्। यथा–

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंन्नमन्तु।।

राष्ट्रमुन्नेतुं ब्राह्मणा राजन्याः स्त्रियो गावो वनस्पतय ऋतवः पर्जन्याः कामा निकामाश्च कीदृशा स्युरित्याकांक्षायां समुदितायां राष्ट्रभक्ताः प्रतिदिनं राष्ट्रगानपदवेद्यमेकं वेदमन्त्रं प्रमुदितेन मनसा मधुरेण स्वरेण मधुराक्षरया च वाचा प्रातरुत्थाय समुद्गायन्ति– यथा–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे–निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

यजु. 22/22

स्वराष्ट्राभ्युदयं कामयमानेन केनापि राष्ट्रवादिना मनस्विना कदाचिदपि क्वचिदपि निजेतरत्वभावो न कल्पनीयः। समस्तेषु राष्ट्रवासिषु, समस्तासु राष्ट्रक्रियासु, योगक्षेमभावेन प्रचलितेषु सर्वेषु क्रियाकलापेषु, शमवृत्तिवत्सु वृत्तेषु च निजादरभाव आत्मभावश्च सर्वदैव वर्धनीयः। यथा–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

अथर्व. 19/62/1

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

यजुर्वेद 18/48

ये राष्ट्रवासिनो जना प्रातःकाले शय्यां विमुच्य स्वमातृभूमेर्निर्मलेन रजसा ललाटं लासयन्ति ते धन्याः। मातृभूमिं प्रतिनमन्तः सन्तस्तस्याः सुखकारिणीं शत्रुहारिणीं निवासदायिनीं च सत्तां कीर्तयन्तः सुखं लभन्ते।

पृथिवी, स्योना अनृक्षरा निवेशनी भव।।

ऋक 1/12/15

कस्मिन्नपि राष्ट्रे तिस्रो देव्यः सुखमातरो भवन्ति। यत्र तिसृणां देवीनामभिनन्दनमनवरतं प्रतन्यते तत्र सुखवर्षा भवन्ति राष्ट्रं परिवर्धते, न वहति व्यथां क्वचित् कश्चिज्जनः। अस्माकं मातृभूमिः प्रथमा देवी, द्वितीया देवी मातृसंस्कृतिः, मातृभाषा च तृतीया देवीति निगद्यते। एतासां निर्विशेषप्रतिपत्तिव्युत्पादितं समर्चनमेव रास्ट्रार्चनमस्तीति मन्तव्यम्—यथा—

इडा सरस्वती मही तिस्रोदेवीर्मयोभुवः।।

ऋग्वेद 1/13/9

अद्यत्वे जनाः प्रवदन्ति यत् संघे शक्तिः कलौ युगे, परं वेदेषु संघशक्तेर्महिमा सुमहान् विद्यते। युगे युगे संघशक्तिरपेक्ष्यते। राष्ट्रस्य साफल्याय संघशक्तिर्नितरामिष्यते। वेदमन्त्रे राष्ट्रकल्याणाय प्रार्थना विद्यते यत्— युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।।

ऋग्. 1/17/4

यस्मिन् राष्ट्रे सैनिकाः शौर्योदार्ययोः समन्वयकरणे सुरक्षा भवन्ति त एव भवन्ति राष्ट्रवीरा, वीरास्ते हन्यान् निघ्नन्ति अवन्ति चाव्यान्। ये चिरं राष्ट्रं रक्षितुमीहन्ते तैः शौर्य प्रकटनीयमौदार्यमपि च प्रकटनीयम्। यथा—

नमस्विन उप स्वराजमासते।।

ऋक् 1/36/7

ये जना अलभ्यं कवित्वपदमुपेत्य स्वराष्ट्रं पितरं च मत्वा तद्वर्णने स्वप्रतिभोन्मेषं कुर्वन्ति। मातृभूमेर्महिमानं गायन्ति, तद्वैभवं वर्णयन्ति, तत्कीर्तिं प्रसारयन्ति, तद्यशो गाथां च लिखन्ति ते चिरं जीवन्ति जगत्याममृताश्च भवन्ति। यथा वेदे—

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तास स्यातन।
स्तोता वो अमृतः स्यात्।।

ऋक् 1/38/4

ये जना राष्ट्रे नेतृत्वमीहन्ते ते राष्ट्रहितमेव पुरोनिधाय कार्याणि वर्धयन्तु, प्रज्ञानां विश्वासं

कदाचिदपि मा शिथिलयन्तु, स्वराष्ट्रकल्याणमाकलयन्तु, सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय च स्वबुद्धिचातुर्य परिष्कुर्वन्तु। यथा वेदे–

दाधार क्षेममोको न रण्वो
यवो न पक्को जेता जनानाम्।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो।
वाजी न प्रीतो वयोदधाति।

ऋक् 1/66/2

यत्र राष्ट्रनायकाः प्रजानां दैन्यं दूरीकर्त्तु प्रयतन्ते, सर्वविधमज्ञानतिमिरं नाशयन्ति, बुभुक्षामपाकर्तुं भवन्ति च प्रयासरतास्तत्र जना राष्ट्रियभावनां स्वमनसि स्थापयन्ति। ये राष्ट्रोन्नायकाः सन्ति ते स्वराज्यभावनां दृढयन्तु समूलमुत्पाटयन्तु च राष्ट्रस्य शत्रून। स्वराज्यं स्थिरयितुं सर्वासु दिक्षु सुनेत्रा दृष्टिनिक्षेपो विधेयः। स्वराष्ट्रप्रगत्यर्थं नानाविधानि साधनानि अन्वेष्टव्यानि। सत्कर्त्तव्या राष्ट्रभावाः जेतव्याः शत्रवः पुरस्करणीयाश्च वीराः। यथा वेदमन्त्राः–

विद्वान् अग्रे वयुनानि क्षितीनां
व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः।।

ऋक् 1/72/7

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्माचकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि शशा
अहिमर्चन्ननुस्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/1

प्रेह्यभीहि घृष्णुहि न ते वज्रो नि यसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्तं जया
अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/3

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम्।
यद्धत्यं मायिनं मृगं तमु त्वं
माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्।।

ऋक् 1/80/7

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु
शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः।

बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप

वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् ।।

ऋक् 1/85/3

तदेव राष्ट्रमक्षुणं भवति यज्जना न भवन्ति निर्धनाः। यदा मनुष्या धनधान्यवन्तो भूत्वा भवन्ति दानिनः परिपुष्टाः सन्तो भवन्ति परजनपोषकाः संयमयानेन तृष्णाटवीमतीत्य भवन्ति निष्तृष्णाः, कठोरं श्रमं कृत्वा कर्मकुशला भवन्ति, धनं गृहीत्वा अपि भवन्ति च दातारस्तदा राष्ट्रियभावना प्रजाजनमनसि प्रतिष्ठापदमाप्नोति। यथा–

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः।

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः ।।

ऋक् 1/71/3

ये शत्रवो राष्ट्रविघातं मनसि निधाय गुप्तरूपेण कार्यं कुर्वन्ति। राष्ट्रवासिनां बुद्धिमत्तां तेजस्वितां बलिदानभावनां सच्चरित्रतां च नाशयितुमीहन्ते ते राष्ट्रवीरैः सत्वरमेव हन्तव्याः। यथोक्त वेद मन्त्रे–

वियात विश्वमत्रिणं ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ।।

ऋक् 1/86/10

यया यज्ञभावनया राष्ट्रपुरुषा राष्ट्रस्य श्रियं प्राणम् आयुष्यम, तेजो बलं च जिन्वन्ति तामेव यज्ञभावनां दूषयितुं केचन शत्रवो नष्टार्यरूपा सन्ति प्रयतमानाः। यज्ञरिपवो येऽनार्याः प्रकाशं वा अप्रकाशं वा असमञ्जसचरित्रं चित्रयन्ति ते सदैव पराभवनीयाः। अमुमेव भावं प्रकाशयति वेद मन्त्रः–

अभितिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम् ।।

ऋक् 1/110/7

ये लोकनायका राष्ट्रनायका वा राष्ट्रस्य स्पन्दनं जानन्ति तदन्तर्गतं तत्त्वं परिचिन्वन्ति जानन्ति च तत्प्रकृतिं त एव राष्ट्रं परिपुष्णन्ति रक्षन्ति सत्कुर्वन्ति च सर्वदा। तादृशा लोकनायका राष्ट्रस्येतिवृत्ते लिखिता इव चित्रिता इव भान्ति। यथा–

अस्तावि साम्राज्याय प्रतरं दधानः ।।

ऋक् 1/141/13

ये राष्ट्रे निवसन्ति जीविकां प्रसारयन्ति परं ते स्वाभिमानमहिमानं न विदन्ति। उदरदरीं पूरयितुं ते सत्येऽसत्यमसत्ये च सत्यं पश्यन्ति। केवलं देहप्रधानैः पुरुषैर्नप्रसार्यते राष्ट्रभावना। नापि च तैर्दीयते किमपि राष्ट्ररक्षार्थम्। ये स्वाभिमानं रक्षन्ति त एव राष्ट्रबाधां दूरीकर्त्तुं क्षमन्ते।

राष्ट्रं तैरेव सर्वदा स्वाभिमानिभिरभिरक्षितं यैः स्वाभिमानं रक्षितुं तप्तं महत्तपः, अनुभूतं प्रभूतं कष्टम्,गीतं राष्ट्रगीतं, त्यक्तं च भौतिकं सुखम्।

अतएव वेदे स्वाभिमानस्याखण्डतां रक्षितुमुपदेशः सम्प्राप्यते –यथा

त्वं मानेभ्य इन्द्र विश्वजन्या
रदा मरुद्भिः शुरुधो गो अग्राः।
स्तवानेभिः स्तवसे देव
देवैर्विद्यायेष वृजनं जीरदानुम्।।

ऋक् 1/169/8

राष्ट्रे वर्तमानाः सर्वेऽपि जना दूरं यावत् स्वजीविकां प्रसारयितुं समर्था स्युरित्युपदेशो वेदर्षिणा प्रदीयते। राष्ट्रशरीरे व्याप्तिं व्युपगते सति जीविका साधनानि स्वत एव विस्तृतिमुपयान्ति।अतो मातृभूमेर्विस्ताराय राष्ट्रस्य शुभचिन्तकैः प्रयासाः करणीयाः।अस्मिन् विषये प्राप्यते वेदमन्त्रः– यथा

पूश्च पृथिवी बहुलान उर्वी
भवा तोकाय तनयाय शं योः।
अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा
अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः।।

ऋक् 1/189/2

राष्ट्रे द्विविधा जनाः प्रादुर्भवन्ति, केचन प्रजानां भद्रमिच्छन्ति केचन चाभद्रमिच्छन्ति। ये प्रजानां प्रियंकरास्ते लालनीयाः पालनीयाश्च ये खल्वप्रियंकरास्ते दण्डनीयाः। उक्तमेव वेदे यथा–

अरोरवीद्वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं
यन्मानुषो निजूर्वात्।
नि मायिनो दानवस्य माया
अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य।।

ऋक् 2/11/10

वेदे परान्नभक्षणस्य निषेधो वरीवर्ति। परान्नाशनात् बुद्धौ मनसि काये वदने संवादे संगमने ज्ञाने संज्ञाने च युगपद् प्रोद्भवन्ति विविधा दोषाः। परान्नभोक्तारं परान्नदोषाः शनैः शनैस्तेजोविहीनं निरुत्साहं कान्तिहीनं राष्ट्रियभावनाविरहितं च कर्त्तुमर्हन्ति। यदा यदा यस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनैः परप्रदत्तमन्नमथितं तदातदा तस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनानां हृदयानि

राष्ट्रियभावनावियुक्तानि जातानि । यथा–

पर ऋणा सावीरधमत्कृतानि,
माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास
आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि ।।

ऋक् 2/28/9

राष्ट्रसंरक्षणसंसिक्तचित्तैः पुरुषैः प्रत्यहं सरस्वती समर्चनीया सरस्वत्या अर्चनं विना मनसि नैर्मल्यमात्मोल्लासश्च नोत्पद्यते । येषामात्मनि पवित्रता न विद्यते चित्ते च नास्ति स्थैर्यं ते राष्ट्रविषये शुद्धं न चिन्तयन्ति । शुद्धचिन्तनं विना राष्ट्रियचेतनोद्भवः कुतः । राष्ट्रनायकैः सरस्वत्या विस्ताराय विविधा उपाया अन्वेष्टव्याः । तद्विस्तारे विरोधं जनयन्तो जना पापिष्ठा भूत्वा भवन्ति दुःखभाजः ।

ये सारस्वतास्त एव सरस्वतीदत्तवरप्रसादाः विविधविद्यापारङ्गता भूत्वा राष्ट्रविषये सततं भवन्ति सचिन्ताः । सरस्वत्याः स्तोतारं प्रचारकं प्रवाचकं उद्गातारं वा यो मन्दः समवरुणद्धि सः पापीयान् जायते । स्वगत्यवरोध्दारं दुर्जनं जनं प्रत्याह सरस्वती–

नैतां ते देवा अददृस्तुभ्यं तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अंनाद्याम् ।।
अक्षदुग्धो राजन्यः पाप आत्म पराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ।।
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमोह्यस्य दायादिन्द्रो अस्याभिः शास्तिपाः ।।
ये सहस्रमराजन्नासन्दश शता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्या पराभवन् ।।

अथर्व 5/18/1,2,6,10

राष्ट्रियभावनाणरितान्तःकरणैं स्वदेशभक्तैः सरस्वत्याः प्रसादनाय वेदमन्त्रैतत्स्तवनं विधेयम्–यथा

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ।।
त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूषि देव्याम् ।
शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ।।

ऋक् 2/41/16–17

राष्ट्रियभावना चिरं जीवयितु त एव जनाः प्रभवन्ति ये स्वकर्त्तव्यं जानन्ति। कर्त्तव्यबोधाभावे राष्ट्रियता दीयते। ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च स्वस्वकर्त्तव्यं विज्ञाय यद्यत्कुर्वन्ति तत्तद्राष्ट्रहितेच्छयैव। यदा जनाः स्वकर्त्तव्यावबोधे प्रसुप्ताः परकर्त्तव्यावबोधे च प्रबुद्धा भवन्ति तदैव राष्ट्रं विपद्ग्रस्तं भवति। राष्ट्रस्य क्षेत्रे–क्षेत्रे नगरे–नगरे देशे–देशे विभागे–विभागे च विषण्णता विपन्नता खिन्नता दीनता हीनता असहिष्णुता निर्मनस्विता जडता अन्धता स्वार्थता च परिदृश्यते श्रूयते च। अतः स्वराष्ट्ररक्षणप्रहितेक्षणा ये सुजनाः सन्ति ते स्वकर्त्तव्य–सम्पादने सन्तु निरालसाः। उक्तं वेदे–

केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं
विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।
अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिर–
स्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चक्रे।।

ये परदेशीया कथयन्ति यद् भारतं वयं रक्षामः, वयं पालयामः, वयं पाठयामः, वयं साधयामः, वयं सञ्चालयामश्च, मन्येऽहं यत्ते जना न जानन्ति। भारतीया परमुखापेक्षिणो न सन्ति भारतीयानां यद्ब्रह्मज्ञानं विद्यते तेनैव काले–काले रक्षार्थं रक्षाकवचायितम्। भारतीयो जनो मनोः प्रसूतिर्विद्यते, "स्ववीर्यगुप्ता हि मनोप्रसूतिः" कालिदासस्य सूक्तिरियमद्यापि वेदमन्त्रानुगामिनी सत्यार्थवती च विभाति। वेदानुसारं भारतीयैर्ज्ञानबलेनैव संसारे सर्वमर्जितम्। भारतीया न परबलाश्रिता नापरान्नश्रिता नापि परविद्याश्रिता आसन्। वेदे यथोक्तम्–

य इमे रोदसी उमे अहमिन्द्रमतुष्टवम्
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।।
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमृतमस्माकं।
तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकम्।
स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।।

अथर्व 16/8/1

स्वयं वाजिस्तन्व कल्पयस्व,
स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व
महिमा ते अन्येन न सन्नशे।।

यजु 23/15

वेदे राष्ट्रजीवनाधायकानि सप्ततत्त्वानि वर्णितानि। यत्र प्रतिपलं जायते सप्ततत्त्वोन्मेषस्तत्र राष्ट्रीयभावना कदापि न क्षीयते। राष्ट्रजना यदा सत्यान्वेषणनिपुणाः सुव्यवस्थाचतुराः शत्रुसंहारव्युग्राः,

सुदक्षविपश्चिद्गुरुजनदीक्षिताः, तपोविहितापपरिपूतान्तःकरणा, ब्रह्मज्ञानप्रकाशविनष्टाज्ञानतिमिराः, यज्ञानुष्ठानकर्मकुशलाश्च भवन्ति तदा राष्ट्रभूमिः सर्वान् स्वक्रोडस्थान् पुत्रान् परिपाति। यथोक्तं वेदे–

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

अथर्व 12/1/1

या अस्माकं मातृभूमिरस्ति तत्र वैश्वानरोऽग्निविभाति। सा भूमिर्विद्यते विश्म्भरा वसुधानी च। यस्या मातृभूमेः क्रोडस्था जना देवायमानाः अमृतं पिबन्ति रक्षन्ति चाप्रमादं स्वराष्ट्रम्। सा भारतभूमिरस्माकं मातृभूमिर्विद्यते। अस्माकं राष्ट्रस्य संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिः सैवः विश्ववारेति निगद्यते। यत्र वयं वसामस्तत्र कलकलनादवाहिन्यो नद्यो नवीनममृतं बहन्ति। राष्ट्रभूमिरियं त्रयाणां वर्णानां शोभामावहति। हिमवन्तो गिरयस्तद्यशोगाथां गायन्ति। उक्तं वेदमन्त्रे–

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवीस्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।।

अथर्व 12/1/11

अस्माकं मातृभूमिस्तान् जनान्–

बिभर्ति ये विविधभाषाभाषिणः सन्ति। यथा धेनुरनैकाभिर्दुग्धधाराभिर्वत्सं पालयति तथैव मातृभूमिरियं सर्वान् पाति–यथा–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।

अथर्व 12/1/45

राष्ट्रवासिभिः राष्ट्राभ्युदयमभिलक्ष्य प्रार्थना करणीया यदस्माकं राष्ट्रे सर्वे जना सधनाः सपुत्राः सद्वृत्ताश्च सन्तु।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारण्याः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय।।

अथर्व 12/1/50

एकस्मिन् वेदमन्त्रे राष्ट्रभूमिं मातरं मत्वा प्रार्थयते मनुष्या यदहे पृथिवि तव मध्यभागं यानि वस्तूनि भूषयन्ति यानि नाभिमण्डलं मण्डयन्ति, यानि च वस्तुजातानि तवाखिलं वपुः शोभायुक्तं कुर्वन्ति तान्यस्माकं कुरु। हे भूमे त्वमसि मम माता पृथिव्या अहमस्मि पुत्रः, पर्जन्यो मम पिता चास्ति। यथा–

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जसतन्वः संबभूवुः।
तासु नोधेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।

अथर्व 12/1/12

यस्मिन् रास्ट्रे राष्ट्रनायका धर्मकेतुं हस्ते निधाय शासनं कुर्वन्ति ते जानन्ति राष्ट्रमहत्तां। धर्मविहीना नरा नात्मानं रक्षन्ति न रक्षन्ति राष्ट्रभूमिम्–यथा

विश्वस्वं मातंरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनुचरेमविश्वहा।।

अथर्व 12/1/17

अस्माकं राष्ट्रे महतामृषीणां परम्पराः परिचकासति। नः पूर्वजा मन्त्रसारविदस्तत्त्वविदस्तपस्विनो वर्चस्विन ऊर्जस्विनश्च बभूवुः। तैरव महर्षिभिः राष्ट्रस्य रचनां विधाय तद्रक्षणायामृतमयी राष्ट्रियभावना संभाविता। यथा–

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्तसत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह।।

अथर्व 12/1/39

भारते देशे षण्णामृतनामागमनं काले काले भवति। भारतं विहाय नान्यत्र क्वचिद् ऋतूनांषट्कं शोभां विकिरति। अस्माकं भारतभूमिः कापि विलक्षणा अतएव देवभूमीति विगद्यते। ऋतुनिर्मितः कालः समये–समये भरते भवति सुखकरः। यथा वेदमन्त्रे–

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्हेमन्तः शिशिरो वसन्त :।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्।।

अथर्व 12/1/36

एवं वेदमन्त्रेषु पदे–पदे राष्ट्रियभावना विभाति। वयं धन्या स्मः। अन्ते भगवन्तमभ्यर्थयामहे यद् यस्मिन् भारते वयं जातास्तस्य भारतराष्ट्रस्य भावना अस्माक जीवने दिने–दिने प्रतिष्ठां लभतामिति।

स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धाश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु।।

● ● ●

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

- प्रो0 जयदेव वेदालंकार
डीन-प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

1– ईशावास्योपनिषद्– वह परमात्मा कंपन नहीं करता है। परन्तु मन से भी वेगवान् है। ये इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है। वह स्थिर है, परन्तु अन्य को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण जो वायु स्वयं हल्की है अपने से भारी बल को उठा लेती है।[1] कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि शुद्ध रुप से परमात्मा नहीं चलता अपितु शबल रुप में चलता है। इस प्रकार परमात्मा के दोनों रुप बन सकते हैं परन्तु यह आशय उपनिषद्कार का प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म उभयरुप मानना ठीक नहीं है। आगे कहा है कि जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी कि निन्दा स्तुति नहीं करता है। यहां पर इस वचन में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।[2] इस उक्त मन्त्र का अर्थ अद्वैतवादी यह करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो वह निन्दा स्तुति नहीं करता है।[3] इससे आगे ईशोपनिषद् में परमात्मा का निर्बीज समाधि द्वारा जब योगी साक्षात्कार करता हैं तो उस अवस्था में योगी समदर्शी हो जाता है,वह शोक और मोह से रहित हो जाता है। उसे अपने पराये का भेद नहीं रहता अपनी प्राणीमात्र में देखता है।[4] यहां यदि एकत्व का अर्थ ब्रह्म और जीव का अभेद होता तो मोह और शोक पद की आवश्यकता न होती अपितु यह कहा जाता है कि वह ब्रह्म हो जाता है। परन्तु जैसा कि योगदर्शन में व्याख्यान है कि योगी समाधि काल में ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है या अपने स्वरूप को देख लेता है, आत्मतत्व का बोध होता है। अवस्था कहकर भेद ही प्रतिपादन किया गया है।[5] जिस परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर योगी समदर्शी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है उस ईश्वर का स्वरूप क्या है? इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह ईश्वर सब स्थानों पर गया हुआ है। शरीर रहित, नस नाड़ियों रहित भावों से रहित है, सब प्रकार से पवित्र, पापरहित, क्रान्तदर्शी ज्ञानी, सब जगह व्याप्त , स्वयं सत्ता वाला है। वह जैसा चाहता है वैसा भली प्रकार सृष्टि के पदार्थो को रचता है अर्थात्

धारण करता है। वह निरन्तर व्यवधान रहित सभी कल्पों से चला आ रहा है। जैसी व्यवस्था चाहता है वैसा प्रबन्ध कर रहा है।[6] ईश्वर के इस स्वरूप को सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। कुछ आधुनिक प्रत्ययवादी विद्वान् अन्य अर्थ करते हैं। वे इस मंत्र में ब्रह्मवित्त परक अर्थ करते हैं, जो समीचीन नहीं है क्योंकि मंत्र के उत्तरार्द्ध में सृष्टि रचियता के रुप में ईश्वर को माना है। मुक्त आत्मा सृष्टि रचना कभी भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य तो केवल ईश्वर का ही है वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुये आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष सृष्टि रचना नहीं कर सकता है।[7] अतः उक्त मंत्र में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन है। इस मंत्र में ईश्वर के स्वरूप को विधेयात्मक और निषेधात्मक[8] हेतु से सिद्ध किया है। वह ईश्वर शुक्र, शुद्ध पर्य्यगात, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः इन विशेषणों से युक्त है, यह उसके विधेयात्मक गुण है। अकामं, अव्रणं, अस्थाविरं, अपापविद्धं, इन विशेषणों से उसका निषेधात्मक रूपेण व्याख्या की है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को अज्ञानोपहित चैतन्य माना है। परन्तु ईशोपनिषद् में जो ईश शब्द आया है वह ब्रह्म के अर्थ में ही आया है। किसी भी उपनिषद् में ईश्वर को मायोपहित चैतन्य नहीं माना है। ऐसी श्रुतियों का अर्थ आचार्य शंकर यह कह कर करते हैं ये श्रुतियां व्यवहार काल को बतलाती हैं परन्तु मूल उपनिषदों को यह मान्य नहीं है कि एक श्रुति व्यवहारकाल की दूसरी पामार्थिक काल की है।

2. **केनोपनिषद्**—इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन नाटकीय ढंग से किया है प्रारम्भ में ही प्रश्न किया है वह कौन सा देव है जो सब चक्षु, श्रोत्र और वाणी आदि इन्द्रियों को शरीर के साथ युक्त करता है। मन और प्राणों को भी कौन प्रेरणा देता है।[9]

इन सबका प्रेरणा देने वाला या शरीर के संयुक्त करने वाला वह देव परमेश्वर है। जिसको जानकर अमृत हो जाते हैं।[10] जो लोग ईश्वर को साकार मानते हैं, उनका खण्डन स्पष्ट रुप में किया गया है। उस देव परमेश्वरं को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। मन भी जानने में असमर्थ है अर्थात् उस का साक्षात्कार आत्मा ही कर सकता है। उस ब्रह्म की महिमा वर्णन करते हुए कहा है कि ये चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन तथा प्राण सभी उस की शक्ति का आश्रय लेते हैं। अर्थात् जिस देव की शक्ति से आंख देखती है वाणी बोलती है, मन मनन करता है। श्रोत्र सुनते हैं और प्राण गति करता है, उसी को ब्रह्म जानो, वही उपासनीय है। जिसकी साधारणतः उपासना की जाती है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।[11] जो

लोग यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया व अभी अल्प ही जानते हैं वह ब्रह्म शब्दों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।[12] इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन रूपक द्वारा किया है। ये अग्नि, जल, वायु आदि देव उस महादेव की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अग्नि में जलाने की वायु में उड़ाने की और जल में बहाने या गलाने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है, इस का अभिप्राय यह है कि जड़ वस्तुओं पर नियमन वही ईश्वर करता हैं। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभूति या आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करने का विषय है न कि केवल शब्द मात्र से जाना जा सकता है। उस को प्राप्त करने के लिये ध्यान योग द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त कर समाधियों का अनुष्ठान करना होगा।[13] इस उपनिषद् में भी ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रुप में ही अधिक हुई है।

3. **कठ**—इस उपनिषद् में ब्रह्म के मुख्य नाम **ओ३म्** का प्रतिपादन यह व्याख्यान कर के किया है कि जिस का सब वेद वर्णन करते हैं और जिस को प्राप्त करने के लिये तप और ब्रह्मचर्यादि का पालन किया जाता है वह **ओ३म्** पद से कहा गया है। इसी ओंकार का उल्लेख अन्य उपनिषदों तथा वेदादि में मुख्य रुप से किया जाता है। कहते हैं उसी का अवलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु अर्थात् सब से सूक्ष्म है। आकाश आदि विभु पदार्थों से भी महान् है अर्थात् उस से महान् कोई नहीं है। साधक अपनी हृदयरूपी गुहा में विराजमान उस परमात्मा की महिमा, उस की कृपा से निष्काम कर्मी और शोक रहित होकर उस का साक्षात्कार करता है।[14] कुछ विद्वान् धातु शब्द का अर्थ मन आदि इन्द्रियों से करते हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है क्योंकि वेद में भी धातु शब्द को धा धातु से तृच प्रत्यय करके धातु शब्द का निर्माण होना प्रतीत होता है।[15] यदि धा धातु से तुन् प्रत्यय से धातु शब्द का निर्माण किया जाय तो भी इस का अर्थ होगा पदार्थ मात्र जिस के आश्रित हो अर्थात् सब का धारण करने वाला उस का नाम धातु कथन किया है।[16] अतः परमात्मा का नाम धातु है। इन्द्रियों से धातु का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान् जो ईश्वर को साकार होना मानते हैं.वे महान् से महान् का अर्थ अवतार करते हैं,उन से कोई पूछे क्या अवतार सर्वव्यापक होता है या एकदेशी। इस का खण्डन अगले मन्त्र से हो जाता है। वह ब्रह्म अपनी सत्ता से सर्वत्र गतिमान है अतः वह एक स्थान पर ठहरा हुआ भी दूर देश में जा सकता है। और सर्वव्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्य वस्तुओं को सब ओर से घेरे हुये है। वह आनन्दस्वरूप होने से मद और इन्द्रिय जन्य हर्ष के न होने से अमद

कहलाता है।[17] ऐसा ही वर्णन ईशोपनिषद् में "तदेजति" कह कर किया है। परन्तु अद्वैतवादी इसे जीव का वर्णन मानते हैं परन्तु उन की यह भावना उपनिषद की भावना के विरूद्ध है, क्योंकि इस उपनिषद में तो अनेको ऐसे स्थल हैं जहाँ इस उपनिषद् में तो अनेकों ऐसे स्थल हैं जहां जीव ब्रह्म का भेद स्थापित किया है। उस ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह शरीधारियों में शरीर रहित है और अनित्य वस्तुओं में नित्य है तथा अवस्थित है। इस प्रकार का विभु व्यापक मानकर जो साधक उसकी सत्ता को स्वीकार करते है, वे शोक रहित हो जाते हैं।[18] यहाँ उपनिषद् ने औपाधिक ईश्वर का खण्डन अशरीर कहकर किया है। इससे आचार्य शंकर की इस मान्यता का खण्डन स्वतः हो जाता है कि वह चैतन्य मायोपहित होकर सौपाधिक हो जाता है। उसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि उस ब्रह्म की शक्ति से ही सूर्य उदय होता है, उसी की शक्ति से अस्त होता है, समस्त देव उसी में अर्पित है अर्थात् उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है।[19] आगे व्याख्या है कि जो ब्रह्म इस जन्म अर्थात् इस लोक में हमारे कर्मों का नियन्ता है वह परलोक में भी नियन्ता है, जो परलोक में है वही यहां पर भी है उस प्रभु में जो नानात्व देखते हैं वे मृत्यु के ग्रास बनते है।[20] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से दी गई है। जिस प्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरो में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थ में तदाकार रुप में अवस्थित है इसी प्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है वह उनके अन्दर ही नहीं अपितु बाहर भी विद्यमान है।[21] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। इसी के दृष्टान्त से उसकी व्यापकता सिद्ध करते हुए माना है कि जैसे एक ही वायु समस्त लोक लोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ तदाकार हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी सब भूतों का अन्तर्यामी होता हुआ उनके बाहर भी वर्तमान रहता है।[22]

अद्वैतवाद को मानने वाले केवल ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध हुआ मानते हैं परन्तु उनका खण्डन अगले मंत्र में ही उस ब्रह्म को निमित्त कारण मान कर दिया है। वह ऊर्ध्वमूल है अर्थात् कारणरूप में ऊपर है। उसका कार्यरूप में (जिसे शाखा रूप) जगत् नीचे है। यह अनित्य संसाररूप वृक्ष प्रवाह से अनादि है, ऐसा वृक्ष जिस ब्रह्म के आधार पर स्थित है वह ब्रह्म अत्यन्त ज्योति या पवित्र है, वही अमृत है, उसी में सभी देव अधिष्ठित हैं उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता है।[23] हे नचिकेता यह वहीं ब्रह्म है जिसके विषय में तूने पूछा है। परन्तु

यहां पर प्रत्ययवादियों का विचार है कि उर्ध्व मूल का अर्थ उपादान कारण है परन्तु यहां उनका यह विचार इसलिए उचित नहीं कि यदि वहां पर ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान सिद्ध करने का उद्देश्य होता तो अवाक् शाख न होकर अवाक् मूल पद ही होता क्योंकि उपादान करण तो उर्ध्वमूल माना है। निमित्त कारण होने से शाखा पद के स्थान पर मूल पद ही होना चाहिये परन्तु यहाँ शाखा रूप में कार्य जगत् का वर्णन किया है। इस मन्त्र में ब्रह्म को आधार आधेय भाव से निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही सब कुछ होने से वह आधार आधेय निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु यहां तो स्पष्ट रूप में उक्त निरूपण हुआ है। अश्वत्थ रूपी वृक्ष को कुछ आचार्य ब्रह्म रूप में मानते हैं परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं किया जा सकता हैं क्योंकि क्या ब्रह्म काल तक ही रहेगा।[24] इस के आधार पर शबलवादी जड़ पदार्थों की शबल रूप में उपासना करने का यत्न करते हैं। अर्थात् शाखा से मूल तक जाना परन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष के विपरीत है। प्रत्यक्ष में सभी मूल से शाखा की ओर जाते हैं। साकार पूजा का खण्डन पीछे भी कठ ने किया है। अर्थात् जड़ वस्तुएं अमृत कभी नहीं हो सकती हैं। वह ब्रह्म ही अमृत है दूसरा कोई नहीं हैं।

4. **प्रश्नोपनिषद्**—उस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप में किया है। ब्रह्म के विषय का विवेचन करते हुए ऋषि पिप्पलाद व्याख्यान करते हैं कि जैसे पक्षी अपने वासस्थान रूप में वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थात् उस परमात्मा से सूक्ष्म कोई भी नहीं है।[25] इतना ही नहीं अपितु आगे वर्णन किया है कि जो उस प्रसिद्ध ब्रह्म को अज्ञान से रहित, शरीर से रहित, रक्तादि व्रणों से रहित, प्रकाश स्वरूप, अविनाशी, परमात्मा भली प्रकार जानता है अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्म का ज्ञाता सब कुछ जान लेता है और तदरूप अर्थात् उसके गुणों को धारण करके महान् हो जाता है।[26] यहां अभिप्रायः यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। यह केनोपनिषद् में भी कहा है।[27] यहां पर अद्वैतवादी सर्वज्ञः का अर्थ करते हैं कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं फिर सर्वज्ञ का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है। यहां अभिप्राय यह है कि सर्व जानाति इति सर्वज्ञः अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है।[28] यहां परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप की निषेधात्मकरूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस उक्त उपनिषद् में ब्रह्म

की महिमा, सर्वव्यापकता और वह जड़ पदार्थों से भिन्न है, उसकी संक्षिप्त रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है।

5. **मुण्डकोपनिषद्**—वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य, मूर्त धर्मों से रहित सर्वत्र व्यापक, प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है। इसीलिए वह उत्पत्ति से रहित है, प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है। अव्याकृत प्रकृति से परम सूक्ष्म है।[29] समस्त संसार के पदार्थों में निरूक्तकार यास्क मुनि के अनुसार षड् भाव उपलब्ध है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं; बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं, वय को प्राप्त होते हैं और तदुपरान्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं।[30] परमात्मा इन षड् भावविकारों से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियां आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी से पृथ्वी आदि उत्पन्न होते है यहां निमितकारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।[31]

ब्रह्म का रुपक द्वारा वर्णन किया है। यदि हम उसे मूर्त रुप में रखना चाहें तो यह अग्नि उसका मुख है। चन्द्र और सूर्य उसकी आंखें है, वायु प्राण हैं,समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है। पृथिवी पादस्थानीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में सब ब्रह्म सबका अन्तरात्मा हैं।[32] यह अलंकार रूप में उस विराट् ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया हैं। ये अग्नि आदि अवयव उसमें आरोपित हैं वस्तुतः नहीं, क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।[33]

वह ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्ववित है, उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित हैं, वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप आकाश में वर्तमान है, ज्ञान रूप है, प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रह कर आनन्द की वृष्टि कर रहा है।[34] इस वर्णन को अद्वैतवादी जीव परक मानते हैं। परन्तु यहां तो उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है; वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मविद् विद्वान् जानते है। यहां रुपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रुप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा नक्षत्र, विद्युत और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है।[35] इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद् रुप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यह अमृत रुप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में भी रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है यहां पर ब्रह्म को सजातीय,

विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[36] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म है। वही सब शक्तियों की शक्ति है। हे सोम्य वही जानने योग्य है।[37] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है।[38] अतः ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता है।

6. **माण्डूक्य**–माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है। अक्षर का अभिप्रायः यह है कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि जो यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाले का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला वह नहीं, और अग्नि शब्द स्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात् अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूत कालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त तीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।[39] यहां पर यह द्रष्टव्य है कि इस जगत् को उसका उपाख्यान कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड उस परमात्मा की सत्ता का एक सूचक होने से उसका उपाख्यान है। जैसे मूलमन्त्र या मूलसूत्रों पर के गूढ़ अर्थों को उनकी टीका प्रस्फुटित कर देती है। इसी प्रकार यह चराचरात्मक जगत् ईश्वर के महत्व का बोधक होने से उसका व्याख्यान रूप है। इन तीनों कालों के अन्तर्गत जो कार्य रूप जगत् वह ओंकार का रचा हुआ होने से ओंकार की महिमा का वर्णन है।[40] आचार्य शंकर माण्डूक्य उपनिषद् पर भाष्य करते हुए हैं कि ओ३म् अक्षर ही सब कुछ है यह अभिधेय

(प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है, वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान की ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है पर ब्रह्म भी अभिधान अमिधेय (वाच्य वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्म रूप अक्षर ओ३म् उसका उपाख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपाख्यान है।

आचार्य शंकर एक प्रकार से अभिधान अभिधेय सम्बन्ध मान रहे हैं परन्तु यथार्थवादी व्याख्याकारों का कथन है कि बोध्य–बोध सम्बन्ध से ब्रह्म का वर्णन हुआ है। ओंकार का विवेचन करते हुए कहा है कि उक्त लक्षणों वाला यह सर्वत्र गमन करने वाला आत्म ब्रह्म समस्त पदार्थों से महान् है, यह आत्मा चार प्रकार के विभूति रूप पादों वाला है।[41] सभी कालों में जितना वस्तु जगत् है यह सब उस पुरुष की महिमा है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके एक पाद स्थानीय है और उसके तीन पाद अमृत रुप हैं। जिस प्रकार यजुर्वेद में चार पादों का कथन है। इसी प्रकार यहां इस उपनिषद् में भी चार पादों का विन्यास है। जिस आत्मतत्व के उक्त चार पाद वर्णन किये गये हैं वह निश्चित रूप से जीवात्मा नहीं है किन्तु ब्रह्म रूप आत्म तत्व है। इसी भाव से अयं आत्मा कहा गया है। परन्तु अयं आत्मा से अद्वैतवादी विद्वान् जीवात्मा ग्रहण करते हैं। जो उक्त हेतु से उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म के अर्थ में आत्मा शब्द अनेकों स्थलों पर आया है। परन्तु जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। यदि यहां अयं आत्मा ब्रह्म का अर्थ यह होता है कि जीव रूप आत्मा ब्रह्म है तो "अयमात्माचतुष्पात्" यह पद कभी नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के भेदों या पादों का वर्णन कहीं भी नहीं हुआ है अपितु ब्रह्म के चतुष्पाद का वर्णन वेदों में आया है। जैसा कि हम अभी देख आये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहां पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा का प्रथम पाद के रूप में व्याख्यान इस प्रकार है– जीव जाग्रत अवस्था में बाहर के पदार्थों का प्रकाशक है इस लिये उसे बहिप्रज्ञः कहा है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख में उसके सप्तांग कहलाते हैं। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये 19 तत्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में हैं। यह जगत् स्थान रूप में तैजस रहा है क्योंकि स्वप्नावस्था में तैजसी निद्रा प्रधान होने से तैजस है। अन्तः प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरुष न

किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है वह सुषुप्ति रुप तृतीय पाद है। यह तीनों पादों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्दमय अवस्था का वर्णन है यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता तो चतुष्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता,[42] वास्तव में यह प्राज्ञः नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों एक ही जीव की अवस्था भेद से संज्ञा विशेष हैं। परन्तु अद्वैतवादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीवन को तीन संज्ञा मानते हैं।[43] इसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीनों संज्ञा मानते है। ये तीनों मायोपहित चैतन्य हैं। परन्तु यर्थाथवादी दृष्टिकोण के अनुसार विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता है। कि ब्रह्म से विवर्त होकर ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है। ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्त्रो शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसंगानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिये हुआ है। ईश्वरवाची नाम में इसका अर्थ है कि समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक।[44] परन्तु वैश्वानर आदित्य अर्थ में भी आता है।[45] आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते है।[46]

अतः उक्त तीनों पादों में जीव का ही वर्णन है, परमात्मा का नहीं। वह परमात्मा जिसका चतुर्थ पाद में वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी वह सब का कारण है। क्योंकि उससे समस्त भूतादि की उत्पत्ति होती है। उक्त तीनों पादों में जिस जीव का वर्णन किया था उससे विलक्षण ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि वह ब्रह्म जाग्रत, स्वप्न में जीव जो बहिप्रज्ञ और अन्तः प्रज्ञ वह इससे भिन्न है अर्थात् वह तो सर्वज्ञ है। न ही अप्रज्ञ अर्थात् जड़ प्रकृति भी नहीं है। अदृश्य, सूक्ष्म होने के कारण अव्यवहार्य है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। सब चिन्हों से वर्जित है। आनन्दस्वरूप और सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य, ऐसे ब्रह्म को जो मानते हैं वह परमात्मा हैं और वही जानने योग्य हैं।[47]

इस चतुर्थ पाद में ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट रूप में जीव से भिन्न किया है। यदि ऐसा अभिप्रेत न होता तो यहां स्पष्ट कहा होता कि वह जीवात्मा अज्ञान से दूर होकर चतुर्थ के रूप में ब्रह्म हो जाता अथवा वही ब्रह्म है।

— क्रमशः

सन्दर्भ संकेत

1— ईशोपनिषद् — 5 ।।

2— यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुमुप्सते । ।ई0उ0 6 ।।

3— यहां प्रकरण में आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है जबकि अद्वैतवादी यहाँ अपने अर्थ में ग्रहण करते हैं । जब पहले से परमात्मतत्व का वर्णन हैं तो आत्मा का अर्थ परमात्मा लेना उचित नही । आर्यमुनि ।।

4— ईशो07—"तत्रकोमोह कः शोक एकतत्वमनुपश्यतः" यहाँ एकत्वम् का अर्थ है—एकता—ममता—एक दृष्टि उस अवस्था में योगी जाति, सम्प्रदायों से ऊपर उठकर निष्पक्ष हो जाता है ।

5— तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थनम्—यो0 1/3 ।।

6— सपर्या...............ईशो0 8 ।।

7— जगद व्यापार वर्ज प्रकरणादंसनिहितत्वाच्च—वेदान्त0 4/4/17

8— पांजिटिव—नेगेटिव ।।

9— केन—प्रथमं — केनेषिताँ पतति........... ।।

10— क्षोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो............. । केन प्रथम खंड 1—2 ।।

11— केन—यत् श्रोत्रेण...........तदेव ब्रह्मम्—केन—प्रथमखण्ड—4/5/6/7/8 ।।

12— यदि मन्यसे सुवेदइति..........वही—9 ।।

13— केन द्वितीय खण्ड—तथा तृतीय खण्ड ।।

14— अणोरणीयान्महतो महींपान्............ऋग0 2/20 ।।

15— सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्—ऋग0 8/48/2 ।।

16— धीयते सर्वमस्मिन् दधाति सर्ववेति धातु ।

17— आसीनो दूरं व्रजति—कठ0 241 ।।

18— अशरीरं शरीरेषु................ ।।

19— कठ0 — 24/9 ।।

20— कठ0 — 4/10 ।।

21— कठ0 — 2/22 ।।

22— कठ0 — 5/9—10 ।।

23— कठ0 — 7—1 ।।

24— शबल ब्रह्मवादी मानते है कि ब्रह्मरुपी वृक्ष शाखा रुप में शबल और मूल रुप से शुद्ध है । परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होती है क्योंकि जड़ पदार्थों की पूजा का खण्डन उपनिषदों में सर्वत्र व्याप्त है ।

25– प्रश्नोपनिषद् – चतुर्थ–प्रश्न–7 ।।

26– वही–चतुर्थ–प्रश्न–10 ।।

27– तस्मिन्नेवविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं, विज्ञातं भवति ।।

28– पं0 सत्यकाम विद्यालंकार का भाष्य द्रष्टव्य । आर्यमुनि, ब्रह्ममुनि, भाष्य द्रष्टव्य ।।

29– दिव्योह्यमूर्त मुण्डक0 2–खण्ड 1–2

30– अस्तिजायतेवर्धतेविपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इति षड् भावविकाराः । निरू0 1–2

31– मुण्डको0 2–3 ।।

32– अग्निमूर्धा–मु0 2/1/4 ।।

33– 2/1/5, 6,7,8 ।।

34– यः सर्वज्ञः मुण्ड0 2/2/7 ।।

35– मुण्डक0 2/2/10 ।।

36– आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य ।

37– मुण्डक–2/2/1 ।।

38– उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन युक्ति (हेतु) प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान है । स्वामी ब्रह्ममुनि ।।

39– ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति । यदिदमर्थजातभिधेय भूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात अभिधानस्य चौंकाराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम् । तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम। माण्डूक्य–शंकरभाष्य–पृष्ट 25 ।।

माण्डूक्य–1 ।। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व तस्योपख्याख्यानं मतं। भवदभष्यदितिसर्वमोकांर एवं पचन्यतिकालातीत तदप्योंकार एव अग्निरिति प्रज्वलित पदार्थ ।।

40– इदं सर्वतस्योपाख्यानम् इन्द्रियगोचर सर्वक्रियात्मक और ज्ञानात्मक जगत् क्रियात्मक । उस ओ३म् रुप आत्मा का बोध कराने वाला व्याख्यान है । स्वामी ब्रह्ममुनि–माण्डूक्य ।।

41– एतावानस्य महिमातोज्यांयांश्च.........यंलु0 21/30 ।।

42– आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीन पादों को अभेदरुप, विश्वानर, हिरण्य ईश्वर रुप कहते हैं ।

43– वैश्वानरः प्रविश अतिथि ब्राह्मणोगृहान्–कठ0 1–7 ।।

44– वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्–ब्र0सू0 1/2/24 ।।

45– स एषः वैश्वानरो विश्वरूपः–प्रश्न01/7 ।।

46– वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः । ब्र0 सू0 2/24 शंकर भाष्य ।।

47– अपात्रश्चतुर्थोअव्यवहार्य–माण्डू0–12 ।।

● ● ●

तत्त्वमीमांसा के वैदिक आधार

डॉ0 शशिप्रभा कुमार
रीडर, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय चिन्तन परम्परा में मूल तत्त्व की मीमांसा को ही दर्शनशास्त्र का चरम लक्ष्य माना गया है, अतः व्यापक दृष्टि से 'तत्त्वमीमांसा' को दर्शन का पर्याय कहा जा सकता है। यद्यपि व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना या साक्षात्कार होता है, तथापि सभी प्रकार के स्थूल दर्शन को 'दर्शनशास्त्र' नहीं कहा जा सकता। इसमें तो जगत् के सूक्ष्मतम, सर्वव्यापक तत्त्व का साक्षात्कार ही अभिप्रेत है। अतः यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है की जहाँ पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा में 'तत्त्वमीमांसा' दर्शनशास्त्र की एक शाखा मात्र है, वहाँ भारतीय विचारधारा के अनुसार मूल तत्त्व की मीमांसा ही दर्शन है।[1] वैदिक काल से लेकर अद्यावधि असंख्य विचारक और दार्शनिक उसी मूल तत्त्व की मीमांसा में संलग्न रहे– यह अलग बात है कि आज भी उस तत्त्व को इदमित्थंतया व्याख्यातित नहीं किया जा सका। संभवतः यही कारण है कि मानव–मनीषा सदा उस अव्याख्येय, दुर्बोध एवं गूढ़ तत्त्व के विश्लेषण में व्यग्र रहती है और इसीलिए भारतीय दर्शन की सभी शाखायें तत्त्वज्ञान को ही अपना परम प्रतिपाद्य मानकर प्रवृत्त होती हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में तत्त्वमीमांसा के भारतीय परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखकर उसके मूल उत्स वैदिक दर्शन[2] के आधार पर प्रकाश डालना अभीष्ट है। 'तत्त्वमीमांसा' पद तत्त्व और मीमांसा– इन दो शब्दों के मेल से बना है, तदनुसार इस निबन्ध को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में मूल 'तत्त्व' के स्वरूप पर विचार किया जायेगा एवं द्वितीय भाग में उसकी 'मीमांसा' यानि ज्ञेयता निरूपित की जायेगी।

(1)

'तत्त्वमीमांसा' की दृष्टि से सर्वाधिक मौलिक प्रश्न यह है कि वह 'तत्त्व' क्या है जिसकी मीमांसा दर्शनशास्त्र का परम प्रयोजन कहा गया है। क्रान्तद्रष्टा वैदिक ऋषियों ने भी उसी अनन्त, अज्ञेय तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहा, किन्तु उसकी अनिर्वचनीयता एवं रहस्यात्मकता से मुग्ध होकर वे कह उठे– किसने उसे जाना और किसने कहा ?

वस्तुतः वह मूल तत्त्व अच्युत संप्रश्न के रूप में सनातन काल से अज्ञेय रहा है तथा

युग–युगान्तर में दार्शनिक उसी संप्रश्न के समाधान हेतु प्रयासरत रहे हैं। वैदिक तत्त्ववेत्ता उस मूल तत्त्व का 'क' के रूप में दर्शन करते हैं –

कस्मै देवाय हविषा विधेम?[3]

–और उसे सभी लोकों का आधारभूत 'संप्रश्न' कहते हैं–

तं संप्रश्नं भुवनां यन्ति सर्वा।[4]

परम तत्त्व की इस प्रश्नरूपता एवं अनिर्वचनीयता को ही छान्दोग्य उपनिषद् में 'कं ब्रहम' और 'खं ब्रहम' कहा गया है– तत्त्वतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं; जो 'क' है, वही 'ख' है किन्तु आपाततः कहा जा सकता है कि 'क' उस अक्षर ब्रह्म का स्वरूप है तो 'ख' उसकी व्याख्या का प्रकार; 'क' तत्त्व है तो 'ख' उसकी मीमांसा, एक संप्रश्न है तो दूसरा समाधान। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर स्वयं प्रश्न की कुक्षि में से जन्म लेता है और उसी में विलीन हो जाता है, अतः 'क' ही मूल तत्त्व है, 'क' को जाने बिना 'ख' को नहीं समझा जा सकता।[5] इस दृष्टि से मूल तत्त्व की यह प्रश्नरूपता अद्वितीय है।

उल्लेखनीय है कि परम तत्त्व प्रश्नरूप होने से अज्ञेय एवं अनिर्वचनीय अवश्य है किन्तु फिर भी स्वभाव से जिज्ञासु और मननशील मनुष्य ने, उसकी शरण नहीं छोड़ी, प्रत्येक काल में भिन्न–भिन्न दृष्टियों से उसकी नित नूतन व्याख्यायें प्रस्तुत की जाती रही हैं और की जाती रहेंगी। इसमें निराशा और विषाद के लिए कोई स्थान नहीं है, केवल उस अनादि जिज्ञासा एवं अनन्त रहस्यात्मकता की प्रतिध्वनि है जो सतत प्रयास की प्रेरणा को ही मुखरित करनी प्रतीत होती है–

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।[6]

वैदिक वाङ्मय का पर्यालोचन करने पर स्पष्ट होता है कि उस 'क' रूप परम तत्त्व का निरूपण अनेक स्थलों पर 'यत्' के द्वारा भी किया गया है– यह भी इसी तथ्य को रेखांकित करता प्रतीत होता है कि मूल तत्त्व अनिर्देश्य है, उसे निश्चित रूप से जानना और वर्णित करना असम्भव है,

वि इदं ज्योतिः हृदये अहितं यत्। ऋ. 6/9/6
योऽसावादित्ये पुरुषः ....। यजुः
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। कठोप.

उसकी विविध छवियों की ओर इंगित करता हुआ यह 'यत्' विशेषण मूलतः परम तत्त्व की अज्ञेयता को ही व्यक्त करता है–

यः प्राणतो निमिषतो................।
यः आत्मदा बलदा...................।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । ऋ. 10/121/3–5

ध्यातव्य है कि **'यत्'** के साथ **'तत्'** का सम्बन्ध सनातन है। अतः जिस शाश्वत जिज्ञासा का आविर्भाव 'क' से हुआ था, और विकास 'यत्' में हुआ, उसकी परिणति **'तत्'** में होनी स्वाभाविक थी। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में अनेकशः उस परम तत्त्व का उल्लेख 'तत्' से भी किया गया है–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो.... । ऋ. 3/62/10, साम. 1462, यजु. 3/35, 22/9, 30/10

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । ऋ. 6/47/18

तमित् पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति... ।ऋ. 1/145/2

वस्तुतः 'तत्' रूप से जिसका निर्देश किया गया है, वही **'तत्त्व'** पद का मूल आधार है–

तद्+त्व=तत्त्व

अतः यह कहा जा सकता है कि जिज्ञासा की इस अनन्त यात्रा में 'किम्' से 'तद्' तक पहुँचना मानव–मनीषा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है। अतः 'वह है' इतना जानना और कहना ही पर्याप्त नहीं रहा अपितु 'वह ही है', 'वही वह है'–ऐसा निश्चित उद्घोष भी वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध होता है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। यजु. 32/1

उल्लेख्य है कि यजुर्वेद का उक्त प्रकरण 'तदेव उपनिषद्'[7] भी कहा जाता है। वास्तव में यही वह सनातन वैदिक दर्शन है जिसकी विवृति समस्त भारतीय साहित्य में हुई है। तदनुसार इस विनाशशील संसार में अविनाशी तत्त्व वही है, विभक्त सी प्रतीत होने वाली विविध वस्तुओं में वही अविभक्त 'तद' अनुस्यूत है– यही विविधता में एकता का दर्शन है, भीतर–बाहर जो कुछ भी है, वही वह है–

ईशावास्यमिदं सर्वम् । यजु. 40/1

व्याकरणिक दृष्टि से 'तद्' एक सर्वनाम है– इसका आशय यही है कि यह किसी वस्तुविशेष का नाम नहीं, अपितु वस्तुमात्र में अनुस्यूत भाव या सत्ता का सूचक है, वह नाम, जाति, लिङ्ग आदि सभी विशेषणों से परे हैं वस्तुतः उस अनन्त, असीम और अरूप की अपूर्वता अभिव्यक्त करने के लिए ही 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है और उस मूल वस्तुभूत 'तत्' का सार ही 'तत्त्व' है[8]। इस 'तत्त्व' की मीमांसा भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं का चरम लक्ष्य रहा है, वस्तुसत् या परम तत्त्व का निर्दोष निःसन्दिग्धं विचार ही दर्शन है–

दृश्यते वस्तुयाक्षात्म्यमनेनेति दर्शनम् ।

उक्त रीति से जिस परम तत्त्व को 'किम्' 'यत्' और 'तत्' कहा गया है, वही वस्तुतः

एक मात्र सत् है जैसा कि निम्न वैदिक वचन से सुव्यक्त है–

वेनस्**तत्**, पश्यान्निहितं गुहा **सत्**... यजु. 32/8

द्रष्टव्य है कि यहाँ 'तत्' और 'सत्' का एक पक्ष निर्देश हुआ है, साथ ही निरूक्त के परिशिष्ट में महान् आत्मा के जिन अनेक नामों की गणना हुई है, उनमें भी 'यत्' **'तत्' 'सत्'** और **'किम्'**– इन सबका समावेश है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये सब उसी मूल तत्त्व के वाचक हैं। इस कथन की पुष्टि में **'ॐ तत् सत्'** यह महावाक्य भी प्रमाण है जो भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में आमूल विश्वास का भाजन है।

यहाँ यह उल्लेख करना भी अनिवार्य है कि यद्यपि असत् भी सत् का ही एक रूप है, सत् और असत् दोनों मिलकर ही तत्त्व कहे जाते हैं[9] तथापि सत् और असत् का मर्म केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाते हैं; वे ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि असत् का कभी भाव और सत् का कभी अभाव नहीं होता।[10] इस दृष्टि से सत् और असत् दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं, असत् के गर्भ में से ही सत् की उद्भूति होती है –

देवानां पूर्व्यें युगेऽसतः सदजायत। ऋ. 10/72/2

किन्तु स्वभावतः विवेकशील मानव के लिए यही उत्कृष्ट अभिलाषा हो सकती है कि 'हम असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर हो।' इस भाँति असत् और सत् की तात्त्विक एकता ही वैदिक दर्शन का संकेत–सूत्र है। न केवल असत् और सत् की, अपितु सर्वत्र परिदृश्यमान विविधता में अन्तर्निहित एकता की अभिव्यञ्जना ही 'तत्त्व' का मौलिक स्वरूप हैं। नामभद और दृष्टिभेद होने पर भी वह मूल तत्त्व एक ही हैं– उसी एक की विविध रूपों में कल्पना की जाती है–

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋ. 10/114/5

वह एक ही 'सत्' है जिसकी विवेचना विद्वान् जन भिन्न–भिन्न नामों से किया करते हैं :–

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. 1/164/64

इन्द्र, प्रजापति, पुरुष अदिति, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ और उच्छिष्ट ये सब उसी परम तत्त्व के भिन्न–भिन्न नाम हैं, जो जगत् का मूल आधार है और सर्वत्र ओतप्रोत है–

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। यजु. 32/8

ऋग्वैदिक नासदीय सूक्त के अनुसार जब न तो असत् था, न सत्; न अन्तरिक्ष था, न व्योम–तब भी केवल वही 'एक' था और अपनी ही सामर्थ्य से विराजमान था–

आनीदवातं स्वधया तदेकम्। ऋ. 10/129

वह एक है, अद्वितीय है–

एकमेवाद्वितीयम् ।

यही वह सर्वव्यापक तत्त्व है जिसे जानकर मृत्यु के महाभय से मुक्त हुआ जा सकता है–

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः ... । अथर्व. 10/8/4

अतः वही सर्वोपरि ज्ञातव्य है, उस एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है और उसे जाने बिना सारा ज्ञान अधूरा एवं एकांगी है–

एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक ऋषि स्पष्ट शब्दों में उस परम तत्त्व को एकमात्र सत् एवं सर्वमय घोषित करते हैं तथा उसे ही ब्रह्म या आत्मा कहते हैं–

स एवायमात्मा ब्रह्म... सर्वमयः । बृ. 2/5/19
तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ।छान्दो. 8/14/1
स ब्रह्म तदित्याचक्षते । बृ. 3/9/9

उसी 'एक' आत्मतत्त्व को जानने का श्रुति में निश्चित निर्देश है–

तमेवैकमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुञ्चत अमृतस्यैष सेतुः । मुण्डक 2/2/5

–क्योंकि वही मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने वाला सेतु है । इस भाँति सर्वव्यापक वह सत् तत्त्व एक है ।

वैदिक दर्शन के अनुसार वह तत्त्व जो 'एकं सत् है, चित् और आनन्द भी है । यद्यपि वह शुद्ध, अचिन्त्य, शाश्वत तत्त्व अनिर्वचनीय है, तथापि ज्ञानी जन उसका अपने अन्दर ही दर्शन करते हैं[11] क्योंकि चिद्रूप वह तत्त्व ज्योतिस्वरूप में उनके अन्दर व्याप्त है–

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यजु. 34/3

स्वयंप्रकाशस्वरूप वह ज्योति एक होने पर भी सब ज्योतियों की प्रकाशक है–

उसी की क्रान्ति से सूर्य, चन्द्र, तारे और अग्नि– सब भासमान हैं– तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कठ. 2/2/5

वस्तुतः यही वह 'अभय ज्योति' है जिसका वरदान जिज्ञासु अपने आराध्य 'आदित्य' से एवं मित्र, वरूण तथा इन्द्र से माँगता है ।[12] यही ''अभय ज्योति'' हमारे भीतर–बाहर सब ओर व्याप्त है, इसी को अन्यत्र 'उरू ज्योति' कहा गया है ।[13]

उक्त रूप से वर्णित तत्, सत् एवं चिद्रूप वह एक तत्त्व ज्योतिस्वरूप होने के साथ–साथ आनन्दस्वरूप भी है– सच्चिदानन्दघनं ज्योतिः । (नृसिंहोपनिषद)

उसकी आनन्दरूपता का सहज साक्षात्कार तत्त्वदर्शी महर्षियों ने अपनी अन्तःप्रज्ञा की प्रखर प्रभा में ही किया था, तभी वे कह उठे–

आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं

प्रयन्त्यभिसंविशन्तिः। (तैत्ति० उप० आनन्दवल्ली)

इसी आनन्दस्वरूप तत्त्व की एक संज्ञा 'भूमा' है– भूमा ही अमृत है, नित्य है, सुख है–

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दो 8/22)

वह भूमारूप सच्चिदानन्द ही परमार्थतत्व है और उसका दर्शन ही परमार्थ–दर्शन–

स एष सच्चिदानन्दात्मकोऽद्वयः सर्वात्मा पारमार्थिकः[14]।

उससे पूर्व कुछ नहीं था, उससे बढ़कर भी कुछ नहीं है– तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरवत्। शतपथ, 10/3/5/11

जैसा कि पूर्वोक्त है, इसी परमतत्त्व को आचार्यों ने 'ब्रह्म' की संज्ञा दी है, किन्तु वस्तुतः वह अनाम है– सत्, चित् और आनन्द उसका स्वरूप है। इनमें से 'सत्' उसका भौम, पार्थिव आधार है तो 'चित', दिव्य, ज्योतिस्वरूप है– ये दोनों अक्षय आनन्द तक ले जाने वाले हैं। वैदिक वाङ्मय में चतुष्पाद पुरुष का जो उल्लेख है–

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

'उसके एक पाद में यह समस्त विश्व है तो तीन पाद अमृतस्वरूप, ज्योतिर्मय लोक में है क्योंकि अमृतत्व का प्रारम्भ ज्योति से होता है। इस ज्योति का प्रथम चरण अग्नि है, दूसरा विद्युत् तो तीसरा सूर्य, दिव्यता का उद्‌भव अग्नि से होता है; यही अग्नि विद्युत् में और विद्युत् सूर्य में परिणत होकर मूल ज्योति ब्रह्म तक पहुँचता है जो स्वयं ज्योतिस्वरूप है–

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः। शुक्ल यजु. 23/48

इसीलिए वैदिक ऋषियों ने जब बाह्य जगत् के सभी तत्त्वों के परम तत्त्व होने का 'नेति नेति' कहकर निषेध कर दिया। तब अपने भीतर प्रकाशमान उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के ही तत्त्व होने का उद्‌घोष किया–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
'तत्त्वं' पूषन्नपावृणु।। (यजु. 40/2)

इस भाँति बाह्य विश्व और ब्रह्म तथा ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वीकार करते हुए ही उद्दालक आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आठ बार 'तत्त्वमसि' का उच्चारण करने का आदेश दिया था–

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। छान्दो 6/8/7

यह 'तत्त्व' **तद+त्व** ही नहीं, इस दृष्टि से **'तत्+त्वम्'** भी जाना जाता है, इसीलिए तत्त्वदर्शी जन उसका दर्शन अपनी आत्मा के भीतर ही करते हैं–

तत्त्वं तत् 'तत् त्वम्' इत्येवं श्रुत्या नैकत्र गीयते।
अत एवात्मतत्त्वज्ञैरात्मन्येवानुभूयते।। (जीवन ज्योति, पृ. 224)

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के मूल स्रोत वेद एवं उपनिषद् के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य इसी आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति है। तदनुसार जब तक अपने आपे को, इस 'स्व' के तत्त्व को साक्षात् अनुभव न किया जाये, तब तक 'दर्शन' अधूरा है–

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति। अमन. 2/18

इसलिए उस तत्त्व के 'दर्शन' का ही प्रयास करना चाहिए–

अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः। वि.चूड़ा. 60

उल्लेखनीय है कि आधुनिक विचारकों के अनुसार भी दर्शन का आरम्भ बिन्दु इसी 'प्रत्यङ्मुख चैतन्य'[15] तत्त्व को माना जाता है। अतः यही तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

(2)

'मीमांसा' का अभिप्राय है– विचारपूर्वक तत्त्व का निर्णय

लाघवज्ञानात्मकस्तर्कः। विचारपूर्वक तत्वनिर्णयः। न्या. को., पृ. 654

स्वयं श्रुति भी उक्त रीति से जाने गये 'तत्त्व' की मीमांसा का आदेश देती है–

मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्। केनोप. 2/1

अतः तत्त्व की मीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वही दर्शन का बीज है। यद्यपि यह भी सत्य है कि मूलतत्त्व के रूप में ब्रह्म वस्तुतः व्याख्या या मीमांसा से परे है, वह तो अनुभव का विषय है, तथापि मानव उस अव्याख्येय, अचिन्त्य, दुर्दर्श एवं निगूढ़ तत्त्व को सहसा नहीं अधिगत कर सकता। इसीलिए साधना के आरम्भिक स्तरों पर विचार या मीमांसा का ही आश्रय लेना पड़ता है–

विचाराज्जायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि। योगवशिष्ठ 2/14/53

इस दृष्टि से तत्त्व की केवल श्रुति या मात्र स्वीकृति पर्याप्त नहीं, मनन या मीमांसा भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। कारण कि वह परमतत्त्व अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यवदेश्य है– वह छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है।[16] अन्य शब्दों में वह अतिव्यापक होने पर भी अतीव सूक्ष्म तत्त्व है, अतः सुविज्ञेय नहीं है। प्राचीन काल से विद्वान् जन इस विषय में जिज्ञासा करते रहे हैं,[17] किन्तु कठिनाई यही है कि न तो यह तत्त्व प्रवचन के द्वारा लभ्य है, न मेधा के द्वारा और न ही बहुत कुछ सुनते रहने से।[18] संसार में असंख्य जनों को तो उसके श्रवण का भी सौभाग्य नहीं मिलता और अधिसंख्य जन सुनते रहने पर भी कुछ समझ नहीं पाते क्योंकि वे इस विषय में सहज, अपरोक्ष, अनुभूति से शून्य होते हैं। यह

अपरोक्ष अनुभूति भी केवल तर्क के द्वारा प्राप्य नहीं,[19] अपितु मनन एवं श्रवण के मेल द्वारा अथवा 'अध्यात्मयोग' के द्वारा ही प्राप्तव्य है।[20]

इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के अनुभव असन्दिग्ध रूप से प्रमाण हैं, तथापि तत्त्व का मनन और मीमांसा भी अनिवार्य है। इसीलिए दर्शनशास्त्र के हेतुओं का परिगणन करते समय उस परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए सोपपत्तिक मनन का भी महत्त्व बताया गया है–

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।

यही तथ्य उपनिषद् के उस प्रसिद्ध उद्घोष में भी मुखरित हुआ है जहाँ आत्मतत्त्व के 'दर्शन' हेतु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश दिया गया है–

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ. उप. 2/4/5

अन्य शब्दों में, आत्मतत्त्व का दर्शन या साक्षात् अनुभव ही चरम लक्ष्य है किन्तु उसमें श्रवण, मनन या निदिध्यासन ये तीनों साधन हैं। अतः यद्यपि शास्त्रों में तो सिद्धान्तरूप से स्वीकृत तत्त्वों का प्रतिपादन है ही, तथापि प्रत्येक जिज्ञासु को विहित साधनों के द्वारा उन तत्त्वों का स्वयं अपरोक्ष अनुभव करने का स्वयंमेव प्रयास अवश्य करना चाहिए क्योंकि उस शान्त, चिद्रूप तत्त्व के ज्ञान में स्वानुभूति ही परम प्रमाण है।[21]

इस दृष्टि से यद्यपि तत्त्व–साक्षात्कार के लिए आभ्यन्तर प्रत्यक्ष ही सर्वोच्च प्रमाण प्रतीत होता है किन्तु ऐसा नहीं कि उसमें 'तर्क' या विचार का कोई स्थान नहीं। 'तर्काप्रतिष्ठानात्'[22] का आशय यही है कि केवल तर्क हमें परमतत्त्व तक नहीं पहुँचा सकता, किन्तु श्रुति के मर्म को विशदतया प्रतिष्ठापित करने में 'मनन' की अनिवार्य मध्यस्थता तर्क और मीमांसा के महत्त्व को ही पुष्ट करती है। श्रवण और मनन के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त का निदिध्यासन अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा परीक्षा या साक्षात्कार करना अनिवार्य है, तभी तत्त्व की उपलब्धि निर्णयात्मक हो सकती है और तत्त्व के विचारपूर्वक निर्णय को ही 'मीमांसा' कहा गया है। संभवतः तत्त्वमीमांसा को 'दर्शन' कहे जाने का आधार भी यही है। यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग भी एक विशेष प्रयोजन को प्रकट करता है– परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु 'मीमांसा' साधन अवश्य है, किन्तु साध्य नहीं– न ही निरी मीमांसा उस साध्य तक पहुँचा सकती है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि वह परमतत्त्व वाणी, मन एवं इन्द्रियों की पहुँच से परे है–

वाणी का सर्वप्रथम अवलम्बन है और वाणी का आद्य स्वरूप 'अक्षर' ब्रह्म का ही स्वरूप है, अतः यह कहा जाना सार्थक एवं सत्य है कि–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। (गीता, 8/13)

किन्तु वाणी की यह बाह्यमुखी अभिव्यक्ति उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की केवल झाँकी ही दिखा सकती है, उसका 'इदमित्थंतया' वर्णन नहीं कर सकती। इसीलिए कहा गया है कि वाणी और मन की उस तत्त्व तक पहुँच नहीं है–

यतो वाचे निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैति. 2/4/1)

वस्तुतः वाणी की वाक्शक्ति और मन की मननशक्ति वही ब्रह्म है, अतः वाणी और मन उसका वर्णन और निरूपण नहीं कर सकते क्योंकि उनकी सामर्थ्य एवं शक्ति तो वही तत्त्व स्वयं है। अन्य शब्दों में,जब मनन का लक्ष्य वही तत्त्व स्वयं हो, तब उसमें पहले श्रवण किये गये उक्त सत्य का भी समावेश होना चाहिए अन्यथा कोरा मनन खोखला है। जिनकी वाणी एवं मन द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान में उस परम तत्त्व का भान नहीं, वे तो सब कुछ जानकर भी अज्ञानीं हैं, यही निम्न श्रुतिवचनों का वास्तविक तात्पर्य है–

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (केन. 2/3)

यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः। केन. 2/3

इसे इस भाँति भी कहा जा सकता है कि ऐन्द्रिक ज्ञान, जिसे हम साधारणतः प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखते हैं और सर्वोच्च प्रमाण समझते हैं, वह उस मूलतत्त्व के साक्षात्कार में असमर्थ है क्योंकि आँखें उस तत्त्व को देख नहीं सकतीं और कान उसे सुन नहीं सकते; वस्तुतः वह तो चक्षु का भी चक्षु और श्रोत्र का भी श्रोत्र है– आँखें उसी की शक्ति से देखती हैं और कान उसी की प्रेरणा से सुनते हैं। अतः उसी परम तत्त्व को जानना– पहचानना वैदिक दर्शन के अनुसार जीवन का परम ध्येय है। जिसने उसे नहीं जाना, वह ऋचायें पढ़कर भी क्या करेगा।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यिति ? (ऋ. 1/164/39, अथर्व. 9/10)

इसीलिए वैदिक तत्त्ववेत्ताओं ने उस परम तत्त्व की मीमांसा को सर्वोपरि महत्त्व दिया और उसकी अपरोक्ष अनुभूति को 'दर्शन' माना– यह दर्शन सिद्ध जनों की साधना से लभ्य है[23] और यही उनके ऋषित्व का आधार है।[24]

उल्लेख्य है कि कोरी बुद्धि अथवा निरे तर्क के आधार पर स्थापित सिद्धान्त कालविशेष अथवा स्थान विशेष में महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं किन्तु वे सनातन एवं सार्वभौम नहीं हो सकते।

यही कारण है कि केवल बाह्य, प्रतीयमान और स्थूल तत्त्वों की व्याख्या करनेवाली ज्ञानविधायें आपाततः प्रगति की ओर अग्रसर होती प्रतीत होती हैं किन्तु वस्तुतः वे उस मूलतत्त्व की ओर इंगित करने में अक्षम हैं। उनका परिदृश्य सीमित है और ज्ञान एकांगी, जबकि वैदिक तत्त्वमीमांसा का दृष्टिकोण सर्वांगीण है और आधार शाश्वत– इसीलिए यह वह 'ब्रह्मविद्या' है जो अन्य सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है,[25] यही 'अध्यात्मविद्या' सब विद्याओं में शीर्षस्थानीय है।[26] यही वह 'सम्यक् दर्शन' है जो मनुष्य को संसार के आवागमनरूपी चक्र से मुक्त कराने में समर्थ है,[27] यही वह 'परा विद्या' है जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म की अधिगति होती है।[28] अन्ततः वही 'अक्षर ब्रह्म' मूल तत्त्व है जिसकी अधिगति चरम पुरुषार्थ है और जो समस्त साधना का परम ध्येय एवं सारी जिज्ञासा का अन्तिम लक्ष्य है–

ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। मुण्डक 2/2/4

उक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वरूपतः परम तत्त्व सत्, चित् और आनन्दरूप ब्रह्म है– यही वह आत्म तत्त्व है जिसके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है ओर जिज्ञासु साधक कह उठता है–

इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि। (शतपथ, 1/1)

वस्तुतः यही अनुभूति 'अहं ब्रह्ममास्मि' के उद्घोष का अधिष्ठान है– 'तत्त्वमसिं' की परिणति यहीं आकर होती है– 'सोऽहम्' की यही भूमि है। वैदिक ऋषियों ने 'क' से जिज्ञासा की जिस यात्रा का श्रीगणेश किया, और 'यत्', 'तत्' एवं 'सत्' से जिसकी मीमांसा का मार्ग प्रशस्त किया और उसकी लक्ष्यस्थली यही है। 'कोऽहम्' से 'सोऽहम्' तक की यह साधना उसी परम तत्त्व की मीमांसा की कहानी है– इस सुदीर्घ श्रृंखला के मध्य विचारों का जितना आरोहण एवं विकास हुआ, यह भारतीय दर्शन की भव्य निधि है। यहाँ उसी निधान के मूल की ओर इंगित करने का स्वल्प प्रयास किया गया है।

सारांशतः उस अनन्त, अखण्ड, अज्ञेय तत्त्व की मीमांसा एक ऐसी सतत साधना है जिसमें गति ही प्राप्ति है और गन्तव्य वह परम आनन्दधाम है जहाँ पहुँचकर गति और गन्तव्य में कोई भेद नहीं रहता, केवल यह दिव्य अनुभूति होती है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। (यजुं. 31/18)

सन्दर्भ संकेत

1. तत्त्वार्थे सम्यक् श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र (सर्वदर्शनसंग्रह पृ0 14 पर उद्धृत)
2. ऋग्यजुःसाम्नां त्रयं त्रयी सैव दर्शनम्। किरणावली, पृ0 177 (बड़ौदा संस्करण)
3. ऋ0 10/121/1–9
4. अथर्व 2/1/3
5. कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। कं च खं च न विजानामि। यद्वाव कं तदेव खं, यदेव खं तदेव कमिति। छान्दो0 4/10/5
6. ऋ0 10/129/7
7. वासुदेवशरण अग्रवाल, उरु ज्योति, पृ0 28
8. यस्य वस्तुनो यो भावस्तदेव तस्य तत्त्वम्। न्या0कं0 पृ0 16
9. सदसती तत्त्वम्।
10. गीता, 2/16
11. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। मुण्डकोप0, 3/5
12. ऋ0 2/27/11
13. उरू ज्योतिश्चक्रथुरार्याय। ऋ0 1/117/21
14. रामावतार शर्मा, परमार्थ दर्शनम्, पृ0 235
15. यशदेव शल्य, चिद्–विमर्श, पृ0 1
16. माण्डूक्योप. 3/1/17
17. कठोप. 1/1/21–22
18. वही, 1/2/23
19. नैषा मतिस्तर्केणापनेया/वही, 1/2/9
20. वही, 1/2/12
21. स्वानुभूत्येक मानाय...। भर्तृहरि, नीतिशतक।
22. ब्र. सू. 2/1/11
23. आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः। वै. सू. 9/2/13
24. ऋषिर्दर्शनात्। निरूक्त, 2/11
25. मुण्डकोप0 1/1
26. गीता, 10/32
27. मनु0 6/74
28. मुण्डकोप0 1/5

● ● ●

वेदों में प्रतीकात्मकता

– प्रो0 महावीर अग्रवाल
निदेशक–श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान एवं
सम्पादक– गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0, हरिद्वार

ब्राह्मण गन्थों एवं श्रौत सूत्रों में पशुयागों का विस्तृत आलेख किया गया है। वस्तुतः ये वर्णन प्रतीकात्मक है। किन्तु याज्ञिक प्रतीकात्मकता के वास्तविक अभिप्राय को न जानकर भ्रमित बुद्धि अनेकथा अर्थ का अनर्थ कर बैठती है जैसे कि आधुनिक चिन्तकों ने सोमरस को सुरा मानकर मादक द्रव्य कह दिया। इसी प्रकार वैदिक यज्ञों में मध्यकालीन उव्वट, सायण महीधर आदि भाष्यकारों ने पशु हिंसा का प्रतिपादन कर दिया। जबकि पशु यज्ञ प्रतीक रूप में सृष्टि में सतत चलने वाले आधिदैविक घटनाओं का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। पशुयज्ञ के विषय में सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना उपयुक्त रहेगा, जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि पशुयज्ञों का मूल उत्स कहां है?

ऋग्वेदादि संहिताओं में पशुयज्ञ का का विधान नहीं है। चारों वेदों का गम्भीर अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें पशु--बलि का निर्देश नहीं है। यद्यपि कतिपय प्राचीन और अर्वाचीन वेद–व्याख्याकारों ने कुछ मन्त्रों की व्याख्याओं में पशु–बलि तथा मांस–भक्षण का उल्लेख किया है किन्तु तत्तत् स्थलों का प्रकरण तथा व्याकरण आदि दृष्टियों से विचार करने पर पशु–बलि की धारणा निर्मूल हो जाती है।

अर्वाचीन वेद व्याख्याकारों, विशेषतः पाश्चात्यों ने वेदों में पशुबलि का समर्थन मुख्यतः दो कारणों से किया है– प्रथम अपने पूर्ववत्ती वेद व्याख्याकारों का अन्धानुकरण तथा द्वितीय दुराग्रह। दुराग्रह इस प्रकार कि जिन प्रसंगों में किन्हीं द्वयर्थक पदों का भाष्य प्रकरणादि के अनुसार अहिंसा परक अर्थ अभीष्ट था वहां जानबूझकर हिंसापरक अर्थ किया। क्योंकि वे भारतीय जनमानस के आस्था केन्द्र वेदों का विकृत स्वरूप प्रदर्शित कर उनकी आस्था को हिलाना चाहते थे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद व्याख्याओं में हिंसा के समायोजन का द्वितीय कारण सायण आदि भाष्यकारों का अनुकरण रहा।

उव्वट, महीधर, सायण आदि के समय तक समस्त कल्प साहित्य विकसित हो चुका था। यज्ञों के समस्त विधि विधानों के साथ पशुबलि जैसे अवैदिक कृत्य भी प्रचलित हो चुके थे। इन वेद भाष्यकारों की दृष्टि में याज्ञिक विनियोग के अतिरिक्त वेदमन्त्रों का अन्य कोई उद्देश्य नहीं था। इन भाष्यकारों ने अपने युग की परम्पराओं का पालन करते हुए वेदमन्त्रों की

यज्ञपरक व्याख्या के लिए अच्छी खींचतान की है, यही नहीं कल्प साहित्य में कल्पित अवैदिक मान्यताओं को वेद से पुष्ट करने का भी प्रयत्न किया। इसके लिए शब्द साम्य का आधार बनाया गया। कल्प साहित्य तक पंहुचते–पंहुचते लभ् आदि धातुएं हिंसार्थ में प्रयुक्त होने लगी थीं। इन धातुओं के हिंसार्थ को आधार बनाकर कल्प साहित्य से बहुत पूर्व रचित वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त लभ् आदि धातुओं के प्रसंग प्राप्त मौलिक अर्थ प्राप्ति आदि को अस्वीकार करने का प्रयास किया। यह बात भिन्न है कि वे ऐसा नहीं कर पाए। उनकी यह दुविधा उन्हीं के भाष्यों में अनेक बार प्रकट हुयी। वेदमन्त्रों में लभ् तथा ज्ञा आदि से निष्पन्न क्रियापदों का अर्थ उव्वट, महीधर, सायण आदि ने या तो किया ही नहीं और यदि किया है तो वह हिंसापरक नहीं है। पुनरपि इन धातुओं से निष्पन्न 'आलभते' 'संज्ञपयति' आदि क्रियापद जिन मन्त्रों में प्रयुक्त हैं उनका भाष्य करते समय कल्प साहित्य के उद्धरण देकर यज्ञीय पशु हिंसा का प्रतिपादन किया हैं। यह विरोधाभास ही है कि मूल मन्त्र में एक भी शब्द हिंसार्थ प्रतिपादक नहीं, फिर भी उसकी व्याख्या खींचतान कर हिंसापरक की गयी।

अङ् उपसर्ग पूर्वक लभ् धातु का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में 'अन्वालेभिरे', 'आलब्धम्', 'आलेभनात्' आदि रूपों में कुछ स्थलों पर हुआ है। इन पदों का किसी भी व्याख्याकार ने हिंसार्थ नहीं किया। संज्ञपन आदि शब्दों का प्रयोग तो ऋग्वेद संहिता में हुआ ही नहीं।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजरानेयि माध्यीन्दन संहिता में 'आङ्' पूर्वक लभ् धातु से निष्पन्न 'आलभते' इस एक ही पद का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर हुआ है। इसका अर्थ किसी भी भाष्यकार ने हिंसापरक नहीं किया। उव्वट तथा महीधर ने 'आलभते' पद का अर्थ 'नियुनक्ति' किया है। स्वामी दयानन्द ने 'प्राप्नोति' अर्थ किया है। उव्वट ने एक स्थान पर 'आलभते' का अर्थ आलभ्यन्ते किया है। यह भाष्य की अपेक्षा पर्यायवाची अधिक है।

इस प्रकार अन्य संहिताओं में भी जहां कहीं आङ् उपसर्ग पूर्वक लभ् का प्रयोग है, उसका सायण ने कही भी स्पष्ट रूप से हिंसा अर्थ नहीं किया है, तथापि कहीं–कहीं पर वे विचलित या दुविधा ग्रस्त रहे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में इसका प्रयोग प्राप्ति, स्पर्श तथा हिंसा अर्थ में हुआ है। दुर्भावना वश सन्दर्भ प्रसंग का विचार न करते हुए, कतिपय विद्वानों ने प्राप्ति एवं स्पर्श अर्थ ग्रहण न कर केवल हिंसा अर्थ को स्वीकार करते हुए यज्ञों में पशुहिंसा का प्रतिपादन कर दिया। अपने मन्तव्य को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए इन आचार्यों ने वेद–मन्त्रों में पठित आलभते, संज्ञपयति आदि का अर्थ हिंसा परक कर डाला।

वेदों में सहस्त्रों स्थानों पर हिंसा वाचक पदों का और शताधिक हिंसार्थक धातुओं का प्रयोग मिलता है। यदि यज्ञों में पशु हिसां अभिप्रेत होती, तो यज्ञीय प्रसंगों में साक्षात् हिंसार्थक धातु का ही प्रयोग किया गया होता, किन्तु ऐसा नहीं किया गया है। जिन धातुओं के हिंसा से

भिन्न अनेक प्रमुख अर्थ हैं, उनका प्रयोग करने पर उत्पन्न होने वाले सन्देह का लाभ उठाकर हिंसा के समर्थकों ने पशु हिंसा सिद्ध करने का प्रयास किया है, जोकि सर्वथा वेदविरुद्ध है। यज्ञीय पशु हिंसा का प्रत्याख्यान करते हुए वेदमूर्ति महर्षि वेदव्यास कहते हैं :–

सुराः मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु विद्यते।
लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्
वेदवादानविज्ञाय सत्यमासामिवानृतम्।।
यूपं छित्वा पशूहत्वा कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते सवर्गं नरक केन गम्यते।। महा. शान्तिपर्व – 263.5.7

वस्तुतः वेदों में एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेध आदि का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में है। इस प्रतीकात्मकता को समझ लेने पर ही वेद के सत्यार्थ को हृदयङ्गम किया जा सकता है। शुक्ल यजुर्वेद को सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड का विधायक वेद स्वीकार किया गया है। इस वेद के प्रथम मन्त्र में ही पशुओं की रक्षा करने का उल्लेख है। इसी वेद में यज्ञ को 'अध्वर' विशेषण से विशेषित किया गया है। सभी प्राचीन और अर्वाचीन वेद भाष्यकारों ने अध्वर का अर्थ हिंसा रहित कर्म किया है। न केवल एक दो स्थानों पर अपितु शतशः सन्दर्भों में यज्ञ को अध्वर कहा गया है। वैदिक साहित्य में गौ को 'अधन्या' कहा गया है। सायण, स्कन्द, वेंकट, उव्वट, महीधर, दयानन्द, प्रभृति सभी वेद भाष्यकारों ने 'अघ्न्या' का अर्थ 'हन्तुमयोग्या' किया है, अर्थात् जिसका हनन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस हिंसा रहित कर्म में न मारने योग्य गौ वध के प्रसंग स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि पशुयज्ञ के प्रसंग अज्ञानता वश अथवा जानबूझकर कल्पित कर लिए गयें हैं। यदि यज्ञ में पशु हिंसा अपेक्षित होती तो इसका अध्वर विशेषण कदापि न होता।

चरक संहिता में उल्लेख है कि– आदिकाल में यज्ञों में पशु हनन नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं का स्पर्शमात्र किया जाता था। बाद में मनु के नाभाक, इक्ष्वाकु आदि पुत्रों ने यज्ञ में पशु वध किया।

वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार गौवध सर्वप्रथम 'पृषध्र' ने किया था। गौवध के पश्चात् 98 रोग उत्पन्न हो गये थे।

महाभारत के अनुसार यज्ञ में गौ का वध सर्वप्रथम 'नहुष' ने किया था। जिससे एक सौ एक रोगों की उत्पत्ति हुयी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यज्ञों में पशुहिंसा जैसे कुकृत्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुए।

अधिदैविक पदार्थों के अर्थ में पशु शब्द–

आधिदैविक अर्थ में सूर्य, जल, वायु, अग्नि आदि को पशु कहकर उनके आलभन का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद का निम्न मन्त्र इस विषय में द्रष्टव्य है– "अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।

इस मन्त्र में अग्नि, वायु और सूर्य को पशु बनाकर इनसे यज्ञ करने का उल्लेख है। क्या यह सम्भव है कि सूर्य, अग्नि, वायु आदि को मारकर उनकी आहुति दी जाए? यहां द्रव्य यज्ञ नहीं अपितु सृष्टि सिद्धान्तों के यज्ञ की चर्चा है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पठित एक मन्त्र की व्याख्या करते समय यास्क ने इसी तत्व का उल्लेख किया है :–

यज्ञेन यज्ञमयजन्तः देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पुशरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्।

अर्थात् देवों ने यज्ञ का यज्ञ में ही यजन किया। अग्नि से अग्नि का यजन किया। अग्नि पशु था। उसका अलभन किया।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस मन्त्र का इसी प्रकार का व्याख्यान किया गया है।

निरुक्त के इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि अग्नि आदि आधिदैविक तत्त्व पशु नाम से भी अभिहित किये जाते हैं। इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित कतिपय सन्दर्भ निदर्शन मात्र के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ। जिससे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित पशु का स्वरूप स्पष्ट हो जाए–

इन्द्रियों का शक्तिरूप रस वीर्य पशु है। प्राण पशु है। आदित्य पशु है। ब्राह्मणों की सभा पशु है। ब्रीहि और यव पशु है। औषधियां (वनस्पतियां) पशु है। गृह पशु है। दधि, मधु, घृत, जल, धान ये सब द्रव्य पशु के ही रूप हैं। पूषा पशु है। शक्वरी पशु है। सोम पशु है। स्वर साम पशु है। वृहती पशु है। मरुत् पशु है। वसु गण पशु है। यजमान पशु है। श्री पशु है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित पशु शब्द मात्र अश्व, हस्ति, उष्ट्र, गौ आदि का ही वाचक नहीं है, अतः यज्ञ के प्रसंग में पशुओं का उल्लेख विभिन्न आधिदैविक अर्थों को प्रतिपादित करता है और जहां साक्षात् रूप से पशु से यज्ञ का विधान है, वहां पर पशुओं से प्राप्त दूध, दही, घृत आदि का ग्रहण करना चाहिए।

अश्वमेध यज्ञ पर विचार

यह यज्ञ भी इसी प्रकार प्रतीकात्मक वर्णनों से युक्त है। अश्वमेध शब्द में 'मेध' शब्द विचारणीय है। इसकी निष्पत्ति मेधृ धातु से हुयी है। जिसका अर्थ है हिंसा और संगमन। अश्व

की हिंसा और संगमन जिस यज्ञ में हो वह अश्वमेध यज्ञ कहलाएगा। इस यज्ञ में महिषी से अश्व का संगमन तथा अश्व का हिंसन दोनों कार्यों का वर्णन है। यह भी प्रतीकात्मकता से ही व्याख्यायित हो सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेध को उत्सभ यज्ञ कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अश्वमेध की वास्तविक स्थिति का लोप हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण के समय पुनः उस उत्सभ यज्ञ का स्वरूप निर्धारित किया गया। सृष्टि के विविध रहस्यों और भौतिक जगत् के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया गया। परवर्ती व्याख्याकारों ने उस प्रतीकात्मक वर्णन को मात्र भौतिक वर्णन के रूप में प्रस्तुत करके इस अति महनीय सृष्टि तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले और राष्ट्र रक्षा के सिद्धान्तों के प्रतिपादक इस यज्ञ को नृशंस पशु–बलि और गर्हित अश्लीलता का प्रदर्शक बना दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अश्वमेध को प्रजापति कहा गया है। अश्व को भी प्रजापति बताया है। अश्व की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रजापति की आंख सूजकर फैल गयी और दूरं गिर गई। उसी आंख से अश्व बना। मैत्रायणी संहिता में उल्लेख है कि प्रजापति ने अश्व का रूप धारण किया। इस प्रकार अश्वमेध और उसका अश्व ये दोनों ही प्रजापति के प्रतीक हैं। इस अश्वमेध यज्ञ द्वारा ही प्रजापति की विच्छिन्न आंख को पुनः उसमें स्थापित किया गया था।

अश्व का प्रजापति रूप शतपथ ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में सुस्पष्ट हुआ है। वहां कहा गया है कि मेध्य अश्व का शिर उषाकाल है, सूर्य इसकी आंखे हैं, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है, संवत्सर आत्मा है, धुलोक पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएं पार्श्व भाग है। आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं पार्श्व भाग की अस्थियां हैं। ऋतुएं अङ्ग हैं मास और अर्धमास पर्व हैं।

आचार्य सायण ने भी मेध्य अश्व को प्रजापति मान कर ही इस सन्दर्भ की व्याख्या की है।

इसी प्रकार अश्व को अग्नि, चन्द्रमा, आदित्य, वरुण, बताकर इसका उत्पत्ति स्थान समुद्र को बताया है। एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य स्वर्ग लोक को इतनी शीघ्रता से नहीं जान पाता, जितनी शीघ्रता से अश्व जान लेता है। अन्यत्र कहा है कि अश्व का रेतस् ऊपर जाकर स्वर्ण बन गया।

अश्वमेध को राष्ट्र और श्री का स्वरूप भी माना गया है–राष्ट्रं वा अश्वमेधः, श्री वैराष्ट्रम् अश्वमेधः।

इस प्रकार आधिभौतिक अर्थ में अश्वमेध राष्ट्र है और राजा उसका अश्व है। राजा अश्व के समान बलशाली होना चाहिए। क्योंकि दुर्बल राजा इस राष्ट्र रूपी अश्वमेध का संचालन प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकता, क्योंकि उसके बलशाली शत्रुओं द्वारा पकड़ लिये जाने से उसका यज्ञ भंग हो जाएगा और राष्ट्र पराधीन हो जाएगा। इसलिए दुर्बल

व्यक्ति द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध किया गया है। यह अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र की उन्नति की कामना से किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में महिषी के अश्व संगमन के समय पठित मन्त्रों का व्याख्यान स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करता है कि यह प्रक्रिया राष्ट्ररूपी अश्व से महिषीरूपी श्रीसमृद्धि को संयुक्त करने के लिए की जा रही है। इस प्रसंग में समृद्धि की कामना करने वाले मंत्र और अनुष्ठानों का उल्लेख है।

इस प्रकार आधिभौतिक अर्थ के अनुसार राष्ट्र ही अश्वमेध है। राष्ट्र की रक्षा, समृद्धि और उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्य अश्वमेध के प्रतीकात्मक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

आधिदैविक अर्थ में अश्वमेध और अश्व को सूर्य माना गया है।

सूर्य को समुद्र के पास से देखने पर प्रतीत होता है कि यह समुद्र से उदित हो रहा है और अस्त के समय भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि समुद्र में छिप रहा है। संभवतः इसी कारण इसका उत्पत्ति स्थल समुद्र को माना गया है। प्रलय के समय अथवा सृष्टि निर्माण के समय सर्वत्र जल होने की चर्चा की गयी है, उस समय सूर्य का निर्माण हुआ यह भी समुद्र से उत्पत्ति का आधार हो सकता है।

यदि समुद्र शब्द के प्रतीकार्थ को भी न लें तो भी अश्व का अर्थ सूर्य ही हो सकता है, भौतिक अश्व नहीं, क्योंकि वैदिक संहिताओं में समुद्र शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है। यास्क ने अन्तरिक्ष नामों मे समुद्र का उल्लेख किया है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि अश्व सूर्य का वाचक है अब प्रसंग प्राप्त अश्वमेध का स्वरूप निम्न प्रकार उभरकर आता है।

राजा :– अश्वमेध यज्ञ जो लौकिक रूप में किसी राजा द्वारा सम्पन्न होता हे उसमें सार्वभौम राजा पृथक् होता है और अश्व पृथक्। यहां पर अश्व राजा के तेज का प्रतीक है। अतः दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। आधिदैविक अर्थ के अनुसार राजा का अर्थ सूर्य है। यह सूर्य ही अश्व है। अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्धित ऋग्वेद की ऋचाओं में अश्व शब्द से सूर्य की रश्मियों का भी ग्रहण हो जाता है। तत् साहचर्य द्वारा अथवा तत् प्रसूत होने से सूर्य रश्मि को अश्व कहा जाता है।

अश्व :– अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में अश्व के जो लक्षण दिये गये हैं वे भी आधिदैविक अर्थ को प्रकट करते हुए सूर्य के ही वाचक हैं। सूर्य उदित होने से पहले रात्रि का अंधकार चारों ओर व्याप्त है। पूर्व की ओर शकट के आकार में स्थित आकाश में उषा की किरण दिखायी देती है मानों अन्धकार अश्व है और उसके कृष्ण ललाट पर यह ऊषा रूपी श्वेत चिह्न है। सूर्य उदित होने के बाद जो प्रकाश होता है वह अश्व का पीछे का आधा श्वेत भाग है, इस प्रकार उषा से युक्त रात्रि आगे–आगे और सूर्य का प्रकाश पीछे–पीछे अनुगमन करता है।

अश्व की लगाम :– अश्वों की रशना (लगाम) की लम्बाई 12 या 13 अरत्नि बताई गई है।

(एक अरत्नि में लगभग 24 अंगुल होते हैं) सूर्य की एक परिक्रमा में 12 मास होते हैं और तीसरे वर्ष एक मास अधिक होकर 13 मास बन जाते हैं। इसी 12 या 13 मास परिमाण वाली रशना से सूर्य बंधा होता है। अश्व की रसना को घृत से चिकना करते हैं। घृत तेजस्वी पदार्थ का उपलक्षण है। (घृ क्षरण दीप्त्योः) सूर्य की रशना भी प्रकाश से दीप्यमान है।

राजा की चार पत्नियां :– अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि राजा की चार पत्नियां महिषी, वावाता, परिवृत्ती और पालागली अपनी--अपनी सौ–सौ दासियों को लेकर यजमान राजा के पास आती हैं और सायंकाल राजा वावाता के ऊरु के मध्य शिर रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ रात्रि को सोता है।

इनका आधिदैविक अर्थ निम्नलिखित है– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार दिशायें राजा की चार पत्नियां हैं। पूर्व की दिशा महिषी है इसी के साथ सूर्य राजा का उदय काल में अभिषेक प्रसव होता है, पश्चिम दिशा वावाता है, सूर्य इसी दिशा में छिपता है और विश्राम करता है, इसी को आलंकारिक रूप प्रदान करते हुए कहा है कि राजा वावाता के उरु के मध्य में शिर रखकर सोता है। सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है, परन्तु पश्चिम दिशा में जो लोग रहते हैं उनके लिए वह उदय हो रहा है, जो हमारी पश्चिम दिशा है वही उस देश में रहने वालों के लिए पूर्व दिशा है। भाव यह है कि पश्चिम दिशा–वावाता के साथ सूर्य के अस्त होने पर भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता, क्योंकि वह तुरन्त उदित हो रहा है। यही सूर्य राजा का ब्रह्मचर्य है। इसी प्रकार परिवृत्ती और पालागली पत्नियां उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा हैं, जिनके साथ सूर्य राजा का संयोग उत्तरायण और दक्षिणायन काल में ही होता है, सर्वदा नहीं होता।

इस प्रकार चार पत्नियों का सम्बन्ध आधिदैविक ही है न कि भौतक।

अश्व का भ्रमण :– यज्ञ का अश्व एक वर्ष तक घूमता रहता है। यह सूर्य की वार्षिक गति का द्योतक है।

अश्व की रक्षक सेना :– अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए विविध आयुधों से युक्त सौ राजपुत्र, सौ क्षत्रिय पुत्र, सौ सूतपुत्र, सौ क्षत्ताओं के पुत्र नियुक्त करने का उल्लेख है ये सैनिकों का विधान भी सूर्य की किरणों का प्रतीकात्मक विवेचन है। सूर्य की किरणें ही सैनिक रूप में वर्णित हैं। ऋग्वेद में सूर्य की हजारों किरणों का वर्णन है। इन हजार प्रकार की किरणों के तीन भेद पुराणों में बताये गये हैं।

• • •

वेदों के आलोक में राजनीति

- डॉ0 किरण टण्डन
रीडर, संस्कृत विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय नैनीताल (उ0प्र0)

वेद भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। हमारी भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार वेद अपौरूषेय हैं। इनकी संख्या चार है– ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद। ये हमारी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं के साथ ही साथ राजनैतिक विचारधाराओं के भी आदिम स्रोत हैं। इनमें सभी प्रकार की शासकीय स्थितियों, राजनीति के सभी तत्त्वों–जैसे राजा, अमात्य, विदेशनीति, युद्धनीति, दण्डनीति आदि– की विस्तृत तथा उपयोगी जानकारी मिलती है, जो राजनीतिज्ञों तथा शासकों के लिए प्रेरणा का सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्रोत है। अब ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के राजनैतिक विचारों का सार प्रस्तुत है–

ऋग्वेद

राजा :– प्रजापालन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है (1/12/2; 3/81/1; 6/1/6–8)। राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा के लिए अन्न और धन का समुचित प्रबन्ध करे (1/12/2; 1/54/11); जल और प्रकाश की व्यवस्था करे (1/55/6; 7/18/9); निवास स्थान उपलब्ध कराये (6/44/15); शिक्षा का प्रबन्ध करे (7/7/1); उसके हित को समझे (7/7/4); प्रजाकल्याण के लिए राजपुरुषों के साथ में विचार विमर्श करे (7/39/2); उसकी रक्षा कवच के समान करे; उसका पालन–पोषण करे; उसे शक्तिसम्पन्न करे (1/17/1–2,7/31/6); प्रजापीडक चोर–डाकुओं को नष्ट करे (1/63/4; 4/4/3–4); प्रजा को समृद्ध बनाये; उसे अपराध से बचाये (1/27/3–6; 4/17/13); उसे सुख पहुँचाने के लिए विविध योजनाएँ कार्यान्वित करे (4/30/6; 6/45/3); शत्रु का विनाश करे; धनसंग्रह करे; दुष्टों का दमन करे (4/30/6–7); नदियों को नियन्त्रित करके बाढ़ से उसकी रक्षा करे (4/30/14), उसकी सुरक्षा के लिए उसकी देखभाल करे (6/1/8), उसके हित के लिए हितैषी व्यक्तियों को ही उच्चपद पर नियुक्त करे (7/6/5); उसे रोगमुक्त रखे (1/99/2); उसे सड़े अन्न देकर अस्वस्थ करने वाले दुकानदारों को दण्ड दे (7/19/2), नगर की व्यवस्था स्त्रियों की रक्षा के अनुरुप करें (7/55/5,8), और यज्ञ के विघ्नों को भी दूर करे (9/7/5)।

राजा को अपने मन्त्री के विचारों से सामञ्जस्य रखना चाहिए (1/17/3–4); उसे यशः प्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिए (1/126/1; 1/162/7–13; 5/27/5); उसे श्रेष्ठ पुरुषों की सहायता करनी चाहिए; ज्ञानियों को सताने वाले दुष्टों को दण्डित करना चाहिए

(1/130/8); अपने पुरोहित का सत्कार करना चाहिए; राज्य संचालन में पुरोहितों की सहायता लेनी चाहिए तथा उनकी रक्षा करनी चाहिए (4/50/7–9)।

राजा को कपटी व्यक्ति के साथ कपट का आचरण करके उसे नष्ट कर देना चाहिए (1/11/7; 1/51/5; 1/80/7)। उसे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक बलों से युक्त होना चाहिए (1/51/7; 3/27/9)। उसे दुष्ट और साधु पुरुष की सही परख होनी चाहिए (1/51/8)। चोरों और शत्रुओं को दण्ड देकर राजप्रबन्ध द्वारा उनका सुधार करना चाहिए (5/79/9; 6/22/10)।

राजा को शत्रुओं से सावधान रहना चाहिए; उनके अधिकार में गई हुई भूमि को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए; शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से शत्रुओं का विनाश करना चाहिए; दुष्टों और घमण्डियों का दमन करना चाहिए (1/61/9–13; 4/4/4; 3/34/9–10; 4/5/4–5); तथा राज्य से द्वेष करने वालों, दुष्ट शत्रुओं, लुटेरों, डाकुओं, शत्रुओं से मैत्री करने वालों और समाज का शोषण करने वालों का विनाश कर देना चाहिए (1/51/6; 1/90/3; 7/18/14–16; 7/19/1–2; 7/30/1–2)।

राजा को युद्ध में मिले हुए धन से प्रजा को सन्तुष्ट करना चाहिए; प्रजा की सहायता से राज्यकोष में वृद्धि करनी चाहिए; और प्रजा से 'कर' ग्रहण करने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए (4/17/11–13; 7/6/5; 10/173/6)।

राजा को सुरक्षा के साधनों की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए; राज्य में सर्वत्र गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए; और संगठनशक्ति से देश की रक्षा करनी चाहिए (1/23/6; 1/80/9; 4/4/3)।

युद्ध करने के लिए राजा के पास अच्छे घोड़े, रथ, उत्तम शस्त्रास्त्र के साथ ही साथ धैर्य तथा वीरता भी होनी चाहिए। उसे सदैव शस्त्रास्त्रों से सज्जित रहना चाहिए; घुड़सवारी सीखनी चाहिए; रथ के लिए योग्य सारथि की नियुक्ति करनी चाहिए; उसे युद्ध में सबसे आगे रहना चाहिए; सेना को प्रोत्साहित करके शत्रुओं का वध करवाना चाहिए (1/52/1; 1/53/6–7; 1/55/1, 7,8; 1/63/3–5; 1/102/9–10; 5/61/10; 7/18/13); राज्यविस्तार के लिए बाहय और आभ्यान्तर शत्रुओं का विनाश करना चाहिए; पराक्रमपूर्ण कार्यों को करना चाहिए; समाजवाद को प्रश्रय देना चाहिए (1/103/2–6); वीर प्रजाजनों को युद्ध की शिक्षा देनी चाहिए (1/109/7–8); युद्ध में दृढ़ शत्रुओं को भी विचलित करना चाहिए; सहायकों की रक्षा करनी चाहिए; और निर्भय रहना चाहिए (1/127/3–5; 3/54/23)।

राजा को अपने सेनापति को प्रसन्न रखना चाहिए (5/37/4), वीरों को संगठित करना चाहिए, उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए, उनका पालन–पोषण ठीक से करना चाहिए और

उनका निरीक्षण करना चाहिए (6/2/17, 6/11/1–2, 7/8/5, 7/56/4–5,9), राष्ट्र की सुरक्षा एवं वीरों के निवास के लिए किलों का निर्माण करना चाहिए (7/20/8)। इस प्रकार शास्त्रस्त्र तथा सेना के युक्त होकर शत्रु के दुर्गो, कपटव्यूहों, नगरों तथा प्राकारों को नष्ट करके उसके धन तथा अन्न पर अधिकार जमा लेना चाहिए, शत्रु की योजनाओं को विफल करने का प्रयत्न करना चाहिए, अपने सैनिकों की शक्ति को शत्रुओं से गुप्त रखना चाहिए और सहयोगियों की सहायता से शत्रुओं को पराजित करना चाहिए (6/45/9,12–13, 7/6/2, 7/18/8, 14–16, 7/19/3–5, 7/56/2, 10/174/2–3)।

ऋग्वेद के अनुसार राजा में सामर्थ्य, क्षिप्रकारिता, उत्साह, शासन करने की योग्यता, विद्वता, संस्कृतिप्रियता, दानशीलता, दूरदर्शिता, संकट का सामना करने के लिए तत्परता, स्थिरमति, दृढ़विचारशक्ति, उत्तम कार्यप्रणाली आदि गुण होने चाहिए। श्रेष्ठ राजा वही है, जो अपने कारीगरों की रक्षा कर सके; कष्ट सहन कर सके; नेतृत्व कर सके; सज्जनों की रक्षा कर सके; स्वावलम्बी हो; विश्वहितैषी हो; और कुशलतापूर्वक राज्यसंचालन करे (1/61/1–3; 1/63/3–8; 3/53/9; 3/29/6; 3/56/21; 3/54/17; 4/4/4; 5/58/4; 7/6/2, 5; 10/173/1,2,4)। ऋग्वेद के अनुसार उत्तम गुणों से युक्त स्त्री भी रानी बनकर प्रशासन कर सकती है (7/75/6)।

प्रजा और प्रजातन्त्र :–ऋग्वेद में प्रजा के कर्त्तव्य और प्रजातन्त्र का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह उत्तम राजा और मन्त्री के अनुकूल आचरण करे (1/1/17)। प्रजायें स्वयं राष्ट्र में शासन करें; और समाज का शासन, समाज के द्वारा समाज की उन्नति के लिए हो (1/60/5)। यदि राजा और राजपरिवार प्रजा को कष्ट दें तो उनको पदच्युत कर देना चाहिए (1/122/15)। राजा को शासन में सहायता देने के लिए राज्य के नागरिकों को तत्पर रहना चाहिए (7/20/2)।

मन्त्री :–मन्त्री का कार्य है–राष्ट्र के अन्दर प्रजा की उत्तम व्यवस्था करना (1/8/6), राजा के विचारों से साम्य रखना (1/17/3–4) एवं अपने कार्यों से प्रजाजनों का प्रिय हो जाना (1/1/17)।

पुरोहित :–पुरोहित का कार्य है–युद्ध में जाने वाले राजा के लिए स्वस्त्ययन करके उसके हाथों में शस्त्र देना (1/63/2) और राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए क्षात्रशक्ति का संवर्धन करना (1/80/1)। पुरोहित राजा एवं राष्ट्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति है। क्योंकि इसकी सहायता से ही राजा प्रजा में सम्मान प्राप्त करता है; निश्चिन्तता का अनुभव करता है; राज्य धन–धान्य से युक्त हो जाता है; और भूमि उपजाऊ हो जाती है (4/50/7–9; 7/33/6)।

दूत :–दूत देश का सम्मानित प्रतिनिधि होता है (1/161/4)। इसमें तेजस्विता, वाग्विदग्धता, सत्यप्रियता, संगठनशक्ति, दानशीलता, दक्षता, अहिंसाप्रियता, तपस्वी मित्रों

की संगति, शत्रुओं को परास्त करने की योग्यता, प्रगतिशीलता, वीरता आदि गुण होने चाहिए (1/12/1,4,10; 7/2/3; 7/3/1; 7/11/2)। यह अवध्य तथा स्वच्छन्द रीति से भ्रमण करनेवाला होना चाहिए (4/9/2)।

गुप्तचर :– राज्यव्यवस्था के लिए गुप्तचरों का होना आवश्यक है (1/23/2–3)। इनका कर्तव्य है कि प्रजाजनों, राजकर्मचारियों तथा राज्य में आने वाले बाह्य व्यक्तियों की चेष्टाओं को जानने के लिए राष्ट्र में भ्रमण करें (1/51/1)।

सेनापति :– सेनापति का मुख्य कार्य है– शत्रुओं से युद्ध करके देश का संरक्षण करना (1/8/6)। इसको देशरक्षक वीरों के लिए अन्न की उत्तम व्यवस्था करनी चाहिए (1/9/2)। इसको शत्रु–दुर्गभेदक, तरूण, ज्ञानी, अपरिमित बलशाली तथा उत्तम सैन्य–संचालक होना चाहिए (1/11/5; 6/47/31)।

सैनिकों के कर्त्तव्य एवं युद्ध :– राष्ट्र के सैनिकों में उत्साह, निर्भीकता, प्रभावशालिता आदि गुण होने चाहिए। सैनिकों को ज्ञानियों की सहायता करनी चाहिए (1/19/7–9; 1/64/2)। इनके पास शत्रुओं का सामना करने के लिए शस्त्रसज्जित, योग्य सारथि से संचालित, वेगवान् अश्वों से युक्त रथ, वेगवान् अश्व, वज्र, धनुष, तरकश और बाणादि उत्तम शस्त्रास्त्र पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए। इनके शस्त्रों में शत्रुओं के शस्त्रों से रक्षा करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। सैनिकों को दृढ़ता तथा धैर्यपूर्वक शस्त्र धारण करके शत्रुओं का सामना करना चाहिए (1/5/4–6; 1/6/5; 1/8/2–3; 1/37/2,4; 1/33/3–4, 14; 1/38/12; 1/64/8–10; 1/166/9; 5/54/2,3, 6/75/1–8); शत्रु के बड़े–बड़े वीरों को नष्ट कर देना चाहिए; अथवा अपने अधीन कर लेना चाहिए; शत्रुओं को अपनी असावधानी से लाभ उठाने का अवसर नहीं देना चाहिए; उन्हें युद्ध में खदेड़ देना चाहिए; उनके गुप्तचरों को पकड़ लेना चाहिए; उनके मित्रों से दूर रहना चाहिए; अपने देश के प्रदेशों पर बलपूर्वक अधिकार जमाने वाले शत्रुओं के किलों को तोड़ देना चाहिए; उन्हें अपनी बुद्धि का अनुमान नहीं देना चाहिए; तथा शत्रुओं के देश में अशिक्षा का और अपने देश में शिक्षा का वातावरण उत्पन्न करना चाहिए (1/6/5; 1/33/1–15)।

युद्ध करने वाले सैनिक एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलें; अपने शस्त्रास्त्र को शत्रुसैनिकों से अधिक बलशाली बना दें; शत्रुओं का पूर्ण विनाश करें; प्रजा को निर्भीक बनायें; बालकों का संरक्षण करें (1/39/1–5, 7–8); क्षात्रशक्ति सम्पन्न होकर मातृभूमि के लिए बलिदान करने को सदैव तत्पर रहें; बल से सब कार्यों को करने का सामर्थ्य रखें; मानवों का हित करें; प्रजाओं को संगठित करें (1/40/1–3; 1/64/2; 2/30/8–9); ज्ञान–विज्ञान की सहायता से राष्ट्र की रक्षा करें (1/41/1–3; 1/42/5); राजा की सहायता करें; पापरहित, तेजस्वी और अटल हों; देशद्रोहियों को नष्ट करें; राष्ट्र को धान्य से भरकर राष्ट्र को घेरने

वाले शत्रुओं का सामना करें, प्रजापीड़क शत्रुओं को मार दें, शत्रुओं के द्वारा अवरुद्ध नदियों को खोल दें (1/33/1; 1/80/1–5; 7/18/11–12); धर्मयुद्ध करें; आत्मनियन्त्रण करें; शत्रुदल पर भीषण आक्रमण करें; सज्जनों को संरक्षण दें; और प्रजाओं को विनाश से बचायें (1/166/1–6)।

सैनिक साथ रहने वाले, आनन्दयुक्त, उत्तमगतिमान् शत्रुओं पर उत्तम रीति से आक्रमण करने वाले तथा प्रजा को शक्तिसम्पन्न बनाने वाले होने चाहिए (2/11/14)। सैनिकों को सेनापति की सहायता करनी चाहिए (7/18/11,19)।

शत्रुओं को सावधान करके मारना चाहिए (2/30/9); सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द कर देना चाहिए (2/38/3,6); अपनी शक्ति बढ़ाते हुए सज्जनविरोधियों को शस्त्र के प्रहार से नष्ट कर देना चाहिए; पक्षभेद करके अलग से गुटबाजी करने वालों और यज्ञादि कार्यों में विघ्न डालकर प्रजा में फूट डालने वालों को भी नष्ट कर देना चाहिए (7/18/17–19); युद्ध से पलायन नहीं करना चाहिए; शत्रुओं को तितर–बितर कर देना चाहिए (7/20/3); और दुन्दुभियों की ध्वनि से शत्रुओं को भयभीत करना चाहिए (6/47/30)।

वीर सैनिकों में संघशक्ति और उत्तम चरित्र होना चाहिए। ये शस्त्रबल और बुद्धिबल से शत्रुओं का विनाश तो करें किन्तु अपने राष्ट्रवासियों का विनाश न करें; प्रजाजनों से प्रेमव्यवहार करें; सत्यनिष्ठा और शक्ति से सबको प्रभावित करें (7/56/6–13)। राष्ट्र के नागरिकों का भी कर्त्तव्य है कि घर, समाज और राष्ट्ररक्षा में समर्थ वीरपुरुषों को रक्षा के कार्य में नियुक्त करवायें (7/1/1–2) तथा सेना के लिए ऐसा धन एकत्रित करें जो विजय और शक्ति का संवर्धन करने वाला हो (1/8/4)।

यजुर्वेद

राजा :– राजा का कर्त्तव्य है कि वह दुष्कर्माओं का दमन करें; उनका विनाश करें; पिता के समान प्रजा का पालन करें; न्यायप्रिय सज्जनों की रक्षा करे (6/1,23,37,12/17, 30/5,9), प्रजा की स्वीकृति से ही राज्य करे; राज्य की उन्नति करे; न्यायपूर्ण कार्यों में प्रजा का सहयोग प्राप्त करें (6/2,12/6), योग्य न्यायकर्त्ता बनने के लिए सत्य और धर्म से प्रीति रखे (6/4,7); और स्वयं न्यायाधीश का पद प्राप्त करके न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करे (8/3,7,9,12, 9/21,27/35)।

प्रजा ऐसे व्यक्ति को राजा चुने जो विद्वानों का प्रिय, प्रजारञ्जक, राज्य के उत्कर्ष से सबको उत्साहित करने वाला सभा, सेना और प्रजाजनों की रक्षा करने वाला, पुण्यशाली, प्रशंसनीय, स्वरूपवान्, विद्यावान, विनयी, शूरवीर, तेजस्वी, निष्पक्ष, मित्र, स्वस्थ, बलशाली, पराक्रमी, धीर, जितेन्द्रिय, शास्त्रों के प्रति सश्रद्ध, राज्यरक्षा में समर्थ, दुष्टों से सज्जनों की रक्षा करने वाला, सत्पुरुषों से शिक्षा ग्रहण करने वाला, दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला,

व्यवहारकुशल, दूतों की सहायता से मनुष्यों के मनोभावों को जानने वाला, न्यायप्रिय, प्रसन्न और पुष्ट सेना वाला, दूरस्थ और समीपस्थ प्रजाजनों पर नजर रखने वाला, युद्धविद्या में कुशल, धन की वृद्धि करने वाला, हाथी घोड़ो से युक्त, कल्याणकारी आचरण करने वाला, मन्त्रियों के साथ विचार–विमर्श करने वाला, पुरुषार्थचतुष्टय का सेवन करने वाला, प्रमादरहित, अज्ञान को दूर करने वाला, सुख–दुःख को सहने में समर्थ, वीरपुरुषों की सेना से प्रीति रखने वाला, गुणी व्यक्ति का सत्कार करने वाला, शिल्पियों का संग्रह करने वाला, प्रजाओं को अधर्म से रोकने वाला, दुष्टों का संग छोड़ देने वाला और श्रेष्ठों का संग ग्रहण करने वाला हो (6/32,33,7/29,45, 8/50, 9/25, 10/17, 33, 12/13, 14, 23, 16/6, 13, 50, 20/10, 47–49, 52, 83,27/4–7, 37, 30/3–4, 33/6, 15, 27, 62,66)।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह श्रेष्ठ वीरों को सेना में नियुक्त करे (7/29); अपराध के अनुसार दण्ड दे; निरपराध को दण्ड न दे (8/23, 12/32–33); अपनी उन्नति के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्तियों को दण्डित करें (8/44); सैनिकों को युद्ध के लिए उत्साहित करके शत्रुओं को निर्मूल करें (8/53); अपने सेवकों को नीरोग रखने की चेष्टा करे; एतदर्थ राज्य में औषधियों का समुचित प्रबन्ध करे (9/3, 12/99); अपने राज्य के क्षत्रिय तथा वैश्यों की उन्नति करे (10/11–12); अपनी उन्नति के लिए धर्मसहित प्रजा की इच्छा पूरी करे (12/116), सेना और सेनापति का अन्नादि पदार्थों से सत्कार करें (16,8), राजनीति के कार्य, स्थान और पदार्थों के विषय में पूरी जानकारी रखें; दुष्ट शत्रुओं को दुःख तथा प्रजा को सुख पहुँचाने के लिए तीक्ष्ण शस्त्रों का संचय करें (12/19, 16/13); राज्य को विघ्नों से रहित करें; प्रजा को अपने अंगो के समान ही महत्वपूर्ण समझे (20/8, 27/4), और आवश्यकता होने पर उसे कर मुक्त भी कर दे (27/35)।

राजा और प्रजा :– प्रजाजन परस्पर सम्मति से किसी सभापति को राजा बनायें और राज्यपालन के लिए उसे 'कर' दें। राजा दुष्टों को वश में करके प्रजा की रक्षा करें (6/6, 24, 7/35),। प्रजाजन अन्न–जल, शस्त्र–अस्त्र आदि से अपना बल बढ़ाकर, शत्रुओं को मारकर युद्धविजयी हों। राजा और प्रजाजन दोनों ही युद्ध की तैयारी और शस्त्राभ्यास करें (6/8, 16/12),। राजा प्रजा का हितसाधन करें और प्रजा भी राजा की आज्ञा माने (7/30)। सुखप्राप्ति के लिए राजा और प्रजा पारस्परिक विरोध को छोड़ दें (9/10),। प्रजाजन केवल राजा के ही अधीन न रहें; वे सभा और सभापतियों से भी राज्यव्यवस्था करवायें (6/25, 16/20),। राजा और प्रजाजन अपने कार्य की सिद्धि के लिए योद्धाओं की रक्षा करें; उन्हें सुविधा सम्पन्न घर दें; खाने–पीने की समुचित व्यवस्था करें; और उनके लिए उत्तम पुरुषों की मैत्री और मनोरंजन के साधन उपलब्ध करें (16/35),।

राजपुरुषों के सामान्य गुण :– राजपुरुष अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें;

व्यभिचारिता से दूर रहें (8/39), नित्य अपना पराक्रम बढ़ाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें (12/112), शारीरिक बल से युक्त हों; युद्ध की शिक्षा ग्रहण करें; अस्त्र–शस्त्रों का संग्रह करें; सज्जनों को कष्ट न दें; अपितु उनकी सुरक्षा करें; एवं इस कार्य के लिए सेना को प्रेरित करें (16/1,3, 18/37), अपनी प्रजा के बालक, कुमार, गाय, घोड़े और उपकारी व्यक्तियों की हत्या न करें (16/16), पुरुषार्थी को उत्साहित करें; प्राणियों पर दया करें; सेना को शिक्षित करें; चोरों को दण्ड दें; सेवकों की रक्षा करें; वनों को न काटें; कपटी व्यवहार करने वाले चोर–डाकुओं को बुरे कार्यों से रोकें; धर्मात्माओं का पालन करें (16/20–21), अपने सेवकों की शिक्षा, सम्मान और आहार की समुचित व्यवस्था करें (16/26, 34), बाहुबल से राज्य प्राप्त करें; शूरवीर व्यक्तियों को सेना में भर्ती करें; शत्रु को पछाड़ दें (12/112, 16/53), रक्षा और अभयधन से सबको सुख पहुँचायें (21/11), राजा की आज्ञा से धर्मात्माओं को प्रोत्साहित करें; हँसी उड़ाने वाले और भय प्रदान करने वालों को दूर करें; शिल्पविद्या की उन्नति करके शिल्पियों से विशिष्ट रचनाएँ करवायें; शिक्षित हाथी–घोड़े रखने वालों से सम्बन्ध बनायें; विद्वानों की संगति प्राप्त करें (30/6–7,11–12, 22, 33/68), प्रजा से प्राप्त 'कर' को उसी की सुरक्षा और दुष्टों के दमन में लगायें (9/17), और पुरुषार्थ का सेवन करें (20/72, 83). ।

न्यायाधीश :– यजुर्वेद में राजा को स्वयं ही न्यायाधीश का पद ग्रहण करने के बाद भी (7/17) बताया गया है कि वही व्यक्ति न्यायाधीश बन सकता हैं और राज्य तथा प्रजा की रक्षा कर सकता है, जो धार्मिक हो; अपराधियों को दण्ड दे; तथा निरपराधों की रक्षा करें (9/25, 12/63, 20/2) ।

मन्त्री :– यजुर्वेद के अनुसार मन्त्री के कर्त्तव्य हैं– कर ग्रहण करना (9/25), राजा और राजकीय कर्मचारियों को व्यसनों से दूर रखना, उन्हें विनयसम्पन्न बनाकर ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करना (27/8, 33/62) तथा सेनापति को सेना के बल से श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों को प्रताड़ित करने की सलाह देना (16/11). ।

वैद्य :– राजा अपने सभासदों की सहायता से व्यक्ति को राज्य और सेना का वैद्य बनाये जो सभी रोगों और औषधियों का अच्छा जानकार हो; इसके अतिरिक्त धर्मनीति, औषधिदान और हाथ की कुशलता द्वारा रोगों से सेना और प्रजा की रक्षा कर सकता हो (16/11) ।

सेनापति :– सेनापति के पद पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए जो शत्रुओं को नियन्त्रित करने में कुशल हो; सेना के वीरपुरुषों की रक्षा कर सके; अस्त्र–शस्त्र के प्रयोग में प्रवीण हो; विद्वान् हो; निष्पक्ष हो; और बलशाली हो (7/22, 9/25, 12/34) । सेनापति अपनी सेना लेकर पहले ही दुष्ट शत्रुओं को घेरकर उन्हें छिन्न–भिन्न कर दे और युद्ध में

विजय प्राप्त कर ले (5/37)। उसका कर्त्तव्य है कि वह सैनिकों का उचित भरण–पोषण करें; सेना को विभिन्न व्यूहों में सजाकर युद्ध हेतु भेजे; सहयोगियों से मित्रता का व्यवहार करें; युद्धभूमि में सैनिकों को प्रोत्साहित करें (6/19–20, 8/53), अपने स्वास्थ्य की रक्षा करें (7/38, 27/37), और वीरों को शिक्षित करें (12/80, 16/14)। वह युद्धविद्या को जानने वाला, अस्त्र–शस्त्र धारण करने वाला, सज्जनों का प्रिय, दुष्टों का विरोधी, सेनाओं को प्रसन्न रखने वाला, धनुष बाण की सहायता से शत्रु को जीतने वाला और शत्रु द्वारा फैंके गये बाणों से अपनी रक्षा करने वाला हो। उसे युद्ध के समय अस्त्र–शस्त्र सामग्री कम होने पर उसकी पूर्ति करनी चाहिए (16/3,7, 9–11, 51); युद्ध में नीच कर्म करने वालों को रोकना चाहिए; राजा और प्रजा के विरोधियों को दण्डित करना चाहिए; और तीक्ष्ण शस्त्रों से शत्रुओं के सेनाङ्गों को जीतना चाहिए (18/69–71, 33/67)।

सेना :– राजा और राज्य के लिए सेना अपरिहार्य है (6/3)। इसलिए सेना में श्रेष्ठ वीरों की नियुक्ति करनी चाहिए (7/29)। योद्धाओं को सेनाध्यक्ष के नेतृत्व में शत्रुओं को जीतना चाहिए (9/13); उन्हें दृढ़ प्रत्यञ्चा वाले धनुष एवं बाणों को धारण करना चाहिए; युद्ध से पलायन करने वालों, योद्धा के माता–पिता, स्त्रियों, युद्ध के प्रबन्धकों और दूतों को नहीं मारना चाहिए; शत्रु तथा उनके सम्बधियों को वश में रखना चाहिए; विजयप्राप्ति के लिए जाते समय अपने बल की परीक्षा करके पूर्णसामग्री से सम्पन्न होकर ही युद्ध करना चाहिए; और शत्रु के नियन्त्रण से अपने को बचाना चाहिए (16/10,15, 18/17, 20/53, 82)।

अथर्ववेद

राष्ट्र :– अपने देश और उसके निवासियों को परतन्त्रता के पाश से मुक्त रखना चाहिए। इस पर आक्रमण करने वाले और कब्जा करने वाले लोग ही इसके शत्रु हैं। इसके अस्तित्व की सुरक्षा के लिए इसमें सत्यप्रिय, उद्योगशील, महत्त्वाकांक्षी, उत्साही, वस्तुस्थितज्ञ, धैर्यवान्, साहसी, तेजस्वी, धर्मनिष्ठ, संयमी, स्वाध्यायशील, शान्त, स्थिरभावसम्पन्न, परोपकारपरायण, ईश्वरभक्त, दक्ष, नियमों का पालन करने वाले, आवश्यक पदार्थों का संग्रह करने वाले, त्यागी, स्वस्थ, दृढांग, दीर्घायु, हितकारी, व्यवहार में मधुर, परस्पर प्रेमयुक्त, निद्रा–तन्द्रा–आलस्य, अज्ञान, द्रोह से रहित, कार्यकुशल और एकता रखने वाले व्यक्तियों का निवास होना चाहिए; इसमें नेता, ज्ञानी, वीर, परोपकारपरायण, संन्यासी, रक्षा करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, शूरवीर,क्षत्रिय, व्यापर में कुशल वैश्य और सेवापरायण शूद्र–सभी प्रकार के मनुष्य होने चाहिए; इसमें जल, वायु, अग्नि, सिंचाई के साधन, धनधान्य, उद्योग, कृषि, उत्तम औषधियाँ और रत्न पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए; इसमें व्यक्ति को ज्ञान और यश की प्राप्ति के अवसर मिलने चाहिए; इसमें प्रजापालन समुचित रीति से होना चाहिए; इसमें प्राकृतिक स्थल शत्रुओं से रहित होने चाहिए; चोर, डाकू, हिंसक जन्तु, विषैले जन्तु और आततायियों

का अभाव होना चाहिए; इसमें होने वाली गति–विधियों की जानकारी शत्रुओं को नहीं मिलनी चाहिए; लोग शत्रुओं को पराजित करने वाले होने चाहिए; और इसमें नगर, वन, सभा, परिषद आदि होने चाहिए (12/1)।

राजा :– बहुत पहले राजा नहीं था, तब राज्य–संचालन के लिए गृहपति, सभा, समिति, मन्त्रिमण्डल, पंचायत आदि का निर्माण हुआ (वही, 8/107)। अथर्ववेद में मनुष्यों का हित करने वाली सभा का नाम नरिष्टा सभा बताया गया है (वही, 7/12)।

राजा को आत्मविश्वासी, धनवान्, प्रजारक्षक, शत्रु का दमन करने वाला, उत्साही, ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, क्षत्रियों का संरक्षक, श्रेष्ठ व्यक्तियों के कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने वाला, बलवान्, धनधान्य का संग्रहकर्त्ता, विशाल और शीघ्रगामी रथ से युक्त, श्रेष्ठ शस्त्रों को धारण करने वाला, कल्याणकारी, निर्भय, स्थिर, प्रभावशाली शत्रुओं का प्रभाव क्षीण करने वाला, सोमरस पीने वाला, सज्जनों का पालक, तेजस्वी और सेना लेकर चढ़ाई करने वालों का दमन करने वाला होना चाहिए (वही, 3/6, 6/88, 7/62, 84–86, 91–93)। राजा का परमकर्त्तव्य है कि वह मित्र बनाये; प्रजा को सचेत करें; शत्रु का विनाश करें; विद्वान् लोगों से समय–समय पर मन्त्रणा लें; प्रजा के उपभोग की समस्त सामग्री प्रस्तुत करे; और शत्रु को नष्ट करने वाली, ओज और ऐश्वर्य बढ़ाने वाली, आयुष्य और स्वास्थ्य देने वाली, उत्साहवर्धक, विभिन्न प्रकार की औषधियों के रस से बनने वाली 'पर्णमणि' धारण करें (वही, 4/8, 3/5)। राजा राज्य के वरिष्ठ व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करे; और प्रजाजनों के बीच में साधारण व्यक्तियों के समान भ्रमण करते हुए उनकी सामर्थ्य बढ़ाये (3/4, 6–7)। विजयाभिलाषी राजा को शूरवीर, कीर्तियुक्त, प्रजा की समृद्धि को बढ़ाने वाला, राष्ट्र को क्षात्रतेज से सम्पन्न करने वाला और शत्रुओं को पराजित करने वाला बनना चाहिए। श्रेष्ठ राजा वह है जो पशुओं की रक्षा करें और राजकोष की वृद्धि करें (6/98, 7/50)। राजा का अभिषेक दिव्य जलों से किया जाना चाहिए (4/8, 3/5)।

क्षत्रियेतर प्रजाजन अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए उन्होंने राष्ट्र की व्यवस्था और प्रजा की रक्षा के लिए कल्याणकारी राजा चुना (6/128)।

प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह तेजस्वी व्यक्ति को राजा बनाये और राज्य के हित के लिए बाहर गये हुए राजा को पुनः बुलाये (3/4/1–5)। प्रजारन्जक, चञ्चलता से रहित, राष्ट्र की उन्नति में तत्पर और विद्वानों की सम्मति से शासन करने वाले व्यक्ति को ही राजा बनाना चाहिए (6/87)।

पुरोहित :– ज्ञानी पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र संवर्धक 'अभीवर्त' मणि राजा को पहिनाते हुए उसे प्रेरित करें कि वह दुर्व्यवहार करने वाले शत्रुओं को पराजित करें (1/29); वह ज्ञान के तेज से राष्ट्र को पराक्रमी बनाये; उत्साही बनाये; शत्रुओं का विनाश करवाये;

शस्त्रास्त्रों को तीक्ष्ण बनाने का उपदेश दें; विजय के लिए शुभकामनाएँ व्यक्त करें; और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को उनके योग्य शिक्षा दे (6/125)।

न्यायाधीश :– ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश बनाया जाना चाहिए; जो हितकारी, ज्ञानी, सत्कर्मा, शस्त्रधारी, उत्तमवाणी सम्पन्न, बलसम्पन्न, मैत्रीभावसम्पन्न, शुद्धाचरणसम्पन्न, तेजस्वी और मृत्यु से न डरने वाला हो। न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि वह अपराधानुसार दुष्टों को देश से निर्वासित करे; उन्हें लोहे की कील से छिदवाए; कारागार में बन्द करवाए; उन पर शस्त्र प्रहार करवाए; उनको मांस भक्षकों से नुचवाए; उनके विभिन्न अङ्गों को कटवाए; उन्हें गाय का दूध न पीने दे; जलाकर मरवाए; या वध करवाए (8/3, 8/4)।

कर नीति :– अथर्ववेद के अनुसार राजपुरुष प्रजा से उसकी आय का सोलहवाँ भाग 'कर' के रूप में लें। इसी 'कर' की सहायता से प्रजा को दुःख देने वालों को दण्ड दिया जाता है; प्रजा की सामर्थ्य बढ़ाई जाती है; उसको भयमुक्त किया जाता है; उसका अभ्युदय किया जाता है; सज्जनों का पालन किया जाता है; राष्ट्र का विस्तार किया जाता है; वीरों में प्रभविष्णुता की वृद्धि की जाती है; जाति का अस्तित्व स्थिर रखा जाता है; जनता के मनोरथों को पूर्ण किया जाता है; और प्रजा को विनाश से बचाया जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर प्रजा को चाहिए कि वह राजा को 'कर' दें (3/29, 7/109)।

सेना :– प्रत्येक क्षत्रिय को प्रसन्न, उन्नतिशील, अश्वारोहण और रथारोहण में कुशल, सोमरस पीने वाला, पुरुषार्थी, प्रयत्नशील, शत्रु पर वेग से आक्रमण करने वाला, जीवन–कलह को दूर करने वाला और शस्त्र धारण करके युद्ध के लिए सदैव तैयार रहने वाला होना चाहिए (2/5)। प्रत्येक क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को दुःख, आपसी झगड़े और अभाव से बचाये; तथा उनके ऐश्वर्य, संगठन और दीर्घायुष्य में वृद्धि करे (7/103)।

हमें दास बनाने की इच्छा करने वाले, हमें विनष्ट करने के इच्छुक और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमसे शत्रुता रखने वाले सभी दुष्टों का विनाश कर देना चाहिए। शत्रुओं को अपने अस्त्र–शस्त्रों का लक्ष्य बनाना चाहिए अथवा उनसे दूर रहना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम शत्रु के शस्त्र प्रहार का लक्ष्य न बन पायें (7/19, 40, 108)। हमें सताने वाले और अपनी शक्ति बढ़ाकर हमें पराजित करने के इच्छुक शत्रुओं के प्रयत्नों को असफल कर देना चाहिए (7/70)। शत्रुओं का वध करने के लिए वज्रादि शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए (5/20.–21, 6/125, 126, 134); उत्तम भोजन से अपना बल बढ़ाना चाहिए (6/135); ज्ञानी, पराक्रमी, मित्र, न्यायपरायण, धनी तथा अश्वों से युक्त व्यक्तियों सहित शत्रुओं का विनाश करके राज्य की रक्षा करनी चाहिए; रथ, दुन्दुभि और दुन्दुभि का घोष आदि से भी युद्ध में सहायता लेनी चाहिए; शत्रु का बल कम करने का प्रयत्न करना चाहिए; उसे भुजाओं से रहित कर देना चाहिए; भयभीत कर देना चाहिए (6/104, 6/65–67); यज्ञ, अग्नि, सोम,

पराक्रम और जितेन्द्रियता से शत्रुओं का विनाश करना चाहिए (6/97); शत्रुता करने वाले को अपने से इतना दूर कर देना चाहिए कि वह फिर लौटकर न आ सके (6/75); शत्रु के ऊपर वेग से निर्भयतापूर्वक आक्रमण करना चाहिए (5/8), हिंसक जन्तुओं और लुटेरों का विनाश कर देना चाहिए (4/3); दुष्टों का बल घटाकर उनसे स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए; और घातक शत्रुओं एवं डाकुओं को दण्ड देना चाहिए (1/7, 7/90)। शत्रुसेना को जलाते हुए, सम्मोहित करते हुए, वेगपूर्वक शस्त्र चलाते हुए, पराक्रम से डराते हुए, देश से हटाते हुए, उसके विरूद्ध होते हुए, जब वह विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो, तभी उस पर आक्रमण कर देना चाहिए (3/1,2)। युद्ध के समय सैनिक कवच धारण करके प्रसन्नतापूर्वक युद्धक्षेत्र में जायँ; शत्रु के किले को तोड़ें; उसकी सेना को मथें; शस्त्रों का प्रहार करें, उत्साहित हों, युद्धनीति के जाल में शत्रुओं को बाँधकर उन्हें शस्त्रास्त्रविहीन कर दें; और विजय प्राप्त करें (8/8, 1/118)।

माता–पिता का कर्त्तव्य है कि शत्रु का विनाश करने के लिए वे अपने पुत्र के शरीर को बलशाली बनायें (1/2, 6/64)। स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि आवश्यकता होने पर वे भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करें (1/27)। औषधियों के प्रयोग से भी शत्रु को पराजित करने का प्रयत्न करना चाहिए (2/27)। दीर्घसूत्री, जल्दबाज और बुराई को न रोकने वालों से कोई कार्य नहीं कराना चाहिए और युद्ध के समय ईश्वर को परमसहायक मानकर शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए (7/50)।

विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धालु हों; उसमें योग्य और दैवी गुणों से युक्त सज्जनों को उचित स्थान दिया जाय; हममें संगठन की भावना हो; विरोधियों को भी एकता की शिक्षा मिले; और शासक स्वयं गुणी हो (1/15, 3/8, 6/94)। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में विजयप्राप्ति के लिए सैनिकों में बल, सामर्थ्य, पराक्रम, व्यूहनिर्माण में कुशलता, युद्धचातुर्य आदि का होना आवश्यक बताया गया है। साथ ही अपने पक्ष के क्षत–विक्षत सैनिकों के लिए औषधि, जल इत्यादि साधनों का प्रबन्ध भी आवश्यक है। शत्रुओं के पास इन सबका अभाव कर देना चाहिए ताकि उस पर विजय पाई जा सके (10/5)।

युद्ध के समय वीर सैनिक रक्तवर्ण की ध्वजाओं सहित उठें; तीन सन्धियों वाले वज्र, लोहे के अग्रभाग वाले और सुई की नोक के समान तीक्ष्ण तथा वेगशाली बाण धारण करें; कवच धारण करें; रथ पर चढ़ें; अपनी भुजायें और शस्त्रास्त्र तैयार रखें; शत्रुओं को अन्धकार ग्रस्त और संमोहित करें; अपने मित्रों को भी तैयार करें; शत्रुओं को घेरकर उन पर आक्रमण कर दें; उन्हें मार डालें; जीवित शत्रुओं को शरण में ले लें; और विभिन्न उपायों से उन्हें भयभीत करके उन पर आधिपत्य जमा लें (11/9–10)।

• • •

पुराण का पञ्चमवेदत्व– एक समीक्षा

डॉ0 विक्रम कुमार विवेकी
पंजाब वि0 वि0, चण्डीगढ़

ऋग्, यजुष्, साम एवं अथर्व के नाम से चार ही वेद सुप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य हैं। अनेकत्र पुराण को भी जो पञ्चम् वेद की संज्ञा प्राप्त हुई है, वह विवेचनीय है। सर्वप्रथम पुराण के पञ्चम वेदत्व के पक्ष में कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं–

अथर्ववेद में स्पष्टतया यह उल्लेख प्राप्त होता है कि पुराण ऋग् आदि अन्य वेदों के साथ ही उस यज्ञमय परमात्मा से उत्पन्न हुए–

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।।[1]

ऋग्वेद में भी अनेक स्थलों पर पुरातन अर्थ में पुराण शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में अति स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं–

(क) **ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमंवेदानां वेदम्......।**

(ख) **नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः।**

(ग) **वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।[3]**

इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, अन्य उपनिषदों, सूत्र ग्रन्थों, स्मृतियों तथा महाभारत आदि में 'पुराण' शब्द प्रायः वेदत्व के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लिखित है।[4] स्वयं पुराण ग्रन्थ भी अपने वेदत्व होने का डिण्डिम घोष करते हैं– **पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्।।[5]**

उपर्युक्त नाना प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में 'पुराण' शब्द का क्या अभिप्राय है? पुराण को पञ्चम वेद कहने से क्या तात्पर्य अभिप्रेत है? इस तथ्य को जानना निष्कण्टक एवं अति सरल नहीं हे। यह विषय तब और भी अधिक जटिल हो जाता है जब व्यास के नाम से प्रोक्त अठारह पुराणों का अस्तित्व ही आजकल पाया जाता हो और उनमें अनेक स्थलों पर ऊल–जलूल प्रसंग पाये जाते हों।

यहां प्रश्न रेखांकित होता है कि आर्ष परम्परा की दृष्टि में जैसे चारों ऋग् आदि वेद

अपौरुषेय हैं, वैसे ही क्या पुराण भी अपौरुषेय पञ्चम वेद है। जैसे वेदों का आरम्भ ब्रह्मा से हीं हुआ है ठीक उसी प्रकार से क्या पुराणों का आरम्भ भी ब्रह्मा से ही हुआ है। वैदिक मन्त्र जैसे ऋषि, देवता, छन्दों से बन्धे हुये हैं क्या पुराणों की भी यही स्थिति है या रही हैं?

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने स्व रचना 'पुराण विमर्श' के 'वक्तव्य' नामक अपनी भूमिका में उचित ही कहा है–"आजकल ऐतिहासिक पद्धति से पुराण के विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न रहकर अजायबघर में रखने की चीज बन जाता है। उसके अंग–प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जा रहा है कि उसके मूल में कोई तत्व ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नहीं है। लेखक के एक हाथ में श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ में तर्क। वह श्रद्धाविहीन तर्क का न तो आग्रही है और न ही तर्क विरहित श्रद्धा का पक्षपाती। इन दोनों के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि पुराण के तथ्यों में आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल में (अन्तरंग में) यथार्थता विराजती है। परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, बहिरंग को हटाकर अन्तरंग को पहचानने का प्रयास।"उन्होंने भूरि–परिश्रम के माध्यम से अपने विशाल ग्रन्थ में पुराण के नाना पक्षों पर स्तुत्य प्रयास करके पुराण कथनों के अनेक निष्कर्ष भी निकाले हैं, जो विद्वानों के लिए संग्राह्य हैं।

महाभारत में भी जिस आशय से कहा गया है कि–**इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।** वेद के अर्थ को हृदयंगम करना हो तो इतिहास और पुराण की सहायता ले लेनी चाहिये, इस कथन का भी मूल अभिप्राय हमें जान लेना चाहिये।

यदि हम पुराणों के पञ्चम वेदत्व की समीक्षा करना चाहते हैं तो हमें 'पुराण' और 'वेद' दोनों शब्दों के व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर चलना होगा। आज इन दोनों शब्दों का भी अत्यधिक अर्थ विस्तार हो गया है, जैसे धर्म और संस्कृति शब्दों का अत्यधिक अर्थ विस्तार हुआ है। परिणाम यह है कि इन शब्दों का ग्रन्थोक्त मूल–अर्थ या मूल–अभिप्राय नष्ट सा हो गया है। वेद का नाम लेते ही चार वेद तथा पुराण का नाम लेते ही 18 पुराण वाले अर्थों का ही संकेत ग्रह हमें होने लगता है। जब कि वस्तु स्थिति कुछ और ही है। यदि पुराण से अभिप्राय 18 पुराण ही होते तो इन पुराणों की रचना से पूर्व रचित वेद–ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इन पुराणों की नाम चर्चा अवश्य होती। प्रायः पूर्ववर्त्ती एवं परवर्ती समस्त साहित्य में 'पुराण' शब्द के साथ इतिहास शब्द भी जुड़ा हुआ है तो क्या पुराण के पंचमवेदत्व में इतिहास भी वेदत्व की कोटी में आयेगा? और यदि इतिहास–पुराण को पंचम वेद कहा भी जाता है तो उसका क्या

अभिप्राय होना चाहिये? यह मनीषियों के लिए विवेच्य है।

वेद शब्द का अर्थ :– स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाषा भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय प्रकरण में वेद शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से किया है– विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम् विद्लृ लाभे, विद् विचारणे, एतेभ्यो 'हलश्च' (अष्टा0 3.3.121) इति सूत्रेण करण अधिकरणकारकयोर्धञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। विदन्ति = जानन्ति विद्यन्ते = भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते = लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्या सर्वाः सर्वविद्या यैर्येषुवा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।। जिसका भाषार्थ है– एक विद् धातु ज्ञानार्थक है, दूसरा विद् सत्तार्थ है, तीसरे विद्लृ का लाभ अर्थ है, चौथे विद् का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'धञ्' प्रत्यय् करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़कर के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक–ठीक सत्य–असत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का 'वेद' नाम है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला में वे लिखते हैं– जो ईश्वरोक्त, सत्य विद्याओं से युक्त, ऋक् संहिता आदि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको 'वेद' कहते हैं। (95)

ऋ.भा.भू. के वेदसंज्ञा–विचार में प्रश्नोत्तर के माध्यम से उनका कथन है– प्रश्नः–वेद किन ग्रन्थों का नाम है? उत्तर ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का नाम वेद है, अन्य का नहीं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वामी दयानन्द के मत में जहाँ वेद शब्द से अभिप्राय केवल सत्य विद्याओं से युक्त ऋग्, यजुः, साम और अथर्व संहिता आदि केवल चार ग्रन्थों से ही है, वहां चार धातुओं से निष्पक्ष वेद शब्द का अर्थ केवल इन्हीं चार संहिताओं में ही सीमित न रहकर विविध अन्य ज्ञानों से युक्त इतर ग्रन्थों को भी वेद नाम से संज्ञित कर दिया गया है। यही कारण है कि गोपथ ब्राह्मणकार कहने लगते हैं– पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। गो0ब्रा0 1.10

वें इतिहास को वेद मानने लगते हैं और पुराण को भी क्योंकि इनके माध्यम से लौकिक व्यवहारों कर्त्तव्यों एवं अकर्त्तव्यों का ज्ञान् ही प्राप्त होता है।

तभी तो महर्षि व्यास रचित विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत को भी (जिसका यथार्थ स्वरूप आज भी सन्दिग्ध है) पञ्चम वेद कह दिया गया हैं और उसके विषय में घोषणा की गयी है:–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्ष
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।

परन्तु यह महाभारत ग्रन्थ आर्ष परम्परा प्रोक्त वेदों के अन्तर्गत तो नहीं आ जाता या अपौरूषेय वाणी तो नहीं कहलाती। ठीक यही स्थिति पुराण की है।

पुराण शब्द का अर्थ :– पा0सू0 4.3.23 सायं चिरं0 के अनुसार पुराभवम् पुराणम् (पुरातनम्)। पुरा नवं भवति (नि0 3.19) = प्राचीन होकर भी जो नया होता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में भी पुराण का लक्षण है।[6] समस्त निर्वचनों से पुराण का अर्थ पुरातन = प्राचीन इतिहास अर्थ ही अवगत होता है। पुराण अर्थात् पुरातन, पुरातन घटनाओं का वर्णन। पुराण के स्वरूप के विषय में दो धाराओं का अनुमान किया जा सकता है।

1– पुराण अर्थात् पुरातन घटनाओं की वैदिक साहित्यिक धारा, जिसमें पुरातन प्राकृतिक घटनाओं का वर्णन है,इसलिए वेद में भी पुराण हैं अर्थात् पुरातन घटनायें हैं।

2– वैदिक साहित्येतर धारा जिसमें व्यासोत्तरधारा समाविष्ट है। आधुनिक समस्त पुराणों, उपपुराणों का अन्तर्भाव जिसमें हो जाता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त वैदिक साहित्य में जहाँ कहीं भी 'पुराण' या 'इतिहास–पुराण' का उल्लेख हुआ है वहाँ पर कहीं भी इन अठारह पुराणों का नामोल्लेख नहीं है। आज जब कि तथ्य यह है कि आधुनिक सम्प्रदायों के पोषक विद्वान् प्राचीन पुराणेतिहास विद्या के तत्त्व को विस्मृत कर इन अठारह पुराणों को ही पुराण मानते हैं। "इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः" से तात्पर्य इन अवान्तरकालीन पुराण ग्रन्थों से नहीं है, क्योंकि वेदार्थ के उपवृहंण में इनका क्या योगदान हो सकता है। भागवत् पुराणोक्त मोहिनी अवतार, कृष्ण की रासलीला, चीरहरण लीला, शैव पुराणों में वर्णित शिवदूती प्रसंग आदि कथायें कौन से मन्त्रार्थ को स्पष्ट करती हैं? जहाँ तक स्वयं पुराणकारों द्वारा पुराण–प्रशंसक वाक्य लिखे गये हैं, वे केवल उपचार मात्र हैं। स्वरचना की प्रशंसा ही केवल वहाँ की गयी है– वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः। (स्कन्द रेखा खण्ड 1.22) वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने। (नारदीय पु0 2.24.17) इसी स्व प्रशंसा के भाव ने मत्स्य पुराणकार को इतना उत्साहित किया कि उसने कहा–

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तंर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। (मत्स्य पु0 52.3)

अर्थात् पहले ब्रह्मा ने पुराण रचे तत्पश्चात् वेद उसके मुखसे विनिर्गत हुये। जब कि वेद ही संसार के सर्व प्राचीन ग्रन्थ हैं। (इस कथन का विरोध ब्रह्म पु0 1.15 में द्र0)

विस्ताराय च वेदानां स्वयं नारायणः प्रभुः।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले।।

यच्च दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिभिः किल।
उभाभ्यां यत्तु दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते।।

स्कन्द, रेवाखण्ड 1.22

डिंगल के महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ ने अपनी रचना 'बेली किसन रूकमणी री' में अपने ग्रन्थ को पांचवां वेद और उन्नीसवां पुराण कहा है– 'पांचवों वेद र उण्णीसवों पुराण पीथल भाखियों, तो इसका तात्पर्य केवल स्वकाव्य–प्रशंसा मात्र है। काव्यकार के कथन मात्र से कृष्ण और रूक्मिणी के परिणय का वर्णन करने वाला यह काव्य वस्तुतः वेद या पुराण की श्रेणी में नहीं आ जायेगा। यही वस्तुस्थिति पुराणों की है।

डॉ0 बलदेव उपाध्याय पुराणों की तीन श्रेणियाँ मानते हैं। 1. प्राचीन पुराण 2. मध्यकालीन पुराण 3. अर्वाचीन पुराण। प्राचीन पुराणों में वे ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य, विष्णु का, मध्यकालीन पुराणों में श्रीमद्भागवत्, कूर्म, स्कन्द और पद्म को तथा अन्य शेष पुराणों को अर्वाचीन मानते हैं। परन्तु ये तीनों श्रेणियाँ हमारे विचार से पञ्चम वेद की कोटि में नहीं आते। 'पुराण' को 'पञ्चम वेद' के अभिधान से संज्ञित जो प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं उनसे तात्पर्य वेदों में वर्णित प्राचीन, सर्वदा पुरातन (अर्थात् पुराण) प्राकृतिक घटनाओं से ही है जो हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हुये हमें ज्ञानवान् बनाते हैं। इसलिए उन वेदवर्णित प्राकृतिक घटनाओं का विवरण या विश्लेषण करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ आदि ही पुराण हैं। जो वेदार्थ को इतिहास, कथा आदि के माध्यम से स्पष्ट करने के कारण पञ्चम वेद कहे जा सकते हैं। जबकि वे मूल वेद नहीं हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ वक्तव्य इस विषय में उल्लेखनीय हैं:– जो प्राचीन ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि मुनि कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं उन्हीं को 'पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं। (आर्योद्देश्यरत्नमाला–17)

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति। तद्यथा– ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति। (ऋ0भा0भू0 वेदसंज्ञा विचारः)
देवासुराः संयत्ता आसन्।। (तै0सं0 1.5.1.1) इत्यादयः इतिहास ग्राह्याः।
सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।। छान्दोग्यो 6.2.1
आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्।।' '(ऐतरेयारण्यकोपनिषद् 1.1.1) आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। श0 ब्रा0 (11.1.6.1) इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्।।' इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि। अर्थात्

जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है। जो ब्राह्मणग्रन्थों में 'देवविद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है।

कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्य प्रकाशकाः? तद्यथा– 'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह, यादाहेषे। त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह। जो वेदमन्त्रों के अर्थ, अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो। यथा शतपथ ब्राह्मणे गार्गी मैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति। इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

नाराशस्यश्च, अत्राहुर्यास्काचार्याः नराशंसो यज्ञ इति काथक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवित।। (नि0 8.6) नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरूक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्यया नातोऽन्या इति। और जिनमें नर अर्थात् मुनष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थ विद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं। इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक–ठीक लिखीं है। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिए, क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखीं हैं। सो ब्रह्मदि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्र भाग की ही वेद संज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं है। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। (ऋ0भा0भू0, वेदसंज्ञाविचार)

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त कथन वेद और पुराण के विषय में सब कुछ स्पष्ट कर देते हैं। उनके मत में वेद चार ही हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में सर्वत्र जहां पुराण को पंचम वेद कहा गया है, वहां पुराण से तात्पर्य अष्टादश पुराण नहीं अपितु ऐतरेय आदि ब्राह्मण ही पुराण हैं तथा इतिहास शब्द का भी अभिप्राय ब्राह्मण ग्रन्थों का इतिहास से ही है।

ये ब्राह्मण ग्रन्थान्तर्गत इतिहास पुराण आदि भी मूल चार संहिताओं के मन्त्रों के अर्थ को सरल प्रणाली से हृदयंगम कराते हैं, इसलिये ये पंचम वेद कहलाते हैं। मूलतः ये वेद नहीं हैं। उपचार से ऐसा कहा जाता है। पुराण के पंचम वेदत्व होने के यत्र–तत्र उल्लिखित समस्त प्रमाणों का यही एकमात्र अभिप्राय है कि मूल पुराण विशेष प्रणाली के माध्यम से

वेदार्थ को स्पष्ट करते हैं। परन्तु वे पुराण का सही अर्थ उपर्युक्त रूपेण ही करते हैं। प्रश्नोत्तर के माध्यम से उनका कथन अति स्पष्ट है। सब पुराण और सब उपपुराणों को उन्होंने त्याज्य ग्रन्थों में परिगणित किया है। प्रश्नः– क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं? उत्तर थोड़ा सत्य तो हैं परन्तु इसके साथ बहुत सा असत्य भी है। इससे 'विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्याः' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं। प्रश्नः– जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते? उत्तरः–जो–जो उनमें सत्य है, सो–सो वेदादि सत्य शास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे। इसलिये 'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति' असत्य से युक्त ग्रन्थ को भी वैसे छोड़ देना चाहिये, जैसे विषयुक्त अन्न को।

इतिहास और पुराण के विषय में आचार्य शंकर का कथन भी स्पष्ट है। उनके मत में इतिहास और पुराण दोनों ही वेद में उपलब्ध हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (7.1) के भाष्य में आचार्य शंकर लिखते हैं– ''इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी ह्यप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् 'असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि'। उर्वशी तथा पुरूरवा के संवाद को सूचित करने वाला' उर्वशी ह्यप्सराः, पुरूरवसमैडं चकमे' आदि (श0ब्रा0 11.5.1.1) इतिहास है तथा 'असद्वा इदमग्र आसीत् सृष्टि–प्रक्रिया से सम्बन्धित विवरण पुराण है। सायणाचार्य की मान्यता इसके विपरीत है। वे सृष्टि प्रक्रिया प्रतिपादकब्राह्मण भाग को पुराण कहते हैं।(द्र0 श0 ब्रा0 11.5.6.8, 11.1.6.1, 11.5.1.1. पर सायण भाष्य)

समस्त कथनों से अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि इतिहास और पुराण से अभिप्राय ब्राह्मण भाग ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के समान सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि की चर्चा अद्यतनीय अष्टादश पुराणों में भी किये जाने के कारण ये भी पुराण ग्रन्थ तो हैं ही, परन्तु इनकी प्रामाणिकता वेदमूलकता के साथ–साथ ही माननी चाहियं। पारस्परिक विरोधोक्तियाँ तथा कामोद्दीपक ऊल–जलूल श्रृंगारिक वर्णन विषवत् त्याज्य ही हैं। जहाँ तक प्रतीकों के माध्यम से उदात्ततम कथ्यों का तात्पर्य निकलता है वे सब संग्राह्य तो हैं ही।

भुवन–कोष का वर्णन प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। विश्व के भूगोल का वर्णन, मृत्यु के उपरान्त जीव की कर्मानुसार गति वर्णन, राजधर्म का वर्णन, आयुर्वेद–वर्णन, ज्योतिष–विद्या, छन्दः शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि का विवेचन, अद्वैत सिद्धान्त की चर्चा, स्वर्ग–नरक के स्वरूप का वर्णन, विविध आख्यान एवं प्रतीकों की व्याख्या आदि पुराणों के विषय परतः प्रमाण से ही स्वीकार्य हैं। पुराणों मं रामायण कथा, महाभारत कथा, अवतार

वर्णन, कृष्ण कथा, शिवलिंग की उपासना, तीर्थों का माहात्म्य, पापों से मुक्ति का वर्णन, कृष्ण की रासलीला आदि विषय भी उपवर्णित हैं जिनकी याथातथ्यतः प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

अतः वात्स्यायन ने न्यायसूत्र 4.1.62 के भाष्य में लोकवृत्त के ज्ञान के लिए इतिहास पुराण का प्रामाण्य माना है। कुमारिल स्मृतियों के समान पुराणों का प्रामाण्य परतः माना है। पुराण का वेदविरूद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नहीं रखता। (जै0सू0 1.3.1 पर तन्त्रवार्तिक) आचार्य शंकर 'स्मृतिश्च भवति' कहकर पुराणों के श्लोकों का उद्धरण देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे पुराण का प्रामाण्य स्मृति–कोटि में मानते हैं। (शारीरक भाष्य 1.3.33)

अन्ततः कहा जा सकता है पुराण साहित्य अतिविस्तृत हो गया है। जिस पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है वे उपलब्ध 18 पुराण या अन्य उपपुराण नहीं हैं अपितु पुराण विद्या एक शैली रही हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध है। वही शैली वेदार्थ का सरलतया अवगमक होने के कारण उपचार से पंचम वेद के अभिधान से मण्डित है। इस शैली की छाया यदि अर्वाचीन पुराणों में भी है और वह किसी अंश तक वेद विरोधी न होते हुये वेदार्थ का यथार्थ प्रतिपादक है तो उपचार से इन्हें भी पञ्चम वेद कहने से संकोच नहीं होना चाहिये। परन्तु स्वामी दयानन्द के कथनानुसार इनमें से सत्य को ग्रहण करते समय असत्य के गले लिपट जाने का अधिक भय हैं।

सन्दर्भ संकेत

1– अथर्व 11.7.4

2– ऋग्– 3.54.9 ; 3.58.6, 10.130.6

3– छान्दोग्य उप0 7.1.2.; 7.1.4; 7.2.1

4– द्र0 गोपथ ब्रा0 2.10; श.ब्रा. 11.5.6.8; 14.6.10.6; बृहदा0 उप0 2.4.11 महा0 आदिपर्व 1.86

5– स्कन्द पु0 रेवा खण्ड 1.18

6– यस्मात् पुरा हयनक्तींद पुराणं तेन तत् स्मृतम्। वायु0 1.2.3

यस्मात् पुरा ह्ययंभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्। ब्रह्माण्ड 1.1.173

• • •

ऋग्वेदीय सृष्टि विज्ञान

–डॉ0 सुरेन्द्र कुमार
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
म0द0वि0वि0, रोहतक

यह विश्व कैसे बना? प्रारम्भ में क्या था? किस प्रकार इन सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि का निर्माण हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए प्राचीन काल से ही विभिन्न मानवीय सभ्यताओं के विद्वानों ने अथक प्रयास किया है। मध्यपूर्व (Middle East) की सृष्टि विषयक परिकल्पनाओं के अनुसार इस संसार का उद्भव देवी देवताओं से सम्बन्ध है। इन परिकल्पनाओं में Heliepolis (2700 ई0 पू0) की विचारधारा अधिक व्यवस्थित है। अवेस्ता (600 ई0 पू0) संसार की उद्भव प्रक्रिया पर प्रकाश डालता हुआ कहता है कि अहूमंजदा (Ormozed) ने सात लोकों का निर्माण किया। चीनी विद्वानों (300 ई0 सन्) के अनुसार ब्रह्माण्ड (Cosmic eag) के दो भाग में टूटने से द्युलोक और पृथिवीलोक बने। जापानी धर्म (Shinto) के अनुसार (800 ई0पू0) सृष्टि से पूर्व एक तैल से परिपूर्ण समुद्र था, जिससे देवी देवताओं तथा उनके बाद संसार का निर्माण हुआ। इसी प्रकार की अन्य परिकल्पनाएं हैं। जो कि मैक्सिकों में Aztees द्वारा मेसोपोटेमिया में Caneenites द्वारा तथा रोम और ग्रीस के विद्वानों द्वारा समय पर होती रही हैं। इन सबके पश्चात् बाइबिल की कल्पना प्रसिद्धि को प्राप्त हुई जिसके अनुसार छः दिनों में पूरे संसार का निर्माण हुआ[1]।

गत तीन शताब्दियों में पाश्चात्य दार्शनिकों ने निरन्तर अवलोकन, अन्वेषण के पश्चात सृष्टि निर्माण की निर्दिष्ट परिकल्पनाओं को निराधार सिद्ध करने के साथ–साथ अभाव से भाव की धारणा (Concept of creatieex nihilo) को भी सदा के लिए निरस्त कर दिया। इसके स्थान पर Descarte ने प्रकृति की विकास प्रक्रिया (Gradual coming into existence of mattex) की कल्पना की। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक आकस्मिक आपाती क्रिया द्वारा सृष्टि होना असम्भव है। इसके अनुसार यह संसार अरबों वर्ष तक चलने वाले प्राकृतिक विकास का परिणाम है[2]।

आधुनिक विज्ञान भी सूर्य नक्षत्रादिकों की उत्पत्ति प्रक्रिया के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं है। वैज्ञानिको में इस विषय में सम्बद्ध विभिन्न मत प्रचलित हैं। यथा–बिंगबैंग सिद्धान्त[3] (Bing beng's Theory) ,लाप्लास सिद्धान्त[4] (Laplace's Theory) वेज्यकर सिद्धान्त[5] (Weitzseker's Theory), जीन्स का सिद्धान्त[6] (Jeens's Theory)

ज्वार भाटा अथवा ग्रहों का सिद्धान्त (Tidal or Planetesimal Theory) आदि।

आधुनिक विज्ञान यह तो स्पष्ट करता है कि यह पृथिवी किसी समय सूर्य से पृथक् हुई थी। तथा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आग के गोले के समान थी, किन्तु सूर्यादि का निर्माण किस प्रकार हुआ? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर आधुनिक विज्ञान में अत्यल्प ही मिलते हैं। सूर्यादि के निर्माण से पूर्व की अवस्था के सम्बन्ध में तो आधुनिक विज्ञान मौन ही है।

ऋग्वेद में तात्कालिक अवस्था तथा सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन विशद रूप से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इस प्रकार के वर्णन यत्र तत्र कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं। यहाँ यह बात ध्यायय् है कि उन सभी स्थानों पर सृष्टि प्रक्रिया का क्रम एक ही है, केवल कथन प्रक्रिया में अन्तर है। मुख्य रूप से दशम मण्डल में इस विषय की पर्याप्त चर्चा हुई है। इसका नासदीय सूक्त इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसे सृष्टि सम्बन्धी सूक्तों में प्रथम स्थान दिया है। पं0 मधुसूदन ओझा ने अपनी 'ब्रह्मविज्ञान' नामक कृति में इस सूक्त के दस वाद माने हैं। डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी इस सूक्त की व्याख्या की है तथा पं0 मधुसूदन ओझा द्वारा स्वीकृत वादों का वर्णन करते हुए अन्य मन्त्रों से तुलना की है[8]। ये वाद पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस प्रकार वर्णित किये हैं[9]–

1– **सदसद्वाद** – इस वाद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति सत् से, असत् से और सदसद् से हुई।

2– **रजोवाद** – इस वाद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति रजस् तत्त्व से मानी गयी है।

3– **व्योमवाद** – यह व्योम शब्द से व्यवहृत परमाकाश हो इस विश्व का प्रभव प्रतिष्ठा और परायण है।

4– **अपरवाद** – इस वाद के अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त "कालस्वभावोनिपतिर्यदृच्छा" इत्यादि सृष्टि के कारण हैं।

5– **आवरणवाद** – सृष्टिवयुन तत्त्व से उत्पन्न हुई है।

6– **अम्भोवाद** – अम्भस् ही जगत् का उपादान है।

7– **अमृतमृत्युवाद** – अमृत और मृत्यु की संसृष्टि ही सृष्टि है।

8– **अहोरात्रवाद** – दिन और रात्रि इस दृश्यमान विश्व के मूल कारण हैं।

9– **देववाद** – देवयोग ही सृष्टि का कारण है।

10– **संशयतदुच्छेदवाद** – यदि कोई स्वतन्त्रवाद नहीं है, क्योंकि इसमें सृष्टि के सम्बन्ध में प्राचीन वैज्ञानिकों के सन्देहों का विस्तार से वर्णन कर उनका समाधान किया गया है।

उक्त वादों का औचित्यानोचित्य निर्धारण एक पृथक् विषय है, पुनरपि यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से इन वादों की संगति नहीं बैठती। किन्तु ये वाद वैज्ञानिक विचार धारा के अनुकूल नहीं हैं, इसलिए अयुक्त हैं ऐसा कहने का साहस भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि सृष्टि के विषय में आधुनिक विज्ञान भी किसी एक मत पर निश्चयपूर्वक दृढ़ नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ''सृष्टिविद्याविषय'' नामक प्रकरण के पूर्व में नासदीय सूक्त को ही उद्धृत किया है[10]। स्वामी दयानन्द ने इस सूक्त के दार्शनिक पक्ष की उद्भावना की है, वैज्ञानिक पक्ष की नहीं। क्या अन्तर है वैज्ञानिक और दार्शनिक पक्षों के मध्य? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर शोपेनहार के शब्दों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जा सकता हैं– दर्शन का प्रारम्भ वहां होता है जहां विज्ञान समाप्त होता है। विज्ञान ज्ञात से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ सकता जबकि दर्शन के लिए प्रत्येक वस्तु अज्ञात है।[11] अभिप्राय है कि दार्शनिक पक्ष, वैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा सूक्ष्मतर होता है।

यहाँ इस प्रकरण में ऋग्वेद के सृष्टि विषयक विचार को वैज्ञानिक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में विविक्त किया गया है। विवेचन इस प्रकार है–

''नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासोद्रजोनो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुरू कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।[12]''

अर्थात्– उस समय न असत् था न सत् था। न रजस् था, आकाश इससे परे कुछ नहीं था। कैसा आवरण था? कहां व किसके आश्रय में था? गहन और गम्भीर जल क्या था?

प्रस्तुत मन्त्र के पूर्व चरण में न असत् था न सत् आदि कह कर तात्कालिक अवस्था के स्वरूप–निर्धारण का प्रयास किया है। दूसरे चरण में प्रश्नों के माध्यम से उस अवस्था की अनिर्देश्य, अव्यक्त स्थिति को लक्षित किया गया है। इस सूक्त के अगले मन्त्र में इस प्रकार का उल्लेख है कि उस समय सब ओर अन्धकार ही अन्धकार विद्यमान था –

''तमः आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।''[12]

अर्थात्– प्रारम्भ में अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार था, यह सब अव्यक्त ऊर्जा से व्याप्त था।

निर्दिष्ट वर्णन से स्पष्ट होता है कि उस समय चहुँ दिशि गहन अन्धकार का साम्राज्य

था क्योंकि प्रकाश कणों की उत्पत्ति नहीं हुई थी। सब ओर अप्रकेत सलिल व्याप्त था। सलिल शब्द गत्यर्थक षल्[13] धातु से निष्पन्न होता है, अतः सलिल शब्द गति का सूचक है। विज्ञान के अनुसार जिस प्रकार ऊर्जा को परिभाषित किया जाता है, उसमें भी गति अभीष्ट है[14]। अतः सलिल का अर्थ उर्जा करने में संकोच का अवसर नही। पं0 भगवद्दत्त के अनुसार यह सलिलवस्था लीनावस्था है जिसमें कि सब कुछ लीन था।[15] 'आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीत् इस वाक्य को आधार बनाकर डा0 फतह सिंह सलिल की महत् से तुलना कऱते हुए लिखते हैं कि सलिल की भांति महत् भी सृष्टि का मूल कारण है और उसमें सारा नानात्व अव्यक्त रूप में छुपा रहता है।[16] इस प्रकार इन दोनों विद्वानों के मत में सलिल सृष्टि का मूल कारण है।

सृष्टि के निर्माण में ऊर्जा की प्रमुख भूमिका होती है। धातु प्रत्ययादि के आधार पर सलिल शब्द को ऊर्जा रूप में ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यह ऊर्जा सृष्टि के आरम्भ में सब ओर विद्यमान थीं। सलिल शब्द के साथ विशेषण रूप में सम्बद्ध का 'अप्रकेत' शब्द यह सूचित करता है कि सृष्टि के पूर्व इस साम्यावस्था में गति तो हो रही थी किन्तु वह गति अथवा ऊर्जा अप्रकेत अर्थात् अव्यक्त थी।

दशम मण्डल के अन्य सूक्त में सृष्टि के रचनाक्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"ऋतं व सल्पञ्चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः[17]।।

अभीद्ध तपस् अर्थात् सब ओर से प्रकाशमान् तप से ऋृत ओर सत्य पैदा हुए। उसके बाद रात्रि ओर तत्पश्चात् अर्णव समुद्र उत्पन्न हुआ। ऋृत शब्द 'ऋ गतो'[18] धातु से निष्पन्न होने के कारण गति का बोधक है। सत्य शब्द "अस्[19]" धातु से निष्पन्न होने के कारण सत्ता अथवा स्थिरता का बोधक है। रात्रि विश्राम अर्थात् जड़ता का प्रतीक है। तैत्तिरीय संहिता में गति ओर स्थिरता के समीकृत्त रूप रात्रि को तमस् कहा गया है।[20] इस प्रकार सर्व प्रथम सत्व, रजस् और तमस् उत्पन्न हुए जो क्रमशः स्थिति तत्त्व (Existence) गति तत्त्व (Motion) और जड़ तत्त्व (Inertia) की उत्पत्ति के कारण हैं। इसके पश्चात् अर्णव समुद्र अर्थात् ऊर्जारूपी महासमुद्र उत्पन्न हुआ। महा समुद्र से ऊर्जा का आनन्त्य लक्षित है। इस अनन्त ऊर्जा की ऋग्वेद में सलिल तथा अदिति आदि नामों से भी चर्चा हुई है। सलिल का ऊर्जा रूप में स्पष्टीकरण पूर्व में ही किया जा चुका है। सम्प्रति विचारणीय शब्द है अर्णव। "अर्णासि सन्ति यस्मिन् स अर्णव"[21] अर्णस् शब्द की निष्पत्ति गत्यर्थक ऋ धातु से होती है। स्पष्ट है कि गतिशील तत्त्वों का समूह ही अर्णव कहलाता है। गति और ऊर्जा का ऐक्य पूर्व

में दिखाया जा चुका है, अतः अर्णव का अर्थ हुआ ऊर्जा, तथा अर्णव समुद्र का अर्थ हुआ ऊर्जा का समुद्र (Ocean of Energy)। किसी भी क्रिया अथवा कार्य के लिए प्राथमिक रूप से ऊर्जा की आवश्यकता होती है और सृष्टि निर्माण तो बहुत व्यापक कार्य है उसके लिए ऊर्जा के समुद्र अर्थात् उर्जा की अपरिमित राशि का होना आवश्यक था। तत्पश्चात्–

"समुद्रावर्णवादधि संवत्सरो अजायत।[22]"

उस अर्णव समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ।

जैमिनीय ब्राह्मण में संवत्सर का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है– जो तपता है वह संवत्सर है। जो चमकता है वह संवत् है। मध्य कृष्णमण्डल है वह सर है।[23] यह चमकता शुक्ल अर्थात् वृद्धि तथा कृष्ण क्षय का सूचक है। वृद्धि ओर क्षय उत्थान–पतन के द्योतक हैं। उत्थान पतन में स्पन्दन क्रिया का होना अभीष्ट है। बिना किसी स्पन्दन क्रिया के वृद्धि क्षय अथवा उत्थान पतन नहीं हो सकता। सृ गतौ[24] धातु से निष्पन्न सर शब्द भी अपने अन्दर छुपी हुई गति को सूचित कर रहा है। इस प्रकार संवत्सर का भाव है स्पन्दन क्रिया। ऊर्जा के व्यक्त होते ही निर्माण के लिए कणों में स्पन्दन क्रिया होने लगी।

इसके बाद–

"अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी"।[25]

वशी ने अहोरात्र को धारण किया।

वशी शब्द कान्ति अर्थ वाली वश्[26] धातु से निष्पन्न है। अतः यह वशी, कान्ति युक्त था। इसने अहोरात्र को धारण किया। सामान्य लौकिक अर्थ में अहोरात्राणि का अर्थ दिन और रात होता है किन्तु यहां इसका यह अर्थ नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब सूर्यादि ही उत्पन्न नहीं हुए थे तब दिन और रात्रि की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। मैत्रायणी संहिता के अनुसार जो शुक्ल है वह अह का रूप है जो कृष्ण है वह रात्रि का[27]। उर्जा से उत्पन्न होने के कारण वह प्रकाश युक्त है। रात्रि तम अर्थात् जड़ पदार्थ है जिनसे निर्माण कार्य हुआ है। इसके पश्चात्–

"सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"।[28]

सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।

यहाँ सूर्य ओर चन्द्रमा से वर्तमान सूर्य और चन्द्र का ग्रहण नहीं। आचार्य यास्क ने सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की है– सूर्यः सर्तेर्वा। सुवतेर्वा। स्वोर्यतेर्वा [29]। इस प्रकार गतियुक्त पिण्ड सूर्य हैं। सूर्य शब्द स्वर शब्द से भी व्युत्पन्न है। स्वर का अर्थ होता है चमकना (Light)[30]। अतः सूर्य प्रकाशमान तथा गति युक्त पिण्ड हैं। चन्द्रमा से अभिप्राय यहां

अन्धकार युक्त पिण्डों से है। ब्राह्मणकार "रात्रिर्वै चन्द्रमा"[31] कहकर इस तथ्य की पुष्टि करता है। अतः चन्द्रमस् ऐसे पिण्ड हैं जिनमें स्वयं प्रकाश नहीं, दूसरों के प्रकाश से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं।

ये स्वयं में अन्धकार युक्त पिण्ड भी गति युक्त हैं। चन्द्रमा शब्द की निष्पत्ति "चण"[32] और "द्रम"[33] धातु से होती है। दोनों ही धातुएँ गत्यर्थक हैं। अतः अन्धकार युक्त चन्द्रमा गतिशील भी हैं। उक्त सादृश्यों के आधार पर ही हमारे सूर्य तथा चन्द्र का नाम सूर्य, चन्द्र पड़ा है। प्रकाशमय तथा अन्धकारमय पिण्डों के सृजन के बाद सूर्य पृथिवी आकाशादि का निर्माण हुआ–

"दिवं व पृथिवीञ्चान्तरिक्षमयो स्वः"[34]।

दिव शब्द की मूल धातु 'दिव्'[35] द्योतन अर्थात् चमकने के अर्थ वाली है। अतः दिवं से आशय चमकने वाले सूर्य तथा उसके समान अन्य तारों से है। पृथिवी पद से पृथिवी तथा उसकी तरह के अन्य ग्रह ग्राह्य हैं। अन्तरिक्ष का अर्थ वायुमण्डल (Air atmosphere) किया गया है।[36] स्वः का अर्थ है आकाश[37] (Sky) इस प्रकार अन्त में सूर्य, पृथिवी, वायुमण्डल तथा आकाश का निर्माण हुआ।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि को व्यवस्थित रूप देने में एक सर्वशक्तिमान् सत्ता का योगदान है। जिसे कि व्याख्यात सूक्त के अन्तिम मन्त्र में 'धाता' पद से सम्बोधित किया गया है। मन्त्र में पठित 'यथापूर्वम्' पद इस बात को लक्षित कर रहा है कि वर्तमान सृष्टि, प्रथम सृष्टि नहीं। इससे पूर्व भी सृष्टि होती रही है। तथा इसके बाद भी होती रहेगी। तथा प्रत्येक कल्प में सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया समान होती है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय नामक प्रकरण में वेदोत्पत्ति तथा जगदुत्पत्ति काल की विवेचना करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते है– एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नौ सौ छियत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं[38]। स्वामी दयानन्द ने अपने इस कथन का आधार मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को बनाया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी सृष्टि को लगभग दो अरब वर्ष पुराना स्वीकार करते हैं।[39] आधुनिक वैज्ञानिकों ने सृष्टि की प्रत्नता का कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया। उनका कथन है कि जब कभी सृष्टि के किसी भाग विशेष की आयु का परीक्षण करते हैं, उत्तर सदैव लगभग समान ही होता है कि कुछ अरब वर्ष पूर्व।[40]

सन्दर्भ संकेत

1- Enclepaedia American (1981, Vol. 8 p. 162-64)
2- Enclepaedia American (1981, Vol. 8, p. 164)
3- वही
4- Otto, Schmidt, A theory of the origin of the Earth. p. 11
5- वही
6- Boris Levin, the origin of the Earth and plane . p. 24
7- वही
8- Sparks from the Vedic Fire p. 63-76
9- वैदिक विज्ञानम्. पृ0 34–36
10- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय. पृ0 85
11- Philosophy begins where Science ends. Science can not proceed from the known to unknown as every thing is unknown to Philosophy. History of Philosophy. Quoted by Acharya Vaidyanatha Shastri in Darshana Tettva Viveka. p.2
12- ऋग्0 10/129/1
13– ऋग्0 10/129/2
14– पल् गती, धातुपाठ, भ्वादिगण
15- Work is defined as a factor responsible for some sort of change in physical relationship.....Energy in turn, since it is defined as the ability to do work is involved in any change in physical relationship. fred, Cottvell, Energy and Society. p.6
16- वेदविद्यानिदर्शन, पृ0 91
17- वैदिक दर्शन, पृ0 88–89
18- ऋग्0 10/190/1
19- ऋ. गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण
20- अस् भवि, धातुपाठ, अदादिगण
21- तमो रात्रिः । से0 सं0 1/5/9/5
22- द्रष्टव्य–अर्णव शब्द, सं0हि0को0
23- ऋग् 10/190/2

24- असो एव संवत्सरो यो सो तपति । तस्य यद् भाति तद् संवद् पन्मध्ये कृष्णं मण्डलं सत्सर इत्यधि देवतम् । जे0ब्रा0 2/20

25- स् गतो, धातु पाठ, भ्वादिगण ।

26– ऋग्0 10/190/2

27- वश कान्तो, धातुपाठ, अदादिगण

28- यच्छुवलं तद्हूनो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेः । मे0 सं0 3/6/6

29- ऋग् 10/190/3

30- निरूक्त 12/10

31- द्रष्टव्य–संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश, स्वर शब्द

32- मा0श0 12/4/4/7

33- चण् गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण

34- द्रम् गतो, धातुपाठ, भ्वादिगण

35- ऋग् 10/190/3

36- दिवु क्रीडा........द्युति..... । धातुपाठ, विवादिगण

37- द्रष्टव्य–संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश, अन्तरिक्ष शब्द

38- द्रष्टव्य–वही, स्वर शब्द

39- ऋग्वेदादि भा0 भू0 वेदोत्पत्तिविषय, पृ0 17

40- The Universe began to expand two billion years ago. The Universe and Dr. Enstein p. 115

Quoted by : Dharma Deva Mehate in positive Science in the Vedas. p. 32 Astromical evidence clearly indicates that the multitude of stars we see in the sky- our sun among them- could not have existed eternally and were probbly formed earlier than some two billion years ago from the hot primordial gas that previously Biography of the Earth. p.2. वही

41- Thus we see that whenever we anquire about the age of some particular part or property of the Universe, we always get the same approximate answere A few billion years old.

Prof. Ganow : The Creation of the Universe, p.20 Quoted by by D.D. Mehta in the Positive Science in the Vedas, p. 33.

• • •

द्यावा पृथिवी के नामों की आध्यात्मिक तथा सृष्टि प्रक्रिया विषयक व्याख्या

डॉ० रघुवीर वेदालंकार, वेदाचार्य
रीडर, रामजस कालेज, दिल्ली

नीचे की पक्तियों में निघण्टु में पठित द्यावापृथिवी के नामों में से कुछ नामों के आध्यात्मिक पक्ष पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। अथर्व0 4.14.3 में कहा गया है कि मैं पृथिवी की पीठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ हो गया तथा अन्तरिक्ष से भूलोक में आरूढ़ हो गया हूँ। सुखदायक भूलोक की पीठ से स्वः रूपी ज्योति को प्राप्त हो गया हूँ। इस मन्त्र में भूलोक से भी परे स्वर्ज्योति तक जाने की बात कही गयी है। स्पष्ट है कि यह स्वर्ज्योति आध्यात्मिक हैं क्योंकि भौतिक रूप में तीन ही लोक माने जाते हैं। यद्यपि भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् के रूप में सात लोक भी माने गये है किन्तु वहां भी इनका आध्यात्मिक अर्थ ही अभिप्रेत है न कि भौतिक रूप में कोई सात लोक। इससे पूर्व इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि द्युलोक की पीठ रूपी स्वर्गलोक को जाकर देवों के साथ मिश्रित होकर बैठो। यह सब आध्यात्मिक प्रक्रिया है क्योंकि ऐसे किसी लोक की सत्ता सिद्ध नहीं है जहां कि देवता निवास करते हो।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में पृथिवी स्थूल देह का वाचक है। पृथिवी तत्व की प्रधानता होने के कारण शरीर को पार्थिव भी कहते हैं। इस तत्व से ऊपर उठकर अर्थात् अन्नमय कोष से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय कोष को जीवात्मा प्राप्त करता है। वायु अन्तरिक्ष का गुण है तथा प्राणायाम में प्राण का ही संयम करना होता है। प्राणमय कोष से क्रमशः मनोमय कोष का भेदन करता हुआ साधक विज्ञानमय कोष की प्राप्ति करता है। इसे ही मंत्र में 'दिवस्पृष्ठम्' कहा है। यह प्रकाशमय लोक है। यही पर विशोका नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है जिसके लिए योगदर्शन में 'विशोका वा ज्योतिष्मती 'कहा गया है। इसे ही ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहते हैं। इसकी व्याख्या में योग सूत्र भाष्यकार व्यास देव जी कहते हैं– सा ऋतमेव बिभर्ति। नच तत्र विपर्यासज्ञानगन्धो ऽप्यस्तीति। इस बुद्धि के द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है। उपनिषदों में इसी को लक्ष्य में रखकर कहा गया है– प्रज्ञानेनैन माप्नुयात्। यह प्रज्ञान्, विज्ञानमय कोष को प्राप्त करके प्राप्त होता है। इसे ही वेदमन्त्र में द्युलोक कहा है। यह प्रकाश का लोक है, ज्ञान का लोक है। आध्यात्मिक योगी यही पर विराम् नहीं लेता अपितु इससे भी आगे वह स्वर्ज्योति को प्राप्त करता है। इसे ही अथर्ववेद में हिरण्यकोष कहा है। यह ज्योति से आवृत है। यह आनन्दमयी अवस्था है जो कि विज्ञानमय कोष के उपरान्त आनन्दमय कोष में पहुँचने पर प्राप्त होती है। यह आत्मसाक्षात्कार की तथा ब्रह्म साक्षात्कार की अवस्था

है। इस अवस्था के लिए ही कहा गया है रसो वै सः। रसं हि लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। ऊपर द्वितीय मन्त्र में कहा गया है कि स्वर्ग प्राप्त करके देवों के साथ मिलकर बैठते हैं। ये देव वे ही देव पुरुष है जिन्होंने पहले भी इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है। इनके विषय में कहा गया है– यत्र पूर्वे समजग्मुः साध्या ऋषयश्च में। इनकी समकक्षता को ही यह योगी प्राप्त कर लेता है। यही है उसका देवों के साथ मिलकर बैठना अथवा इस अवस्था में दिव्य भाव तथा दिव्य शक्तियों की प्राप्ति को भी देवों के साथ मिलकर बैठना कहा जा सकता है।

स्वधे– द्यावापृथिवी के नामों में स्वधे पद भी पठित है। इसी स्वर्ज्योति को धारण करने के कारण मनुष्य के द्यु भाग अर्थात् शिर तथा पृथिवी भाग अर्थात् शेष शरीर की स्वधा संज्ञा होती हैं। स्व+धा = स्व को धारण करने वाला स्वधा का ही द्विवचन में स्वधे बनता है जो स्वर्ज्योति को धारण करने वाले मस्तिष्क तथा शेष शरीर के लिए प्रयुक्त किया गया है।

रोदसी तथा क्रन्दसीः– द्यावा पृथिवी के नामों में रोदसी तथा क्रन्दसी भी पठित हैं। भौतिक अर्थ में प्रजापति के रोने के कारण इनका नाम रोदसी पड़ा। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को ही प्रजापति कहा गया है। यह मन ही अहं रूपी वृत्र के आक्रान्त होकर रोता है। प्राणों को भी रूद्र कहा गया हैं। क्योंकि ये मन को रुलाने में सहायक होते हैं। स्वर्ज्योति को धारण करके ही मन तथा जीवात्मा का यह रूदन बन्द होता है। यही स्वधा नाम की सार्थकता हैं अब द्यावापृथिवी का स्वरूप ही बदल गया। उन्होंने स्वर्ज्योति को धारण कर लिया। ऋग्वेद 7. 53.2 में द्यावा पृथिवी को ऋत का सदन बनाने की प्रार्थना की गयी है जिससे कि ये द्यावापृथिवी दैव्यजन के साथ यहां आएं। यहां पर ऋत के सदन बनाने का साधन यज्ञ दिया गयाहै। अयज्ञीय भावना रहने पर ऋत का सदन नहीं बना जा सकता। अनृत ही वह बाधक तत्व है जो यज्ञीय भावना को दूर भगाता है तथा जिसके अभाव में द्यावापृथिवी रोदनशील रोदसी बन जाते हैं। अनृत के दूर होते ही वे ऋत के सदन बन जाते है। ऋतम्भरा प्रज्ञा इसी अवस्था का नाम है।

द्युलोक तथा पृथिवी लोक के 6 भाग–ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में तीन द्यौ तीन अन्तरिक्ष तथा तीन पृथिवी की चर्चा कई स्थानों पर की गई है। अथर्व 4.9.16 में 'षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः' कहकर द्यावापृथिवी के 6 प्रकार बतलाए गये हैं। अथर्व 19.27.3 में भी तीन द्युलोक, तीन अन्तरिक्ष तीन पृथिवी इनके साथ चार समुद्रो की बात कही गयी है। इस मत्र के वर्णन से स्पष्ट है कि इसमें भूमि, आकाश तथा द्युलोक के तीन तीन विभागों की कल्पना की गयी है।

इस मंत्र में पठित दिन, अन्तरिक्ष, पृथिवी तथा समुद्र पदों का अभिधेयार्थ वह नहीं है जो कि हम भौतिक रूप में लेते हैं। समुद्र की व्याख्या के लिए हमें अथर्व काण्ड 11 के ब्रह्मचर्य सूक्त को देखना चाहिए वहां पर चतुर्थ मंत्र में कहा गया है– स सद्यएति पूर्वस्माद् उतरं समुद्र। यहां विचारणीय है कि इन स्थलों में आध्यात्मिक दृष्टि से द्यावा पृथिवी के त्रैविध्य का

क्या अर्थ है। पीछे हमने मस्तिष्क को द्युलोक माना है। 'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत तथा दिवं यश्चक्रे मूर्धानम् (अथर्व 10.7.32) आदि मंत्र भी इसके प्रमाण हैं।

मस्तिष्क मूल रूप में दो भागों में विभक्त है– वृहद् मस्तिष्क तथा लघुमस्तिष्क। बृहद् मस्तिष्क के भी दो भाग हैं। इन भागों को मस्तिष्क गोलार्ध कहते है। छाया गोलार्ध तथा वामा गोलार्ध। इस प्रकार मस्तिष्क के इन तीन भागों को द्युलोक के तीन भाग कहा जा सकता है। यद्यपि यह भी द्युलोक की आध्यात्मिक व्याख्या है तथापि भौतिकता को लिए हुए है। अथर्व 10.10.32 में एक मंत्र आता है। इसमें कहा गया है कि वशा नामक शक्ति से कुछ लोक सोम का दोहन करते हैं तथा कुछ लोक धृत की उपासना करते हैं। विद्वान् को वशा प्रदान करने वाले लोग द्युलोक के त्रिदिव विभाग को प्राप्त होते है। यहां सब कुछ आध्यात्मिक वर्णन है। यह सोम कोई औषधी नहीं है अपितु यह वही ब्रह्मानन्द रूपी सोम है। जिसके विषय में कहा गया है– सोम यं ब्राह्मणो विदुः न तस्याश्नाति कश्चन ऋ 10.85.3। यहां पर वर्णित धृत भी लौकिक धृत नहीं है। धृत शब्द/धृ क्षरणदीप्त्योः से बना है। क्षरित होने वाले दीप्ति युक्त तत्व का नाम ही धृत है। योगी जनों को ध्यानावस्था में आनन्द रस का क्षरण होता है तथा तेज की प्राप्ति होती रहती है। यही है उनका धृतपान। यजुर्वेद में अन्यत्र भी एक स्थान पर ऐसा कहा गया है– धृतं में चक्षुः (यजु0) वशा नामक शक्ति की सहायता से कुछ लोग त्रिदिव 'दिवः' को प्राप्त कर लेते हैं। ये सभी समाधि की अवस्थाऐं है। योग दर्शन में हमको मधुमती, ज्योतिष्मती आदि नामों से पुकारा गया है। योगी इसी स्थिति को प्राप्त करता है। यही है द्युलोक की आध्यात्मिकी व्याख्या । विदेहा वस्था योगी, प्रकृतिलीन योगी तथा आत्मलीन योगी के रूप में भी तीन भाग किए जा सकतें है।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष के भी आध्यात्मिक स्तर पर तीन भाग है। अन्तरिक्ष की व्याख्या में यास्काराचार्य कहते हैं– शरीरेष्वन्तर क्षयमिति वा शरीर में भी मध्य भाग को अन्तरिक्ष कहते है। इसी भाग में हमारा मन रहता है। हमारे मन के मुख्यतः तीन स्वरूप है। मननात्मक होने से मन संस्कारों का संग्राहक होने से चित्त तथा बोध रखने के कारण इसे हीं बुद्धि भी कहा जाता है। ये ही तीन प्रकार के अन्तरिक्ष हैं। इस प्रकार द्युलोक तथा पृथिवी लोक इसी शरीर में स्थित हैं। इस प्रकार अथर्ववेद के इस मन्त्र में पूर्णतः आध्यात्मिक प्रक्रिया वर्णित है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे का सिद्धान्त शास्त्रसम्मत है। जिस प्रकार की क्रिया वाह्य ब्रह्माण्ड में हो रही है। वही इस शरीर में भी हो रही है। यदि इस मंत्र का आधिभौतिक अर्थ करें तो यही कहा जायेगा कि आकाशगामी यान के द्वारा मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में तथा अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुंच गया। यहां तक तो संगति है किन्तु आगे की संगति नहीं लगती कि द्युलोक से आगे स्वर्ज्योति को प्राप्त किया। आध्यात्मिक पक्ष में मंत्र की पूर्ण संगति लग जाती है।

● ● ●

वैदिक भौतिकी : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अध्ययन तथा शोध का एक नया आयाम

– डॉ0 बुद्ध प्रकाश शुक्ल
पूर्वअध्यक्ष, भौतिकी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0, हरिद्वार

बचपन में एक फिल्म देखी थी। नाम था रामराज्य। अपने समय की अत्यन्त उत्कृष्ट फिल्म थी। जब पहली बार यह फिल्म रिलीज़ हुई थी तो लगातार एक वर्ष से भी अधिक चली थी। उस फिल्म में एक दृश्य था– श्रीराम प्रातःकाल राजमहल के एक कक्ष में जाते हैं जिसमें सूर्यदेव की मूर्ति है जो सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ हैं तथा श्रीराम के पूर्वजों; यथा– राजा भगीरथ, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, अज और दशरथ की भी मूर्तियाँ हैं। श्रीराम जी प्रत्येक मूर्ति पर पुष्पांज़लि अर्पित करते हुए जाते हैं और पार्श्व में एक गीत चलता है, जिसकी एक पंक्ति थी–

"सात अश्व के रथ पर सारथी अरूण विराजे।"

उस समय यही बात समझ में आई कि सूर्य सात घोड़ों के रथ पर आसमान में भ्रमण करता है। ठीक उसी तरह जैसे बच्चों को कहानी में बताया जाता है कि चन्द्रमा में एक बुढ़िया चरखा कात रही है। जब कुछ बड़ा हुआ तो स्कूल में विज्ञान विषय में पढ़ा कि सर आइज़ेक न्यूटन ने काँच की एक प्रिज़्म में सूर्य की किरणों को गुजारा तो वह सात रंगों में विभक्त हो गईं और सात रंगों (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी एवं लाल) के इस समूह को स्पेक्ट्रम कहते हैं। अब मन में एक प्रश्न उठा कि एक ओर सूर्य को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ दिखाया गया है दूसरी ओर सूर्य में सात रंग हैं– इन दोनों का आपस में क्या संबंध है ?

एक ओर घटनाक्रम भी कुछ इसी प्रकार से है। बचपन में ही एक पौराणिक कथा सुनी थी कि वामन भगवान ने राक्षसों के राजा बलि से दान में तीन पग धरती मांगी। राजा बलि ने सहर्ष दान देना स्वीकार किया तो बावन अंगुल के वामन भगवान ने एक पग से संपूर्ण धरती, दूसरे पग से संपूर्ण पाताल लोक और तीसरे पग से संपूर्ण आकाश को नाप दिया और राजा बलि को अपदस्थ कर दिया। जब हाईस्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् इण्टरमीडिएट कक्षा में प्रवेश किया तो गणित में निर्देशांक ज्यामिति विषय पढ़ने लगा जो कि तीन विमाओं की ज्यामिति है और इसमें तीन अक्षों x, y, और z के परितः ठोस वस्तुओं के आकार को नापा

जाता है और ये तीनों अक्ष परस्पर लम्बवत् होती है। ब्रह्माण्ड के संपूर्ण स्पेस (Space) को x, y, और z इन तीन विमाओं में नापा जा सकता है। फिर मस्तिष्क में एक प्रश्न उभरा कि क्या वामन भगवान के तीन पग और तीन अक्षों x, y, z के बीच कोई संबंध है ?

पिताश्री एक अध्यापक थे। गणित उनका प्रिय विषय था। वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन शास्त्रों और धर्म में उनकी गहरी अभिरूचि थी। कर्मकांड में अटूट विश्वास था। हिन्दुओं के सभी त्यौहार श्राद्ध, तर्पण एवं संध्योपासन तथा पर्वों पर गंगास्नान ये सभी कृत्य अत्यन्त निष्ठा से विधिविधान पूर्वक सम्पन्न किंये जाते थे। अध्ययन, अध्यापन एवं कर्मकाण्ड के प्रति उनका अनुशासन अत्यन्त कड़ा था। घर में राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा धार्मिक व शैक्षिक विषयों को लेकर अक्सर चर्चाएं होती रहती थीं जिसमें घर के सभी लोग, आगन्तुक और पास-पड़ोस के लोग भाग लेते थे। मुझे इस प्रकार की चर्चायें सुनने और कभी-कभी अपनी समझ के अनुसार उसमें हिस्सा लेने में बहुत आनन्द आता था। आज मैं यह अनुभव करता हूँ कि वह एक अद्‌भुत वातावरण था जो कि अब ढूढ़ने पर भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। एक दिन मैंने पिताजी से प्रश्न किया कि वेदों में क्या हैं?, तो पिताजी का उत्तर था वेदों में सभी कुछ है– वे सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं।

समय बीतता गया और मैंने विज्ञान विषयों को लेकर बी०एस-सी० में प्रवेश लिया और अंततोगत्वा भौतिकी (Physics) विषय में एम०एस-सी० उत्तीर्ण किया। यह भी भाग्य का खेल था कि एम०एस-सी० उत्तीर्ण करने के पश्चात मुझे भौतिकी प्रवक्ता के पद पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालंय में सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिसकी स्थापना श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने वेद, वेदांगों, भारतीय दर्शन, इतिहास को मूल में रखकर आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा-दीक्षा के लिये की थी। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वातावरण को भी मैंने ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म से ओतप्रोत पाया। यहाँ के आचार्यों से बात करो अथवा विद्यार्थियों से, उनके वार्तालाप का स्तर अत्यन्त ऊँचा होता था। आपसी प्रेम और सम्मान का तो कहना ही क्या। यदि एक वाक्य में कहूँ तो मुझे मेरे बचपन का घर दुबारा से मिल गया था।

विश्वविद्यालय में बहुधा अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वानों के व्याख्यान होते थे। छात्रावास के सभागार (टेकचन्द नागिया हाल) में अक्सर रात्रि के समय व्याख्यानों का आयोजन होता था। व्याख्यान के उपरान्त प्रश्नोत्तर होते थे। सब कुछ मिलाकर एक ऐसा समा बनता था जिसमें ज्ञानार्जन के साथ-साथ आनन्द की अनुभूति होती थी। इन व्याख्यानों की श्रेणी में

अनेक बार मुझे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अन्यतम यशस्वी स्नातक, उद्भट विद्वान, ओजस्वी वक्ता एवं आर्यजगत के कीर्ति स्तम्भ पं0 बुद्धदेव विद्यालंकार जी (सन्यासोपरान्त स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज) के व्याख्यानों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनेक बार उनसे व्यक्तिगत रूप से वार्तालाप करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। एक बार उन्होंने मुझे यजुर्वेद के कुछ मन्त्र बताये– उनका कहना था कि इन मंत्रों में गणित है और उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं इन मंत्रों पर शोध करूँ। बड़ा उत्साहित किया था उन्होंने मुझे, किन्तु उस समय मैं ऐसा कुछ नहीं कर सका। किन्तु शनैः शनैः वेदों के प्रति रूचि यह जानकर बढ़ रही थी कि वेदों में विज्ञान विषय का वर्णन है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के लिये दस नियम बनाये जिसमें से एक नियम यह है कि– "वेद समस्त सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है।" इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने एक व्याख्यान में कहा था– "The discoveries of modern science are just the distant echoes of Vedic Hymns." इन प्रसंगों ने मुझे इस बात के लिये प्रेरित किया कि मैं यह जानने का प्रयास करूँ कि वैदिक मंत्रों की विज्ञान सम्मत व्याख्या क्या हो सकती है?

अध्ययन, अध्यापन एवं शोध के अतिरिक्त मेरी एक अभिरूचि रही है वैज्ञानिक विषयों पर लोकप्रिय व्याख्यान (Popular talk) देना। इस प्रकार के अनेक व्याख्यान मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में, आस-पास की शिक्षण संस्थाओं तथा रोटरी क्लब में दिये हैं। इस प्रकार के व्याख्यानों में विश्वविद्यालय के शिक्षकों एवं छात्रों के अतिरिक्त तत्कालीन कुलपति पं0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एवं आचार्य पं0 प्रियव्रत वेदवाचस्पति भी उपस्थित रहते थे। पं0 सत्यव्रत जी एवं आचार्य प्रियव्रत जी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। वैदिक वाङ्मय एवं दर्शनशास्त्र के प्रकांड पंडित होने के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में भी इनकी गहरी अभिरूचि थी तथा वैज्ञानिक विषयों की बारीकियों को अत्यन्त सरलता से ग्रहण कर लेते थे। सामान्यतया मानविकी के विद्वानों के लिये यह कठिन होता है। अतः अपने व्याख्यान में उनकी उपस्थिति मेरे लिये प्रेरणा का स्रोत होती थी। दोनों ही महानुभावों ने अनेक कालजयी ग्रन्थों की रचना की है। दोनों ने ही आगे चलकर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति एवं परिद्रष्टा (Visitor) के पद को सुशोभित किया। पं0 सत्यव्रत जी का एक ग्रन्थ है "वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार", इस ग्रन्थ के लेखन के दौरान पंडित जी को भौतिकी के क्वाण्टम सिद्धान्त के आधार पर स्वतंत्र इच्छाशक्ति (Free Will) और नियतिवाद (Determinism)

का तुलनात्मक विवेचन करना था। ये दिल्ली से गुरुकुल पधारे थे। इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। अपने तीन–चार दिन के प्रवास के दौरान उन्होंने अनेक बार मुझसे इस विषय पर चर्चा की। उपरोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 223 पर इसका उल्लेख है। इस ग्रन्थ का विमोचन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया था। पंडित जी से उपरोक्त विषय पर जो चर्चा हुई, उससे मेरे मन में यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि वेदों की वैज्ञानिकता असंदिग्ध है।

आर्य जगत के अन्य लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री जी ने एक बार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में यजुर्वेद परायण यज्ञ का संचालन किया था। यज्ञ के उपरान्त प्रतिदिन उनका व्याख्यान होता था। उन व्याख्यानों में उन्होंने ऐसे अनेक तथ्यों का विवेचन किया, जिससे यह ज्ञात होता था कि वेद की अनेक ऋचाओं में विज्ञान सम्बन्धी विषयों की चर्चा है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में व्याख्यान देने के लिये बहुधा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर डा0 आर.एस. ओझा आया करते थे। कालान्तर में डा0 ओझा की नियुक्ति जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली में हो गई। तब भी वह गुरुकुल आते रहते थे। वह अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान थे। अंग्रेजी, हिन्दी, तथा संस्कृत भाषा पर उन्हें पूर्ण अधिकार था। उनके व्याख्यानों की विषय सामग्री एवं भाषा-शैली अत्यन्त सारगर्भित, विचारोत्तेजक, प्रभावशाली, अत्यन्त स्पष्ट और ग्राह्य होती थी। एक बार उन्होंने अपने एक व्याख्यान के दौरान कहा कि "Roma Rola has written that a parallelism should be found between Mayavad & Relativity." यह वाक्य मेरे लिए अत्यन्त प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। कालान्तर में मैंने एक शोध-पत्र लिखा। जिसके सृजन के पीछे प्रोफेसर ओझा द्वारा उद्धृत रोमा-रोला का उपरोक्त वाक्य था। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इस कड़ी में एक अन्य घटना का उल्लेख भी प्रासंगिक है। एक बार दिल्ली में बचपन के अपने एक घनिष्ठ मित्र श्री कृष्ण बिहारी शुक्ल (जो उस समय दिल्ली प्रशासन में अतिरिक्त जिलाधीश थे) के साथ एक फिल्म देखने का सुअवसर मिला। हम लोग अपने विद्यार्थी जीवन में अनेक फिल्में अक्सर साथ ही देखा करते थे। यह फिल्म थी "आविष्कार"। जिसके नायक राजेश खन्ना का एक संवाद था– "समय नहीं बीतता हम बीत जाते हैं।" इस पर मेरे मित्र का कहना था "वंडरफुल"। मुझे ऐसा लगा कि इस संवाद का मूल स्रोत कहीं वैदिक वाङ्मय में छिपा हुआ है। मेरे मित्र मेरी इस धारणा से सहमत नहीं थे। ग्रीष्मावकाश में मुझे अपने घर कानपुर जाने का मौका मिला। वहाँ पूज्य पिताजी से इस विषय पर चर्चा हुई तो उन्होंने मुझे

बताया कि भर्तृहरि के "नीति शतक" में इसका उल्लेख है और उन्होंने यह श्लोक सुना दिया,

"भोगा न मुक्ता वयमेव मुक्ता,
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता।
कालो न या तो वयमेव याता,
स्तृष्णा न ज़ीर्णा वयमेव जीर्णा।"

(भर्तृहरि रचित नीतिशतक का श्लोक 12)

बीसवीं शताब्दी के ही नहीं वरन सर आइज़ेक न्यूटन के उपरान्त सबसे बड़े भौतिकविद् अल्बर्ट आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार, समय एक सापेक्ष भौतिक राशि है जो घटनाक्रम पर आधारित है। यदि घटनाक्रम रूक जाये तो समय का कोई आभास नहीं होगा। अर्थात् घटनाक्रम से पृथक "समय" का न तो कोई अस्तित्व है न ही उसकी कोई अवधारणा। इस आधार पर आगे चलकर एक शोध-पत्र विकसित हो सका "Concept of Time-Ancient and Modern" जो वैज्ञानिक शोध पत्रिका आर्यभट्ट में प्रकाशित हुआ। भौतिकी विषय के अध्ययन और अध्यापन के दौरान अनेक बार मस्तिष्क में ऐसे विचारों का उदय होता है जो जड़ भौतिक पदार्थ संबंधी विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर आध्यात्मिक एवं मानसिक जगत को घटनाओं की व्याख्या करते हैं। भौतिक विज्ञान में न्यूटन के "गति के तीसरे नियम" के अनुसार, "प्रत्येक क्रिया की समान एवं विपरीत प्रतिक्रिया होती है।" आध्यात्मिक जगत में इस नियम का पर्याय है "जैसी करनी वैसी भरनी" अथवा "जैसा बोओगे वैसा काटोगे।" इसी प्रकार "विद्युत चुम्बकीय प्रेरण" के सिद्धान्त के अनुसार "यदि किसी विद्युत परिपथ में विद्युत वाहक बल आरोपित कर विद्युत धारा प्रवाहित की जाये तो परिपथ में एक विद्युत वाहक बल प्रेरित हो जाता है जो आरोपित विद्युत वाहक बल का विरोध करता है।" हम व्यावहारिक जगत में देखते हैं कि जब भी कोई नई विचारधारा समाज के समक्ष प्रस्तुत होती है तो प्रारम्भ में उसका विरोध होता है।

अध्ययन, अध्यापन, विद्वानों के व्याख्यान एवं उनके व्यक्तिगत वार्तालाप से मेरे मन में एक विचार ने जन्म लिया कि अध्ययन एवं शोध का एक ऐसा केन्द्र होना चाहिए जिसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान के तुलात्मक अध्ययन एवं शोध का प्रावधान हो। इस केन्द्र में तीन प्रकार के विद्वान होने चाहिए।

1. वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय के पंडित।
2. आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विद्वान्।

3. ऐसे विद्वान जो उपरोक्त दोनों प्रकार के घटकों के बीच कड़ी का कार्य करें।

इस बीच सन 1990 में मुझे पुनः भौतिकी विभाग के अध्यक्ष पद का कार्यभार संभालना पड़ा। इससे पूर्व में सन् 1966 से 1980 तक इस पद पर कार्यरत था। अब भौतिकी विभाग के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती थी स्नातकोत्तर कक्षाएँ एवं शोध कार्य प्रारम्भ करने की। इससे पूर्व भी भौतिकी, रसायन, जन्तु विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान में एक-एक बार स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुई थीं। परन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से उन्हें बंद करना पड़ा था।

अतः सन् 1990 में जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के पास भौतिकी एवं रसायन विषयों में स्नातकोत्तर कक्षायें प्रारम्भ करने का प्रस्ताव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत किया गया तो अनुदान आयोग ने पूछा कि हमारे स्नातकोत्तर कार्यक्रम की क्या विशेषता है ? इस पर भौतिकी विभाग ने एक सर्वथा नवीन पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें आधुनिक भौतिकी के साथ वैदिक भौतिकी का भी समावेश था। जब यह पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो आयोग ने सहर्ष स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार सन् 1991 से भौतिकी विभाग में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हो गईं। साथ ही पी-एच.डी. उपाधि हेतु शोधकार्य करने की अनुमति भी प्राप्त हो गई। मेरे लिये यह परम संतोष का विषय था क्योंकि इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हमें वर्षों संघर्ष करना पड़ा था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग को सर्वप्रथम "वैदिक भौतिकी" विषय को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त हुआ। मुझे भीतर से ऐसी अनुभूति हुई कि हमारे वैदिक मनीषियों, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी एवं उनके उपरान्त विश्वविद्यालय का संचालन एवं संवर्धन करनें वाले अनेकानेक आचार्य एवं प्रशासक जिन वैदिक आदर्शों से प्रेरित होकर इस संस्था की सेवा करते रहे उनकी परम्परा में यह एक छोटा सा योगदान था। अपनी कुल परम्परा एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यलय के सेवाकाल में विद्वानों के संसर्ग से प्राचीन एवं अर्वाचीन विज्ञान के सिद्धान्तों में जो एकरूपता प्रतीत हुई उसे "वैदिक भौतिकी" के पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुत करने का एक छोटा सा प्रयास किया है।

उपरोक्त कार्य के संपादन में मुझे जो सफलता मिली उसकी पृष्ठभूमि में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार का अभूतपूर्व योगदान है। भारत की परमाणु शक्ति के जनक डा0 होमी जहांगीर भाभा से किसी ने प्रश्न

किया कि इतने बड़े परमाणु संस्थान को खड़ा करने में आपकी सफलता का क्या रहस्य है? डा0 भाभा का उत्तर था "I have put my faith in the youngman and tried to do a way with as many rules of red tasism as possible to get a suitable person". श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार की कार्यशैली भी कुछ इसी प्रकार की थी अन्यथा विश्वविद्यालय के दकियानूसी नियमों के रहते भौतिकी तथा रसायन विषयों में एम0एस-सी0 कक्षाओं के प्रारम्भ के साथ ही पी-एच0डी0 कार्यक्रम प्रारम्भ न हो पाता, उसके लिए पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

श्री सुभाषचन्द्र विद्यालंकार के कार्यकाल समाप्त होने पर डा0 धर्मपाल जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में नियुक्त हुए। इससे पूर्व वह दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे एवं आर्यजगत के प्रथम श्रेणी के अग्रणी नेता रहे हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास में उनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा। सन् 1995 के अक्टूबर मास में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली का रजत जयन्ती समारोह था। इसमें अनेक कार्यक्रमों की श्रेणी में एक संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया था। मुझे इसमें शोध पत्र प्रस्तुत करने का आमंत्रण मिला। संगोष्ठी का विषय था "Science, Engineering and Technology in Sanskrit Literature" निमंत्रण-पत्र पाकर मुझे आश्चर्य हुआ कि आखिरकार राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान को मेरे विषय में जानकारी किस प्रकार मिली। मैं भौतिकी के अन्य प्रश्नपत्रों के साथ ही एम0एस-सी0 में "वैदिक भौतिकी" विषय का अध्यापन भी कर रहा था। मैंने इस कार्य का प्रचार करने का भी कोई प्रयास नहीं किया था। अतः मैंने कुलपति डा0 धर्मपाल जी से भेंट कर यह जानना चाहा. मेरे कार्य के विषय में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान को जानकारी किस प्रकार मिली तो उनका उत्तर था– "यह नहीं पूछा करते, आप अपना शोधपत्र अवश्य प्रस्तुत कीजिए।" मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया था और शोधपत्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा भी।

अतः 13 अक्टूबर 1995 को मैंने नेशनल म्यूजियम इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली में संस्कृत संस्थान द्वारा आयोजित संगोष्ठी में अपना शोधपत्र "Mayavad & Modern Physics" प्रस्तुत किया जिसकी प्रेरणा मुझे डा0 आर0एस0 ओझा के उस व्याख्यान से मिली थी जिसमें उन्होंने रोमा-रोला का उल्लेख किया था जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ। मेरी सुखद अनुभूति का पारावार नहीं था जब मैंने देखा कि संगोष्ठी के उपरान्त भोजन के समय संगोष्ठी में पधारे अनेक विद्वानों ने मुझसे संपर्क किया और मेरे शोधपत्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जीवन में ऐसे सुअवसर की प्राप्ति के लिए मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन एवं वर्तमान कुलपति माननीय डा0 धर्मपाल जी का हृदय से आभारी हूँ। माननीय कुलपति जी को मेरे शोधपत्र के विषय में अन्य सूत्रों से जानकारी प्राप्त हुई और वह बहुधा इसकी चर्चा लोगों के बीच कर देते हैं। उनके शब्दों से मुझे अध्ययन और शोध के लिये प्रेरणा मिलती है।

मैंने भौतिकी विषय में एम0एस-सी0 एवं पी-एच0डी0 की उपाधि ग्रहण की है। संस्कृत भाषा का मुझे मामूली सा ज्ञान है। अतः वैदिक भौतिकी विषय के अध्यापन में वेद मंत्रों का शाब्दिक अर्थ करना मेरे लिए संभव नहीं है। इस कार्य के लिये मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा0 भारत भूषण वेदालंकार से सहायता माँगी, उन्होंने लगभग एक माह तक प्रतिदिन सायंकाल मुझे अपना अमूल्य समय दिया और संबंधित वेदमंत्रों के अर्थ जानने में मेरी मदद की। उनके इस सहयोग के लिए मैं हृदय से उनका आभार प्रकट करता हूँ।

1991 में जब भौतिकी विषय में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं तो "वैदिक भौतिकी" का प्रश्नपत्र "क्वालीफाइंग पेपर" के रूप में लगाया गया क्योंकि यह एक प्रारम्भिक प्रयोग था। जब डा0 धर्मपाल जी ने कुलपति के पद का कार्यभार संभाला तो उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पाठ्यक्रम में वैदिक भौतिकी का समावेश है। साथ ही उन्होंने अपनी यह इच्छा भी व्यक्त कि वैदिक भौतिकी को क्वालीफाइंग पेपर के रूप में न रखकर "कोर पेपर (Core Paper) के रूप में रखना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश विषय समिति (Board of Studies) में यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। तब माननीय कुलपति डा0 धर्मपाल जी ने एक अत्यन्त साहसिक कदम उठाया। अपने विशेषाधिकार का उपयोग करते हुए उन्होंने वैदिक भौतिकी के प्रश्नपत्र को कोर–प्रश्नपत्र बनाने का निर्णय दिया। उनके इस निर्णय की मैं भूरि–भूरि सराहना करता हूँ, क्योंकि इससे विषय के अध्ययन और अध्यापन में काफी गंभीरता आ गई है और इस विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण छात्रों का भौतिकी जगत में एक विशेष स्थान है।

अंत में मैं रुड़की विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डा0 नरेशचन्द्र वार्ष्णेय के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने वैदिक भौतिकी के पाठ्यक्रम के निर्माण में मूल्यवान सुझाव दिये।

● ● ●

यजुर्वेद में आत्मावाची अभिधान व विशेषण

डॉ0 वीरेन्द्र अलंकार
रीडर,संस्कृत विभाग,
पंजाब वि0 वि0, चण्डीगढ़

भारतीय दर्शन में ईश्वर, जीव, प्रकृति– इन तत्त्वों का बड़ी गम्भीरता से विवेचन हुआ है। इन तीनों तत्वों की व्याख्या इस बात का प्रमाण है कि सभी दार्शनिक प्रस्थानों को किसी न किसी रूप में ये त्रिविध तत्व स्वीकार्य हैं। वेद में 'आत्मा' शब्द परमात्मा तथा जीवात्मा–दोनों के लिए व्यवहृत हुआ है। वेद में जीव तथा आत्मा ये दोनों शब्द उपलब्ध हैं। आस्तिक दर्शनों में जीवात्मा का जो विवेचन मिलता है, उसका उत्स वेद में विद्यमान है। दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के भाष्य में जीव और आत्मा शब्दों के अतिरिक्त अग्नि, इन्द्र, रूद्र, काम, क्रतु, प्रजापति, विश्वदेव, देव लोक और अधिपति–इन देवशास्त्रीय शब्दों का अर्थ भी प्रसगांनुरोधेन जीवात्मा किया है। इन अभिधानों के अध्ययन से जीवात्मा के स्वरूप, सामर्थ्य, गुण और स्वभाव का अध्ययन सुकर हो जाता है। उक्त अभिधानों का सन्दर्भ सहित उल्लेख करना ही इस पत्र का प्रतिपाद्य व उद्देश्य है। जीवात्मा की वाचक निम्न संज्ञाएं यजुर्वेद में उपलब्ध हैं–

1. आत्मा : आत्माशब्द वेदों में उपलब्ध है– भून्या असुरसृगात्मा[1] आत्मा शब्द दो अर्थों में प्रसिद्ध है– सर्वज्ञ परमात्मा और अल्पज्ञ जीवात्मा। आत्मा शब्द की ईश्वरार्थक निरूक्ति यह है– अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति[2] (सर्वान्तर्यामी परमात्मा) जीवात्मार्थक 'आत्मा' शब्द की निरूक्ति अत सातत्यगमने धातु से इस प्रकार की जा सकती है– अतति सततं गतिशीलो भवति पुनः पुनर्जन्मग्रहणेन शरीरधारणेनेति आत्मा। यजुर्वेदभाष्य में स्वामी जी ने आत्मा शब्द का अर्थ इच्छादि गुण समवेत किया है।[3] आत्मा का वाच्यार्थ है– स्वस्वरूप।[4]

2. जीव : 'जीव' शब्द का व्यवहार वेद में बहुधा हुआ है। जीव शब्द अल्पज्ञ जीवात्मार्थक ही है–

अनच्छये तुरगातु जीवमेतद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।।[5]
जीवेभ्यस्त्वा समुद्रे वायुरिन्द्रे धाता दधातु।।[6]

स्वामी दयानन्द ने निरूक्ति के अधार पर जीव शब्द की व्याख्या की है– जीवति प्राणं धारयति, प्राणधारणेन समर्थो भवति[7] अर्थात शरीर में जिससे प्राण धारण किए जाते हैं, वह जीव है। स्वामी जी ने जीव शब्द का अर्थ – 'ज्ञानसाधनयुक्त' किया है।[8]

3. अग्नि : अग्नि शब्द बह्वर्थक है। अग्नि पद अध्यात्मार्थ में ईश्वर का भी वाचक है, और भौतिक अग्नि का भी। ईश्वरार्थक अग्नि पद का अर्थ स्वामी जी ने प्रकाश युक्त, विज्ञान स्वरूप आदि किया है।[9] स्वामी जी ने अग्नि शब्द को जीवार्थक भी स्वीकार किया है।[10] वहां अग्नि शब्द विशेषण के रूप में है। अग्नि का अर्थ है– अग्नि के समान बर्ताव करने वाला विद्वान् जीव[11], अग्नितुल्य अर्थात् देहान्त प्रापक जीव[12] और सूर्य के समान प्रकाशवान् जीव।[13] अग्नि विशेषण से जीवात्मा के अपने स्वरूप का बोध होता है कि वह प्रकाशयुक्त अर्थात् शुद्ध स्वरूप है।

4. इन्द्र : स्वामी जी ने 'इन्द्र' पद का अर्थ कई स्थलों में जीव किया है।[14] जीवार्थक 'इन्द्र' पद किन किन ब्राह्मणों में आया है– यह अनुसन्धातव्य है। स्वामी जी ने यहाँ कोई प्रमाण नहीं दिया है। इन्द्र पद की जीवार्थक निरूक्ति का भी यजुर्वेदभाष्य में अभाव है। इन्द्र पद से जीव अर्थ का स्पष्ट आधार क्या है, यह भी विचारणीय है। यजुर्भाष्य में इसका एक संकेत उपलब्ध है– इन्द्र का अर्थ सूर्य हैं इसी आधार पर स्वामी जी ने इन्द्र का अर्थ किया है– सूर्य के तुल्य तेजस्वी जीव।[15] एक अन्य स्थल में स्वामी जी ने 'इन्द्रपत्नी' शब्द का अर्थ 'जीवात्मा की स्त्री के तुल्य वाणी'[16] किया है।

'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्यार्थक इदि धातु से व्युत्पन्न है। अतः अपने स्वरूपावस्थान में जीवात्मा की मोक्षानन्द प्राप्ति का इसे संकेत किस स्तर तक स्वीकार किया जा सकता है– यह विचारणीय है।

5. अज : स्वामी जी जीव को अनादि स्वीकार करते हैं– सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति।[17] यजुर्वेद में भी आत्मा को अज[18] कहा गया हैं। अज का अर्थ है जो न कभी उत्पन्न हो, जिसका कोई कारण न हो, स्वयं सिद्ध हो, वह अज अथवा अनादि है। स्वयं सिद्ध होने से आत्मा स्वयम्भू[19] है।अतः आत्मा स्वयं सिद्ध है। यह किसी भी उपादान कारण से नहीं बना है।

6. रूद्र : दयानन्द यजुर्भाष्य में 'रूद्र' पद ईश्वरार्थक भी है और जीवार्थक भी।[20] रूद्र शब्द का दयानन्द प्रदत्त 'जीव' अर्थ बड़ा मौलिक है। यह स्वामी जी की सूक्ष्म मनीषा का ज्ञापक है। ईश्वरार्थक रूद्र शब्द का अर्थ है– रोदयत्यमित्रान्[21], रोदयत्यन्यायकारिणो जनान्[22] जीवार्थक व्युत्पत्ति स्वामी जी ने नहीं दी है। 'रूद्र' शब्द के जीव अर्थ का आधार अन्वेषणीय है।

5. प्रजापति : वैदिक वाङ्मय में ईश्वर को अनेक स्थानों में प्रजापति कहा गया है। प्रजापित का अर्थ बड़ा स्पष्ट है– प्रजा का पति अर्थात् स्वामी। स्वामी दयानन्द ने भी प्रजापति का अर्थ प्रजा का स्वामी करके परमेश्वर अर्थ किया है, किन्तु उन्होंने प्रजापति का अर्थ 'जीव' भी किया है– प्रजायाः पालको जीवः।[23] अर्थात् प्रजा का पालक जीव। यहाँ स्वामी जी को सामान्य अर्थ ही ईप्सित है।

6. देव : एक मन्त्र भाष्य में स्वामी जी ने 'देव' का अर्थ जीव भी किया है।[24] ईश्वरार्थक देव शब्द का अर्थ है– स्वयं प्रकाशस्वरूप। यही आधार 'जीव' अर्थ में भी दिखाई देता है, जीवात्मा भी स्वयं प्रकाश स्वरूप है। आचार्य यास्क ने देव की निरूक्ति दीपन और द्योतन हेतु से भी मानी है–देवो दानाद्दीपनाद्द्योतनाद् वा द्युः स्थानों भवतीति वा।[25] स्वामी जी ने 'देव' पद से ईश्वर का ग्रहण भी किया है, इन्द्रियों का ग्रहण भी और जीवात्मा का ग्रहण भी अभीष्ट है। यजुर्वेद में बहुवचनान्त 'विश्वे देवाः' पद भी पठित है। यहां भी देव शब्द को जीवार्थक भी स्वामी जी ने माना है।

'विश्वे देवाः' यह बहुवचनान्त पद ही प्रयुक्त होता है। यद्यपि दयानन्द यजुर्भाष्य में 'विश्वे देवाः का 'जीवाः' अर्थ सीधा नहीं है, प्रकारान्तर से यह अर्थ द्योतित होता है। विश्वदेव का ताद्धित रूप 'वैश्वदेवः यजुर्वेद में उपलब्ध है। स्वामी जी ने 'वैश्वदेवः' का अर्थ किया है– सब उत्तम जीव व पदार्थों से सम्बद्ध–विश्वेषां देवानां दिव्यानां जीवानां पदार्थानां वा यः

सम्बन्धी ।[26] इस भाष्य वचन से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी को 'विश्वदेव' शब्द का अर्थ 'सभी जीव' मान्य है। बहुवचनान्त 'विश्वे देवाः' से यह भी स्पष्ट है कि जीवात्माओं का आनन्त्य है।

9. क्रतु : दयानन्द दर्शन में जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और फलभोग में परतन्त्र। कर्म ही फलभोग व्यवस्था में हेतु है। 'जीव' कर्म करने वाला है। इसका आधार भी यजुर्वेद के 'क्रतु' पद के व्याख्यान में उपलब्ध है। स्वामी जी ने क्रतु का अर्थ—जीव किया है। क्रतु का अर्थ है– करने वाला। जीव कर्म करता है, इसका ज्ञापक यह वैदिक प्रमाण है– यः करोति, (स) जीवः ।[26]

10. लोक : 'लोक' शब्द पृथिव्यादि लोकों के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी जी ने एक स्थान पर 'लोक' शब्द का अर्थ 'जीवात्मा' भी किया है ।[28] लोक शब्द का 'जीव' अर्थ अन्य किन ग्रन्थों में उपलब्ध है, यह अन्वेषणीय है।

11. काम : निम्न मन्त्र में पांच बार 'काम' पद आया है, जिसका अर्थ स्वामी जी ने दो स्थलों में ईश्वर और तीन स्थलों में 'जीव' किया है–

को ऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात् कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते ।।[29]

मन्त्रार्थ यह है– (कः अदात्) कौन कर्मफल को देता है और (कस्मै अदात्) किसके लिए देता है। इन दो प्रश्नों के उत्तर हैं– (कामः) जिसकी कामना सब करते हैं, वह परमेश्वर (अदात्) देता और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) देता है। अब विवेक करते हैं कि (कामः) जिसकी योगीजन कामना करते हैं, वह परमेश्वर (दाता) देने वाला है (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिगृहीता) लेने वाला है। हे (काम) कामना करने वाले जीव! (ते) तेरे लिए मैंने वेदों के द्वारा (एतत्) यह समस्त आज्ञा की है, ऐसा तूँ निश्चय करके जान।

निर्वचन शास्त्र के अधार पर स्वामी जी ने 'कामः' का अर्थ ईश्वर तथा जीव किया है।

1. कामः = ईश्वरः – काम्यते यः परमेश्वरः। यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरः।
2. कामः = जीवः – कामाय कामयमानाय जीवाय। काम! कामयते असौ तत्सम्बुद्धौ।

काम की ये दो व्याख्याएँ स्वामी जी की प्रखर मनीषा की साक्षी हैं। 'काम' की इस जीवार्थक व्याख्या में इच्छादिगुणवत्ता निहित है, जिसकी स्फुट मीमांसा न्यायशास्त्र में विद्यमान है।

12. अधिपति : अधोलिखित मन्त्र का देवता 'आत्मा' है–

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहा ।[30]

स्वामी जी ने जीव को अधिपति कहा है– इन्द्रियादि के अधिपति जीव के साथ वर्तमान, जीवन के हेतु प्राणों के लिए स्वाहा।

कठोपनिषद् में शरीर को रथ और आत्मा को इस रथ का स्वामी 'रथी' कहा गया है– आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।[31] उपर्युक्त याजुष मन्त्र में भी यही अभिप्राय निहित है।

इस प्रकार स्वामी जी ने उपर्युक्त शब्दों का अन्वय जीवात्मा में किया है। वस्तुतः ये पद जीवात्मा के वाच्यार्थ अनादिस्वरूप स्वतन्त्र सत्ता के विशेषण हैं। इन विशेषणों के अध्ययन से आत्मा के स्वरूप का सामान्य परिज्ञान स्वतः हो जाता है। दयानन्द प्रदत्त इन जीवार्थक पदों के व्याख्यान का प्रमुख आधार निर्वचन शास्त्र है।

सन्दर्भ संकेत

1– ऋग्वेद– 1.164.4, अथर्ववेद– 9.9.4
2– यजुर्वेद– दयानन्दभाष्य–4.15
3– यजुर्वेद– दयानन्दभाष्य–7.28
4– वही– 7.28
5– ऋग्वेद–8.164.30
6– अथर्ववेद–8.1.15
7– यजुर्वेद दयानन्दभाष्य–2.32
8– द्र0–वही–3.55
9– द्र0–वही–32.1, 3.11
10– द्र0–वही–12.36–38
11– द्र0–वही–12.36
12– द्र0–वही–12.37
13– द्र0–वही–12.38
14– द्र0–वही–21.24,22.6,28.9,17
15– द्र0–वही–28.18
16– द्र0–वही–28.8
17– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–स्वामी दयानन्द, (वेदोत्पत्तिविषय)
18– यजुर्वेद– 25. 25
19– वही–20.7
20– द्र0–यजुर्वेद–दयानन्दभाष्य– 34.34, 38.16
21– तु0 वही– 3.58 : दुष्टानां रोदयिता परमेश्वरः।
22– वही– 3.57
23– वही– 39.5
24– द्र0–वही 28.19
25– निरूक्त–यास्क– 7.4.15
26– यजुर्वेद–दयानन्द भाष्य –39.5
27– वही– 40.15
28– द्र0–वही– 34.55
29– यजुर्वेद– 7.48
30– वही– 39.1
31– कठोपनिषद 1.3.3

● ● ●

सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः इन्द्र देवता सप्तकम् (1)

इन्द्र देवता का स्वरूप दर्शाने वाले मन्त्र

-श्री मनोहर विद्यालंकार

(1) इन्द्र हमें सदा अपनाता है, हम ही उसकी ओर उन्मुख नहीं होते हैं–

सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपोनु स सपर्यन् । न देवो वृतः शूर इन्द्रः ।। साम 196 ऋषिः वामदेवः । देवता–इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

शब्दार्थः–(सः इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली वह परमात्मा (सपर्यन्) पदार्थों को देकर हमारी सेवा करता हुआ सदा (वः आचर्कृषद्) हमें और आप को अपनी और आकृष्ट कर रहा है, किन्तु हमारे द्वारा ही (शूरः) सब वासनाओं और दुःखों का विनाशक (इन्द्रः देवः) परमैश्वर्य प्रदाता (न वृतः) वर रूप में स्वीकार नहीं किया गया है ।

(2) परमेश्वर की थोड़ी सी स्तुति भी, स्तोता को बड़ा बना देती है–

कदु प्रचेत्तसे महे वचो देवाय शस्यते । तदिद् स्ह्यस्यवर्धनम् ।। साम 224 ऋषिः वामदेवः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

शब्दार्थः–(महे प्रचेत से देवाय) पूजनीय, प्रकृष्ट ज्ञानी देवाधिदेव के लिये (कत् 3) कितना थोड़ा ही (वचः शस्यते) स्तुति वचन कहा जाता है, (तत् इत्) उतना ही (अस्य वर्धनम् हि) निश्चय से स्रोता को बढ़ाने वाला होता है ।

निष्कर्षः–शस्यते–शसि इच्छायाम; स्तुति जैसा बनने की इच्छा (प्रयत्न) से बढ़ोत्तरी होती है ।

(3) परमेश्वर केवल स्तुतियों से नहीं, तदनुकूल आचरण से सखा बनता है ।

इन्दु उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानांच वाजपतिः । हरिवान्त्सुतानां सखा ।।साम 226 ऋषिः–विश्वामित्रः) देवता–इन्द्रः । छन्दः–गायत्री ।

शब्दार्थः–(इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली च तथा (वाजानां वाजपतिः) सब प्रकार की समृद्धियों का स्वामी इन्द्र (उक्थेमिः) वेदमन्त्रों के अध्ययन और तदनुकूल आचरणों से (मन्दिष्ठः) अत्यन्त प्रसन्न होकर (सुतानां सखा) उत्पादनशील पुत्रों का सखा बन कर (हरिवान्) उन के सब दुःखों का हरण करने वाला बन जाता है ।

अर्थपोषणः–उक्थम्– सामसाध्यंस्तोत्रमुक्थम् । 'उक्थ' का उपरिलिखित अर्थ क्यों? इस मन्त्र में परमेश्वर को सखा(=समानख्यान=ज़िन दोनों के गुण कर्म स्वभाव समान हों) कहा है । यह तभी संभव है, जब कोई साधक मन्त्रोक्त निर्देशों पर आचरण करें ।

(4) परमेश्वर भक्तों को कष्टों से तराकर, पार लगा देता है

मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरूधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम् ।।
करोष्यर्यस्तरूषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ।। साम 329 ऋषिः वामदेवः । देवता–इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

शब्दार्थः–हे (इन्द्र) परमैश्वर्यशालिन् । (दुवस्युः) काम क्रोधा दि शत्रुओं से परितप्त हुवा हुवा मैं (वृत्र हणम्) इन वृत्रों के हन्ता (द्युक्षम्) कर्तव्याकर्तव्य के प्रकाशप्रदाता (मे लिनं वज्रिणम्) वेदवाणी की तरह सदा प्रगतिप्रद (भृष्टिमन्तम्) पापों को भून डालने वाले, (पुरूधस्मानम्) बहुतों के धारण कर्त्ता (स्थिरप्स्नु)सदा एक रूप (वृषभम्) सब पर सुखों की वर्षा करने वाले (त्वा गृणीषे) तेरी स्तुति करता हूँ क्योंकि तू (अर्यः) ब्रह्माण्ड का स्वामी होने से (अर्यः अरीः) अपनी सम्पूर्ण प्रजाओं को, पापों और विघ्नों से (तरूषीः करोषि) लड़कर उन्हें तर जाने में समर्थ बना देते हो ।

अर्यः–ईश्वरनाम । नि0 2–22, अर्यः = अरीः प्रजाओं को मेडिम्–वाङ्नाम, नि01/11 दुवस्युः–दुवस् परितापसंचरणयोः । परितृप्त होकर उसके निवारण के लिये परिचर्या करने वाला ।

(5) ऐश्वर्यशाली इन्द्र को अपने आयोजनों में सभी बुलाते हैं

यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ।। साम0 339
ऋषिः वाम देवः । देवता इन्द्रः । छन्द त्रिष्टुप् ।

शब्दार्थः–(1) (वृत्रेषु) काम क्रोधा दिका आवरण डालने वाले आध्यात्मिक और नैतिक युद्धों मे अथवा धन कमाने की स्पर्धाओं में (क्षितयः स्पर्धमानाः) स्पर्धा करने वाले साधक या मानव (यम् हवन्ते) जिसे सहायता के लिये स्मरण करते और पुकारते हैं (2) (युक्तेषुतुरयन्तः) योग युक्त योगियों में अथवा बड़े–बड़े आयोजनों में तुरन्त कार्य सिद्धि चाहने वाले (यं हवन्ते) जिसे पुकारते हैं– सहायता के लिये, (3) (शूरसातौ) संग्रामों में योद्धा जिसे सहायता के लिये स्मरण करते और पुकारते हैं, (4) (अपां उपज्मन्) जलों और उपज की प्राप्ति के निमित्तकिसान (विश्वनाथ) और प्राणों को ऊपर ले ऊपर ले चक्र में संक्रमण के लिये प्राण साधक (रामनाथ) (5) (विप्रासः) किसी भी क्षेत्र में विशेष रूप से पूरण चाहने वाले जन (यं वाजयन्ते) जिस की अर्चना करते हैं (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यशाली परमात्मा है । अथवा ऐसा व्यक्ति प्रधान पद पर बैठाने योग्य होता है ।

(6) यहां इन्द्र से अभिप्राय है 'ब्रह्म' जिसके परमेश्वर और वेद दोनों अर्थ हैं

सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी।। साम0 1654

ऋषिः शुनः शेषः आजीगर्तिः। देवता–इन्द्रः–छन्दः – एकपदा पङ्क्तिः।

शब्दार्थः– (1) (इन्द्रः) परमेश्वर माता रूप में (सुमन्मा) उत्तम ज्ञान विसानों से पूर्ण तथा प्रदाता (वस्वी) निवास के योग्य सब वसुओं (वस्तुओं) का स्वामी तथा यथायोग्य प्रदाता (रन्ती) सबको कर्मानुसार रमण क़राने वाला (सूनरी) उत्तम वाणियों द्वारा सन्मार्ग पर ले जाने वाला है। (2) परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति तथा अव्यक्तवाणी (निष्यावचांसि) (सुमन्मा) उत्तम ज्ञान देने वाली (वस्वी) जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक परिस्थितियों और पदार्थों की प्राप्ति का ज्ञान देने वाली, (रन्ती) रमण साधनों का निर्देश करने वाली तथा (सूनरी) उत्तम मार्ग प्रदर्शिका है।

(7) इन्द्र कण कण में व्याप्त है, अतः अपने शीर्षस्थ केन्द्रों को सदा पवित्र रक्खो–

नीव शीर्षाणि मृढ्वंग मध्य आपस्य तिष्ठति। शृंगेभिर्दशभिर्दिशन्।। साम0 1656

ऋषिः,–शुनः शेप आजीगर्तिः। देवता–इन्द्रः। छन्द–गायत्री।

शब्दार्थः– (इन्द्रः) परमेश्वर (दशमिः शृंगेभिः) शृंगवत् प्रमुख पांच महाभूतों और पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (इ) अनुकम्पा कर के अव्यक्त रूप में, सत् असत् के भेद का (दिशन्) संकेत करता हुआ (आपस्य मध्ये)। व्याप्य ब्रह्माण्ड के कण–कण के अन्दर (तिष्ठति) स्थित–व्याप्त है। अतः (शुनः शेपः) सुख की कामना से विषयों को भोगता हुआ (आजीगर्तिः) गर्त में गिरने के अनन्तर, अपने अनुभव के आधार पर उपासकों और साधकों को (दिशन्) निर्द्वेश करते हुए कहता है कि आप लोग (शीर्षाणि) अपने मस्तिक स्थित ज्ञान केन्द्रों को (निमृद़म्) शुद्ध पवित्र रक्खो, मेरी तरह पथभ्रष्ट होकर गर्त में गत गिरो; इस निर्देश के द्वारा वह स्वयं भी आत्म संबोधन प्राप्त करता है।

अर्थ पोषण– इ. भेद, रूषोक्ति, अनुकम्पा, अपाकरणेषु। व साम्येऽर्थे। वेदाङ्गप्रकाशेऽव्ययार्थः। नीव–नि+इ+व। नि = अन्दर से मृढ्वम्–'मृजूष् शुद्धौ' अपने को शुद्ध करो। न साम्येऽर्थे; इन्द्रियों के विषय प्रमुखता से सामने आते हैं, किन्तु उनमें लिप्त होने से वे सींगों की तरह पीड़ा पहुँचाते हैं, यदि उन से अलिप्त रहें, तो वे सींगो की तरह शोभा में वृद्धि और पापों से रक्षा करते हैं।

• • •

सामवेदस्य निजमन्त्रेभ्यः इन्द्र देवता सप्तकम (2)

इन्द्र देवता से प्रार्थना मन्त्र

– श्री मनोहर विद्यालंकार

(1) हे शूर ! हमें प्रेरणा दो कि हम तेरे समानख्यान साधकों की संगति व अनुगमन करें

अरं त इन्द्र शवसे गमेम शूर त्वावतः। अरं शक्र परेमणि।। साम0 209

ऋषिः–वामदेवः। देवता–इन्द्रः। छन्द–गायत्री।

शब्दार्थः– (शूर इन्द्र) वासनाओं, और दुःखों का हिंसन करने वाले ऐश्वर्यमय प्रभो ! (ते श्रवसे) आपके ज्ञानश्रवण और यशोगान के लिए (त्वावतः) आपके समानख्यान सखा (ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति) के पास (अरंगमेम) प्रायः जाते रहें। हे (शक्र) सर्वशक्तिमान् प्रभो ! ऐसी प्रेरणा करो कि हम (परेमणि अरं गमेम) उत्कृष्ट मार्ग पर अथवा पराविद्या की प्राप्ति के मार्ग पर प्रायः चलते रहें।

शूरः–शृ हिंसायाम्। शक्रः–शक्नोति कर्तुं यदीप्सितम्–सर्वशक्तिमान्।

(2) हे इन्द्र ! हमारे शरीर के कोशों में पुरूषार्थ और पवित्रता स्थापित करो

ऐन्द्र पृक्षुकासुचिन्नृम्णं तनूषु धेहिनः। सत्राजिदुग्र पौंस्यम्।। साम0 231

ऋषिः–विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा। देवता–इन्द्रः। छन्दः–गायत्री

शब्दार्थः– हे (इन्द्र) परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! (नः) हमारे (पृक्षु तनूषु) संम्पृक्त स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीरों में (कासुचित्) जिनमें कोई कमी आ गई हो उन में (नृम्णं आ धेहि) बल का आधान कीजिये। हे (सत्राजित) सदाजयी और सत्यजयी (उग्र) सज्जनों के लिए उदार, और दुर्जनों के लिए उग्र प्रभो। (नः तनूषु) हमारे पांचों कोशों और सभी इन्द्रियों में (पौंस्यम्) बल, पुरूषार्थ और पवित्रता का (आधेहि) आधान कीजिये। पृक्षु–पृचीसंपके। सत्रा–सत्यनाम, नि03–10,सदा। पौंस्यम्–बलनाम्, नि0 2–9 पूजपवने।

(3) प्रार्थना – हे इन्द्र हमारी प्रार्थना सुन। उत्तर–जितेन्द्रिय बन, और स्तोत्र के अनुरूप आचरण कर–

इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः।
मधोःपपान उप नो गिरः श्रृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः।। साम0 294

ऋषिः–वामदेवः। देवता– इन्द्रः। छन्दः–बृहती

शब्दार्थः– हे (इन्द्रः) परमैश्वर्य शालिन् प्रभो ! (इमे उक्थिनः सोमाः) ये साम स्तोत्रों द्वारा प्रस्तुत भक्तिरस (तेमदाय) तेरी प्रसन्नता के लिये, और (इमे सोमाः) ये ओषधिरस स्थूल शरीर के लिए, प्रस्तुत हैं तथा (इमे सोमाः) ये रेतः कण पञ्चकोशों के (चिकित्र) रोगापनयन के लिए रक्षित किये गये हैं, हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा भजने तथा प्रार्थना करने योग्य प्रभो ! (मधोः पपानः) मधुर भक्तिरस का पान करते हुवे (नः गिरः श्रुणु) हमारी स्तुतिवाणियों को सुन, और (स्तोंत्राय रास्व) मुझस्तुति कर्ता को मेरे अभीष्ट प्रदान कर। इस पर प्रभु कहतें हैं– हे स्तुतिकर्त्ता साधक (नः गिरः श्रृणु) मेरे द्वारा प्रस्तुत वेदवाणियों को सुन और (स्तोत्राय रास्व) अपने स्तोत्र के अनुरूप जीवन यापन कर। चिकित्रे– कित निवासे रोगापनयने च। रास्व–रासन् गमने। आख्यातानुक्रम0 सोमाश्चितः–सोमः। कौ0 13–9, सोम रूपं यन्मध्र शत 12–8–2–15,

(4) हे परमेश्वर ! अव्रती और क्रियाविहीन को पदच्युत कर दे।

यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।
अस्माकमंशुं मघवन्पुरूस्पृहं वसव्ये अधिबर्हय।।साम0 298
ऋषिः– वामदेवः। देवता– इन्द्रः। छन्दः बृहती।

शब्दार्थः– हे (इन्द्रः) परमेश्वर या राजन् ! (यत्) क्योंकि आप शासः शासक हैं, अतः (अव्रतम्) व्रतशून्य या कर्मविहीन मनुष्यों को सदसः परिच्यावय सज्जन समाज से पूरी तरह से च्युत = निष्कासित कर दीजिये। हे (मघवन्) सब प्रकार के धनों के स्वामिन् ! (वसव्ये) बसने योग्य (अस्माकम्) हमारे हृदय में (पुरूस्पृहम्) बहुत चाहे गये (अंशुम्) ज्ञान के अंश को, और जीवन के लिये अनिवर्य धन के अंश को (अधिबर्हय) बढ़ाइये और श्रेष्ठ बनाइये।

राजा पक्ष में– (अंशुम) कर रूप में प्राप्त धन को (वसव्येअधि) राष्ट्र हित के कार्यो में (बर्हय) व्यय कीजिये। (प्रो0 रामनाथ सामभाष्य में)

(5) हे इन्द्र ! तेरे द्वाराक्षित और प्रेरित होकर हम अपने शत्रु को परास्त कर दें

यो ना बनुष्यन्नभिदाति मर्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
क्षिधी युधा शवसावा तमिन्द्राभिष्याम वृषमणस्त्वोताः।। साम0 336
ऋषिः–वामदेवः। देवता–इन्द्रः। छन्दः–त्रिष्टुप्।

शब्दार्थः– (यः मर्तः) जो मनुष्य (वनुष्यन्) क्रोध करता हुआ (उगणाः) अपने अन्य मित्रगणों से युक्त होकर (मन्यमानः) अभिमान करता हुआ (तुरःवा) शीघ्र मित्रगणों से युक्त होकर (मान्यमानः) अभिमान करता हुआ (तुरःवा) शीघ्र ही हनन करने में समर्थ मानकर (नः अभिदाति) हमारी जड़ काटना चाहता

है, (तम्) उसे हे (इन्द्र) शत्रुविदारक प्रभो ! (क्षिधि) क्षीण कर दे—हताश कर दे। हे (वृषमणः) सुखवर्षी स्वभाव वाले ! (त्वोताः) आप द्वारा रक्षित और उत्साहित (वृषमणः) शक्तिशाली मनों वाले हम (युधा) युद्ध में (शवसा) अपने सामर्थ्य से (तं अभिष्याम) उस क्रोधी व अभिमानी मनुष्य को परास्त कर दें।

(6) आपका ध्यान कर के, आप से प्राप्त राय को स्पष्ट करते हुवे जीवित रहें—

उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ।।साम 444—1115

ऋषिः—वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—द्विपदा पङ्.क्ति।

शब्दार्थः— हे (इन्द्र) ऐश्वर्य शालिन् प्रभो ! (ते) तेरे द्वारा प्रदत्त (मधुमतिप्रक्षे) मधुवत् मधुर शरीर में, तथा मधुर आनन्द के झरने (मन) में (क्षियन्तः) निवास करते हुवे, (ते धीम हे) तुझे धारण करते है— तेरा ध्यान करते हैं,; परिणाम स्वरूप ते रयिं पुष्येम) तेरे द्वारा प्रदत्त रयि = (आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। अथर्व 19—71) को पुष्ट करते हुवे, आपना जीवन व्यतीत करते हैं।

(7) हमें सहः, ओज, क्रतु ओर वाज देकर शत्रुओं का पराभवकर्ता बनाइये

सहस्तन्न इन्द्र दद्धिः ओज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।
क्रतुंन नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः।। साम0 625

ऋषिः—वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थः— हे (विरप्शिन्) महामहिम (इन्द्र) परमैश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो ! (नः) हमें (तत्) वह चाहने योग्य (सहः) दुःखों को सहन करने योग्य बनाने वाली सहनशक्ति तथा शत्रुओं को पराजित करने वाला बल (दद्धि) प्रदान करो, (हि) क्योंकि आप (अस्य महत्तः) इस महान् सहन सामर्थ्य और बल के (ईशे) अधीश्वर हैं। इस के साथ (क्रतुंम्) संकल्प के अनुरूप प्रज्ञा (न) और (नृम्णम्) बल, अथवा (क्रतुंन नृम्णम्) पुरूषार्थ के अनुरूप धन (स्थविरं च वाजम्) और प्रचुर अन्न तथा ऐश्वर्य (दद्धि) प्रदान कीजिये। (वृत्रेषु) शत्रुओं के विषय में अथवा अज्ञानान्धकार के आवरण होने पर (नः) हमें (शत्रून् सहना कृधि) इन शत्रुओं को पराभूत करने वाला बनाइये।

विरप्शी—महन्नाम। नि. 3—3. नृम्णम्—धनम्। नि. 2—10
सहः—सहनशक्तिसहमर्षणे। सहः बलम्, नि.2—9, सहना=सहमानः विजेता सूर्यकान्त।
वाजः — अन्ननाम, नि. 2—9; वाजः बलनाम, नि0 2—9. वाजः—ऐश्वर्य श्री अरविन्द।
वृत्रः—शत्रुः श्री अरविन्द ऋक् 10—69—12. क्रतुः संकल्प (**will**) श्री अरविन्द.

● ● ●

नाट्यशास्त्र का स्वरूप व उत्पत्ति

– डॉ0 अर्चना भार्गव

आचार्य भरत का नाम भारतीय नाट्य–शास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में लोक–विश्रुत है। ललित–कलाओं के विश्वकोष इस ग्रन्थ ने भारत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है। इसी कारण शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाद्यवेद तथ इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया। वे न केवल नाट्य और रंगमंच के आदि आचार्य हैं अपितु काव्यशास्त्र के भी प्रथम उद्घोषक है। भारतीय नाट्यकला पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। भारत में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ नाट्यशास्त्र में प्राप्त होने वाले एतद्विषयक विवेचन से ही माना जाता है। इस अनूठे ग्रन्थ में नाट्य–विषयक विवरण जितनी समग्रता के साथ प्रस्तुत हुआ है वह किसी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ में तो दुर्लभ है ही बल्कि तत्कालीन संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में भी प्राप्त नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि काव्य–शास्त्र और नाट्य–शास्त्र एक दूसरे के इतने अधिक निकट है कि उन्हें एक–दूसरे से अलग करना सर्वथा कठिन है।

भरत ने नाट्यशास्त्र के रूप में साहित्य को एक बहुत बड़ी देन दी है। इसके अन्तर्गत नाट्य की रचना तथा प्रयोग से सम्बन्धित अनेक विषयों का बृहद् वर्णन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य का स्वरूप हमें निम्न पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है–

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

अर्थात इस नाट्य में त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होता है और भरत ने यह भी बताया है कि यह अनेक भावों से समन्वित, विभिन्न अवस्थाओं वाला तथा लोकव्यवहार का अनुकरण करने वाला होता है।

नाट्यशास्त्र के अध्यायों को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। नाट्यशास्त्र का प्रथम संस्करण जो काव्यमाला सीरीज बम्बई से 1894 ई0 में निकला था, इसमें कुल सैंतीस अध्याय थे। इसके अतिरिक्त वहीं से प्रकाशित 1943 ई0 वाले संस्करण में कुल छत्तीस ही अध्याय थे। इसी प्रकार अन्य कई संस्करणों में भी कुल छत्तीस अध्याय ही मिलते हैं। शारदातनय तथा इसके उत्तरवर्ती अनेक शास्त्रकारों ने भी नाट्यशास्त्र के दो संस्करणों या पाठों का उल्लेख किया है। भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में भरत के परवर्ती ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है– एक वृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत। नाट्यशास्त्र के विषय में भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिलते हैं, एक नाट्यवेदागम दूसरा नाट्यशास्त्र।

पहला ग्रन्थ द्वादशसाहस्त्री और दूसरा ग्रन्थ षटसाहस्त्री कहलाती है। भावप्रकाश में शारदातनय ने बतलाया है कि "षट्–साहस्त्री" प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप था।

भरत के नाट्यशास्त्र में अध्यायों को लेकर जो मतभेद हैं उसमें मुख्य मतभेद एक अध्याय के अन्तर से ही सम्बन्धित है और वह विवाद अन्तिम अध्याय के विषय में ही है। जिन संस्करणों में 36 अध्याय हैं उनके छत्तीसवें अध्याय में नाट्य के भूलोक में अवतरण का कारण तथा नहुष के प्रयत्न से नाट्य के धरती पर आने का वर्णन है और जिस संस्करण में 37 अध्याय है उसमें पूर्वोक्त दोनों प्रसंग अलग–अलग अध्यायों में कर देने से एक अध्याय बढ़ गया है। अर्थात् इसके छत्तीसवें अध्याय में केवल नाट्य के भूलोक पर अवतरण का कारण दिया गया है, और नहुष वाला प्रसंग 37वें अध्याय में कर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों संस्करणों के पाठ में अन्तर न होकर अध्याय की संख्या में अन्तर है।

नाट्यशास्त्र के काल का विवेचन करते हुए विद्वानों में कई मतभेद है। प्रो0 मैकडानल ने नाट्यशास्त्र का रचना–काल ईसा की छठवीं शताब्दी तथा कीथ ने तीसरी शताब्दी माना है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है। कालिदास के समय भरत अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। चूँकि कालिदास का समय अधिकतर विद्वान् लगभग चौथी शताब्दी (ईसवी) का मानते हैं। इससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भरत के नाट्य–शास्त्र का रचनाकाल ईसा की दूसरी या तीसरी शती रहा होगा। कर्नल श्री जैकबी ने नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा के अंशों का विश्लेषण करते हुए नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की तीसरी शती निर्धारित किया है। श्री प्रो0 सिल्वा लेवी ने नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसवी दूसरी शती के स्थितिकाल के आस–पास का माना है। श्री मनमोहन घोष ने भी नाट्यशास्त्र के कालिदास, भास तथा कौटिल्य का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार के मत के अनुसार नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल वैदिककाल के पश्चात् तथा पुराणकाल के पूर्व है।

"नाट्यशास्त्र" के काल निर्धारण में प्रायः प्रत्येक विद्वान् ने कठिनाई का अनुभव किया है। इन सभी निष्कर्षों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोकप्रसिद्धि अर्जित कर चुका था जिसमें भाव, रस, प्रेक्षागृह, नाट्याभिनय, रूपक के भेद आदि का विवरण था तथा जिसकी जानकारी भास, अश्वघोष तथा कालिदास जैसे नाट्यकारों को थी। नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण तथा यास्क के उद्धरण हैं किन्तु पाणिनी के नहीं। अतएव पाणिनी के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल माना जाए तो यह प्रमाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप से ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है।

नाट्य की उत्पत्ति

नाट्य की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने भिन्न–भिन्न धारणायें उपस्थित की हैं। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्वसुख सम्पन्न स्वर्णयुग को इस प्रकार के मनोरंजन की आवश्यकता नहीं थी इसलिये नाट्य विकास त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ। अब प्रश्न यह है कि इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? भारतीय परम्परा के अनुसार सर्वसम्मत उपलब्ध प्रमाण नाट्यशास्त्र ही है।

नाट्यशास्त्र में भरत ने एक कथा का वर्णन किया है जिसका सार इस प्रकार है–

त्रेतायुग में देवताओं ने ब्रह्मा से आकर निवेदन किया कि–

1. वेद आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णो के लिए निश्चित है जिस कारण सर्वजन सुलभ नहीं है।
2. पाप का आधिक्य हो जाने के कारण आप पुण्य के लिये उपदेश दीजिए।
3. तथा, ऐसे मनो–विनोद की सृष्टि की जाये जो देखने और श्रवण करने के योग्य हो। अतः इस प्रकार दिया गया उपदेश अधिक प्रभावकारी होगा।

तत्पश्चात् भगवान् ब्रह्मा ने चारों वेदों का स्मरण करते हुए "नाट्य" नामक पंचम वेद की रचना की।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

अर्थात् ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य तत्त्व, सामवेद से गीत तत्त्व, यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करते हुए इन चारों के आधार पर ही पंचम वेद नाट्यवेद की रचना की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्यतत्त्व का ग्रहण इसलिये किया, क्योंकि ऋग्वेद में पाठ होता है। सामवेद में गान के सातों स्वर हैं इसलिये सामवेद से गीत तत्त्व को लिया। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से सारे क्रिया–कलाप हैं इसलिये यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व को लिया तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया। वैसे अथर्ववेद में रस नहीं है पर चूँकि अथर्ववेद में अलौकिकता का वर्णन है। इसलिये कहा जा सकता है कि रस का ग्रहण अथर्ववेद से किया। इस पंचम वेद में और वेदों की अपेक्षा सर्वाङ्गपूर्णता भी अधिक है।

तदनन्तर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा (देवताओं के वास्तुकार) को नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया तथा भरत को इस कला की शिक्षा देने को कहा। इस नाट्यकला की शिक्षा देने के लिए ब्रह्मा ने भरत को सौ पुत्र और सौ अप्सरायें भी दी और इस नाट्य में शिव ने ताण्डव नृत्य तथा पार्वती ने लास्य नृत्य उपहार में दिया। इस प्रकार इस दिव्य नाट्य वेद को नाट्य–शास्त्र के रूप में भूतल पर विकसित करने का कार्य भरत को करना पड़ा। इस नाट्यशास्त्र की रचना

को देखने से एक वास्तविकता की पुष्टि अवश्य होने लगती है कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भी अनेक प्रकार के नाट्यों का निर्माण हो चुका था जो पूर्वरूप से उपलब्ध नहीं है। इसीलिये भारतीय परम्परा नाट्य को वैदिक उत्पत्ति से युक्त मानती है।

उपर्युक्त मत से सम्बन्धित मत इस प्रकार है– वेद के संवादों में नाटकीय तत्त्व–ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह सूक्त ऐसे हैं जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। जैसे–यमयमी संवाद, शर्मापाणि संवाद इत्यादि। इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि इन संवादों का पाठ यज्ञों के अवसर पर दोनों दलों के द्वारा अभिनय के ढंग से किया जाता रहा होगा। इस मत से प्रो0 सिल्वॉ लेवी, हर्नेल आदि विद्वान् भी सहमत है। किन्तु ए.बी. कीथ का कहना है कि वे संवाद नाटकीय तत्त्व से युक्त नहीं अपितु पौरोहित्य कर्ममात्र होते थे जिसमें अनुकरण की भावना का अभाव था। इस प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी उपर्युक्त मत का खण्डन कीथ की तरह ही किया है। फिर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वेदों में नाटकीय तत्त्व न होने पर भी नाटकीय उपादान अवश्य है।

वैदिक कर्मकाण्ड में नाट्यतत्त्व– प्रोफेसर कोनो, प्रोफेसर ओल्डेनबर्ग आदि विद्वानों का मत है कि वैदिक कर्मकाण्ड में नाटक के बीज निहित थे। किन्तु जब तक ऋग्वेद के सूक्तों में हमें यथार्थ रूपक नहीं मिल जाता तब तक वैदिक युग में नाटकीय तत्त्व की घोषणा करने के लिए हमारे समग्र कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

मैक्डोनल का मत है कि नाच से नाट्य की उत्पत्ति हुई, किन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि संस्कृत में नट् और नृत् दोनों धातु भिन्न–भिन्न है और नाट्य, नृत्य तथा नृत इन तीनों शब्दों का अर्थ भी अलग–अलग है।

प्रो0 पिशेल ने कहा है कि पुतली नाच से उत्पत्ति हुई, किन्तु इस मत का खण्डन "रिजवे" ने कर दिया है कि सूत्रधार शब्द के बल पर पुतलियों से नाट्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त अत्यन्त अप्रामाणिक है। कुछ विद्वान् छाया नाटक से, इन्द्रध्वजोत्सव से, यूनानी नाट्य से भारतीय नाट्य की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु इन सभी मतों का खण्डन कर दिया गया है।

इस प्रकार उपलब्ध नाट्यशास्त्र के आधार पर उपर्युक्त प्रथम मत ही तर्कसगत प्रतीत होता है। अतः निष्कर्ष यही है कि लोगों की कुशल बुद्धि का परिचायक होने के लिए गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय के संयोग से मनोरंजन और उपदेश के उद्देश्य हेतु विशेष अवसरों पर प्रयोग करने के लिए नाट्य की उत्पत्ति हुई।

सी– 22 37, इन्दिरा नगर,
लखनऊ–226016

● ● ●

सच्चे ब्राह्मण का सात्विक बल

(अथर्ववेद काण्ड 5, सूक्त 18 का भावानुवाद)

–श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार
(विद्यालय –विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

'ब्रह्म' नाम प्रभु का वेदों में, 'गौ' रुप उसकी वाणी।
जो उस वाणी का ज्ञाता है, कहलाता ब्रह्म का ज्ञानी।।
'यज्ञ' कराना, करना जिसके, जीवन का व्रत होता है।
पढ़ना और पढ़ाना जिसको, सदा–सदा से भाता है।।
ऐसे लक्षण वाला मानव, ब्राह्मण–रुप कहाता है।
सत्य–धर्म के पालन में वह, सर्वमेघ कर जाता है।।
सीधा–सादा सरल चित्त का, ब्राह्मण सबका प्यारा है।
जो उसकी हिंसा करता है, दुष्ट, महा हत्यारा है।।
बड़े–बड़े अत्याचारी भी, ब्राह्मण की वाणी आगे।
अपना मस्तक झुका रहे है, उसके भव्य तेज आगे।।
कहने को वह दीन–हीन सा, दिखता अरे, बेचारा है।
देखो, उसके अन्तर्मन में, दहक रहा अंगारा है।।
जब उसकी वाणी का 'तीखा', बाण दुष्ट पर चलता है।
'ब्रह्मनिष्ठ', ब्राह्मण के आगे, 'शासक' पानी भरता है।।
वेद–ऋचायें उसके गुणका, तुमुल घोष करती सारी।
ब्राह्मण की वाणी पर सचमुच टीकी हुई धरती सारी।।
दिव्य–भावना सदा हिलोरे लेती है उसके मन में।
बिना मुकुट का शासक है वह, बसता जन–जन के मन में।।
सच्चा ब्राह्मण रत्न–राष्ट्र का, उसकी अनुपम है वाणी।
उसका मोल भाव जो करता, वह मूरख है अज्ञानी।।
वह ब्राह्मण है लोकपति भी 'ब्रह्मन्' उसके 'गण' सारे।
सदा ब्राह्मणी अमर जगत में, जो जन–जन को है धारे।।
ब्रह्मतेज जिसकी रग–रग में, सदा हिलोरे लेता है।
ऐसे 'नर–नाहर' ब्राह्मण से, दुष्ट दहलता रहता है।।

आओ, उसको नमन करें हम, वही ज्येष्ठ है 'वर्णों' में।
आदेशों में बंधे हुए हम, लगे हुए निज कर्मों में।।
जीवन में जितने 'कर्म–काण्ड' सबका कर्ता उसको जानो।
'षोड़श–संस्कार' विधाता वह, ब्राह्मण को तुच्छ न तुम जानो।।
यह 'यज्ञ–भावना' जो जग में, यत्किंचिद् दीख रही सबको।
यह उसके तप की सिद्धि है, जो ज्ञान–सुधा देती हमको।।
ये काल कोठरी, कठोर दण्ड, ब्राह्मण से भय सब खाते है।।
कष्टो की प्रचण्ड तपस्या से, जीवन कुन्दन बन जाते है।।
ये ब्राह्मण देखो 'युगाधार', ये राज्य–तन्त्र के सूत्रधार।
इनसे संचालित नव विधान, इन पर न्यौच्छावर रत्नसार।।
ये तपः पूत, ये वीतराग, ये विषपायी है जन्मजात।
ये 'भीषण' 'दावानल' समान, ये मनवीणा की मृदुल तान।।
ये शान्त रूप, ये सोमदेव, ये क्रान्तिदूत, ये महाकाल।
ये प्रलय रूप, ये प्रचण्ड ताप, ब्राह्मण विप्लव की अग्नि ज्वाल।।
ये धर्मवीर, ये कर्मवीर ये क्रान्तिवीर, ये विप्रवीर।
ये राष्ट्रवीर, ये विजयीवीर, ये जलनिधि से गम्भीर धीर।।
ये ब्राह्मण हैं निष्काम–काम, इनका जीवन कितना ललाम।
ये छल–छन्दों से बहुत दूर, इनसे घबराते कुटिल, क्रूर।।
इनकी वाणी में गहन–शक्ति, इनके मानस में ईश–भक्ति।
ये दया –क्षमा के देव–दूत, ये राष्ट्र–धर्म के अग्र–दूत।।
इनको तुम क्यों दुत्कार रहे, इनका कर क्यों अपमान रहे।
ये कष्ट–साधना में लिपटे, बन अग्नि के अंगार रहे।।
ये डरे–डरे, जब दबे–दबे, ब्राह्मण अंगडाई लेते हैं।
तब अद्‌भुत खेल यहाँ होता, अभिमानी सिर को धुनते हैं।।
ये सीधे–सादे, सरल चित्त, ब्राह्मण तुम से क्या लेते हैं।
ओरों को सुख पहुँचाने हित, अपना सब कुछ दे देते हैं।।
इनके आँसू अनमोल रत्न, यदि बिखर धरा पर जायेंगे।
ये दुःखी–हृदय के अश्रु–बाण, सत्ता को भी डस जायेंगे।।
सात्विक जीवन का तप ही तो, ब्राह्मण का 'वर्चस' होता है।
यह हाथ पसारे खड़ा आज, सोचो, ऐसा क्यों होता है।।
यें नहीं किसी से कुछ मांगे, सबको सत्पथ बतलाते हैं।

इनकी पीड़ा को समझो तुम, ये कहकर भी नहीं कहते हैं।।
मत छेड़ो इनके सुप्तभाव, मत इनका तुम अपमान करो।
ये 'विप्लव की झंकार' अरे, इनके 'तप' का सम्मान करो।।
ये नम्र तरू के फलों समान, ये मधुर–नीर से भरे मेघ।
ये करते सुरभित घर आंगन, ये अति उदार व सदा नेक।।
इसलिए 'ब्रह्म' का तिरस्कार, जब कोई घमण्डी करता है।
बस समझो उसका सभी तेज, ब्राह्मण खुद ही पी जाता है।।
ये ज्ञान वृद्ध, ये मान वृद्ध, ये दयासिंधु ये अति उदार।
ये विश्व बंधु, ये दीनबंधु, ब्राह्मण जनता के ह्रदय हार।।
अपमान–मान की भट्‌टी में, तपने जब लगते सद्‌विचार।
ब्राह्मण के 'तप' की भस्मी से, हो जाते नष्ट सब दुर्विचार।।
इनकी वाणी में अमित तेज, ये ज्येष्ठ ब्रह्म के वरद पुत्र।
ये विश्वचरित् के उन्नायक, जग ने इनसे ही पढ़े मन्त्र।।
ये मननशील, संघर्षशील, ये कमल–पत्र है पंक–बीच।
इन पर सबकी है दृष्टि टीकी, ये मानवता के अमर बीज।।
यें समता–ममता के मूल–मन्त्र, इनसे उद्‌भाषित वेद–मन्त्र।
यें ब्रह्म–ज्ञान के आदि स्रोत, ये उन्नत भावों से ओत–प्रोत।।
यें 'चतुर्मुखी' विद्यासागर, ब्रह्मा का रुप इन्हें जानो।
ये स्नेह–नीर से भरे सिंधु तुम 'विश्वमित्र' इनको मानो।।
ये 'अगस्त्य' ऋषि की सन्ताने, पीकर सागर हैं गये दूर।
ये 'कश्यप' ऋषि के वंशज है, ज्ञानोदधि से भरपूर–पूर।।
ये वैदिक–संस्कृति के अग्रदूत, वसुधा को ज्ञान बांटते हैं।
ये 'ब्राह्मण' पहुँचे कहाँ नहीं, अब भी अवशेष बोलते हैं।।
विज्ञान–ज्ञान की शोधों में, ये सदा समर्पित रहते हैं।
एक वज्र बनाने ऋषि दधीचि, जीवन अर्पित कर देते है।।
ये हिमगिरि से हैं श्वेत –श्वेत, ये निर्मल गंगा से पवित्र नीर।
इनकी वाणी के पवित्र बोल, कर देते सबको धीर–वीर।।
इनकी वाणी का प्रचण्ड वेग, तुम सहन नहीं कर पाओगे।
इनको मत बांधों, हे राजन् ! तुम खुद ही बांधे जाओगे।
इनकी 'वाणी' मधुरस भिगी, उपकार जगत का करती है।
यह वाणी 'ब्रह्मौदन' बनकर, उत्थान राष्ट्र का करती है।।

यह 'वरदा' है, यह 'सुखदा' भी सुजला, सुफला भी यह वाणी।
यह तेजधारिणी, ब्रह्माणी, सबके हित में यह कल्याणी।।
यह 'मातृ–रूप' यह 'पितृ–रूप' यह 'वाचस्पति' की दुहिता है।
यह स्वयं प्रकाशित अपने से, कहलाती माता 'सविता' है।।
'वाणी ' का रूप नहीं दिखता, वह अनुभव सबको होता है।
वाणी जब चुप्पी साधे है, अद्भुत बल उसमें होता है।।
यह 'ब्राह्मण–वाणी', राष्ट्र–गवी, जब अपने को प्रकटाती है।
उत्थान राष्ट्र का होता है, दुष्टों की एक न चलती है।।
यह विकट–वेदना सह–सह कर, दुख–द्वन्द्वो से लड़ जाती है।
अन्यायी जहां भी सिर उठाये, सीना ताने अड़ जाती है।।
जब त्राहि–त्राहि जनता करती, बेबस, बेसहारा हो जाती ।
यह दिव्य रूप धारण करके, पापी हित व्याला हो जाती ।।
ब्राह्मण समाज का मुख होता, चिन्तन काहै आधार यही।
वह लोकपति भी कहलाता, जन–जन का है आधार वही।।
ब्रह्म–वाणी सदा 'अमोघा' है, नहीं, 'मृषा' कभी होती जग में।
यह 'तप–मन्यु' से सिद्ध हुई, दुष्टों को मार रही पल में।।

('ब्रह्मगवी' से साभार)

● ● ●

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

अर्थ :– बुद्धिमान् लोग अपने समय को शास्त्र आदि की चर्चा में व्यतीत करते हैं किन्तु मूर्ख लोग जूआं खेलना, नींद लेना और लड़ाई झगड़ो में समय खराब करते हैं।

ऋग्वेद में 'वह' धातु के प्रयोग

- डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक कोष निघण्टु में 'वहते' गत्यर्थक धातुओं में पठित है[1]। व्याकरणों ने यह धातु उभयपदी मानी है। काशकृत्स्न 'वह प्रापणे' में प्रापण का अर्थ 'धारण' मानते हैं[2]। मैत्तैय ने इस धातु को उभयपदी मानकर प्रापण अर्थ में इसे सकर्मक स्वीकार किया है तथा स्पन्दन या प्रवहण अर्थ में अकर्मक[3]। क्षीर स्वामी और सायण भी इस धातु के उभयपदी होने की चर्चा करते हैं[4]। आख्यात चन्द्रिका में क्षत्रिय वर्ग में इसे प्रवहणार्थक तथा गत्यर्थक धातुओं में परिगणित किया है तथा नानार्थ वर्ग में इसके अर्थ स्पन्दन, प्रापण एवं धृति कथित हुए हैं[5]।

ऋग्वेद में निरूपसर्ग लकार, रूपों में यह लगभग 150 बार प्रयुक्त हुई है। वहाँ भी यह उभयपदी है। इसके लकार रूप वहते, वहति, वहतः, वहन्ते, वहन्ति,वहसि, वहेथे, वहध्वे, वहामि, वहाते, वहत्, वहासि, वहाथ, वहताम्, वहन्तु, वहस्व, वह, वहतम्, वहत, अवहन्, अवहः, वहेयुः, वक्षि, उवाह, ऊहिरे, ऊहथुः, वक्षति, वक्षत्, वक्षतः, वक्षन्, वक्षः, अवाट्, तथा वोकहम्, प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद में गति, वहन या प्रापण अर्थ अधिकतर निम्न रूपों में उपलब्ध होता है–

1– घोड़ों द्वारा रथ का वहन।
2– घोड़ों द्वारा रथारोही का वहन
3– प्राप्त कराना, पहुँचाना।
4– ले जाना।
5– लाना या पास लाना।
6– ढोकर या उठाकर लाना।
7– प्राप्त होना, प्राप्त करना।
8– चलाना, संचालन करना।
9– गमन करना, संचार करना।
10– धारण करना।
11– बहाना या प्रवाहित करना।
12– हवि वहन करना।
13– यज्ञ कराना।
14– विवाह करना।

ये सब गति के ही प्रकारान्तर हैं, अतः निघण्टु में गति अर्थ पठित 'वह' धातु से प्रकरणानुसार ये सब अर्थ गृहीत हो सकते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक गति–प्रकार के ऋग्वेद से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

1– घोड़ो द्वारा रथ का वहन

सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः । ऋ0 1/164/3

देवता–सूर्यः। हे सूर्य, तेरे सात चक्रों वाले रथ को सात घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं।

श्यावा रथं वहतो रोहिता वा । ऋ0 2/6/2

देवता–अग्निः । अग्नि के रथ को शबल वर्ण के अथवा रोहित वर्ण के घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं ।

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।। ऋ0 3/41/9

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र केशों वाले अश्वयुगल सुखकारी रथ में तुझे हमारी ओर वहन करके लायें ।

उत ते सुष्टुता हरी वृषणा वहतो रथम् । ऋ0 8/13/23

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र तेरे रथ को सुस्तुत, बलवान् अश्वयुगल वहन करते हैं, खींचते हैं ।

सप्ती चिद् घा मदच्युता मिथुना वहतो रथम् । ऋ0 8/33/18

देवता–इन्द्रः । हे इन्द्र, तेरे रथ को मदस्रावी मिथुन घोड़े वहन करते हैं, खींचते हैं ।

2– घोड़ों द्वारा रथारोही का वहन

धृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः । ऋ0 1/14/6

देवता–अग्निः । हे अग्नि जिनकी पीठ पर घी की मालिश होती है तथा जो चिन्तन करते ही रथ में जुड़ जाते हैं, ऐसे घोड़े तुझे वहन करते हैं, तुझ रथारूढ़ को स्थानान्तर में पहुचाते हैं ।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । ऋ0 1/50/8

देवता–सूर्यः । हे देव सूर्य, सात घोड़े तुझे रथ में वहन करते हैं, तुझ रथारूढ़ को स्थानान्तर में पहुँचाते हैं ।

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रति धृष्टशवसम् । ऋ0 1/84/2

देवता–इन्द्रः । अपराजेय बल वाले इन्द्र को उसके अश्वयुगल वहन करते हैं, स्थानान्तर में पहुँचाते हैं ।

जायेदस्तं मघवन् त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु । ऋ0 3/53/4

देवता–इन्द्रः । हे वर, गृहिणी ही घर कहलाती है । वही सन्तानों की कारण बनती है । रथ में नियुक्त घोड़े तुझे उस घर में ले जायें, पहुँचायें ।

वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् । ऋ0 4/44/2

देवता–अश्विनौ । हे अश्वी देवों, विशाल घोड़े आप दोनों को रथ में वहन करते हैं, तुम रथारूढ़ों को स्थानान्तर में पहुँचाते हो ।

तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति । ऋ0 7/97/6

देवता–बृहस्पतिः । शान्तिदायक, आरोचमान साथ मिलकर वहन करने वाले घोड़े बृहस्पति को (रथ में) वहन करते हैं ।

यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया। ऋ0 10/33/5

देवता–कुरूश्रवणस्य दानस्तुतिः। जिस कुरूश्रवण द्वारा दान में दी गई तीन घोड़ियाँ मुझे साधु प्रकार से रथ में वहन करती हैं, मुझ रथारूढ़ को गन्तव्य स्थान पर पहुँचाती हैं।

ता वज्रिणं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी। ऋ0 10/96/6

देवता–इन्द्रः। वज्रधर, स्तोमार्ह इन्द्र को कमनीय अश्वयुगल रथ में वहन करते हैं अर्थात् रथारूढ़ इन्द्र को स्थानान्तर में पहुँचाते हैं।

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति। ऋ0 10/107/11

देवता–दानस्तुतिः। दानी को सुष्ठु वहन करने वाले घोड़े (रथ में) वहन करते हैं।

3–प्राप्त करना, पहुँचाना

त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवम्। ऋ0 1/34/5

देवता अश्विनौ। हे अश्वीदेवो, तुम हमें तीन बार धन प्राप्त कराओ[6]।

यच्चित्रमप्न उषसो वहन्ती जानाय शशमानाय भद्रम्। ऋ0 1/113/20

देवता–उषसः। उषाएँ यज्ञ करने वाले तथा उद्योगी मनुष्य को अद्भुत धन प्राप्त कराती हैं[7]।

प्रमाण टिप्पणी :

1– वहते गतिकर्मा – 2,14 निघ0

2– वह प्रापणे–वहति, वहते धारयति। काश0 1/70/1

3– वह प्रापणे। वहति, वहते· वह प्रापणे इति सकर्मकोऽयम्। अर्थान्तरे वृन्तेस्पन्दनेऽर्थे वर्त्तमानोऽकर्मकः नदी वहतीति। मैत्रे0 1/691

4– (अ) वहप्रापणे।वहते,वहित। 'बह्वां करणम्'। उह्यतेऽनेनेति वाहः: स्कन्धोऽश्वश्च। वहोध च– वधूः। वहि' वहित्रम क्षीर0 1/731

(ब) वह प्रापणे। वहति। वहते। (वह्निः वधूः अनड्वान)। साय0 1/726

5– वहति प्रवहत्यपाम्। क्षत्ति0 17, नृणाति लम्भयति च वहत्यपि नयतययम्। गत्यर्था....। क्ष0 90, वहतीत्येतत्स्यन्दने प्रापणे धृतौ।। आख्यात च0 नाना0 94,

6– रयिर्धनं त्रिः त्रिवारं वहतं प्रापयतम्। सा0

7– प्रापयन्ति। स्क0 दया0

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

चार्य रामप्रसाद वेदालंकार स्मृति-अंक ७ जन० २०००

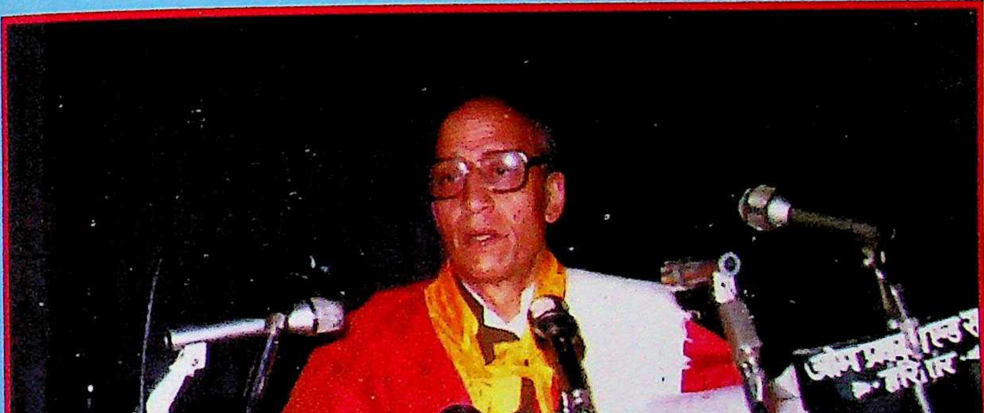

सम्पादक

डॉ० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - २४९४०४

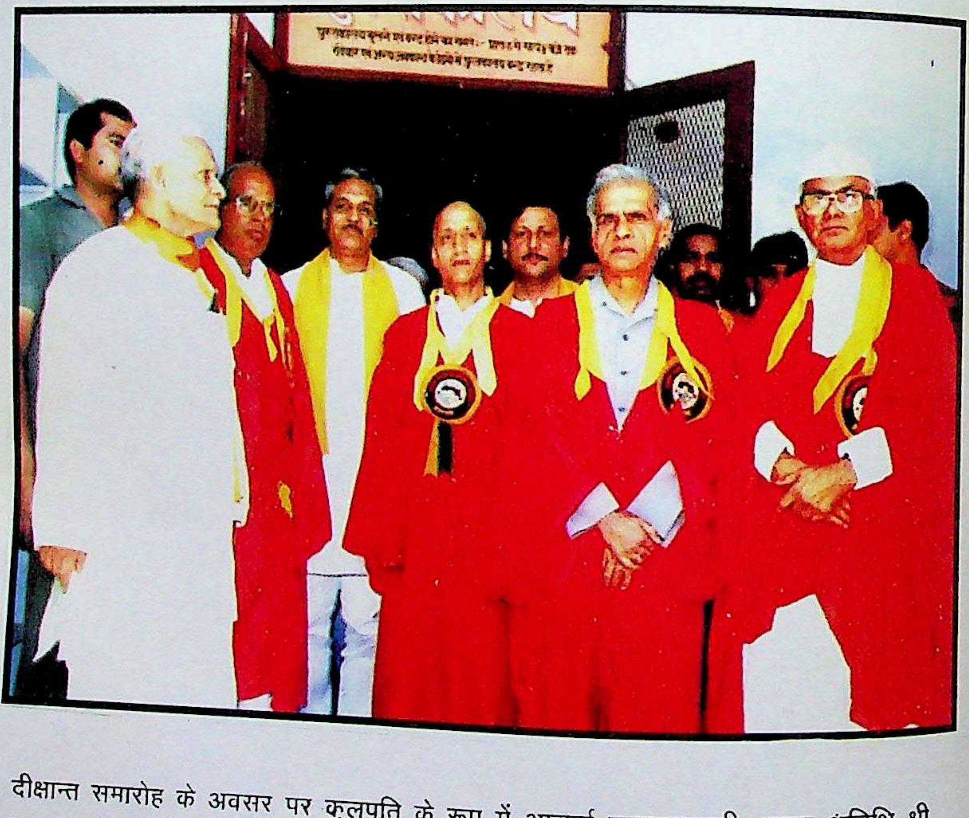

दीक्षान्त समारोह के अवसर पर कुलपति के रूप में आचार्य रामप्रसादजी, मुख्य अतिथि श्री ब्रह्मदत्त (तत्कालीन केन्द्रीय मन्त्री, भारत सरकार) एवं प्रो० शेरसिंह जी, परिद्रष्टा गुरुकुल कांगड़ी, वि०वि०, डॉ० धर्मपाल जी,' (वर्तमान कुलपति) एवं श्री सोमनाथ मरवाह के साथ ।

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार स्मृति-अंक

सम्पादक

डॉ० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.
प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

नवम्बर, 99 - जनवरी, 2000	वर्ष 51 वां	मार्गशीर्ष - माघ सं. 2056

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ0 धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : डॉ0 विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर - हिन्दी विभाग

सम्पादक : डॉ0 महावीर
प्रोफेसर एवं निदेशक
वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक : डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ0 जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रकाशक : प्रो0 श्यामनारायण सिंह
कुलसचिव

मूल्य : 25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेदमञ्जरी

संग्रहो दानं च

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि ।
स्यादुत प्ररेचनम् ।। ऋग् 1–17–6।।

ऋषिः मेघातिथिः काण्वः । **देवते** इन्द्रावरुणौ । **छन्दः** गायत्री ।

(तयोः) इन्द्रावरुणयोः **(इत्)** एव **(अवसा)**
रक्षणेन **(वयम्)** सामाजिका जनाः **(सनेम)** धनम्
अर्जयेम **(निधीमहि च)** निधिषु संगृह्णीयाम च ।
(उत) अपिच, तस्य निधिषु संगृहीतस्य धनस्य
(प्ररेचनम्) रिक्तीकरणम् अपि **(स्यात्)** भवेत् ।

अस्माभिरिन्द्रस्य वरुणस्य च संरक्षणे स्थातव्यम्। इन्द्रवरुणौ येषामादर्शानां प्रतिनिधित्वं कुरुतस्ते आदर्शा अस्माभिः स्वजीवने समानेयाः । ऐश्वर्याधिपतिः खल्विन्द्रः । इन्द्रवद् वयमप्यैश्वर्यवन्तो भवेम । सन्मार्गमनुसरन्तो वयं प्रचुरस्य धनस्यार्जनाय प्रयतेमहि। अभिशापः खलु निर्धनता । तत्सकाशान्मुक्तिः सर्वैरेव मानवैः प्राप्तव्या । अपौरुषं निर्धनताया हेतुः । निर्धना भूत्वा वयं मन्यामहे – वरमेतद् यद् वयं निर्धना इति, धनं हि मनुष्यं परमात्मनः समीपाद् दूरीकरोति । परं वस्तुतस्तु धनी भूत्वा मनुजः परमेशंसान्निध्यं प्राप्तु अधिकानवसरान् लभते। अतः समुचितसाधनैर्धनार्जनाय सततं प्रयतनीयम्, प्रचुरप्रचुरं च धनं सञ्चेतव्यं, येन वयं धनानां पतयः स्याम ।

परम्, एतावानेव वेदस्यादेशो नास्ति । इन्द्रेण साकं वरुणस्यादर्शो ऽप्यस्माभिर्विचारणीयः। पाशी वै वरुणः । स खल्वनृतभाषिणम् अनृताचारं च पाशैर्बद्ध्वा दण्डयति । धनं लब्ध्वा यदि वयं कुमार्गगामिनो भवामस्तर्हि वरुणो ऽस्मान् दण्डयति । वरुणो हि दीनान् दुःखिनो वा तद्दैन्यनिवारणाय तद्दुःखविनाशाय च वृणोत्यपि । वरुणस्य दण्डनीतिं वरणनीतिं च विचिन्त्य वयं सञ्चितेनैश्वर्येण न केवलं स्वार्थसाधनं कुर्याम, किन्तु परार्थाय तद्दानमप्याचरेम । एषैव किल वैदिकमर्यादा । सरोवरस्य वारि यथा बहिर्निर्गमनं विना मलिनं जायते, तथैव धनागारस्थितं धनमपि निर्गमनेन विना दूषितं गर्हितं च संपद्यते । अतो वयं प्रभूतं वित्तमर्जयित्वा काले काले तस्य प्ररेचनमपि कुर्याम । अस्माभिः कोषागारस्य द्वाराणि तेभ्य उद्घाटनीयानि ये धनेप्सवः सन्ति, विकलाङ्गत्वादिकारणात् स्वयं च धनार्जने न शक्ता विद्यन्ते। लोकहितार्थमपि धनदानं वयं कुर्याम । यतो हि लोकहितकराणि कार्याणि सर्वेषां सहयोगादेव सिध्यन्ति ।

–डॉ0 रामनाथ वेदालङ्कारः

15975

सम्पादकीय

"परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।"

इस परिवर्तनशील संसार में जो जन्मा है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, किन्तु उसका जन्म सफल है जिसके जन्म से कुल का नाम अमर हो जाता है।'**कीर्तिर्यस्य सः जीवति**' संसार में जिसकी कीर्ति है वह कभी मरता नहीं सदा अमर रहता है। लोकमान्य तिलक ने कहा था–'**मरावे परी कीर्ति रूपे उरावे**' मरकर भी यशरूप में जीवित रहना चाहिए। हम जब इन सुभाषितों पर विचार करने लगते हैं तो कुछ चित्र आँखों के सामने साकार हो उठते हैं। इन चित्रों में कोई महर्षि दयानन्द है, कोई स्वामी श्रद्धानन्द हैं, कोई श्रीराम और श्रीकृष्ण हैं तो कोई चन्द्रशेखर आजाद और शहीदे आजम भगतसिहं हैं। मरकर भी अमर होने के उदाहरण इस भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में देखे जा सकते हैं। हमने इन महापुरुषों के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किये, गौरव–गाथायें सुनकर हमारा मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। श्रेष्ठ पुरुषों की यह परम्परा सदा चलती रहती है। जो अपने शुभ–कर्मों की पहचान इतिहास के पन्नों पर अंकित कर जाते हैं वे देवता या महापुरुष कहलाते हैं– उनके जीवन–चरित्र पढ़कर आगे आने वाली पीढ़ियां प्रेरणा प्राप्त करती हैं। इसलिए हमारा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि हम सज्जनों की जीवन कथाएं भावी पीढ़ी के समक्ष अवश्य प्रस्तुत करें.।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सन् 1875 में स्थापित आर्य समाज का और स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा महर्षि के सपनों को साकार करने के लिए 1900 में स्थापित गुरुकुल कांगड़ी का अत्यन्त गौरवशाली इतिहास है।आचार्य महात्मा मुंशीराम से प्रारम्भ आचार्यों की मणिमाल में ऐसे अनेक देवपुरुष हुए हैं जिन्होंने आचार्य शब्द को अन्वर्थक ही सिद्ध नहीं किया अपितु गरिमा प्रदान की। क्या हम कभी आचार्य रामदेव, आचार्य चमूपति, आचार्य बुद्धदेव, आचार्य प्रियव्रत, आचार्य रामनाथ सदृश महापुरुषों के दिव्य जीवन को विस्मृत कर सकेंगे? इन्हीं श्रेष्ठ आचार्यों की सद्‌गुणविभूषित श्रेणी में आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार का नाम भी आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

बाल्यकाल में जिसने उर्दू और पस्तों भाषा पढ़ी हो, संस्कृत का मन्त्र या श्लोक पढ़ने का जिसे सौभाग्य न मिला हो, वह आगे चलकर ईश्वरकृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद से वेद–मन्त्रों की व्याख्या करते–करते हजारों श्रोताओं को भाव–विह्वल कर देगा, यह किसी ने सोचा भी न होगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त कर लेने के पश्चात आचार्य जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन वेद प्रचार में अर्पित कर दिया था। अपने स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना वे दिन–रात मानवता की सेवा में लगे रहे। और अकस्मात् ही चिरविश्राम को प्राप्त हो गये।

पूज्य आचार्य जी की कीर्ति को चिर–स्थायी बनाने के लिए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ0 धर्मपाल जी की प्रेरणा से 7 जन0 को आचार्य जी के जन्म दिवस पर यह भावाञ्जलि प्रस्तुत की जा रही हैं।

इस भावाञ्जलि में उनके मित्रों की, साथियों की, शिष्यों की, भक्तों की हृदय की गहराई से निकली भावनाऐं हैं। पूज्य गुरुवर डॉ0 रामनाथ जी की सात्त्विक भावनाएं हैं। इस अंक की विशेषता है– भावों का सहज उच्छलन। किसी के लेखन में कृत्रिमता नहीं, आचार्य जी को जिसने जिस रूप में देखा उसी रूप में सबने प्रस्तुत किया है।

इस पुष्प–गुच्छ को गुम्फित कर समर्पण का अवसर प्राप्त हुआ, इसे अपना सौभाग्य मानते हुए श्रद्धापूर्वक यह पुष्पाञ्जलि आचार्यश्री की पावन स्मृति में सादर अर्पित करता हूँ।

प्रो0 महावीर

प्रियरामप्रसाद-स्मरणम्

रामप्रसादमनघं सुधियं स्मरामः
वेदाम्बुधिप्रतरणे तरणिं स्मरामः।
धर्मे धुरन्धरमतिं पथिकं स्मरामः
छात्रप्रबोधजनकं विबुधं स्मरामः ।।1।।

पुण्यं स्वभावसरलं सरसं स्मरामः
धन्यं प्रभावकलितं ललितं स्मरामः।
प्रेमप्रसारचतुरं चरितं स्मरामः
अतिथ्यधर्मधनिकं सुखदं स्मरामः ।।2।।

सन्ध्याग्निहोत्रनियमं व्रतिनं स्मरामः
साहित्यलेखनपटुं सुबुधं स्मरामः।
वार्तासु मोहनकरं मनुजं स्मरामः
कारुण्यपूर्णहृदयं सुहृदं स्मरामः ।।3।।

स्वाध्यायशिक्षणपरं सुक्रतुं स्मरामः
वेदप्रचारचरणे चटुलं स्मरामः।
गेयार्चनीयगुणधिं जलधिं स्मरामः
सेवार्पितस्वमनसं सुमणिं स्मरामः ।।4।।

सौजन्यस्नेहद्रवितं सदयं स्मरामः
ओङ्कारलब्धयशसं सुरभिं स्मरामः।
विद्याप्रतापसलिलं विमलं स्मरामः
पाण्डित्यगर्वरहितं सुजनं स्मरामः ।।5।।

तस्य प्रसादमधुरं सुमुखं स्मरामः
वेदोपदेशसरसं वचनं स्मरामः।
तत्कर्तृकं गुरुकुलस्य यशः स्मरामः
श्रद्धास्पदे गुरुजने प्रणतिं स्मरामः ।।6।।

– डॉ0 रामनाथ वेदालङ्कारः

याद आती है तुम्हारी

तुम निश्छल निष्कलंक निष्पाप सुधी थे
वेदाम्बुधिसंतरणहेतु दृढ़ नौका थे।
तुम धर्मधुरन्धरमति पथपंछी थे
छात्रप्रबोधक विज्ञ विबुध थे ।।1।।
तुम पुण्यश्लोक सरल सरस थे
धन्य प्रभावी ललित तिलक थे।
तुम प्रेमप्रसारक चतुर-चरित थे
आतिथ्यधर्म के धनी सुखद थे ।। 2।।
तुम सन्ध्याग्निहोत्र के सुभग व्रती थे
सरल साहित्य सृजन में पटु थे।
तुम वार्ता में मोहक छवि छितराते
कारुण्य हृदय में भरे सुहृद थे ।।3।।
तुम स्वाध्यायप्रवण शिक्षक सुक्रतु थे
वेदप्रचारकर्त्तव्य-कर्मठ थे।
तुम गेयार्चनीय गुणगरिमा थे
सेवार्पितमानस मणिमौक्तिक थे।।4।।
तुम सौजन्य-स्नेह- द्रवित सुजन थे
प्रभु प्राप्तकीर्ति सुरभित मन थे।
तुम विद्या-प्रताप के विंमल सलिल थे
पाण्डित्य-गर्व से विमुख विश्रुत कोविद थे ।।5।।
दर्शनीय तुम्हारा प्रसाद-मधुर मुख था
श्रवणीय तुम्हारे संरस वचन थे।
प्रसृत सर्वत्र त्वत्कर्तृक गुरुकुल का यश था
स्मरणीय तुम्हारा गुरुचरणरजवन्दन था ।।6।।
याद आती है तुम्हारी।
अश्रु लाती छलछलाती।।

–डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

एक प्रसंग

आज यहाँ सजावट क्यों हो रही है?

यह आर्यसमाज–मन्दिर है, इसका वार्षिकोत्सव है।

भाषण किसका होगा?

रात्रि के आठ बजे से आचार्य राम प्रसाद वेदालंकार बोलेंगे।

मैं मुसलमान हूँ। क्या मैं भी सुन सकता हूँ?

बेशक आप आइये, अवश्य आइये।

रात्रि के आठ बजने को हैं। वह मुस्लिम भाई कुछ सकुचाता हुआ भवन में प्रवेश करता है और सबसे पीछे बैठ जाता है।

आचार्य रामप्रसाद व्यासपीठ पर बैठ चुके हैं। आगन्तुक के वेष आदि से पहचान जाते हैं कि यह मुस्लिम है। वे मन्त्री जी को कहते हैं कि सबसे पीछे बैठे उस व्यक्ति को आगे ले आओ।

मुस्लिम आगन्तुक बड़ी श्रद्धा से भाषण सुन रहा है। भाषण– समाप्ति पर वह आचार्य जी के पास आकर कहता है, बहुत अच्छी बातें बतायीं आपने।

रामप्रसाद जी पूछते हैं– आप हिन्दी पढ़ लेते हैं?

हाँ, खूब अच्छी तरह। मैंने बी0ए0 में संस्कृत ली थी।

तो, ये लीजिए। छोटी–छोटी पुस्तकें आपको उपहार में दे रहा हूँ। फिर कभी मिलें तो बताना कैसी लगीं।

वह आचार्य जी का भक्त बन जाता है। नगर में जहाँ भी उनका व्याख्यान होता है, सुनने पहुँच जाता है।

ऐसे–ऐसे न जाने कितनों को आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार जी ने अपने स्नेह से अभिभूत किया था, जिनमें पुराणी भी थे, किरानी भी और मुस्लिम भी।

– डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकारस्य गुणाः

यद्यपि संसारे प्रायशः शरीर धारिणः पुरुषा जायन्ते म्रियन्ते च। येषां जीवने किमपि न भवति वैशिष्ट्यं ते कदा लोके वसन्ति कदा च लोकं विहाय दिवं प्रयान्ति नहि कोऽपि जानति सुष्ठुतया। केचन विरलाः पुरुषा भवन्त्येतादृशा यद्यान् जना सम्यक् जानन्ति। विशिष्ट पुरुषां सगतिं स्थितिमासनञ्च सम्यक्तमा सामाजिका जानन्ति। सामाजिकः पुरुषः समाजे वसति समाजकल्याणाय कर्म करोति समाजाभ्युदयमुद्दिश्यैव जीवति। आचार्य रामप्रसादः सामाजिक एव आसीत्। तस्याध्ययनं चिन्तनं लेखनं भाषणं सर्वमपि समाजार्थमेवासीत्। संसारे केचन जनाः शरीरमादाय तिष्ठन्ति परं तथाविधं कर्म न कुर्वन्ति येन लोके ख्यातिः प्रसरेत्। केचन बुद्धिमन्तो जनाः संसारे शरीरेण तिष्ठन्ति परं शुभं कर्मकृत्वा पुण्यं लभन्ते लोके च तेषां प्रसरति यशः केनापि विदुषा कथितं यत सएव पुरुषो भवति बुद्धिमान् यो नश्वरेण शरीरेणानश्चरं यशः प्राप्नोति। आचार्य रामप्रसादेन् सर्वदा पुण्यमर्जितं तस्मादेव प्रसरति तद्यशः।

तत्र मानवता वसत्तिस्म– आचार्य रामप्रसादे मानवीयगुणानां निवास आसीत्। स व्यवहारकाले सर्वदैव मानवमूल्यानि रंक्षति स्म। तस्य भाषणे व्यवहारे च मानवीय गुणाः प्रकाशन्ते स्म। तस्य जीवनं दया सज्जनता स्वता सरलता निरभिमानता निश्छलता मधुरता परोपकारिता इत्यादयो गुणा प्रकाशयन्ति स्म। विरला एव मनुष्याः लोके भवन्ति येषां जीवने मानवतायाः सर्वदैव भवति वासः।

मित्रभावः –

आचार्य रामप्रसादे मित्र भाव आसीत् स सर्वानपि मनुष्यान् मित्र दृष्ट्या पश्यतिस्म। योऽपि जनस्तमुप– सर्पति स्म तस्यैव हृदये जायते मित्रभावः । ये जनाः पवित्रहृदया भवन्ति त एव परान् पुरूषान् न परदृष्ट्या अपितु स्वतां भावेन पश्यन्ति। "मित्रस्य चक्षुषाऽहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे" इति वेदमन्त्रानुसारं सतां जीवनं सफलं भवति।

विद्वज्जनानुरागः –

आचार्य रामप्रसादस्य मनसि विदुषांकृते स्वतः एवानुरागो विलोक्यते स्म। कस्यचिदपि पुरुषस्य विषये यदि तेन ज्ञानं यदसौ पुरुषो विद्वानस्ति तर्हि तस्मिन् विद्वज्जने स स्वतां प्रकटयन्

अनुरागं प्रदर्शयति स्म। विदुषा कृते तस्य गृहस्य द्वाराणि तु सर्वदैव अपिहितानि आसन्। विद्वांसस्तु तस्य गृहे निवासं भोजनं सत्कारं च संप्राप्य प्रसीदन्ति स्म।

भाषणकला–

आचार्य रामप्रसादे भाषण कला असमा आसीत्। यद्यपि भाषणकाले तेषां मुखान्निःसृतानि वचांसि सरलानि भवन्ति स्म, तथापि समेषां श्रोतॄणां मनांसि तेषां वचांसि समाकर्ण्य सानन्दानि भवन्ति स्म। प्रायशो वक्तारः स्वकीये भाषणे शास्त्रवैदुष्यं प्रकटयन्ति, सुखवेद्यानि वचनानि नोच्चारयन्ति। परं रामप्रसादो वेदालंकारः शास्त्रं सरलया शैल्या मधुरया वाचा नातितीव्रेण शब्दप्रवाहेण प्रकटयन् श्रोतृजनानां भवति स्म आह्लादकरः। यज्ञ विषयमवलम्ब्य तन्महत्त्वप्रतिपादनाय बहूनि वेदवाक्यानि वदति स्म। जनाष्तेषां भाषणानि समाकर्ण्य परस्परं वार्तालाप काले तत्प्रशंसनं प्रायशः कृतवन्तः। स्वकीयया भाषण कलया आचार्य रामप्रसादेन भारतस्य सर्वेषुप्रान्तेषु यान्यापि सन्ति आर्य समाज स्थानानि तानि सर्वाण्येव सेवितानि। भारते तु सर्वे जना व्याख्यान चातुर्यं प्रकटयन्ति परं विदेशेऽपि वाक्कलाचातुर्यप्रकटने तु अल्पतमा एव वक्तारो भवन्ति सक्षमाः। आचार्य रामप्रसादेन विदेशमपि गत्वा वेदप्रचारे स्वकीयं वाक्पाटवं परिवर्धितम्। तत्र तेषां भाषणानि समाकर्ण्य विदेशस्थै र्जनैः आङ्गलभाषा बद्धानि तानि भाषणानि समीप्सितानि। श्रीमतां रामप्रसादेन आङ्गलभाषा भाषिणां चित्तानुरञ्जनाय वैदिक विचारा वबोधाय च आङ्गलभाषायामपि स्व विचारा लेखाबद्धाः कृताः। तेषामाङ्गलभाषाबद्धा लेखाः वैदेशिकैः पठिता समादृताश्च। प्रायशो दृश्यते स्म यत् आचार्य रामप्रसादः स्ववाक् कलया जनान् यज्ञकर्मकरणाय भृशं प्रेरयामासा अनेकेषु परिवारेषु यज्ञानुष्ठानं सम्पाद्यतेन परिवारिक जनानां मनसि याज्ञिक भावना स्थापिता। महात्मनां आनन्दस्वामिनां ये ये श्रद्धालवो भक्तजना आसन् ते सर्वे आचार्य रामप्रसादस्य भाषणान्याकर्ण्य आनन्दं लेभिरे। सर्वैस्तैः स्वकीया निष्ठा आचार्यरामप्रसादे प्रकटिता।

अद्य स आचार्य शरीरेण नास्ति लोके परं यशसा अद्यापि स जीवति, अद्यापि तद्गुणान् शृण्वन्ति, अद्यापि तल्लिखितानि सरलानि पुस्तकानि पठन्ति। आचार्य रामप्रसादस्य कीर्तिः सर्वासुदिक्षु प्रसरतु तरामिति।

— डॉ. धर्मपालः
कुलपतिः
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य

प्रो० रामप्रसादजी वेदालंकार, उ०प्र० के पूर्व राज्यपाल महामहिम श्री वी.सत्यनारायण रेड्डी एवं प्रो० शेरसिंह जी के साथ । मध्य में पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० जगदीश विद्यालंकार ।

दीक्षान्त-यज्ञ के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिह, तत्कालीन कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी कुलपति श्री बलभद्र हूजा, कुलसचिव श्री जयसिंह सैंगर के साथ आचार्य रांमप्रसाद जी वेदालंकार ।

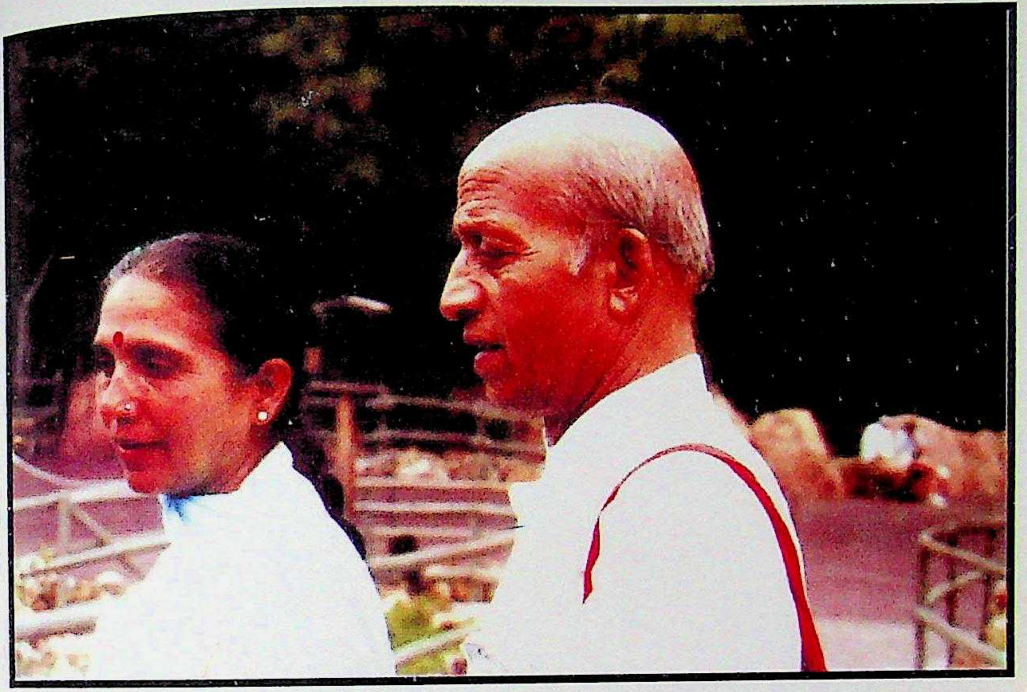

डिजनी लैण्ड (अमेरिका) में आचार्य रामप्रसाद जी, धर्मपत्नी श्रीमती सरोज आर्या के साथ प्रसन्न मुद्रा में ।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के पूर्व प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती एवं प्रो० शेरसिंह जी के साथ आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार साथ में खड़े हैं आचार्य श्यामसुन्दर जी स्नातक ।

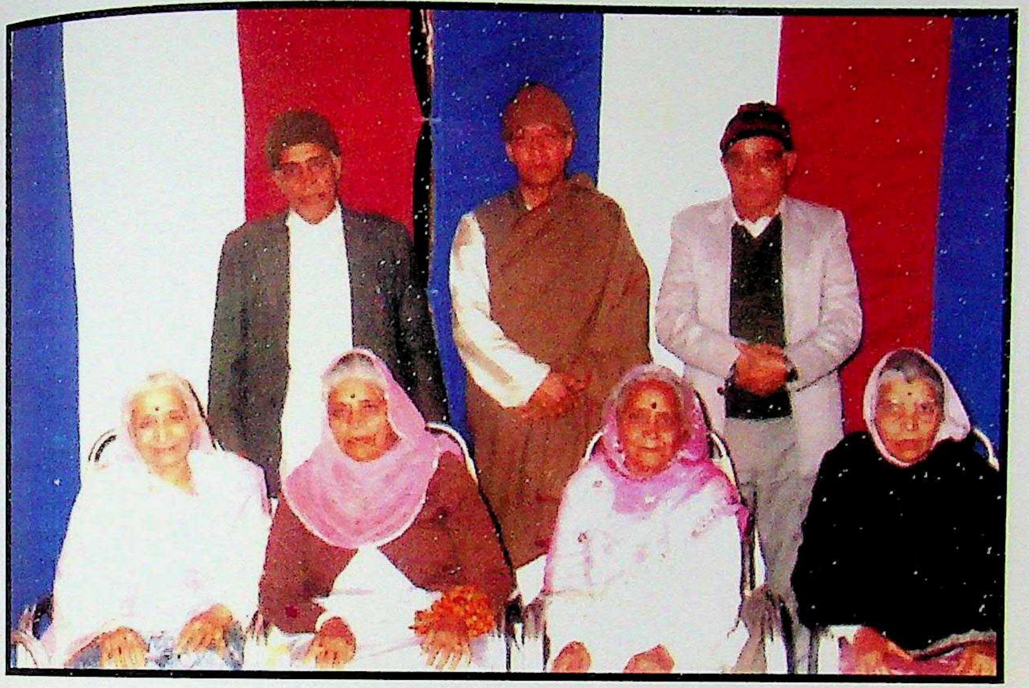

अपनी स्नेहमयी बहनों और दोनों भाइयों के साथ आचार्य रामप्रसाद जी ।

सुदूर अमेरिका में श्रीमती सरोज आर्या (धर्मपत्नी), प्रिय अनुपम (पुत्र), कु० श्रद्धा (पुत्री), आचार्य रामप्रसाद जी एवं डॉ० सत्यपाल (भानजे) प्रसन्नता के क्षणों में ।

आर्य समाज, बी० एच० ई० एल० हरिद्वार में अभिनन्दन समारोह के अवसर पर अपने प्रिय शिष्य डॉ० महावीर (सम्पादक, गुरुकुल पत्रिका) के साथ ।

गुरुकुल कागड़ी वि० वि० में भाषण प्रतियोगिता के अवसर पर कु० प्रज्ञा एव कु० नीतू को चल वैजयन्ती प्रदान करते हुए आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार ।

आचार्य रामप्रसाद-वेदालंकारो वैदिक परम्परा-परिपोषकः

संसारेऽस्मिन् दिने दिने स्वकर्मफलानुसारं जना जायन्ते म्रियन्ते च। परं विशाले लोके विलक्षणों विद्यत एष क्रमो यत् केषाञ्चित् पुरुषाणां कथा केवलं जन्मकालादारभ्य मृत्युपर्यन्तं प्रसरति परं केषाञ्चित्तु जीवन काले यथा लोकप्रसृता कथा महिमानमुद्गायति तथैव दिवमुपयातानामपिं तेषां कथा बहुकालं यावत् संसारे जनैः कथ्यते प्रसार्यते च। संस्कृतकविना मानव–जीवनतत्त्वमुद्गिरता यः श्लोकः प्रणीतः सो नूनं पठनीयः।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।।

आचार्य रामप्रसादो भुवमवतीर्य शास्त्रानुमोदितं कर्त्तव्यजातं यथाक्रमं प्रचक्रे तेन तथाविधं कार्यमकारि यदद्य दिवङ्गतोऽपि स्मर्यते जनैः। वैदिक वाङ्.मये वैदुष्यमाप्तुं तेन बाल्यावस्थायां स्वमनसि संकल्पः प्रोद्भावितो यन्मया आर्षपरम्परा वाहिनि शिक्षण संस्थाने गुरुणां चरणंयोः सन्निधिमवाप्य तथा विद्याभ्यासो विधेयो येन ममापि वैदुष्यं अन्यविदुषां वैदुष्यमिव आर्यजगत्यां प्रसरेत्। यद्यपि आचार्यस्य ज्येष्ठानां भातृणां मनो वाणिज्ये रेमे परमस्य मनसि वाणिज्यविषये नोदितो विशेषानुरागः। मुरादाबाद जनपदान्तर्गत चन्दोसी नगरे व्यवस्थिते संस्कृत महाविद्यालये संस्कृताध्ययनार्थं प्रवेशं लब्ध्वा गुरुजनसकाशात् किञ्चित्किञ्चिद् विद्यामधीत्यानेन संस्कृतेच्छा बलीयसीकृता। प्रायशो निगद्यते जनैर्यत् शैशवे व्यपगते समायातेचयौवनकाले जनानां हृदि विद्याधिगमेच्छा नोदेति परं आचार्य रामप्रसादस्य विषये मैवं वाच्यम्। श्रीमता रामप्रसादेन युवावस्थायामेव विद्याभ्यासः प्रारब्धः। संसारे विलोक्यते यज्जनाः शिक्षां केवलमक्षरज्ञानमेव मन्यन्ते। परं केवलमक्षरज्ञानमात्रेणैव विद्या न फलवती भवति। यदा मनुष्य अक्षरज्ञानेन सह शुभं कर्म करोति तदैव विद्या प्रकाशते। आचार्येण यथा यथा विद्यायां प्रावीण्यमवाप्तं तथा तथा भूयंसी कर्त्तव्य निष्ठापि वृद्धिं नीता। आचार्य रामप्रसादस्य शास्त्रेषु निष्ठा स्वाभाविक्यासीत्। शास्त्राणि ऋषि प्रणीतानि भवन्ति अत एव ऋषिप्रणीता ग्रन्था आर्षगन्था निगद्यन्ते। आर्षग्रन्थानाम् आदिम आधारः केवलं वेद एव। अत एव वेदालंकारेण शास्त्राणां वेदानाञ्च सम्यगध्ययनं कृतम्। तैत्तिरीयोपनिषदि यथा

ऋषिणोदीरितं यत् "स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्" इति ऋषिवाक्यं मनसा स्वीकृत्य श्रीमता वेदालंकारेण स्वाध्याये प्रवचने च न कदापि प्रमादः कृतः। स्वाध्यायप्रवचनयोस्तु, तदनुरागः स्वकीयछात्रावस्थायामेवासीत्। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य छात्रावस्थायां तेन आचार्यप्रियव्रतवेदवाचस्पतीनां डा. रामनाथ वेदालंकाराणां पं. सुखदेव दर्शनकेसरिणां च चरणवन्दनां प्रकुर्वाणेन प्राच्यविद्यानामध्ययनेन सह अध्यापनमपि समारब्धम्। आर्य समाजस्योत्सवेषु यज्ञकर्मानुष्ठानेषु, वेदप्रचारस्य साप्ताहिक कार्यक्रमेषु च वैदुष्यपूर्णानि प्रवचनानि समये समये समाख्यातानि। ऋषिप्रवरदेवदयानन्दविरचित संस्कारविधिनिर्दिष्ट नियमानुसारं श्रीमता रामप्रसाद वेदालंकारेण सहस्रसंख्यां परिगणनीयेषु आभिजात्यवर्गाश्लिष्ट परिवारेषु संस्कारादिकर्मजातानि विच्छित्तिविशेषावहानि सम्यक् सम्पादितानि।

आचार्य रामप्रसादेन ब्रह्मचारीवेषधारिणा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य वेदालंकार – पदाभिधेयां परीक्षामुत्तीर्य वेदविषये स्नातकोत्तरश्रेण्यां प्रवेशो ग्रहीतः। महतापरिश्रमेण तपसा स्वख्यातिमंभिवर्धयता तेन प्रथमश्रेण्यां वेदविषये एम.ए. परीक्षामुत्तीर्य गुरवः समाह्लादिताः। अस्य सरलतां निश्छलतां वाक्पटुतां वेदानुरागितां चाभिवीक्ष्य आचार्यप्रवरेण प्रियव्रतवेदवाचस्पतिना वेदविभागेऽयं नियोजितः। वेदविभागे प्रवक्तृपदमलङ्कृतम् अथ च प्रवाचक पदं प्रोफेसर पदञ्चालंकृतम्। एवमेव गुरुणामनुग्रहशक्त्याऽसौ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य आचार्योपकुलपति पदालङ्कृतोऽभूत्। आचार्यपदे विराजमानेनानेन सैव परम्परा पालिता या परम्परा गुरुकुलस्य प्राग्वर्तिभिर्विद्वद्भिः सद्भिस्तपस्विभिराचार्यैः संदर्शिता।

आचार्य रामप्रसादेन चतुर्दशवर्षाणि आचार्य पदे कार्यव्यापृतेन ससुखं व्यतियापितानि। यद्यपि वैदिक धर्मस्य प्रचारे तेन कदापि प्रमादो न कृतः। नापि चासौ सरलपुस्तकविलेखने अभूदालस्याबध्यः। सामान्यजनानां ज्ञानपिपासामपनेतुं तेन भाषण शैली यथा सरला दुर्गम्याक्षरप्रयोग रहिता सुगम्यशब्दार्थसंयुता चिरं रक्षिता तथैव लेखनकलापि वेदमन्त्रार्थावगमाय सरलदृष्टान्तपरिपाट्या चिरं पालिता। तेनाचार्येण स्वप्रचारकर्मणा ये जना प्रभावितास्ते सम्प्रत्यपि तद्भाषणानि श्रोतुमीहन्ते। अद्यापि जनाः सन्ति प्रतीक्षमाणाः यद् स्वादुवाक् सपदि समागत्य मधुरेण भाषणेन सरलेन स्वभावेन प्रभावोत्पादकेनाचारेण निश्च्छलेन मनोव्यापारेण सर्वान् सानन्दान् कर्तुमागच्छेत् परं नास्ति सम्प्रति सः। करालकालेन वक्रं विशालं मुखं समास्फाल्य पश्यत एव प्रियजनस्यासौ भक्षितः। इदानीं केवलं तस्य गाथा गीयते

तत्प्रशंसकैः। तन्नाम स्मर्यते तद्गुणगणनानुरक्त– चित्तैः, श्रूयन्ते यन्त्रबद्धभाषणानि तद्वाक्सारल्यमा–धुर्यानुभवोत्फुल्लवदनैः। पठ्यन्ते सुकुमारमतिगम्यानि वेदार्थप्रकटनयोग्यानि नातिदीर्घकालगम्यानि लघूनि लघूनि पुस्तकानि पठनपाठननिहितमनोभर्वैर्विद्यानुरागिभिः। संस्मर्यन्ते मित्रैः सहयोगिभिः पारिवारिकैः प्रतिवेशिभिश्च तास्ताः घटना याः समये समये तेन सह गृहे, भ्रमणे, भाषणकाले, परिवहनकाले कार्यकाले कर्मानुष्ठानसमये विशिष्टावसरे च घटिताः। केचन जनास्तस्य मित्रगुणैः संतुष्टाः, केचन जनास्तस्य भ्रातृत्वगुणैस्तुष्टाः, केचन जनास्तस्य प्रचारकगुणैः प्रसन्नाः, केचन जनास्तस्य प्राध्यापकगुणैराकृष्टाः, केचन जनास्तस्य पार्श्ववर्तिवैशिष्ट्येन अविषण्णवदनाः, केचन गुरवस्तस्य शालीनतया प्रमुदिताः, केचन सज्जना विद्यावृद्धा धर्मवृद्धा यशोवृद्धा आयुर्वृद्धाश्च तस्याभिवादनशीलतया परितुष्टा अभवन्।

दिवमुपयाते तस्मिन् आचार्यरामप्रसादवेदालंकारे गुरुकुलपत्रिकाया अयं तद्स्मृतिविशेषाङ्क प्रकाश्यते प्रकाशितो ह्ययं विशेषाङ्कस्तस्य गुणान् प्रकाशयेदिति।

– प्रो0 वेदप्रकाशः शास्त्री
आचार्य उपकुलपतिश्च
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य

एक आदर्श आचार्य

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का अपना एक गौरवपूर्ण इतिहास है। इस विश्व प्रसिद्व शिक्षण संस्था के संस्थापक अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्वानन्द की आँखों में प्राचीन भारत के नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्व प्रसिद्व विद्या–केन्द्रों का चमकता हुआ स्वरूप था वें बीसवी सदी में उस गौरवशाली स्वरूप को गुरूकुल कांगड़ी वि0वि0के माध्यम से साकार करना चाहते थे। अपनी कल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये स्वामीजी प्राचीन और अर्वाचीन विषयों के अध्यापनार्थ काशी आदि विद्या की नगरियों से विभिन्न विषयों के मूर्धन्य विद्वानो को ससम्मान हरिद्वार लाये। यही कारण है कि पं0 शुद्धबोध जी काव्यतीर्थ, पं0 श्रीपाद दामोधर सातवलेकर , आचार्य रामदेव जैसे महान् विद्वानों ने इस विश्वविद्यालय के छात्रों को विद्या–दान देकर सुयोग्य बनाया। सुयोग्य आचार्यो के चरणों मे बैठकर यहाँ के ब्रह्मचारी विशेष योग्यता प्राप्त करते रहे।

इस विश्वविद्यालय में आधुनिक विषयों के अध्यापन की भी उत्तम व्यवस्था रही है किन्तु प्राच्य विद्याओं–वेद, संस्कृत, दर्शन, योग, एवं इतिहास तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन–अध्यापन और अनुसन्धान पर विशेष बल दिया जाता है। वेद के मूर्धन्य विद्वान गुरूकुल के आचार्य पद को अलंकृत करते रहे है, इन आचार्यों की मणिमाल में आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार का स्थान सम्मांन पूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा। मुझेउनके साथ विभिन्न रूपों में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके व्यवहार में कभी कोई प्रदर्शन या असत्य दूर दूर तक नही होता था। मानवीय गुणों से परिपूर्ण आचार्य जी की मधुर वाणी सबको सदा सुख प्रदान करती थी। वे गुरूकुलीय परम्पराओं के प्रबद्ध पोषक थे, वेद एवं आर्यधर्म के रक्षक थे। अपने साथियों का सदा शुभचिन्तन करते थे। कभी किसी का अहित नही चाहते थे। विश्वास ही नहीं होता कि अब वे हमारे मध्य नहीं है। 63वर्ष की अल्पायु में वे अपनी जीवन–यात्रा पूर्ण कर अनन्त में विलीन हो गये, किन्तु अपने पीछे शुभकर्मो की सुगन्ध छोड़ गये है। आज भी उनके छोटे बड़ेसभी साथी उन्हे प्रेम आदरपूर्वक स्मरण करते है।

मै अपने अग्रज आचार्य रामप्रसाद जी को अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि अप्रित करता हूँ।

–डॉ0 श्यामनारायण सिंह
प्रोफेसर, इतिहास विभाग
कुलसचिव, गुरूकुल कांगड़ी वि0वि0
हरिद्वार

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार : एक अद्भुत व्यक्तित्व

श्री रामप्रसाद वेदालंकार का जन्म वर्तमान पाकिस्तान में हुआ था। भारत–पाक विभाजन के पश्चात् कुछ वर्ष यमुनानगर में उनका परिवार रहा, उसके पश्चात् श्री रामप्रसाद जी का परिवार चन्दौसी में जाकर स्थायी रूप में बस गया। पाकिस्तान में आपका परिवार खाते पीते परिवारों में गिना जाता था। इनके पिताजी का स्वर्गवास बहुत पहले ही हो चुका था। यहाँ चन्दौसी में बड़े भाई के निर्देशन में कपड़े का व्यापार प्रारम्भ किया था। चन्दौसी के धनीमानी व्यक्तियों के हाथ में कपड़े का व्यापार था। कुच्छेक पंजाबी परिवार जो सब प्रकार से उजड़कर आये थे, वे कपड़े के धनी व्यापारियों के सामने कहाँ टिक पाते? कई बार घर में खाने की समस्या भी आ जाती थी। व्यापार में लाभ की बजाय घाटा हो रहा था। जो भी पूँजी बची थी वह भी प्रायः समाप्त सी हो गई थी।

श्री राम जी! उन दिनों की दारुण गाथा सुनाते सुनाते भाव विह्वल हो जाया करते थे। "वे सुनाया करते थे कि बहुत सोच विचार के बाद मेरे बड़े भाई ने एक तरीका निकाला। उन्होंने कहा जो कपड़ा दिल्ली से जिस भाव क्रय किया जाय, उसे, उसी भाव चन्दौसी में बेचा जाय। एक गांठ कपड़े में लगभग कुछ भी नहीं बचता था। जिस कपड़े में बांधकर कपड़े की गांठ आती थी, वही कपड़ा बचता था। उसे ही बाजार में बेचा जाता था। उसे ही लाभ मानकर सन्तोष कर लिया जाता था। इससे यह लाभ हुआ कि ग्राहक टूटकर हमारी दुकान पर आने लगे। एक दिन में कई गांठ कपड़ा बिकने लगा। उसके बाद कुछ लाभ भी लेना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार हमारा व्यापार जम गया और लाभ होने लगा"।

सम्भवतः ईश्वर को यह स्वीकार नहीं था कि रामप्रसाद जी व्यापारी बने। आप आर्य समाज के उत्सवों में जाने लगे, वहाँ से स्वाध्याय की प्रेरणा मिली। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश का आद्योपान्त अध्ययन किया। व्यापार से मन उचटने लगा। व्यापार में भी सत्य का व्यवहार होना चाहिये, यह क्रियात्मक रूप से करने भी लगे। इन बातों को लेकर बड़े भाई से कई बार विवाद भी हुआ। इनके मन में आर्य पद्धति से व्याकरण पढ़ा जाय, यह पुनः पुनः विचार आने लगा। इसी समय आपने हाईस्कूल यू0पी0 बोर्ड से उत्तीर्ण कर लिया। व्यापार से मन उचट गया। घर पर मन नहीं लगता था। कभी कहीं, कभी कहीं सत्संगो में जाने लगे। इन सब बातों को देखकर परिवार वाले चिन्तित रहने लगे। कभी यह साधु न बन जाय। परिवार में यह

चिन्ता सबसे अधिक इनकी बड़ी बहिन श्रीमती लाली देवी को रहने लगी। उन्होंने अपने पतिदेव को यह कार्य सौंपा और कहा आप तो आर्यसमाजी हैं, कहीं पर ऐसी संस्था का पता लगाया जाय, जहाँ पर बड़ी आयु के बच्चे भी संस्कृत आदि पढ़ सकते हों। एक व्यक्ति से उन्हें ज्ञात हुआ कि ऐसी संस्था श्रीमद्दयानन्द उपदेशक विद्यालय यमुनानगर (उस समय के पंजाब) हरियाणा में है। यहाँ के आचार्य आर्यसमाज मूर्धन्य वीतराग सन्यासी स्वामी आत्मानन्द जी महाराज हैं। श्री रामप्रसाद जी के बहनोई एवं बहिन श्रीमती लाली देवी यमुनानगर में आप को छोड़ आये। राम जी को ऐसा लगा जैसा कि मेरा मनचाहा स्वप्न पूर्ण हो गया हो।

छोटी त्रुटि से असाध्य रोग :–

जब आप हाईस्कूल कर रहे थे, उस समय विज्ञान की क्रियात्मक परीक्षा की तैय्यारी के लिये कैमिकल एक पात्र में रखा हुआ था। रात्रि में लगभग दस बजे इनकी माताजी इनको मस्तिष्क को शक्ति प्रदान करने के लिये ब्राह्मी आदि का पेय देती थी, वे पीने के लिए लाई, आपने कहा "अम्माँ इसे रख दो मैं पढ़ रहा हूँ। सोते समय मैं पी लूंगा"। रात्रि को देर तक पढ़ते रहे। वह लाल्टेन का युग था। बिजली की सुविधा नही थी। लाल्टेन बुझाकर सोने लगे तो याद आया कि मैंने वह औषधि पी ही नहीं है। हाथ बढ़ाया और औषधि समझकर समीप में रखे हुये कैमिकल को पी गये। घर में किसी को न तो जगाया और न बतलाया ही। यह समझकर कि जीवन कुछ घन्टों का ही बचा है, किसी को क्यों कष्ट दिया जाय। कुछ समय बाद नींद आ गई तो सो गये। प्रातःकाल निद्रा खुली तो अपने आप को जिन्दा पाया। इस घटना के कुछ दिन बाद आप उपदेशक विद्यालय यमुनानगर में आ गये। इस घटना के कुछ समय बाद त्वचा में रोग के कुछ लक्षण प्रकट होने लगे। उन्हें सामान्य फोड़े फुंसी मानकर उपचार कराया गया। उपचार से यह त्वचा रोग दब जाता था परन्तु कुछ समय बाद पुनः आ जाता था। इस रोग के उपचार हेतु आयुर्वेद, एलोपैथी, होम्योपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा आदि सभी चिकित्सा पद्धतियों से उपचार होता रहा, परन्तु सभी चिकित्सा पद्धतियों से अल्पकालिक लाभ ही होता रहा। उनका विद्या के प्रति इतना अनुराग था कि यह रोग उनको संकल्प से विचलित नहीं कर पाया। आप उपदेशक विद्यालय में रात दिन अध्ययन करते रहते थे। विशेष रूप में व्याकरण और वेद को विशेष रुचि से पढ़ते थे। थोड़े से समय के बाद ही उपदेशक विद्यालय के योग्य छात्रों में आपकी गिनती होने लग गई।

मैं 1960 में स्वामी ओमानन्द (तत्कालीन आचार्य भगवान देव) जी की प्रेरणा से हाईस्कूल उत्तीर्ण करने के पश्चात् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के चरणों में योग सीखने एवं वेद, दर्शन और व्याकरण का अध्ययन करने के लिये आया। यहीं पर श्री रामप्रसाद जी से

भेंट हुई और कुछ समय के पश्चात् मित्रता में परिवर्तित हो गई। आप अपनी सेवा, विनम्रता और योग्यता से आश्रम एवं उपदेशक विद्यालय के मुख्याधिष्ठाता पण्डित विद्याधर स्नातक के विश्वास पात्र बन गये। आप यहाँ से अधिक से अधिक स्थानों पर वेद प्रचार हेतु जगाधरी, यमुनानगर और अम्बाला आदि स्थानों पर जाते रहे, इस प्रकार उनका धीरे धीरे विस्तृत कार्यक्षेत्र बन गया।

जनगणना में प्रचार :—

कुछ समय पश्चात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी इन्द्रदेव जी (वर्तमान में स्वामी इन्द्रवेश) उपदेशक विद्यालय में महाभाष्य पढ़ने के लिये आये। एक ही उद्देश्य होने के कारण उनकी, मेरी और श्री रामप्रसाद जी से गहरी मित्रता स्थापित हो गई। पंजाब में जनगणना का कार्य प्रारम्भ हो गया। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अधिसूचना आश्रम में आई कि उपदेशक विद्यालय के छात्रों को अपने समीपवर्ती क्षेत्र में भेजो कि जा—जा कर जनता को प्रेरित करें वे सभी अपनी मातृभाषा के स्थान पर हिन्दी मातृभाषा लिखवायें। उपदेशक विद्यालय के प्रशासन ने छात्रों को मार्ग व्यय देकर हिन्दी भाषा के प्रचार एवं प्रसार हेतु भेजना प्रारम्भ कर दिया। हम तीनों ने निर्णय लिया कि हम ब्रह्मचारी हैं, हमें संस्था से मार्ग व्यय नहीं लेना चाहिये। हम तीनों मुख्य—अधिष्ठाता श्री विद्याधर जी स्नातक के पास गये और उन से निवेदन किया कि "हम आपसे मार्ग व्ययादि कुछ भी नहीं लेंगे। हमें केवल जाने की अनुमति प्रदान कीजिये। हमने निर्णय लिया कि पद—यात्रा करेंगे। जो भी ग्राम सामने आयेगा, वहाँ पर हिन्दी को अपनी मातृभाषा लिखाये आदि लोगों को समझाते हुये अगले गांव में जायेंगे। यह भी संकल्प था कि यह भूलने का प्रयास भी करेंगे कि यमुनानगर शहर किस दिशा में है। इस तरह प्रचार करते हुये लगभग एक सप्ताह व्यतीत हो गया। एक दिन घटना घटी कि वर्षा ऋतु होने के कारण कई गांवों में बाढ़ आई हुई थी। हम उस पानी में से ही चलकर गांव के अन्दर जाने लगे। पानी बढ़ता गया, एक स्थान पर सिर से ऊपर जाने लगा। मैं और इन्द्रवेश जी तो तैरना जानते थे। परन्तु राम प्रसाद जी तैरना नहीं जानते थे। हम दोनों उनके दोनों ओर होकर हाथ का सहारा दिया और थोड़ी देर में ग्राम में पहुँच गये। लगभग रात हो चुकी थी। हम तीनों ग्राम प्रधान के घर गये, उनको बतलाया कि स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने हमें भेजा है। रात्रि में लगभग 50 युवकों की सभा हुई, हम तीनों ने सभा में भाषण दिया। वह गांव राजपूतों का था। हमनें, 'राजपूतों में बुराइयां व्याप्त हैं, शराब पीना, मांस खाना और स्त्रियों का पुनर्विवाह न होना' आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध भाषण दिया। छोटी सी आयु में एक लड़की के विधवा होने पर, उस का पुनः विवाह न करने के कारण गांवों में व्यभिचार फैल रहा है, उसकी चर्चा पहले भाषणों में की गई फिर आपस के वार्तालाप में भी विस्तारपूर्वक चर्चा हुई। हम

तीनों प्रातः नित्य कर्म से निवृत हुये और सरपंच से निवेदन किया कि हम आपके परिवार के साथ मिल कर यज्ञ भी करेंगे। उनका ज्येष्ठ पुत्र और उसकी पत्नी यजमान बने। यज्ञ के पश्चात् हमने सत्संग की महिमा पर भाषण दिये। अगले दिन हम अन्य चार ग्रामों में जनजागरण करते पद यात्रा करते हुये आगे बढ़ते चले। जब हम वापिस लौटे तो हमारे पास बिना मांगे कई सौ रुपये एकत्रित हो गये। इस यात्रा को हम तीनों कभी विस्मरण नहीं कर पाये थे। जब भी मिलते थे, तभी इस यात्रा का कोई न कोई संस्मरण याद आ जाता था।

हमारी अवस्था वह थी कि 'आगे चलकर हम देश का कायाकल्प कर देंगे', यह हम उस समय कल्पना किया करते थे।

1961 में रामप्रसाद जी श्रीमद् दयानन्द उपदेशक विद्यालय के स्नातक बने। उन्होंने वहाँ की सर्वोच्च उपाधि 'सिद्धान्त शिरोमणि' उत्तीर्ण की। स्वामी आत्मानन्द जी के स्वर्गवास के पश्चात् उपदेशक विद्यालय की स्थिति डावांडोल होने लगी। उस समय उपदेशक विद्यालय के आचार्य श्री रामदेव जी थे। वे सेना से सेवानिवृत्त होकर आये थे। वे व्यवस्थापक के रूप में मिलिट्री प्रशासन ही चलाना चाहते थे जो उस विद्यालय में सम्भव नहीं था। इसलिए उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थियों और आचार्य रामदेव जी की अनबन रहने लगी। इसका परिणाम यह निकला कि उपदेशक विद्यालय यमुनानगर से भटिण्डा (पंजाब) स्थानान्तरित कर दिया गया। रामजी स्नातक बनने के पश्चात् उपदेशक विद्यालय में ही अध्यापन–कार्य करने लगे। और भटिण्डा में उन्होंने लगभग दश मास तक पढ़ाया भी था। लगभग जून 1962 में माननीय स्नातक जी के साथ वे भ्रमण करने के लिए हरिद्वार आये। जब उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी का अवलोकन करते हुए वेद महाविद्यालय को देखा तो उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में वेद पढ़ने की जिज्ञासा प्रकट की। वे तत्कालीन आचार्य प्रियव्रत से मिले और वेद महाविद्यालय में प्रवेश लेने की प्रार्थना की। गुरुकुल कांगड़ी में उस वर्ष प्रथम बार बाहर से छात्रों के प्रवेश का ज्ञापन हुआ था। इस प्रकार रामप्रसाद जी को गुरुकुल कांगड़ी, वेद महाविद्यालय की विद्या विनोद प्रथम खण्ड कक्षा में प्रवेश मिल गया और वे यहाँ पर अध्ययन करने लग गये। सितम्बर 1962 में उपदेशक विद्यालय भटिण्डा– में एक दुर्घटना घटी जिसके कारण वहाँ के समस्त छात्र उपदेशक विद्यालय को छोड़कर अन्य संस्थाओं में पढ़ने के लिए चले गये थे। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ कि मेरी और राम प्रसाद जी की उपदेशक विद्यालय यमुनानगर में ही अभिन्न मित्रता हो गयी थी। मैंने उनको गुरुकुल कांगड़ी के पते पर पत्र लिखा था कि क्या मेरा भी प्रवेश गुरुकुल कांगड़ी में हो सकता है? मैं उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ने की इच्छा से आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में आ गया। विद्याविनोद प्रथम खण्ड में ही मेरा भी प्रवेश हो गया।

हम दोनों प्रतिदिन साथ–साथ पैदल ही वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर से पढ़ने के लिए गुरुकुल कांगड़ी जाया करते थे। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि मैं और रामप्रसाद जी ऐसे पहले छात्र थे जो गुरुकुल के छात्रावास से बाहर आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में रहते थे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हम दोनों से पूर्व आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में गुरुकुल कांगड़ी के छात्रों को रखने का नियम नहीं था। हम दोनों उपदेशक विद्यालय में पढ़े थे इसलिए भाषण देना भलीभांति जानते थे। आर्य वानप्रस्थ आश्रम ने अपनी अन्तरंग सभा में वेद महाविद्यालय में पढ़ने वाले पांच छात्रों को आश्रम में निवास की अनुमति प्रदान की थी। मैं क्योंकि नमक और मीठा उन दिनों नहीं खाता था। रामप्रसाद जी भी त्वचा रोग से पीड़ित होने के कारण उन्हें वैद्य ने नमक खाने को मना किया था। इसलिए हम दोनों स्वयं पाकी बन गये। उस समय हम जितने प्रेम से रहते थे जिसके कारण हमें शीघ्र ही आश्रम में रामलक्ष्मण की जोड़ी के रूप में लोगों ने कहना प्रारम्भ कर दिया था। हम दोनों का आर्थिक आधार केवल गुरुकुल कांगड़ी से मिलने वाली 40 रुपये प्रतिमाह की छात्रवृत्ति ही थी। दोनों कभी–कभी बाहर बोलने के लिए जाते थे इसलिए हम दोनों का गुजारा अच्छी तरह हो जाता था। हमें आर्थिक चिन्ता कभी भी नहीं रही। हम दोनों ने आश्रमवासी अथवा अन्य किसी व्यक्ति से अपने खर्चे के लिए पैसा नहीं मांगा। हम दोनों जब गुरुकुल जाते थे तब राम जी प्रायः कपड़े पहनने में विलम्ब करते थे, सो हम दोनों गुरुकुल कांगड़ी की प्रार्थना में विलम्ब से ही पहुंचते थे। उस समय प्रार्थना में अनुपस्थित होने पर दो आने प्रति छात्र अर्थदण्ड था। जो प्रायः हम पर हो ही जाया करता था। जब हम वेदालंकार प्रथम वर्ष में आये तो मैं ग्रीष्मावकाश में अपने घर गया। वहाँ मेरे पिताजी ने 250 रुपया मुझे आग्रहपूर्वक दे दिया था। मैंने आकर वे रुपये रामप्रसाद जी को दिये और कहा कि इनकी साइकिल खरीदेंगे। पहले तो वे मुझसे लड़ने लगे कि तुम घर से रुपया क्यों लाये हो। मेरी हठ पर उन्होंने साइकिल तो खरीद ली, परन्तु निर्णायक रूप में मुझे कहा कि आगे तुम कभी अपने घर से रुपये लाये तो हम दोनों साथ नहीं रह पायेंगे। इस प्रकार धीरे–धीरे हम दोनों 1966 में गुरुकुल के स्नातक बन गये। अध्ययन करते समय रामप्रसाद जी की रुचि वेद में थी और मेरी रुचि दर्शन में अधिक थी। इसलिए दोनों ने वेद और दर्शन में क्रमशः प्रवेश लिये। हम दोनों के परस्पर सम्बन्ध इतने गहरे थे कि परस्पर बातचीत करते समय हम औपचारिकता नहीं रख पाते थे। बहस करते–करते कई बार वे क्रोधित हो जाते थे तो वे मेरी पिटाई भी कर देते थे। मैं रुष्ट होकर जब दूसरी जगह चला जाता था तो वे मुझे ढूंढते–ढूंढते दूर तक चले जाते थे और मनाकर ले आते थे। मुझे बाहर का कार्य करना अच्छा नहीं लगता था। इसलिए क्योंकि हम दोनों स्वयं पाकी थे। आटा पिसवाने के लिए कन्धे पर रखकर कनस्तर ले जाना पड़ता था। मैं

कभी भी आटा पिसवाने नहीं गया, वे ही स्वयं जाते थे। आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर के अन्दर (स्व.) गंगाप्रसाद चीफ जस्टिस् के आवास में हम दोनों ऊपर वाले कमरे में रहते थे। हमने दो स्टोव रखे थे। घर का कार्य यद्यपि मैं खूब कर लेता था। परन्तु बाहर का कार्य वे स्वयं ही करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने अपनी जिद् के कारण कई बार उनको बड़ी कठिनाई में डाला। एम.ए. द्वितीय वर्ष में मैंने लघु शोध प्रबन्ध लिया था। जिसे मैंने हाथ से तो लिख दिया था परन्तु टाइप कराने के लिए हमारे पास रुपये नहीं थे। रामप्रसाद जी समस्या के समाधान के लिए वानप्रस्थ आश्रम के प्रधान महात्मा हरप्रकाश से मिले और उनको इस समस्या से अवगत कराया। महात्मा जी ने उन्हें कहा आप जयदेव से एक प्रार्थना पत्र ले आओ मैं उसे स्वीकृत करा लूंगा। जब आकर के रामप्रसाद जी ने मुझे कहा कि प्रार्थना पत्र लिख दो तो मैंने लिखने से मना कर दिया। और कहा "मैंने जिन्दगी में कभी पैसे के लिए याचना नहीं की है"। तथा यह भी निवेदन किया कि "मैं हाथ से ही लिखकर 'लघु शोध प्रबन्ध' जमा करा दूंगा"। जब महात्मा हरप्रकाश जी ने उनसे पूछा कि "आपने प्रार्थना पत्र नहीं दिया"। तो उन्होंने महात्मा से कहा "जयदेव जिद्दी है उसने लिखने से मना कर दिया"। दूसरे दिन महात्मा हरप्रकाश स्वयं आये और मुझे 100 रुपये दे गये और कहा "यह तो लो और भगवान प्रबन्ध करेगा"।

आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में धीरे–धीरे छात्रों की संख्या 35 हो गयी थी। अनेक बार अधिक छात्र होने के कारण छात्रों में विवाद अथवा वे ऐसे काम भी कर बैठते थे जो आश्रम की मर्यादाओं के अनुकूल नहीं होते थे। परन्तु रामप्रसाद जी छात्रों को समझा लेते थे और उन विवादों को आश्रम के अधिकारियों तक नहीं पहुंचने देते थे। उनकी वाणी में एक प्रकार का विशेष आकर्षण था। इसलिए वे शीघ्र ही वक्ता के रूप में विख्यात हो गये। यहाँ एक अन्य घटना का उल्लेख करना भी उचित ही होगा– जब हम दोनों विद्याविनोद में अध्ययन करते थे तो उन दिनों व्यास आश्रम स्थापित हुआ ही हुआ था। एक दिन माता भागवन्ती पूछते–पूछते हम दोनों के पास आयीं और कहा "मैंने सुना है तुम दोनों स्वामी आत्मानन्द जी के शिष्य हो"। मैं भी स्वामी आत्मानन्द जी की शिष्या हूँ। इस नाते तुम दोनों मेरे धर्म भाई हुए। और मैं तुम्हारी बड़ी बहन हुई। मैंने यहाँ व्यास आश्रम की स्थापना की है। उसमें एक अप्रैल से 7 अप्रैल तक साधना शिविर लगता है जिसमें आनन्द स्वामी जी महाराज ध्यान सिखाते हैं। इसी अवसर पर किसी एक वेद का पारायण यज्ञ भी होता है। बस इसके बाद तुम दोनों ही उस यज्ञ को सम्पन्न कराया करोगे। और मैं तुम्हें प्रतिवर्ष निमन्त्रण भी नहीं भेजूंगी क्योंकि बहन और भाईयों के कार्य के विभाजन में निमन्त्रण भी नहीं दिया जाता है। बस इस प्रकार लगभग 1963 में व्यास आश्रम में हम दोनों का जाना प्रारम्भ हुआ और वह निर्बाध रूप में

रामप्रसाद जी के स्वर्गवास होने तक जारी रहा।

हम दोनों ने प्रथम श्रेणी में एम.ए. की उपाधि 1968 में प्राप्त की। मुझे पं0 सुखदेव दर्शन वाचस्पति ने और रामप्रसाद जी को आचार्य प्रियव्रत ने यह आदेश दिया कि "तुम दोनों गुरुकुल कांगड़ी में सेवा करोगे। ये हमारी दोनों की गुरुदक्षिणा है। इस प्रकार एक अगस्त 1968 को हम दोनों की वेद विभाग और दर्शन विभाग में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हो गयी। नियुक्त होने के पश्चात् भी वानप्रस्थ आश्रम ने अपना नियम भंग करके अर्थात् अपनी अन्तरंग सभा में विशेष प्रस्ताव पास करके हम दोनों को आश्रम में ही रहने के लिए आग्रह किया। अप्रैल 1969 में वानप्रस्थ आश्रम के वार्षिकोत्सव पर कन्या गुरुकुल राजेन्द्र नगर दिल्ली की आचार्य माता ब्रह्मशक्ति अपनी कुछ शिष्याओं सहित पधारी थीं। यह एक प्रसिद्ध उक्ति है कि भगवान ही किससे किसका विवाह होना है, यह निश्चित करके भेज देता है। माता ब्रह्मशक्ति की एक शिष्या सुषमा स्नातिका भी थी। मेरे मन के विचारों को जानकर आनन्दा माता (वानप्रस्थ आश्रम) से रामप्रसाद जी ने माता ब्रह्मशक्ति से बात करने को कहाँ जब तक यह सम्बन्ध पक्का नहीं हुआ तब तक वे (रामजी) दिल्ली कई बार गये। यद्यपि हम दोनों प्राध्यापक लग चुके थे तो भी घर से हम दोनों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। इसलिए रामप्रसाद जी ने मुझसे कहा तुमने विवाह के लिए पिता जी से पैसा नहीं लेना है। जैसे हम दोनों अब तक काम चलाते आये हैं, ऐसे ही विवाह भी हो जायेगा। इस प्रकार 4 जून 1969 को मेरा विवाह सम्पन्न हो गया।

वानप्रस्थ आश्रम में विवाह के पश्चात् किसी भी प्रकार रहना सम्भव नहीं था इसलिए मैंने आर्य नगर में किराये पर मकान ले लिया था। और उसमें रहने लगा। छात्र अवस्था में धीरे–धीरे हमारे पास कई बर्तन एवं सामान इकट्ठा हो गया था। मैंने यह कल्पना भी न की थी कि हमारे सामान का कभी बटवारा भी होगा। एक दिन रामप्रसाद जी मेरे यहाँ सारा सामान ले आये और कहने लगे, "जब दो भाई अलग हो रहे हैं तो सामान का भी बटवारा होना चाहिए"। तो मैंने कहा "आपके पास तो कोई और छात्र आ जायेगा, मैंने घर का सब सामान खरीद लिया है लेकिन वो नहीं माने और इस प्रकार उन्होंने पूरे सामान का बटवारा कर डाला।" बटवारा करते हुए उन्होंने कहा "बड़ा पतीला तू ले क्योंकि अब तू गृहस्थी हो गया है, छोटा पतीला मेरे पास रहेगा, क्योंकि मैं अभी अकेला हूँ।" सामान का बटवारा करने के बाद हम दोनों घन्टों रोते रहे। क्योंकि हमने कभी सोचा भी नहीं था कि हम कभी अलग भी होंगे। मेरी माँ और पत्नी इस दृश्य को देखती रहीं। अन्त में हमें अकेला तो होना ही था, परन्तु उस समय की जो स्नेह की अनुभूति हुई थी, वह उसके बाद कभी किसी को नहीं हो पाई। रामप्रसाद जी अध्ययन करते समय प्राध्यापकों, आर्यसमाजियों और छात्रों में बहुत अधिक

प्रसिद्ध हो गये थे, उन दिनों में बहुत से छात्र आये जिनके पास कोई आर्थिक आधार नहीं होता था। वे कहीं न कहीं से किसी को कहकर आर्थिक सहायता का प्रबन्ध कर देते थे। मेरे विवाह के उपलक्ष्य में वानप्रस्थ आश्रम में एक स्वागत यज्ञ का आयोजन किया गया आशीर्वाद देते हुए रामप्रसाद जी को कहा गया कि तुम भी विवाह कर लो। उन्होंने मजाक में टालते हुए कहा कि "मैं जयदेव जैसा बेवकूफ नहीं हूँ कि दूसरे की लड़की लाकर उसे खिलाऊँ पिलाऊँ"। आश्रम में उनके विवाह की चर्चा जोर पकड़ती चली गयी। मेरे विवाह के लगभग ढाई तीन वर्ष पश्चात् माडल टाउन दिल्ली में हम दोनों को माता दयावती के यहाँ सामवेद पारायण यज्ञ करने के लिए जाना पड़ा। वहाँ माता दयावती ने मुझसे कहा कि "एक सरोज आर्या नाम की लड़की है उसके विवाह के लिए अपने जैसा कोई लड़का बतलाओ मैं उनके संकेत को नहीं समझ पाया और कहा कि "मेरे जैसा तो मैं ही हूँ और मेरा विवाह हो चुका है।" कुमारी सरोज आर्या गौरन्मैंट हायर सैकेण्डरी स्कूल में गृह विज्ञान की अध्यापिका थी। यज्ञ सम्पन्न होने के पश्चात् हम दोनों हरिद्वार लौट आये। किन्तु कुछ दिन के बाद ही माता दयावती का पत्र रामप्रसाद जी के लिए विवाह के प्रस्ताव के रूप में प्राप्त हुआ। और उसके कुछ दिन बाद ही कुमारी सरोज आर्या का पत्र भी प्राप्त हुआ जो रामप्रसाद जी के नाम था, परन्तु सम्बोधन डॉट–डॉट करके खाली छोड़ा हुआ था। रामजी ने मुझसे कहा "जीवन में इस प्रकार के कई अवसर आये, परन्तु उन सब जगह मैंने उस लड़की को बहन कहकर वह सम्बन्ध खत्म कर दिया था, परन्तु इस लड़की को बहन नहीं कह पा रहा हूँ।" मैंने उनसे कहा "अब तुम्हारे अन्दर पानी मर गया है, अब आप इस सम्बन्ध को सहज स्वभाव से स्वीकार कर लो" मैंने रामजी की लाडली बड़ी बहन और विकास नगर वाली बहन को बुलवा भेजा और जल्दी ही रामप्रसाद जी प्रणय सूत्र में बंध गये।

आचार्य प्रियव्रत जी के सेवानिवृत्त होने के पश्चात् वेद विभाग में रीडर पद रिक्त हो गया। उस समय तक रामप्रसाद जी को प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए लगभग पांच वर्ष ही हुए थे। यद्यपि रामप्रसाद जी से सीनियर भारत भूषण विद्यालंकार जी थे, परन्तु विद्वता के क्षेत्र में रामप्रसाद जी का नाम विख्यात हो चुका था, जब ये वेद मन्त्रों की आकर्षक व्याख्या करते थे और मन्त्रों के शब्दों की नई उत्पत्ति करते थे तो बडे–बडे विद्वान अवाक् रह जाते थे कि इतना सुन्दर और अद्भुत अर्थ इन्होंने कैसे किया है? इसलिए साक्षात्कार में उनकी वह प्रतिभा प्रभावशाली रूप में उभर कर सामने आयी। तत्कालीन कुलपति रघुवीर सिहं शास्त्री ने रीडर पद पर उनको नियुक्त कर दिया। वे सामाजिक कार्य और बाहर के कार्यों में इतने व्यस्त हो गये थे कि पी.एच.डी. के लिए पंजीकृत कराने पर भी पी.एच.डी. नहीं कर पाये थे। परन्तु उन्होंने पी.एच.डी. की इस न्यूनता को वेद सूक्तो की व्याख्या करके छोटे–छोटे ग्रन्थ

लिखना प्रारम्भ कर पूर्ण किया। जो कि सामान्य जनता में बड़े ही प्रसिद्ध हुए। एक ग्रन्थ प्रकाशित होता था तो दूसरे ग्रन्थ को प्रकाशित करने की मांग आ जाती थी। इस प्रकार लगभग उन्होंने 40 ग्रन्थ विभिन्न वैदिक विषयों को लेकर लिखे और उनको प्रकाशित भी किया। कुछ दिनों में ही उन्होंने प्रकाशन का एक बहुत बड़ा व्यवसाय सा खड़ा कर दिया। इसलिए अपनी बेटी श्रद्धा के नाम से 'श्रद्धा प्रकाशन' खोला जो थोड़े समय में ही प्रसिद्ध हो गया। उनके ग्रन्थों को प्रायः दानदाता ही प्रकाशित करवाते थे। इसलिए उनके ग्रन्थों में मूल्य के स्थान पर श्रद्धा मूल्य ही लिखा होता था। उनके प्रकाशन में सबसे विशेष बात यह है कि जब वह किसी मन्त्र की व्याख्या करते थे तो इतने भाव विभोर होकर लम्बी व्याख्या करते थे कि जब पाठक उसे पढ़ता तो उस पुस्तक को अधूरी छोड़ने का मन ही नहीं करता था। उन्होंने केवल मन्त्रों की व्याख्या ही नहीं की अपितु अन्य विषयों पर भी छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। जैसे- आदर्श परिवार, किसको नींद नहीं आती? आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जो बहुत अच्छे माने जाते हैं। आगे चलकर जनता की मांगों में अपने भाषणों के कैसेट भी बनाये। आनन्द स्वामी जी के स्वर्गवास होने के पश्चात् जो सन्यासी जैसा भी, मधुरभाषी हो, और जिसके जीवन में सरलता और आध्यात्मिकता पूर्ण रूपेण हो ऐसे यदि कोई थे तो वे केवल रामप्रसाद जी ही थे। इसलिए पंजाब, उत्तरप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, दिल्ली और महाराष्ट्र आदि सभी प्रान्तों में उनके पास इतने कार्यक्रम आते थे कि वे सब जगह नहीं जा पाते थे। जब वे अपने घर पर होते थे तो समस्त दिन उनके घर पर आने-जाने वालों का तांता लगा रहता था। अपने हाथ से फल काटकर प्रातःकाल से सायंकाल तक आगन्तुकों को खिलाते रहते थे। उनको दूसरों को खिलाने में बड़ा आनन्द मिलता था। उनके कितने ही ऐसे यज्ञमान परिवार थे जो उनके सगे सम्बन्धियों जैसे हो गये थे। उनके घर में जब भी जाओ उनका हँसता हुआ चेहरा सदैव लोगों को पुनः आने के लिए आमन्त्रण सा दे रहा होता था।

1980 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विवाद समाप्त हो जाने के पश्चात् रामप्रसाद जी को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं प्रो. वाइस चान्सलर पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इस तरह वे अपने जीवन का विकास करते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उप-कुलपति बन गये। यहाँ पर भी उनकी प्रसिद्धि और विद्वतापूर्ण उनकी व्याख्यान कला ही उनको आचार्य बनाने का पुनः कारण बनी। यद्यपि यह स्थिति उनके तनाव का कारण भी बनी रही। आचार्य रामप्रसाद जी जहाँ विनम्र थे वहाँ वे फ्रन्टीयर के वीर जुझारु एवं संघर्षशील व्यक्तित्व वाले भी व्यक्ति थे। जब उनको वेद विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया तो उनका विरोध होना प्रारम्भ हो गया। विरोध करने पर भी जब

कुछ नहीं हुआ तो शिक्षा पटल में एक प्रस्ताव लाया गया कि वेद विभाग को समाप्त करके वेद विभाग को संस्कृत विभाग में मिला दिया जाय। उस समय मैंने और भाई रामप्रसाद ने मिलकर गुरुकुल के स्नातकों को और आचार्य प्रियव्रत को प्रेरित किया कि यदि गुरुकुल कांगड़ी में वेद ही नहीं रहेगा तो गुरुकुल कांगड़ी का क्या अस्तित्व रहेगा? तत्कालीन कुलपति डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने विवश होकर आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति को शिक्षा पटल में विशेष आमन्त्रित सदस्य के रूप में बुलाया। आचार्या दमयन्ती कपूर ने अपनी जोरदार आवाज में कहा कि "वेद को समाप्त करने का प्रस्ताव लाने का साहस किसने किया"। इस प्रकार रामप्रसाद जी के संघर्ष से वेद विभाग टूटने से बच गया। जब वे आचार्य पद पर थे तो कभी भी वे छात्रों के सामने नहीं झुके। किसी भी कीमत पर 60 प्रतिशत की उपस्थिति कम होने पर छात्रों को परीक्षा में बैठने की स्वीकृति नहीं देते थे। उनके एक अत्यधिक साहसपूर्ण कदम की घटना स्मरण हो आती है।

गुरुकुल के किसी कर्मचारी ने कहा कि "मैं एम.ए. की परीक्षा दूंगा। मुझे कोई भी आचार्य जी सहित अध्यापक पकड़कर देखे।" आचार्य रामप्रसाद जी ने इस चैलेन्ज को स्वीकार किया और अपनी कुर्सी डालकर उस कर्मचारी के पास बैठ गये। वह कर्मचारी नकल तो कर नहीं सकता इसलिए अपनी उत्तर पुस्तिका में आचार्य रामप्रसाद जी को गाली लिखना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु आचार्य जी ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा उसकी सब गालियां सुनते रहे, और उन्होंने कहा "तू चाहे 'रामप्रसाद गाली पुराण" लिख दे, मैं तुझे नकल नहीं करने दूंगा।" इसका परिणाम यह हुआ कि उसने परीक्षा देनी छोड़ दी। इसी सन्दर्भ में एक दूसरी घटना याद आती है। वे मित्रों के मित्र थे। मैं और आचार्य रामप्रसाद जी प्राध्यापक लगे ही थे कि मैंने परीक्षा में एक एम.एस.सी. के छात्र को नकल करते हुए पकड़ लिया। परीक्षा समाप्त होते ही मुझे अनेक छात्रों ने घेर लिया। रामप्रसाद जी भी वहीं पर थे मैंने उन छात्रों को समझाते हुए कहा "मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है, अब तुम जो चाहे कर सकते हो यह तुमको सोचना है।" उनमें से एक छात्र ने क्रोधित होकर हमसे कहा "मेरा पेपर पांच दिन के बाद है मुझे पकड़कर दिखाना"। हमने उस छात्र के चैलेन्ज को स्वीकार कर लिया। परीक्षा अध्यक्ष ने उस दिन मेरी ड्यूटी नहीं लगाई, इन दिनों में रात्रि को मेरे घर पत्थर भी फेंके गये। जब रामजी को इस बात का पता चला तो उन्होंने परीक्षा अध्यक्ष से कहकर अपनी ड्यूटी लगवाई। जिस छात्र ने चैलेन्ज किया था उसको रंगे हाथों पकड़ा। उसने मारने तक की भी धमकी दी। रामप्रसाद जी ने कहा "ऐसे कितने ही छात्र आये हैं और चले गये हैं, तुम्हें जो करना है कर लेना।" इसके परिणाम स्वरूप वह छात्र यहाँ से विद्यालंकार नहीं कर पाया और यहाँ से चला गया। इस प्रकार की घटनाएं उनके मजबूत व्यक्तित्व को परिलक्षित करती थी।

जब उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया, तो, धीरे–धीरे उन्हें लिखने का एक व्यसन सा हो गया। चाहे किसी का भाषण हो रहा हो, चाहे वह स्वयं यज्ञ ही करा रहे हो, परन्तु वे अपने लिखने में व्यस्त रहते थे। कई बार कई विद्वानों ने उनका अपमान भी किया। वे विद्वान सोचते थे कि जो हम भाषण दे रहे हैं वे उनको नोट कर रहे हैं और उनको अपने ग्रन्थों में प्रकाशित करेंगे। परन्तु वे अपमान करने पर भी उत्तर नहीं देते थे, परन्तु लिखना भी नहीं बन्द करते थे। वस्तुतः स्थिति यह थी कि उस समय वे किसी का भाषण नोट नहीं कर रहे होते थे, बल्कि उनके मस्तिष्क में मन्त्र की व्याख्या चल रही होती थी, उसको लिपिबद्ध कर रहे होते थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अनेक बार उथल–पुथल हुए हैं और अनेक दलगत राजनीति के संकट के बादल भी मंडराये। उस विषम परिस्थिति में वे विचलित नहीं होते थे उस स्थिति को धैर्यपूर्वक सम्भाल लेते थे। वे स्वयं एक ईमानदार व्यक्ति थे इसलिए हमेशा ईमानदार व्यक्ति को पसन्द करते थे। वे कुछ दिनों विश्वविद्यालय के कार्यवाहक कुलपति भी बने। उस समय वित्ताधिकारी त्यागपत्र देकर चला गया था। वित्त विभाग से इतना जल्दी वित्ताधिकारी का आना सम्भव नहीं था। इसलिए वित्ताधिकारी बनने के लिए कई प्रो. तथा आचार्य रामप्रसाद जी के निकटतम व्यक्ति वित्ताधिकारी बनने के इच्छुक थे। परन्तु उस समय उन्होंने कुल सचिव डॉ. वीरेन्द्र अरोड़ा से कहा "मैं तो पैसे के मामले में जयदेव पर ही विश्वास कर सकता हूँ। अन्य किसी पर नहीं।" और उन्होंने मुझे विश्वविद्यालय का वित्ताधिकारी मनोनीत किया।

9 अप्रैल 1995 का दिन विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद के समय बड़ा ही भयावह दिन था। कुछ स्थानीय बदमाशों ने सभागार में आकर मेजों पर जूतो सहित ऐसा ताण्डव नृत्य किया था कि उस समय सभी शिष्ट परिषद के सदस्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। आचार्य रामप्रसाद जी में यह साहस था कि उन्होंने खड़े होकर सबको ललकारा और अपनी ओजस्वी वाणी में बाहर से आये हुए सभी राजनीतिक पाटियों को सम्बोधित करते हुए समझाया कि "इस तरह समस्याओं के समाधान नहीं हुआ करते है। आप अपनी बात शान्ति से कहिए, आप जबरदस्ती निर्णय नहीं करवा सकते हैं।" उनके व्यक्तित्व के विषय में यह प्रसिद्ध उक्ति सिद्ध होती है कि– "न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" अर्थात् धीर पुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते हैं, चाहे कितनी ही विषम परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो गयी हों।

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार एक आध्यात्मिक और विद्वान पुरुष थे, उन्होंने अपने व्यक्तित्व को शून्य से विकसित करते–करते उच्च पदों तक विकसित किया था। आजकल सामान्य रूप से पदों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रत्येक प्रकार का गिरे से गिरा साधन अपनाता है। चापलूसी – अवसरवादिता का प्रयोग करके अयोग्य व्यक्ति भी ऊँचे पदों पर

आसीन हो जाते हैं। उच्च पदों वाले व्यक्तियों के पास कई घन्टे बैठक देकर दूसरों की निन्दा करके ऐसे व्यक्ति पद हेतु किसी भी पतित अवस्था तक को प्राप्त करते हैं। परन्तु रामप्रसाद वेदालंकार को जो पद प्राप्त हुए थे, वे सब स्वाभाविक तौर पर थे, न की चापलूसी. पर। जिस समय श्री वीरेन्द्र जी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान होते थे और वे पंजाबी भी थे, परन्तु आचार्य रामप्रसाद को कभी भी उनके पास मंडराते नहीं देखा गया। न वो उनके पास बैठकर घन्टों चापलूसी करते थे। दूसरी ओर स्वामी ओमानन्द सरस्वती जो कि पंजाबी भी नहीं थे और वे उस समय सभा के किसी उच्च पद पर भी नहीं थे। आचार्य जी उनके पास जाते थे, उनके चरणों में नतमस्तक होते थे और उनके जीवन से प्रेरणा भी प्राप्त करते थे। जिस समय हम दोनों छात्रावस्था में थे उस समय स्वामी ओमानन्द सरस्वती इधर हरिद्वार में आते थे तो वानप्रस्थ आश्रम में आश्रम के अतिथि न बनकर हम दोनों के पास आकर ठहरा करते थे। उस समय हमारे पास न धन था और न ही कोई उच्च पद था। केवल हमारी स्वामी जी के प्रति श्रद्धा थी और स्वामी जी का हमारे प्रति स्नेह था। उस समय स्वामी जी का आना हमारे पास ऐसे ही था जैसे कि श्री कृष्ण का विदुर की कुटिया में जाकर केले के छिलके खाना। आचार्य रामप्रसाद जी लगभग 15–16 वर्ष तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं प्रो. वाइस चान्सलर रहे। कभी भी उनको सभा के अधिकारियों को स्टेशन पर छोड़ने अथवा लाते हुए नहीं देखा गया, क्योंकि वे एक सच्चे वेदों के विद्वान् थे। इसलिए स्वाभिमान उनकी सबसे बड़ी पूंजी थी, वे अक्सर कहा करते थे कि हम कणाद, गौतम और वशिष्ठ के प्रतिनिधि हैं। हमें कभी भी धनी एवं राजनीतिक अधिकारियों के समक्ष अपनी गौरवमयी आत्मा को नहीं बेचना चाहिए।

जब वे गृहस्थ आश्रम की व्याख्या करते थे तब श्रोताओं को ऐसा लगा करता था कि जैसे आकाश का स्वर्ग धरती पर उतर आया हो। जो उनके जीवन में नहीं होता था, उस विषय पर कभी नहीं बोलते थे। विवाह से पहले वे एक श्लोक पर बहुत अधिक व्याख्यान करते थे, जिसका भावार्थ था कि– स्वयं परिश्रम से अर्जित किया हुआ धन उत्तम होता है। पिता अथवा नौकरी आदि से प्राप्त धन मध्यम होता है। और स्त्री द्वारा कमाया धन अधम होता है। उनको जो पत्नी मिली वह एक अध्यापिका पद पर काम करने वाली थी जब तक समझा बुझाकर अपनी पत्नी का नौकरी से त्याग पत्र नहीं दिलवाया तब तक उन्होंने उस विषय पर भाषण देना बन्द कर दिया था। उनकी नौकरी छुड़वाने के पश्चात् ही उन्होंने उस श्लोक पर पुनः भाषण करना प्ररम्भ किया। जब आर्य समाजों से कार्यक्रम आते थे तो जिस आर्य समाज के उत्सव पर जाने की स्वीकृति वे देते थे, उसके बाद यह नहीं देखते थे कि अन्य आर्य समाज जो दक्षिणा भी उस आर्य समाज से देने में अधिक समर्थ था, वहाँ न जाकर वहीं जाते

थे, जहाँ पहले स्वीकृति दे दिये होते थे।

आचार्य राम प्रसाद वास्तव में एक व्यक्ति न होकर एक संस्था थे। थोड़े ही काल में उन्होंने जो यश एवं कीर्ति अर्जित की थी। वैसी कीर्ति बहुत थोड़े व्यक्ति प्राप्त कर पाते हैं। जो भी स्त्री पुरुष उनके सम्पर्क में आते, उन सबकी एक अनुभूति होती थी कि राम प्रसाद जी मुझसे ही सबसे ज्यादा स्नेह करते हैं। विवाह से पहले उनके सम्बन्ध सामाजिक रूप में बहुत अधिक लोगों से थे। उनकी पत्नी ने जब उन सम्बन्धों को सीमित करना चाहा तो स्पष्ट रूप से वे अपनी पत्नी से कहा करते थे कि– देखो सरोज! इस बहन से या इस व्यक्ति से मेरा सम्बन्ध तुम्हारे सम्बन्ध से पहले का है। हमारा आध्यात्मिक सम्बन्ध है, तुम इस पर अंकुश लगाने का प्रयास मत करो। वास्तव में वे एक परिवार के न होकर पूरे समाज के थे।

उनके आचार्य काल में जब कोई छात्र आकर यह कह देता था कि आचार्य जी मेरे पास कोई आर्थिक सहारा नहीं है और मैं ऐसे विषय से एम.ए. कर रहा हूँ, जिसमें विश्वविद्यालय मुझे छात्रवृत्ति भी प्रदान नहीं कर रहा है, तो ऐसे छात्रों को वे अपने पास से आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। उनके ऐसा करने से उनको इतना यश प्राप्त हो गया था कि वे कितने ही ट्रस्टों के ट्रस्टी बन गये थे। वानप्रस्थ की अनेक माताएं उन पर अगाध श्रद्धा रखती थी। समस्त भारत में अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो आचार्य रामप्रसाद जी को अपना संरक्षक मानते थे। संरक्षक बनने में कई बार लोगों ने उन्हें धोखा भी दिया। उनके विद्यार्थी जीवन में एक बार की घटना है कि एक विद्यार्थी जिसने महाविद्यालय ज्वालापुर में शिक्षा प्राप्त की थी। रामप्रसाद जी को संरक्षक बनाकर ऋषिकेश में संस्कृत महाविद्यालय में पढ़ने लगा। एक रात को वह आश्रम में आया, राम प्रसाद जी ने उसको नीचे कमरे में जहाँ एक सेवक रहता था उस कमरे में रात को ठहरा दिया। प्रातःकाल हम दोनों गुरुकुल में पढ़ाने चले गये, जब दोपहर वापस लौटे तो वह सेवक रोते हुए मिला, उसने शिकायत की, "वह आपका छात्र मेरे एक हजार रुपये चुराकर चला गया, मैं गरीब व्यक्ति हूँ मैं एक हजार रुपया कहाँ से लाऊंगा"। रामप्रसाद जी ने कहा– "रुपया आपका नहीं, हमारा गया है। आप चिन्ता न करें, आपको रुपया लौटा दिया जायेगा"। उस छात्र का एक थैला ऊपर रामप्रसाद जी के कमरे में रखा हुआ था। सायंकाल जब मैं भ्रमण करके वापस लौटा तो उस समय देखा कि वह छात्र रामप्रसाद जी को यह कहकर लज्जित कर रहा था कि– "मैं आपके यहाँ क्या रुका कि आप मुझपर चोरी का आरोप लगा रहे हैं"। इस तरह वह बुरी तरह रामप्रसाद जी को डांट रहा था। मेरे आने पर वे मुझे एक तरफ ले गये और मुझे कहने लगे कि यह तो बहुत ही सात्विक बालक है, मैंने इस पर बेकार ही चोरी का आरोप सेवक के कहने पर लगा दिया। अब मुझे प्रायश्चित करना पड़ेगा। मैंने उनसे कहा "आप यह विश्वास पूर्वक कैसे कह सकते हैं कि यह सत्य बोल रहा

है, आप मुझे पांच मिनट का समय दो। जो मैं इससे पूछताछ करूँ उसमें आप बीच में न बोले।" "सच्चाई का अभी पता लग जायेगा"। जब मैंने उससे पूछताछ प्रारम्भ की और पूछताछ करते हुए उसको पीटना प्रारम्भ किया तो पांच मिनट में ही उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने इतना ही स्वीकार नहीं किया, अपितु उसने जहाँ–जहाँ, जिस–जिस दुकान से जो–जो सामान चुराया था, जो उसके थैले में मौजूद था, उन सबको स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वे जीवन मे अनेकों बार छले गये। क्योंकि वे एक सात्विक व्यक्ति थे इसलिए सबको सात्विक ही समझते थे। एक बार कुलपति श्री जी.बी.के. हूजा ने मुझसे कहा कि तुम और रामप्रसाद जब भी इकट्ठे होते हो, लड़ते ही रहते हो, तुम दोनों की ऐसी क्या दुश्मनी है। मैंने उनसे कहा– "हम दोनों परस्पर इतना स्नेह करते हैं कि हम दोनों का परस्पर केवल औपचारिक सम्बन्ध मात्र नहीं रह गया है", मैंने उनको बतलाया कि "आप इसी से जान लें कि रामप्रसाद जी के विवाह से पूर्व, उनके बीच में, आदि में, उत्तराधिकारी के रूप में मैं मनोनीत था। विवाह होने के बाद मेरे स्थान पर उन्होंने अपनी पत्नी को उत्तराधिकारी रूप में मनोनीत किया था। मैं भी उनसे इतना स्नेह करता हूँ कि वेद विभाग में जब रीडर बनने की बात चल रही थी और मैं उनको रीडर बनाने का प्रयास कर रहा था, तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि शायद रामप्रसाद जी रीडर नहीं बन पायेंगे तो मैंने अपने घर पत्नी को कहा था कि मैं नौकरी से त्यागपत्र दे दूंगा। इसके लिए तुम अपनी मनस्थिति को बना लो"।

जब मैं वित्ताधिकारी बना कई लोग ईर्ष्या के कारण रामप्रसाद जी से मेरी शिकायत करते थे। उनको वे एक ही जवाब देते थे, "मैं यह तो मान सकता हूँ कि वे जिद्दी हैं, किसी को धमका भी सकते हैं, परन्तु वे बेईमानी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम दोनों एक साथ 10 वर्ष रह चुके हैं"। उनके चरित्र को मैं ही जानता हूँ। आप उनकी निन्दा करके अपना मन खराब मत करें। यहाँ पर मैं एक सत्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ कि उनका और मेरा जो परस्पर विश्वास रहा, वह विश्वास मैं अपनी पूज्यनीया भाभी श्रीमती सरोज आर्या का विश्वास जीतने में सफल नहीं हो पाया। क्योंकि वे कई बार जब बीमार होते थे तो उनकी बीमारी का पता मुझे कहीं बाहर से ही लगता था। मुझे फोन करके कभी नहीं बतलाया जाता था कि रामप्रसाद जी रुग्ण हैं। जब उनको पहली बार हृदय गति का रोग हुआ मुझे उनके किरायेदार ने दो दिन के बाद बतलाया, तो मुझे अत्यधिक हार्दिक पीड़ा हुई कि मेरा एक मात्र सच्चा सखा मृत्यु की दहलीज पर चला गया, और मुझे सूचना तक भी नहीं दी गयी। मैं सिटी हॉस्पिटल हरिद्वार में उनसे मिलने गया। तो मैंने उनसे बहुत अधिक आग्रह किया कि जब तक आप पूर्ण स्वस्थ न हों तब तक आप कहीं बाहर भी नहीं जायेंगे। मैं थोड़ा सा उनसे लड़ा भी। कुछ दिनों के बाद स्वस्थ होकर वे वापस घर आ गये। डॉ. ने उनको सख्त हिदायत दी

थी कि आप किसी भी प्रकार की कोई गतिविधि नहीं करेंगे। अधिकतर आप लेटकर विश्राम ही करेंगे। परन्तु मुझे यह दुःखी होकर लिखना पड़ रहा है कि उनके भक्तों ने उनको आराम नहीं करने दिया और वे एक कार्यक्रम पर पहले सोनीपत और कुछ दिन के बाद चण्डीगढ़ आशीर्वाद देने के लिए चले गये। यह सत्य है कि हम सबकी मृत्यु और काल निश्चित है, परन्तु मैं यह भी मानता हूँ कि किसी न किसी रूप में उनके भक्तों और परिवार वालों की लापरवाही अवश्य रही है। और यही कारण था कि एक हंसता हुआ चेहरा, जिसने मुस्कराना ही सीखा था अधिक थकान के कारण रात्रि को दो बजे भयंकर तूफान और वर्षा के समय पुनः हृदय का आघात् प्रारम्भ हुआ उस समय भारत के एक उच्च विद्वान और सम्मानित व्यक्ति को एक टैक्सी भी नहीं मिल पाई तो एक स्कूटर पर ही भीगते हुए पति और पत्नी को वहाँ के पुरोहित ने डा. के क्लीनिक तक पहुंचाया। थोड़े समय में ही काल के क्रूर हाथों ने उन्हें समाप्त कर दिया।

आचार्य रामप्रसाद जी का तो कुछ नहीं बिगड़ा वे तो आज भी अपने यश के द्वारा जीवित हैं। परन्तु वे जो आर्य समाज का कार्य कर रहे थे उनके मस्तिष्क में अनेक ग्रन्थों को लिखने की योजना चल रही थी। जिनके प्रकाशित होने पर समाज का बहुत अधिक भला होता वह अवश्य लड़खड़ा गयां है। उनकी क्षतिपूर्ति किसी भी प्रकार होनी संभव नहीं है। मुझे तो आज भी कई बार यह लगता है कि वे अपने कमरे में खिड़की के पास बैठकर अपना लैम्प जलाकर लिखते हुए मिलेंगे, परन्तु उधर पैर मोड़ने पर याद आता है कि वे अब कभी–भी नहीं मिलेंगे।

– डॉ. जयदेव वेदालंकार
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
एवं डीन–प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल
काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ज्ञान-विज्ञान की भूमि को व्रताभ्यास से उर्वर बनाए रखने वाला आदर्श आचार्य

निधन से दो दिन पूर्व वह सपत्नीक बस की प्रतीक्षा करते हुए मुझे सिंहद्वार पर मिले, सदा की तरह मुस्कराते हुए, स्नेहार्द्र आँखों में एक विशेष चमक लिए। बातचीत हुई, परिवार के बारे में पूछा और फिर मेरे अनुरोध पर किसी दिन आतिथ्य की कृपा के लिए कुटीर पर पधारने का आश्वासन देकर वह यात्री की प्रतीक्षा मुद्रा में आ गए। उनकी यह धर्मयात्रा महायात्रा में बदल जाएगी, यह कौन जानता था? कभी न मिलने के लिए वह बिछुड़ गए। हा, दुर्दैव! तेरा वज्रव्यवहार न बदला है और न बदलेगा।

मैंने उन्हें विद्यार्थी, अध्यापक, रीडर, प्रोफेसर, आचार्य एवं कार्यवाहक कुलपति के रूप में देखा है। पद का अभिमान सदैव उनसे दूर रहा। गुरुकुल के आचार्य पद की महिमा उन्होंने बनाए रखी। वह वेदमूर्ति आचार्य प्रियव्रत जी तथा पंडित रामनाथ जी वेदालंकार की परम्परा का हृदय से निर्वाह करते रहे। छान्दोग्य उपनिषंद् पर वह शोध कार्य में भी प्रवृत्त हुए पर वेदप्रचार तथा प्रशासनिक कार्यों में फँसे रहने के कारण इस कार्य को पूरा न कर सके। मैं उन्हें जब भी याद कराता, हँस पड़ते और निरीह मृग के जाल में फँस जाने की छटपटाहट याद कराते हुए बिहारी का आधा दोहा पढ़ते – **'ज्यों ज्यों सुरझि भज्यौ चहत, त्यों त्यों उरझत जात।'** उन्होंने वेद को सामान्य जन तक ले जाने का व्रत लिया, वह बड़ा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिख सकते थे पर जन सामान्य के लिए छोटी छोटी शताधिक पुस्तकें लिखकर उन्होंने संतोष कर लिया। अपने इस कार्य में उन्हें आशातीत सफलता मिली। उनकी इन लघुकाय पुस्तिकाओं ने वेदों के प्रति जन सामान्य को आकृष्ट किया। वेद की चर्चा घर घर पहुँची। ऋषि दयानन्द की यही आकांक्षा थी, उन्होंने ऋषि ऋण से उऋण होने के लिए जीवन भर व्रताभ्यास किया। परमेश्वर ने भी तो सब मनुष्यों के लिए इस कल्याणकारी वाणी को प्रकट किया है– **यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः**,। स्त्री–पुरुष, नर–नारी, बाल–वृद्ध सभी के लिए जीवनदायी है यह वाणी और जो इस वाणी की उपासना करता है, व्याख्या–उपदेश करता है, वह परमात्मा का कार्य करता है। वह द्विज थे। उन्हें श्रुतियों के व्रताभ्यास ने पवित्र कर दिया था। **'पावमानी द्विजानाम्'** कथन उनका मार्ग दर्शक था।

उनकी एक पुस्तिका 'वरदा वेदमाता' उनके उद्देश्य को स्पष्ट कर देती है। भर्तृहरि शतक उन्हें प्रिय था। मैंने उनके प्रवचनों में प्रायः भर्तृहरि के श्लोकों के उद्धरण सुने हैं। वह मंत्रों की रोचक एवं सरल व्याख्यायें करते थे।

उन्हें कुछ वर्ष पूर्व कहीं से यह ज्ञात हुआ कि मैं नित्य अग्निहोत्र करता हूँ। एक दिन वह अचानक घर पर पधारे। आकर उन्होंने मेरी पत्नी को हवन कुण्ड उपहार में दिया, मैं उनके इस स्नेह से अभिभूत था। बोले– आप विद्वान् ब्राह्मण हैं, मैं आपको क्या दूँ? पर आप यह श्रेष्ठकर्म अबाध सम्पादित करते रहें, इस आशा के साथ यह कुण्ड आप लोगों को सौंप रहा हूँ। उनके द्वारा सम्पादित दैनिक अग्निहोत्र तथा यज्ञ सुधा का उपयोग मेरी पत्नी डा0 शैलजा बड़ी श्रद्धा से करती हैं। उन्होंने संध्या–अग्निहोत्र के मंत्र तथा मंत्रार्थ इन्हीं पुस्तकों से सीखे हैं। मेरे वेद के गुरु काशी निवासी पण्डित दत्तात्रेय दीक्षित तथा ब्रह्मचारी भगवान चैतन्य थे। उन्होंने मुझे परम्परागत ढंग से वेद पढ़ाया था पर अर्थ सहित मंत्र का अनुशीलन मैंने आर्यसमाज के सम्पर्क से आकर ही किया। ऋषि दयानन्द, आचार्य प्रियव्रत, आचार्य अभयदेव, आचार्य रामनाथ वेदालंकार तथा रामप्रसाद वेदालंकार की पुस्तकों से वेद के बारे में बहुत कुछ नया सीखा। ऋषि दयानन्द और आचार्य सायण को पढ़ने के बाद ही वेदाध्ययन की दिशा मिल सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों का पूर्ण अनुशीलन भी गुरुकुल आकर ही कर सका। इस प्रकार गुरुकुल मेरी भी ज्ञानभूमि है।

आचार्य रामप्रसाद जी मन, बुद्धि और व्यवहार में समान थे। वह विद्वान् थे, चरित्रवान थे, शील और धैर्य के धनी थे पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी निश्छलता। उनमें आजकल के विद्वानों की तरह छद्म शिष्टता नहीं थीं। डा. महावीर से वह अक्सर मेरे बारे में पूछते रहते और जब कभी मैं उनसे मिलता तो उनका मुख मण्डल प्रफुल्लित हो उठता। मैं नहीं जानता कि उनके मेरे बीच कौन सा ऐसा सम्बन्ध था जो दैवी सूत्र से जुड़ा था। निष्काम, निःस्पृह तथा ईश्वरीय सम्बन्ध। हाँ कभी–कभी वह भावातिरेक में कह देते थे कि यदि आप हिन्दी में न होकर वेद–संस्कृत में होते तो बहुत बड़ा काम करते। मैं कह देता यदि आप जैसा कोई व्यक्ति कहीं छात्रावास में मिल जाता तो मैं वेदाध्ययन ही करता। ब्राह्मण होने के नाते वेद तो हमने निष्कारण पढ़ा है, यह हमारा धर्म है।

मेरी स्थिति इस समय बड़ी विचित्र है। लिखते हुए भी मर्मान्तक पीड़ा हो रही है, उनके कई संस्मरण हैं जो समयाभाव के कारण नहीं लिखे जा सके, कभी अवसर मिला तो

उस महनीय व्यक्तित्व के कर्तृत्व पर भी सविस्तार लिखूँगा। ज्ञान–विज्ञान और प्रज्ञान की भूमि को अपने कर्तृत्व से निरन्तर हरा–भरा बनाए रखने वाले ऐसे व्यक्ति विरल ही मिलते हैं। इन शब्दों के साथ उनकी स्मृति में अनेक भावभीनी श्रद्धांजलियाँ। उनका परिवार सुखी रहे, उनका चिरंजीव पुत्र उनके अधूरे कार्य को आगे बढ़ाए। आचार्य जी ने जीवन के अन्तिम क्षण तक वेद का कार्य किया। यह उन पर प्रभु की अपार कृपा थी। उनका प्राणान्त भी वेदाभ्यास से ही हुआ, ऐसे प्रभु भक्त वेदनिष्ठ महापुरुष को देखकर ही किसी मनस्वी ने कहा था–

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णं,
न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोत्तमानाम्।

– डॉ. विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0 हरिद्वार

मेरे प्रेरणास्रोत-आचार्य रामप्रसादजी वेदालंकार

परम सौभाग्य का वह क्षण था, जब प्रथम बार हरिद्वार में गंगा तट पर स्वामी श्रद्धानन्द जी की पुण्यस्थली गुरुकुल कांगड़ी में एक विलक्षण व्यक्तित्व के दर्शन किये थे। आँखों में छलकता हुआ सात्त्विक स्नेह, मुख–मण्डल पर अनोखा आध्यात्मिक तेज, वाणी में अमृत का प्रवाह। गुरुकुल झज्जर में वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करते समय देवताओं कें स्वरूप की जो कल्पना हृदय में अंकित हो गयी थी, उसका प्रत्यक्ष रूप अपनी आँखों के सामने देखकर मन का मयूर प्रसन्नता से नांचने लगा था। मुझे क्या पता था कि जिस अद्‌भुत व्यक्तित्व को मेरे प्यासे नयन स्नेह, श्रद्धापूर्वक निहार रहे हैं आगे चलकर इनका स्नेह, आशीर्वाद पाकर मैं धन्य हो जाऊँगा। मैं संस्कृत–साहित्य का एम0ए0 का छात्र था। सौभाग्य से मुझे श्रद्धेय डॉ0 रामनाथ जी वेदालंकार, डॉ0 निगम शर्मा जी एवं प्रो0 वेदप्रकाश ज़ी शास्त्री जैसे अपने विषय के परमनिष्णात गुरु प्राप्त हुए थे, इन गुरुओं का निश्छल स्नेह मेरे लिए सदैव सुलभ था और आज भी है, किन्तु जिस प्यार के सागर को स्मृति के झरोखे से याद कर रहा हूँ वे आचार्य रामप्रसाद जी मेरे क्या थे? मैं इस सम्बन्ध की शब्दों में व्याख्या नहीं कर सकता। लगभग 28 वर्ष तक उनका प्यार, आशीर्वाद अविच्छिन्न रूप से पांता रहा। मुझे एक क्षण भी ऐसा याद नहीं आता, जब वे मुझसे नाराज हुए हो। दुनियां के और तमाम स्नेहिल व्यक्तियों को नाराज होते हुए क्रोध करते हुए देखा है, किन्तु उनको कभी क्रोधी मुद्रा में नहीं देखा। मैं एक विद्यार्थी था, वें वेद–विभाग के प्राध्यापक थे। उस समय भी उनका यश सब ओर फैल रहा था, किन्तु कितनी सहजता, सरलता और निश्छलता थी उनके मधुर व्यवहार में। अहंकार और क्रोध उनको कभी स्पर्श नहीं कर पाता था। बहुत से ऐसे प्रेरक प्रसंग हैं जो आज भी रोमाञ्चित कर देते हैं। कुछ घटनाएं प्रस्तुत कर रहा हूँ –

आचार्य जी के जीवन में कभी–किसी ने आलस्य और प्रमाद नहीं देखा। वेद के प्रचार–प्रसार का कार्य सत्तर और अस्सी के दशक में भी उसी प्रकार करते थे जैसे जीवन के अन्तिम क्षणों में करते रहे।

एक दिन की बात है। आचार्य जी अपना बैग उठाये हुए बड़ी तेजी से रेलवे स्टेशन से वानप्रस्थाश्रम की कुटिया में.आते हैं, विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए जाने का समय हो

चुका था, इसलिए सीढ़िया चढ़ते हुए मुझसे कहते हैं – महावीर! जाओ लक्सर का एक टिकट ले आओ। मैंने कुछ नाराज होते हुए कहा– आप अभी तो आये हैं, फिर चलने की तैय्यारी, थोड़ा आराम भी कर लिया कीजिए। मेरी बात सुनकर मुस्कराते हुए कहते हैं– बहस मत करो, ज्वालापुर स्टेशन पर जाकर एक टिकट ले आओ। मैं निरुत्तर हो गया और लक्सर का टिकट लाकर उनके हाथ में दे दिया, लेकिन मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब मैंने देखा कि आचार्य जी ने उस टिकट को फाड़कर फैंक दिया। मैंने टिकट फाड़ने का रहस्य पूछा और आचार्यश्री का उत्तर सुना तो विस्मित हो गया– आचार्यजी कह रहे थे, मैं लक्सर स्टेशन पर उतरकर ज्वालापुर का टिकट नहीं ले पाया था, क्योंकि ट्रेन छूट रही थी और मुझे चिन्ता हो रही थी कि कहीं विश्वविद्यालय पहुंचने में विलम्ब न हो जाये, मैं चलती हुई ट्रेन में चढ़ गया, यह सरकारी चोरी थी इसलिए यह टिकट लेकर मैंने फाड़ दिया है।

धन्य है आचार्यजी आपकी यह शुचिता। इस पवित्रता को आपने कभी नहीं छोड़ा। उपकुलपति के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ की चयन–समिति में विषय विशेषज्ञ के रूप में गये। लेखा–विभाग का लिपिक उस समय इनकी मुखाकृति को देखता रह गया जब देयक में केवल साधारण बस का किराया और एक ओर का रिक्शा भाड़ा केवल 5 रुपये भरा हुआ देखा। वह आग्रहपूर्वक अनुनय–विनय करता रहा। प्रो0 साहब आप ये क्या कर रहे हैं? आचार्यजी कहते हैं– ईश्वर की साक्षी में बिल्कुल ठीक कर रहा हूँ, मैं घर से पैदल–पैदल सिहंद्वार पहुँचा, वहाँ से मुझे चण्डीगढ़ की बस मिल गई, बस–स्टैण्ड से पाँच रुपये में रिक्शा करके यहाँ आ गया, यहाँ से आप मुझे वापिस बस–स्टैण्ड छोड़ ही देंगे, फिर बस से हरिद्वार पहुँच जाऊँगा।

उस लिपिक ने अपने सेवाकाल में यह पहला दृश्य देखा था जब चयन–समिति का कोई सदस्य वह भी उपकुलपति टी0ए0 बिल का दो सौ बावन रुपये का चैक प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर रहा था।

आचार्यजी को सारा संसार प्रभुमय दीखता था। घर में, विश्वविद्यालय में यात्रा में सर्वत्र परमपिता परमात्मा की सत्ता प्रतिक्षण उन्हें महसूस होती रहती थी।

आचार्य जी के जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो स्मरण कराते हैं पं0 दीनदयाल उपाध्याय, श्री लालबहादुर शास्त्री और आचार्य चमूपति सदृश महापुरुषों के पवित्र जीवन को।

मैं एम0ए0 करके शोध–कार्य की योजना बना रहा था। इसी बीच मेरे एक मित्र ने मेरी ओर से उपाधि महाविद्यालय पीलीभीत में संस्कृत प्रवक्ता पद हेतु मुझे न बताते हुए स्वयं आवेदन–पत्र भेज दिया। वहाँ से साक्षात्कार पत्र आया, मैंने जाकर वह पत्र आचार्य जी को दिखाया। वे कहने लगे– तुम्हें साक्षात्कार में अवश्य जाना है। मैंने कहा– मेरा वहाँ कोई परिचित नहीं है, बिना सिफारिश के क्या कोई मेरी नियुक्ति कर लेगा? मैं नहीं जाऊँगा। मेरे स्पष्ट मना करने पर आचार्यजी के मुख से निकले हुए, प्यार भरे उन शब्दों को स्मरण कर सत्ताईस वर्ष बाद भी रोमाञ्चित हो रहा हूँ– महावीर तुम्हें जरूर जाना है। यदि तुम्हारी नियुक्ति नहीं हुई तो आने–जाने का सारा मार्ग व्यय मेरा और नियुक्ति हुई तो तुम्हारा। ढेर सारा आशीर्वाद देकर उस देवता ने मुझे स्नेहपूर्वक पीलीभीत भेजा उनके आशीर्वाद और ईश्वर की कृपा से हंसते–हंसते 21 वर्ष से भी थोड़ी आयु में विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्ति हो गयी। मैंने अपने जीवन के हर मोड़ पर पूज्य आचार्य जी को अपार स्नेह की वर्षा करते हुए पाया है।

पुष्पसम कोमल वज्रसम कठोर–

समय का चक्र बड़ी तीव्र गति से चलता है। आचार्य जी बिना किसी छल प्रपंच के सफलता की सीढ़िया चढ़ते चले गये। प्राध्यापक से रीडर फिर प्रोफेसर, आचार्य, उपकुलपति आदि सम्मानजनक पदों को विभूषित करते हुए आगे ही आगे बढ़ते रहे। ढेर–सारी उपाधियां प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया, किन्तु प्रभु–कृपा से बड़ी–बड़ी सभाओं में, शोध–संगोष्ठियों में, आर्यसमाज के विशाल सम्मेलनों में हृदय–गुहा से प्रवाहित होने वाली उनकी वैदिक–ज्ञान गंगा में सहस्रों श्रोताओं को स्नान करते हुए और भक्ति के आँसू बहाते हुए मैंने अनेकों बार स्वयं देखा है। मैं उन ऐतिहासिक क्षणों का साक्षी हूँ जब हमारे गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0 में आयोजित विज्ञान की बड़ी–बड़ी शोध संगोष्ठियों में आचार्यजी बोलते तो विभिन्न वि0वि0 के वरिष्ठ प्रोफेसर कहते कि इस जीवन में आज पहली बार ऐसा व्याख्यान सुना है, जिसे मृत्युपर्यन्त कभी नहीं भूलेंगे। आचार्यजी की वाणी बोलती थी, नेत्र बोलते थे, प्रभु–भक्ति की आभा से मण्डित मुख–मण्डल बोलता था और बोलता था जीवन।

आचार्य एवं उपकुलपति के पद पर रहते हुए उन्हें कई बार विषम परिस्थितियों में कुलपति पद का कार्यभार वहन करना पड़ा। स्वभाव से कोमल, किसी भी व्यक्ति के साधारण कष्ट को देखकर द्रवित हो जाने वाले आचार्यजी को गुरुकुल की प्रतिष्ठा एवं सिद्धान्तों के परिपालन में चट्टान की तरह सुदृढ़ रूप में हमने अनेक अवसरों पर देखा है। साधु स्वभाव के

कारण उनकी दृष्टि में न कोई बड़ा था न कोई छोटा, सबके प्रति समदृष्टि, सबका हित–चिन्तन जहाँ गये सबका मन मोह लिया।

जैसे गुरुकुलीय परम्परा एवं आर्य धर्म रक्षा की पवित्र भावना से पूज्य आचार्य प्रियव्रत जी ने अपने प्रिय शिष्य रामप्रसादजी को, दर्शन वाचस्पति पं0 सुखदेवजी ने डॉ0 जयदेवजी को और वेदमूर्ति डॉ0 रामनाथ जी ने प्रो0 वेदप्रकाश जी को दूर–दृष्टि से अपने–अपने विभागों में स्नेहपूर्वक प्रतिष्ठित किया था उसी स्नेहिल भाव से आचार्यजी मुझे पीलीभीत से गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0 में ले आये थे।

परमात्मा और उसकी अनुपम कृति वेद पर आचार्यजी की अगाध श्रद्धा थी, इसीलिए अपनी प्यारी बेटी का नाम श्रद्धा रखा। दिन रात सोते–जागते, खाते–पीते, उठते–बैठते उनके मन मन्दिर में वेद का चिन्तन चलता रहता था और लेखनी उस पवित्र चिन्तनधारा को कागज पर अंकित करती रहती थी। यही कारण है कि वेद–विषयक 65 से अधिक पुस्तकें लिखकर लाखों दिलों में वेद की ज्योति जलाई। मैंने विद्वानों की लिखी हुई मोटी–मोटी पुस्तकें देखी हैं, उनमें वैदुष्य होता है किन्तु वे पुस्तकें प्रायः पुस्तकालयों में आलमारियों की शोभा बढ़ाती हैं, उन्हें कभी कोई शोधार्थी पढ़ लेता है, किन्तु आचार्य जी की छोटी–छोटी पुस्तकों को लाखों श्रद्धालुओं ने पढ़ा और बहुतों का जीवन बदल गया। वेद के कठिन से कठिन शब्दों को सरल से सरलतम बना देना और उसे श्रोताओं और पाठकों के हृदय में उतार देना उनकी वक्तृकला और लेखनकला की अद्‌भुत विशेषताएं थी। वेद बहुत कठिन हैं, विद्वान् ही वेद पढ़ सकता है, इस धारणा को आचार्यजी ने असत्य सिद्ध कर दिया। भारत के विभिन्न नगरों, महानगरों में उन्हें सुनने के लिए लाखों प्रभु भक्त तरसते थे। वे वैदिक विचारों को सबके दिलों में उतार देना चाहते थे। विश्राम करना तो कभी जाना ही नहीं। बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर कभी घबराये नहीं, विचलित हुए नहीं। संकट की घड़ियों में आपका प्रभु–विश्वास और निखर कर चमकता था।

एक कहावत प्रसिद्ध है। पिता पुत्र से और सद्‌गुरु अपने शिष्य से पराजय चाहता है। इस कहावत के साकार रूप थे पूज्य आचार्यजी। सोचता हूँ– आज की दुनियां में कोई–ऐसा व्यक्तित्व मिलेगा। भुलाये नहीं भूलता वह क्षण– हनुमान रोड, आर्यसमाज देहली में मेरा, प्रो0 एस0सी0 धमीजा का तथा आचार्य जी के अध्ययन काल के सखा डॉ0 सत्यव्रतजी राजेश का रीडर पद का साक्षात्कार था। आचार्य जी कुलपति पद का कार्यभार वहन कर रहे थे। साक्षात्कार से पहले दिन आचार्यजी की पूज्या बहिन जी का विकासनगर (देहरादून) में

स्वर्गवास हो गया। वे अपनी बहिनों को माँ से भी अधिक सम्मान देते थे। क्या करें, एक ओर बहिन की मृत्यु का समाचार दूसरी ओर अपने सखा और शिष्य का साक्षात्कार। हृदय को कठोर किया और देहली पहुँच गये, अनेक दुर्गम बाधाओं को पारकर तीनों को रीडर बना दिया। प्रातःकाल से अन्न का एक कण ग्रहण नहीं किया था। सायं चार बजे हनुमान रोड़ आर्यसमाज से चले, मुझे और डॉ0 राजेशजी को अपने पास बैठा लिया। थैले में से निकालकर भोजन पात्र खोला, तीन परांठे थे एक–एक हम दोनों को दिया एक स्वयं खाया और इन्टरव्यू के निर्विघ्न संपन्न हो जाने पर प्रभु का धन्यवाद करने लगे। मुजफ्फरनगर से अब उन्हें अपनी बहिन को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने विकासनगर जाना था, हम उतरने लगे, बलपूर्वक हम दोनों की जेब में 50–50 रुपये रखते हुए बड़े प्यार से कहते हैं– बच्चों के लिए मिठाई अवश्य ले जाना। कितना प्यार भरा हृदय था।

आचार्य जी की अपने गुरुओं के प्रति अगाध श्रद्धा थी। पं0 विद्याधर जी, स्वामी आत्मानन्दजी, आचार्य प्रियव्रतजी एवं डॉ0 रामनाथजी वेदालंकार सदृश गुरुओं को प्राप्त कर वे स्वयं को धन्य समझते थे।

विधि का खेल कितना विचित्र है। अन्तिम समय में मुझे अपने स्थान पर ब्यावर (राजस्थान) भेजकर स्वयं चण्डीगढ़ चले गये और स्नेह का बन्धन एक क्षण में इस तरह तोड़ डाला, मानों कभी किसी से कोई ममता रही नहीं। ज़िस प्रसन्न मुख–मण्डल को देखकर प्रतिदिन आनन्दित हुआ करता था, वह मुख–चन्द्रमा अन्तिम क्षणों में दिखाई न दिया।

आज पूज्य आचार्य जी भौतिक रूप से इस संसार में नहीं हैं किन्तु उनका स्नेह, आशीर्वाद, निश्छल जीवन सदा याद आता रहेगा और प्रेरणा देता रहेगा। उनकी पावन स्मृति को मेरा कोटि–कोटि प्रणांम।

–डॉ0 महावीर
प्रोफेसर एवं निदेशक–
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0 हरिद्वार।

"अखिलम् - मधुरम्"

किसी मनुष्य का जीवन सर्वदा एक रस रहे, यह बड़ा कठिन है। सदा एक रस रह पाना इसलिये भी कठिन है कि मनुष्य – जीवन में उतार–चढ़ाव आते ही रहते हैं। इन उतार–चढ़ावों के माध्यम से समय और परिस्थितिवश कभी नम्रता आती है तो कभी झुञ्झलाहट भी आती है। न चाहते हुए भी यह सब वार्तालाप और व्यवहार में प्रकट भी हो ही जाते है। औरों की क्या कहें? मैं तो संन्यासी हूँ, मुझे झुञ्झलाहट नहीं आनी चाहिये, परन्तु आती है। चाहता हूँ कि ऐसा न हो किन्तु ऐसा लगता है, जैसे कोई बरबस ऐसा मुझसे करा रहा है। यद्यपि यह मेरे अपने व्यक्तिगत हिताहित की दृष्टि से नहीं होता, होता है मात्र सैद्धान्तिक दृष्टि से– परन्तु होता तो है और मैं यह मानता हूँ कि यह मेरी निर्बलता है, मेरा दूषण है और यह चाहता हूँ कि इससे बचा रहूँ, ऐसा न हो, ऐसा न करूँ, किन्तु सफलता नहीं मिल पाती। जब कोई सिद्धान्त विरुद्ध, भ्रान्त, मिथ्या तथा कुतर्कपूर्ण वार्तालाप होता है तो मुझसे सहन नहीं होता। सहन होना चाहिये भी नहीं, किन्तु समाधान तथा उत्तर सरल भाषा में भी दिये जा सकते हैं, मधुर में न सही किन्तु मैं तड़प उठता हूँ और टीसपूर्वक तड़प कर उत्तर देता हूँ। परन्तु एक व्यक्ति मुझे अपने जीवन में ऐसा मिला कि जिसमें कटुता कम से कम मैंने तो कभी भी नहीं पायी।

वह समाधान या उत्तर न दें ऐसी तो बात नहीं थी। समाधान भी करते थे, उत्तर भी देते थे किन्तु अतीव मधुर भाषा में। वार्तालाप में मधुर, भाषण–प्रवचन में मधुर और लेखन में मधुर।

एक समय था, जब मैं आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार) में रहता था। लगभग तीन वर्ष 59 से 62 तक मैं वहाँ रहा। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने वाले कुछ ब्रह्मचारी भी वानप्रस्थाश्रम में रहते थे। उनमें एक थे रामप्रसाद जी। रामप्रसाद जी यज्ञ कराने में विशेष रुचि लेते थे, उनकी वाणी भी 'वाग्वै यज्ञं' के अनुसार यज्ञ बन चुकी थी, यज्ञमय बन चुकी थी अथवा जन्मजात ही वाक्–वै–वाग्वै यज्ञः थी। जो भी हो, उनका यज्ञ कराना, पौरोहित्य कार्य सफल था, वह सफल पुरोहित थे।

आर्य वानप्रस्थाश्रम का निवास छोड़कर मैं कुछ दिन छोटा खेड़ा आश्रम में दिल्ली

रहा, फिर लगभग दो वर्ष आर्य समाज मन्दिर शेरकोट जनपद बिजनौर (उ0प्र0) में निवास किया। सन् 1964 से मेरा निवास गंगा तट पर बालावाली जनपद बिजनौर में रहा। वहाँ कार्तिक पूर्णिमा पर यजुर्वेद पारायण यज्ञ चार दिन होता था और साथ ही रात्रि को वेद–प्रवचन कार्यक्रम रहता था। रामप्रसाद जी से मैं प्रभावित था ही, वहाँ उन्हें ही यज्ञार्थ बुलाने लगा, साथ में ब्रह्मचारी जयदेव जी को भी।

दोनों ब्रह्मचारी यज्ञ कराते तथा ब्रह्मचारी रामप्रसाद जी द्वारा रात्रि को तीस मिनट प्रवचन भी होता। जो मधुरता यज्ञ कार्य में बिखेरते थे, वही प्रवचन में भी बिखरती थी। श्रोता मन्त्र–मुग्ध होते ही थे, स्वयं मैं भी झूम जाता था। चार वर्ष यही क्रम चलता रहा।

कुछ काल पश्चात् ब्रह्मचारी रामप्रसाद जी आचार्य रामप्रसाद जी हो गये। अपने शिक्षण स्थल गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में ही प्राध्यापक हो गये। पता चलता रहा कि आपका अपने विद्यार्थियों के प्रति भी वही मधुमय व्यवहार है। अन्ततोगत्वा वह अवसर भी आया, जब आपने लेखन–कार्य प्रारम्भ किया तो आपके लेखों, आप की मौलिक रचनाओं, आपकी पुस्तकों में लिखी जाने वाली भाषा में भी वही माधुर्य रस होता था।

वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में तो मेरा जाना प्रायः प्रतिवर्ष ही होता रहता है। कभी–कभी किसी वर्ष में तो अनेक बार जाना हो जाता था। आप बारम्बार यह माँग करते थे कि वानप्रस्थाश्रम के भण्डार में भोजन न करके मेरे आवास पर किया करें। आप निस्संकोच पहुँचिये, मैं होऊँ या नहीं, वहाँ तो आपकी पुत्री हैं, आप यथा समय पहुँचकर भोजन किया कीजिये। 'भोजन कर सकते हैं', शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया। 'भोजन किया कीजिये' ही उनकी वाणी से उच्चारण होता था। उनके आग्रह पर इनके गृह पर भोजन करना प्रारम्भ कर ही दिया। इतने मधुर भाषी देव पुरुष के आग्रह की कब तक उपेक्षा की जा सकती थी। भोजन सुस्वादु, उत्तम तो होता ही था किन्तु उनका 'आगतम्–स्वागतम्' के अनुसार मधुमय आतिथ्य जो था, वह उनके भोजन के स्वाद में भी चार चाँद लगा देता था, फिर तिस पर सोने में सुगन्ध उनकी धर्मपत्नी का मधुमय व्यवहार। इस समय श्री आचार्य रामप्रसाद जी हमारे मध्य में नहीं हैं। परन्तु वह अपना माधुर्य अपनी धरोहर स्वरूप हमारे पास छोड़ गये हैं जो हमारे द्वारा भुलाया जाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि मेरे पास उनके लिये 'अखिलम्–मधुरम्' से अधिक उपयुक्त शब्द नहीं है। यही मेरी उनके प्रति विनम्र श्रद्धाञ्जलि है।

– श्री वेदमुनि परिजातक
अध्यक्ष – वैदिक संस्थान, नजीबाबाद

सौम्य एवं साधुमना : प्रो. रामप्रसादजी का पुण्य स्मरण

मैंने वेदों के विद्वान् तथा लोकप्रिय प्रवचन–कर्त्ता प्रो. रामप्रसाद जी का नाम तो तब सुना था जब मैं अजमेर में परोपकारिणी सभा का संयुक्त मंत्री था तथा वहाँ के राजकीय महाविद्यालय में अध्यापन करता था। अजमेर निवासिनी साधु प्रकृति की देवी श्रीमती नरेन्द्र बब्बर प्रायः उनकी चर्चा करती तथा ऋषि मेले में उन्हें आमंत्रित करने का आग्रह भी करती। तदनुसार वे प्रवचनार्थ अजमेर आये तो उनसे विस्तृत चर्चा हुई। तदन्तर मेरे 1980 में पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ के अध्यक्ष पद पर आ जाने के बाद तो उनसे भेंट करने के अनेक अवसर मिले और मैंने उन्हें सरल मन, और साधु प्रकृति का व्यक्ति पाया। वेद और ऋषि दयानन्द के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा ने उन्हें एक लोकप्रिय धर्मोपदेशक तथा वैदिक प्रवक्ता बनाया। फलतः वे स्वदेश में ही नहीं विदेश में भी वेदों की मानवीय शिक्षाओं के प्रचारार्थ गये और लाखों व्यक्तियों को अपने सदुपदेशों से कृतार्थ किया।

प्रो. रामप्रसाद जी का जीवन इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार एक साधारण व्यक्ति अपनी लगन, परिश्रम, अध्यवसाय और दृढ़ निश्चय से अपने जीवन का एक उच्च लक्ष्य स्थिर करता है और स्वजीवन में उसे प्राप्त भी कर लेता है। 7 जनवरी 1936 को उत्तर पश्चिम, सीमान्त प्रान्त के जिला मर्दान के एक ग्राम थाना में श्री गंगाकिशन के घर में जन्म लेने वाले रामप्रसाद जब देश विभाजन के पश्चात् भारत आये तो उनकी आयु मात्र ग्यारह वर्ष की थी। पहले वे मुरादाबाद के चन्दौसी नगर में कपड़े के व्यापार में लगे किन्तु अध्ययन की लगन उन्हें स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा स्थापित 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय यमुनानगर' में ले आई। यहाँ उन्होंने आर्य शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे गुरुकुल कांगड़ी के छात्र बने। यहाँ से उन्होंने 1966 में वेदालंकार की उपाधि ग्रहण की और साथ ही एम.ए. (वैदिक साहित्य) भी किया। ध्यातव्य है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वेद विषय लेकर एम.ए. का पाठ्यक्रम नया–नया चालू ही हुआ था और पं. रामप्रसाद सम्भवतः उसके प्रारम्भिक सत्र के विद्यार्थी ही थे।

एम.ए. करने के पश्चात् वे कांगड़ी के वेद विभाग में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति पा गये। कालान्तर में रीडर, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, उपकुलपति तथा कार्यवाहक कुलपति के

दायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे। रामप्रसाद जी का वेदों और वेदांगों (विशेषतः निरुक्त) का गहन अध्ययन था, जिसकी साक्षी उनसे पठित छात्र बराबर देते थे। उन्होंने वेद की सार्वभौम शिक्षाओं कों जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए पचासों लघु ग्रन्थों की रचना की। धनी मानी दानी सज्जनों के सहयोग से उनके ये लघु ग्रन्थ निरन्तर छपते रहे और स्वाध्यायशील जनों ने उन्हें हाथों हाथ अपनाया। ऐसे ग्रन्थों में वेद व्याख्या परक ग्रन्थों की संख्या सर्वाधिक है। इसके पश्चात् ईशोपनिषद् व्याख्यान्, नचिकेता के तीन वर (कठोपनिषद् पर आधारित), याज्ञवल्क्यमैत्रयी संवाद (बृहदारण्यकोपनिषद् पर आधारित), विदुरजी की दृष्टि में बुद्धिमान कौन? तथा महान विदुर के महान उपदेश (विदुर नीति पर आधारित) आदि ग्रन्थों ने भी लोकप्रियता पाई।

मेरा भी गुरुकुल कांगड़ी में अनेक बार जाना होता तो प्रो. रामप्रसाद जी के मिलने का सुखद प्रसंग उत्पन्न हो जाता। किसी शोध–समिति की बैठक हो अथवा पी.एच.डी. की मौखिक परीक्षा लेनी हो अथवा किसी गोष्ठी आदि के आयोजन में रामप्रसाद जी से मुलाकातें होतीं तो नई प्रेरणा मिलती। ब्रिटिश गाइना के भारत मूल के एक मेघावी छात्र सतीश ने मेरे परामर्श से ऋषि दयानन्द की बृहत–त्रयी (सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पर पी.एच.डी. के लिए शोध का विषय चुना। एक तकनीकी बाधा के कारण वह मेरे विभाग में पंजीकृत नहीं हो सका तो मैंने उसे प्रो. रामप्रसाद को अपना शोध निर्देशक बनाकर शोध करने का परामर्श दिया। फलतः सतीश ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक ऋषि दयानन्द के तीन प्रमुख ग्रन्थों की विवेचना करते हुए यह शोध प्रबंध अंग्रेजी में लिखा। मैं और स्व. डा. सुधीर कुमार गुप्त (राजस्थान विश्वविद्यालय के विगत संस्कृत विभागाध्यक्ष) इस शोध–प्रबन्ध के परीक्षक थे। यदि यह ग्रन्थ छप जाये तो अंग्रेजी पठित समाज को स्वामी दयानन्द के महान् वैदुष्य की जानकारी मिलना सुगम हो सकता है। ऐसे उदार तथा साधुमना रामप्रसाद जी थोड़ी आयु में ही दिवंगत हो गये, यह हम सबके लिए अत्यन्त शोक का विषय है। उनकी पूत आत्मा को शतशः नमन्।

– डॉ. भवानीलाल भारतीय
सेवानिवृत्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दयानन्द शोध पीठ पंजाब विश्वविद्यालय
8/423, नन्दन वन, जोधपुर

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार का सम्पर्क मुझसे इस शताब्दी की छटी दशाब्दी से है। 1954 में मैं वैदिक साधन आश्रम यमुनानगर के दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय में स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती के आचार्यत्व में पं0 विद्याधर जी स्नातक तथा पं0 जगदीश चन्द्र जी दर्शनाचार्य से अध्ययन कर रहा था। ये ददूह (रेणका–हिमाचल) अपनी बहन के पास गए हुए थे। वहीं से उन्हें लेकर पिशोरी लाल जी यमुना नगर आए थे। सादे और पतले से युवक थे तथा काशिका साथ लाए थे। उनका प्रवेश हमारी ही कक्षा में हुआ था। मेरे अधिक निकट होने से वे मुझसे बातें बताते रहते थे। चन्दोसी में वे कपड़े की दुकान पर बैठा करते थे। उसका एक हास्यास्पद संस्मरण उन्होंने सुनाया। वे पाकिस्तान बनने पर वहाँ से आए थे तथा चन्दोसी में जमने का प्रयास कर रहे थे। वहाँ के दुकानदारों को कई बार डोकरी कहते देख कर उन्होंने समझा कि यह भी कोई नारी के लिए सम्मानजनक शब्द होगा। एक दिन एक युवती उनसे वस्त्र खरीदने आई तो उन्होंने उसे भी आइये डोकरी कहा। वह चिढ़कर कहने लगी कि– आपको मैं डोकरी दीखती हूँ। ये कहने लगे कि दुकानदारों को मैंने स्त्रियों को डोकरी कहते देखा तो कह दिया। मुझे तो इसके अर्थ का भी पता नहीं है। आप बतायें इसका अर्थ क्या है? उसने कहा कि डोकरी बुढ़िया को कहते हैं। तब इन्होंने माफी मांग कर युवती को शान्त किया।

ये दुकान पर भी कोई न कोई पुस्तक रखते थे। एक विद्वान् से संस्कृत पढ़ने का भी प्रयास करते थे। कुछ वैराग्य भी था। कभी–कभी अपनी माता को– यह काल है सबसे बली– कविता सुनाया करते थे तो वे रोने लगती थीं तथा बीच में ही रोक कर, इसे मत गा कहती थी।

आश्रम में आने पर इनका हमारी ही कक्षा में प्रवेश हुआ तो हमने देखा कि उनमें विद्वान् बनने की ललक थी। अष्टाध्यायी को वे काशिका के माध्यम से पढ़ना चाहते थे। पढने में इतना ध्यान देते थे कि शरीर की परवाह भी कम करते थे। 1959 में हम स्नातक बने वे वहीं अध्यापन कार्य करने लगे तथा मैं दयानन्द महाविद्यालय, हिसार में विद्यावाचस्पति के लिए

चला गया। वहाँ परीक्षा उत्तीर्ण कर जब मैं लौटा तो सबसे पहले मिलने उन्हीं के पास यमुना नगर गया। मुझे याद है, रात्रि में भोजन के बाद साथ–साथ खाट बिछाकर हम बातें करने लगे तो बातों ही बातों में सारी रात बीत गई। प्रातः ब्रह्मचारी सेवाराम जी उठे तो हम बाते ही कर रहे थे।

फिर हम पृथक् हो गए वर्षों के लिए। मैंने शास्त्री, प्रभाकर वेदशिरोमणि तथा एम.ए. की। मैं फिर एक बार इनसे मिलने आया। उस समय डा. जयदेव जी तथा ये आर्यवानप्रस्थ में गोशाला की ओर ऊपर रहते थे। ये तथा डा. जयदेव जी भी मेरे से मिलने मेरठ गए। मैं तो गुरुकुल घटकेश्वर में आचार्य बनकर आंध्र चला गया और इन्होंने भी एम.ए. कर ली।

मान्य आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति तथा सुखदेव जी दर्शनवाचस्पति के सेवा निवृत्त होने का समय आया तो उन्होंने अपने सब आर्यसमाजी छात्रों को वहाँ रखने का मन बनाया उनका चिन्तन था कि गुरुकुल तभी गुरुकुल रह सकता है जब इसमें काम करने वाले आर्यसमाजी हों। आज की सोच में तथा तब की सोच में महान् अन्तर है। पहले के लोग गुरुकुल के विषय में सोचते थे तथा आजकल अपनी कुर्सी सुरक्षित रखने में ही अधिकारियों का चिन्तन और प्रयत्न चलता है। वेद विभाग के लिए आचार्य जी आदि ने किसी आर्यसमाजी को लाने के लिए कहा तो आचार्य रामप्रसाद जी तथा डा. जयदेव जी को हमारी याद आई तथा रामप्रसाद जी का तार गया कि पहली गाड़ी से आ जाओ। वहाँ मैं स्वयं आचार्य था 20 अध्यापक तथा 500 छात्र थे। कौन आए उस साम्राज्य को छोड़कर। किन्तु रामप्रसाद जी को मैं कुछ अस्वस्थ छोड़कर गया था। मैंने तार रख लिया और सोचने लगा कि क्यों तार भेजा है उन्होंने? जब यहाँ के प्राध्यापन की बात आए तो निषेधात्मक निर्णय लेना पड़े। मुख्यमन्त्री का पद छोड़कर केन्द्र में मन्त्री कौन बने? परन्तु जब उनकी अस्वस्थता को ध्यान में लाया जाए तो अभी चलो की ध्वनि प्रबल रहे। अन्ततः मैं उन्हें देखने आया और उनके आग्रह को न टालकर विश्व के सबसे समृद्ध, लगभग 3750 बीघे भूमि वाले उस गुरुकुल को तथा यहाँ से अधिक वेतन को छोड़कर रामप्रसाद तथा जयदेव से हारकर यहीं रहकर अध्यापन स्वीकार कर लिया।

यहाँ हम लगभग 24 वर्ष साथ रहे। जीवन में अनेक अनुकूल–प्रतिकूल अवसर आए परन्तु समय की गाड़ी अपनी गति से चलती रही। बाहर प्रकट न होती हुई भी अन्दर कहीं पड़ी प्रेम की गांठ ने मनों को मिलाए रखा। उन्होंने गुरुओं से जो सीखा था उसे अपने मनन

चिन्तन और अध्ययन का सहारा देकर कागज़ों पर उकेरा तथा वैदिक साहित्य की अभिवृद्धि में अपना वृहद् योगदान दिया। अनेक संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों पर वे जीवित तथा जीवन के बाद भी सम्मानित हुए तथा विश्वविद्यालय के उच्च आयामों को छुआ।

काल चक्र प्रबल है। वह क्या करता है इसे काल का नियन्ता ही जानता है। ज्वालापुर में उन्हें हृदयाघात हुआ। मैं मिलने गया तो बताया कि उन्हें यह गैस का प्रभाव था। हँसते रहे बताते रहे। महर्षि के कार्यों की पूर्ति का व्रत लिए वे पानीपत तथा चण्डीगढ़ गये। लोग श्रद्धा का नाटक तो करते हैं किन्तु श्रद्धा को वास्तविकता नहीं देते। न पानीपत वालों ने उनके लेने के लिए कार भेजी और न चण्डीगढ़ वालों ने। हृदय पर धक्के खाते चण्ड़ीगढ़ गए और वहीं अन्तिम सांस ली।

वे आज़ हमारे मध्य में नहीं हैं। शरीर की दृष्टि से वे जा चुके हैं किन्तु उनके कार्य, उनका व्यवहार, उनका साहित्य और श्रद्धा–अनुव्रत सी योग्य सन्ताने तथा सरोज जैसी सुपत्नी के रूप में आज भी वे हम सबके बीच हैं। कीर्तिर्यस्य सःजीवति – जिसका यश है वह जीवित है, अमर है। नाशवान् शरीर के बाद भी व्यक्ति यशः शरीर से जीवित रहता है। वे भी इस दृष्टि से जीवित हैं।

– डॉ. सत्यव्रत राजेश,
दयानन्द नगरी,
ज्वालापुर, हरिद्वार।

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार : क्या कोई उन्हें भूल पायेगा?

पूज्य आचार्य रामप्रसाद जी, ऐसे सशक्त जीवन्त व्यक्तित्व के मालिक थे, जो जीवन में शायद ही किसी को कभी मिलते हो। यदि किसी से उनका साक्षात्कार भले ही कुछ पलों के लिये हुआ हो, उन्हें वह विस्मृति के गोद में नहीं समा सकेगा। वे एक व्यक्ति नहीं बल्कि ऐसी औषधि थे जो उनके पास छटपटाता जाता था, वह धीरज एवं शांतमय होकर निकलता था। यदि कोई आवेगशील क्रोध में दनदनाता व्यक्ति उनके पास पहुँचता, उनके दो शब्द उसके क्रोध को पल में भगाने हेतु पर्याप्त होते थे।

गुरुकुल उनकी कार्यस्थली रहा, लेकिन उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की छटा पूरे भारत वर्ष में फैली। गुरुकुल में आचार्य जी को सभी समस्याओं का निवारक पुरुष माना जाता रहा है। चाहे कितनी ही जटिल एवं पेचीदा समस्या हो, भले ही प्रशासनिक हो या कर्मचारियों के परस्पर व्यवहार की हो सभी आचार्य जी को समाधान पुरुष के रूप में देखते थे। ऐसे मानव जो अपना नहीं, सबका है। ऐसे देवता पुरुष जो दूसरों की खुशी में अपनी खुशी एवं मुस्कान बिखेरते थे। मैंने खोज–खोजकर गुरुकुल में यह पूछने की कोशिश की, क्या कोई गुरुकुलवासी ऐसा भी है, जिसने उन्हें क्रोध से लाल–पीले होते देखा हो? उनके भाव भंगिमाओं में कभी तनातनी देखी हो? लेकिन मुझे कोई ऐसा प्राणी नहीं मिला जो इस विलक्षण व्यक्ति में ऐसी भंगिमा देख सके। बाहर से इतने कोमल और अन्दर से न्याय, अन्याय की बात आने पर लौह पुरुष की तरह अविचल चट्टान की तरह खड़े होने वाले इन महानायक को आज मैं किन शब्दों में याद करूँ।

उनकी स्मृति प्रत्येक कुलवासी के लिये एक संचित निधि है, जिसकी पूर्ति की ही नहीं जा सकती। किताबों में पढ़ने वाले आदर्श व्यक्ति को धरा के आंचल में पनपते इस मनुष्य को ही जिसने देखा, उसने आदर्श मान लिया। क्योंकि सामान्यतः इस प्रकार के सरल व्यक्ति लोक में मिलते ही कहाँ हैं।

वे सही मायने में दूसरों के दुःखों को अपनी चादर में लपेट लेते थे। दूसरों के हित के

लिये अपने व्यस्ततम समय का सारा पूर्व निर्धारित कार्यक्रम रद्द कर देते थे, मैंने अनेक बार यह देखा कि आचार्य जी के बाहर जाने के कार्यक्रम नियत रहते थे, लेकिन कभी किसी को उनकी आवश्यकता महसूस हुई तो उसके लिये वे सबसे पहले तैयार होते थे, भले ही इसके लिये उन्हें कोई भी मूल्य चुकाना पड़े।

उनके जीवन को जिसने पास से देखा, वह याद करता रह जायेगा कि पल–पल का सदुपयोग करने वाला ऐसा मानव आज कहाँ? चाहे वे यात्रा में हो या चाहे वे गुरुकुल में बैठे हो, चाहे वे घर की बैठक में हो, उनकी अपनी निजी डायरी, साथ में लिखा कोई वेद मंत्र और कलम चलती हुई, जिसमें उसकी भावभीनी वयाख्या। चिन्तन का यह क्रम उनके सांस में समाहित था। तभी तो उन्होंने जन–जन में वैदिक संस्कृति का संदेश पहुँचाने हेतु पचासों पुस्तकों को लिख डाला। जैसा सोचते थे, वैसा वे बोलते थे, वैसा ही आचरण करते थे। स्वाभाविक सोचने एवं स्वाभाविक बोलने का ऐसा अंदाज मैंने अपने जीवन में उनके अतिरिक्त शायद ही किसी का देखा हो।

बाहर से आने वाला कोई भी अतिथि, विशिष्ट विद्वान या महत्वपूर्ण राजनैतिक, आचार्य जी से मिलते हुए वह उनके मनोरम व्यक्तित्व की झाँकी को एक यादगार के रूप में चमत्कृत होते हुए ले जाता था। मैंने अनेको ऐसे व्यक्तियों के मुँह से इस व्यक्तित्व का जादुई करिश्मा सुना है। शांत, सरल, मधुर, द्वेष रहित मीठी मुस्कान के धनी इस व्यक्ति को कैसे कोई भूल पायेगा जिसने कार्य एवं व्यवहार से लोगों के हृदय पर अपना वर्चस्व कायम किया।

अजातशत्रु के नाम को सार्थक करने वाले ऐसे व्यक्ति गुरुकुल की फुलवारी में असमय में ही अपनी सत्ता को छोड़कर परमात्मा की गोद में चले गये और हम आज उनके बिना अपने को शून्य में ताकते नजर आते हैं। यह रिक्त स्थान कभी नहीं भरा जायेगा, ऐसे व्यक्ति रोज–रोज सामने नहीं आते, ऐसे पुरुष कभी–कभी ही किसी भाग्यशाली के जीवन में आते हैं।

गुरुकुल में पढ़ने वाले एक बच्चे की नहाते समय डूबने से मौत हो गई। दुःख एवं क्षोभ की इस घड़ी का सामना किया आचार्य जी ने अपने नैतिक साहस से। वे पहुँच गये उस बालक के माता–पिता के गाँव में, क्रोधित एवं आक्रोश से घिरे गाँववासियों के बीच में। लड़के की माँ के सामने पहुँचकर उन्होंने कहा, मैं लड़के को वापिस नहीं ला सकता लेकिन रामप्रसाद

खड़ा है माँ, जो चाहे दण्ड दे दो। मैं सहन करने को तैयार हूँ। उनकी आँखों से उस समय आँसू निकल रहे थे। लड़के की माँ रामप्रसाद जी को इस रूप में देखकर कुछ भी न कह सकी। कितने लोगों में ऐसा साहस होता है, परिस्थितियों से सामना करने का। उनकी, घटनाओं से सामना करने की अपनी अलग शैली थी। उनका आत्मबल देखते ही बनता था।

गुरुकुल में मैंने अनेकों बार देखा, चाहे कर्मचारियों की आपसी लड़ाई हो, छात्रों के आपसी झगड़े हों, शिक्षकों के बीच वाद–विवाद हो, आचार्य रामप्रसाद जी के पास मामला आते ही सभी पक्ष सन्तुष्ट हो जाते थे। हम सोचते थे कि क्या है इस इन्सान में?, जो सबको अपना मानता है, सबको दुलार देता है, सबकी खुशी में अपनी मुस्कान बिखेरता है। और खुद सबसे निर्विकार दिखलाई देता है।

उनकी भाषणशैली उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही जादुई करिश्में को लिये थी। साधारण घटना को साधारण तरीके से उनके कहने का अन्दाज, ऐसा था कि सुनने वाला मंत्रमुग्ध रूप से बड़ी देर तक यह सोचता रहता था कि क्या इस बात का इतना प्रभाव भी पड़ सकता है? यह उनकी वाणी का कमाल होता था कि हम सोच भी नहीं पाते थे और उनकी बात हमारे लिये प्रेरणा का स्रोत बन जाती थी। उनकी वाणी के प्रवाह में साक्षात मंदाकिनी का वास था, तभी तो निर्झर झरने की तरह फूटते, उनके श्रीमुख से निकले शब्द, कल–कल की आवाज के साथ कर्ण शंकुलो में कंपन पैदा करते थे। ऐसे मीठे प्रवचनों को अब हमें कौन सुनायेगा? यह स्थान तो अब रिक्त हो गया है दूर–दूर तक। इसकी पूर्ति कैसे होगी? सब कुछ बियाबान लग रहा है। आचार्य रामप्रसाद जी आप चले गये, लेकिन छोड़ गये वह सब यादें, जो आज हम गुरुकुलवासी अपने सीनें में लिये उन्हें संभाल रहे हैं।

– डॉ. जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार

मेरे पतिदेव स्व. श्री रामप्रसाद वेदालंकार

यों तो सभी सम्बन्ध बड़े प्रिय और मधुर होते हैं – भाई–बहन, माता–पिता, पुत्र–पुत्री, बन्धु–मित्र, गुरुजन, सब का अपना महत्व है और उपयोग भी, पर पति–पत्नी का सम्बन्ध इन सब से परे, अनूठा है, जिसमें अजीबोगरीब सानिध्य, अपनापन और आत्मीयता होती है। इस मामले में मुझे औरों का पता नहीं पर मैं अत्यन्त भाग्यशालिनी रही हूँ कि मुझे आचार्य जी जैसा पति मिला। मैं नहीं जानती कि पति प्रेम की वस्तु है या पूजा की, सेवा की है, समर्पण की पर मुझे इन से जो मिला वह शब्दातीत है। उन्हें 'पतिदेव' कहने में मुझे गर्व अनुभव होता है। उन से मुझे पवित्र प्रेम मिला, आदर्श और श्रेष्ठ मार्गदर्शन, उत्कृष्ट व्यवहार और जीने की कला की सीख भी। वे मेरे प्रियतम साथी, परामर्श दाता, गुरु और पथ प्रदर्शक भी थे। आज उन्हें सशरीर सम्मुख न पा कर मेरा हृदय चीत्कार कर उठता है, मन सिसकियाँ भरता है, तड़प कर रह जाती हूँ। यह जानते हुए भी कि मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है, अटल नियम है, उस गृहस्थी सन्त का वियोग जैसे मेरा सब कुछ छीन कर ले गया हो। अब तो मात्र प्रभु का ही सहारा है जिस के वे दीवाने थे।

12 अक्टूबर 1972 को मैं उन के साथ विवाह सूत्र में बँधी। उन्हें मैंने अपना जीवन संगी स्वीकार किया। इस बन्धन की भी विचित्र कथा है। आचार्य जी को मेरा जीवन साथी बनाने में पूज्या माता दयावंती बनाती जी की प्रेरणा और कृपा रही। वे बाल विधवा थी और वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में अपनी कुटिया में रहती थीं। उन्हीं के द्वारा आचार्य जी से मेरा परिचय हुआ। आचार्य जी उन दिनों आश्रम में ही रहते थे और ब्रह्मचारी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। आश्रम के ऋषि तुल्य उन की ख्याति थी। इन्होंने अपनी योग्यता और विद्वता से एवं मृदुल व्यवहार में आश्रमवासी माताओं–बहनों का असीम स्नेह, प्यार, दुलार पाया। इसी आश्रम में रहते हुए इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से अपनी पढ़ाई पूरी की और इसी विद्यालय में कार्यरत हुए और एक के बाद एक पद प्राप्त करते रहे। इस का एक मात्र लक्ष्य वेदों का प्रचार और प्रसार था। महर्षि दयानन्द की शिक्षानुसार वेद का पढ़ना और पढ़ाना वेद–विषय पर ही कलम चलाना इन का ध्येय था। इसी ध्येय की पूर्ति के लिये इन्होंने पूर्व जीवन का कपड़ों का व्यापार का धंधा छोड़ दिया और वेद–साहित्य में एम.ए. किया। नौकरी करने की इन की इच्छा नहीं थी पर जब इन के गुरु स्वामी आत्मानन्द जी ने इन्हें समझाया कि गुरुकुल में पढ़ाना भी वेद का प्रचार प्रसार है तब इन्होंने वहाँ अध्यापन कार्य स्वीकार

किया। विवाह के उपरान्त हम आश्रम के समीप ही किराये का मकान ले कर रहने लगे। मैं दिल्ली के एक महाविद्यालय में अध्यापिका थी। हमारा विवाह आदर्श विवाह था। इन्होंने दहेज नहीं लिया। मजे की बात यह है कि जिस व्यक्ति के बैंक खाते में कोई राशि न हो और वह दहेज भी न ले तथा यह भी न चाहे कि उस की पत्नी नौकरी करे, है न विचित्र बात। पं0 सुखदेव जी के समझाने पर कि गृहस्थी कैसे चलेगीं, इन्होंने मुझे दिल्ली में अध्यापन कार्य जारी रखने की अनुमति दे दी। अनुमति तो मिल गई। उस समय मेरी नौकरी को 11 वर्ष हुए थे। मैंने सोचा कि कुछ वर्ष और कर लूँ जिस से 20 वर्षों के बाद मैं पेन्शन की हकदार हो सकूँ और तब नौकरी छोड़ूँ अर्थात् अवकाश ले लूँ। मैं ज्यादातर दिल्ली रही और वे ज्वालापुर। आना–जाना बना रहा। मैं हृदय से आचार्य जी की सेवा करना चाहती थी पर मजबूर थी। इसी बीच प्रभु ने दो बच्चे दिए, पुत्री श्रद्धा व पुत्र अनुव्रर्त। मैं दिल्ली माडल टाउन अपनी बड़ी बहन विद्या बहन जी के पास रही। वहीं दोनों बच्चे उन के प्यार की छत्रछाया में पले। छुट्टियों में मैं ज्वालापुर आती और आश्रम का भी आनन्द लेती। सन् 1981 में मैं दिल्ली छोड़ कर स्थायी रूप से ज्वालापुर आ गई। कितना सुन्दर और आनन्दमय हमारा जीवन था। सचमुच एक वैदिक आदर्श परिवार को हमारा 'सुखी गृहस्थ', सुख का धाम स्वर्गाश्रम' जैसी पुस्तकों का सृजन आचार्य जी ने इसी काल में किया। साथ–साथ पदोन्नति भी होती गई रीडर बने, प्रोफेसर बने, उप कुलपति और कुलपति भी। इस बीच सब के सब रूप देखे। सारा दिन प्रभुमय जीवन, प्रभुमय चिन्तन, प्रभुमय व्याख्यान, प्रभुमय लेखन, प्रभुमय अध्यापन। हमारे गृहस्थ में गृहस्थी कम ब्रह्मचारी और सन्यासी अधिक आते थे। इस प्रकार हमारा छोटा सा गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यास का भी आनन्द देने लगा। मुझे उन सब अतिथियों की सेवा का सौभाग्य मिलता जिसे मैं पूरे मन से करती कभी थकती न थी, फिर भी गृहस्थ में कभी नोंक–झोंक तो हो ही जाती।

एक दिन की बात है कि एक ब्रह्मचारी इन के पास आया और अपनी आवश्यकता बताई। शायद 1972 की बात है। इन्होंने मुझ से पूछा– तुम्हारे पास कितने पैसे हैं? उस दिन मेरे पास भी पैसे नहीं थे। मैंने इधर–उधर से निकाल कर कहा– 'एक रुपया सत्तर पैसे' यह पैसे इन्होंने मुझ से ले कर ब्रह्मचारी को दे दिये। ब्रह्मचारी के जाने के पश्चात् मैं बहुत नाराज हुई, कहा– अब आप गृहस्थी हैं, ब्रह्मचारी नहीं। कुछ विचार कर काम करें।' उत्तर में अपनी सहज सरल मुस्कान बिखेरते हुए प्यार से बोले– तुम्हारे पास आटा है, घी है, दाल है, चावल है, शायद सब्जी भी हो पर उस बेचारे के पास तो कुछ भी नहीं है। परमात्मा पर विश्वास रखो। मैंने कहा– मुझे उस पर बहुत भरोसा है। उस दिन परमात्मा की ऐसी कृपा हुई कि 153 रु0 का कहीं से मनीआर्डर आ गया। मैं आश्चर्य चकित रह गई।

कुछ दिनों के बाद फिर एक अद्भुत घटना घटी। घर में चावल और घी नहीं था।

मैंने इन से बाजार जा कर चावल और घी लाने को कहा। ये उस दिन इतने व्यस्त रहे कि सारा दिन बाजार नहीं जा पाये। सायंकाल हमारे यहाँ 8, 10 मेहमान आ गये। अब तो मैं और परेशान हो गई कि कैसे काम चलेगा? अब तो बाजार जाना और भी कठिन है। मेहमानों को चाय–पानी दे कर जब मैं निवृत्त हुई तो उनमें से एक ने कहा कि आप की बहन जी ने ये चावल और घी भेजा है। रख लें। यह देख कर मैं आश्चर्य चकित रह गई कि प्रभु यह तेरी कैसी लीला है। मैं व्यर्थ ही सुबह से परेशान हो रही हूँ।

कुछ दिन बाद एक और घटना घटी। घर में कुछ लोग आये। ये उन के स्वागत सत्कार में सेब पर सेब काटते चले गये। जब सब सेब समाप्त हो गए तो मेहमानों के जाने के बाद मैंने पतिदेव से कहा– "अब आप ब्रह्मचारी नहीं, गृहस्थी हैं। गृहस्थ में सोच समझ कर कार्य करना पड़ता है। एक ही बार में आप ने इतने सेब काट दिए।" सुन कर हँसने लगे। थोड़ी देर के बाद मेरी बहन ने दिल्ली से सेब की पेटी भेजी जो कोई व्यक्ति ले कर आया था। है न कमाल? यह किस का कमाल है। प्रभु की करुणा का? अथवा नेक नीयती का? या फिर उस पर भरोसे का? पूर्ण समर्पण का?

एक बार की बात है। मैंने कहा– 'मुझे अच्छी फिल्म देखने का शौक है।' कहने लगे– मैं आप की इच्छा की कद्र करता हूँ। ऋषि दयानन्द ने भी कहा है कि गृहस्थ आश्रम में आओ तो सभी सुखों का भोग करो पर यदि मैं फिल्म देखने जाऊँगा तो गुरुकुल में ब्रह्मचारियों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। वे कहेंगे कि यदि हमारे आचार्य जी फिल्म देख सकते हैं तो हम क्यों न देखें? इसलिये मैं कभी सिनेमा हाल नहीं जाऊँगा। मैंने कहा– और तो कोई बात नहीं। मैं स्कूल जाती हूँ। नौकरी करती हूँ। मुझे "सोसाइटी में मूव" करना होता है। मुझे पता नहीं, धर्मेन्द्र कौन है? हेमा मालिनी किस का नाम है। मेरा उत्तर सुनकर यह एक दम गम्भीर हो गये। कुछ देर में बोले– कि 'जिस सोसाइटी की तुम बात करती हो उसे मैं देखना भी नहीं चाहता। मैं तो केवल उस सोसाइटी को पसन्द करता हूँ जिस में महापुरुषों की चर्चा हो।' बात समाप्त हो गई। कुछ दिन बाद हमारे विद्यालय में एक अध्यापिका ने अपनी पदोन्नति पर 'तपस्या' फिल्म सब को दिखाई पर मैंने जाने से इन्कार कर दिया। इन्हें पता चला। कई मास बीतने के बाद इन्होंने यह घटना किसी प्रिय व्यक्ति को सुनाते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। कहा– मैंने इन्हें कभी फिल्म देखने से नहीं रोका, पर जब मुझे पता चला कि सारी अध्यापिकाएं फिल्म देखने गईं और यह नहीं गई तो मुझे बड़ी खुशी हुई। यह सुन कर मैं मन ही मन प्रसन्न हुई कि यह मेरे आचरण से प्रसन्न है। यह मेरा परम सौभाग्य है। इन के सन्त जीवन को देखती तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती और मैं प्रभु का धन्यवाद करती और यह प्रार्थना भी कि प्रभु! मुझे शक्ति प्रदान कर कि मैं इस सन्त के जीवन में कभी कांटें न बिछाऊँ। यदि कोई काँटा आ जाए तो उसे चुन लूँ। कितना सुन्दर जीवन था हमारा। जब कोई

आत्म–प्रशंसा करता कि यह वेदाकूल आदर्श परिवार है। मुझे बहुत अच्छा लगता। मैं अतिथियों का स्वागत बड़ी प्रसन्नता, उमंग और उत्साह से करती। ससुराल वालों से भी मुझे भरपूर प्यार दुलार मिला। उस में तो हम दोनों देवी–देवता तुल्य पूजे जाते। वेदानुकूल इन का जीवन देख कर मैं फूली नहीं समाती।

एक बार की बात है कि एक माता जी ने कहा– सारी बातें पति से नहीं कहा करते। मैंने इन से शिकायत की कि मुझे वह माता जी ऐसा कर रही थीं। पर मुझे अच्छा नहीं लगा। पूछने लगे– तुम ने क्या उत्तर दिया?' मैंने कहा– मैं निरुत्तर रही।' बोले– उस ने मुझ से भी यही बात कही थी। तू वेद पढ़ी होती तो मेरी तरह यह जवाब देती कि वेद में लिखा है– कि पत्नी से कुछ मत छिपाओ।' हमने अपने जीवन में किसी को जज नहीं बनाना। हम दोनों लड़ते–झगड़ते और वह हमारी जज बनती यह मुझे कदापि पसन्द नहीं। दो के बीच की समस्या का समाधान केवल वे दो ही कर सकते हैं। तीसरे के द्वारा समस्या विकट बन जाती है। घर परिवार की छोटी–छोटी बातों का समाधान वेद द्वारा होता। कभी–कभी मैं हंसी में कह देती 'वेद क्या है मानों जादू का पिटारा है। जिससे सब समस्याओं का समाधान हो जाता है। तब वे बड़े गर्व से कहते– जानती हो वेद मुझे अपनी पत्नी से भी प्यारा है। वेद मुझे अपने बच्चों से भी प्यारा है। मेरे लिये वेद सब से अधिक मूल्यवान निधि है।" परिवार में हों घर पर या फिर सफर में– गाड़ी में, बस में या मंच पर कलम चलती रहती। कभी कभी मैं कह देती कि आप मंच पर ब्रह्मा बन कर बैठते हैं, उस समय लेखन शोभा नहीं देता। लोग क्या कहेंगे। उत्तर मिलता – तुम इसकी चिन्ता मत करों। जब वेदमंत्रों का उच्चारण होता है तो मेरे भीतर एक लहर दौड़ती है और सोचता हूँ कि जल्दी से लिख लूँ। और जो श्रोता इतनी जिज्ञासा ले आये हैं उन्हें सुना दूँ। यह था उन का अद्‌भुत वेद–प्रेम। अनुपम वेद–प्रेम।

ऐसे महान विद्वान् और वेदों के अनन्य भक्त की पत्नी बनने का मुझे सौभाग्य प्रभु ने दिया। वे वेदों के भक्त थे। मैं उन की भक्त हूँ. कितना गुणगान करूँ कम है। इसलिये उन के चिर वियोग का गम भी कम नहीं। यह गंम की आग तब और प्रचण्ड हो जाती है जब इन के प्रशंसक, भक्त, अनुयायी प्रियजन आ कर अपना दुःख व्यक्त करते हैं।

अन्त में यह कह कर अपनी लेखनी को विराम दे रही हूँ–

कहानी सुन रहा था बड़े शौक से जमाना।
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते कहते।।

–श्रीमती सरोज आर्य

हमारे पिता

किसी संस्कृत विद्वान् ने आर्य पुरुष के लक्षण इस प्रकार बताये हैं –

शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः,
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः ।।

1. शान्तः – जो स्वभाव से शान्त हो

2. तितिक्षुः – सहनशील हो (सुख–दुःख, हानि–लाभ, मान–अपमान आदि में सम रहता हो।)

3. दान्तः – जो मन को वश में रखता हो अर्थात् चंचल न हो

4. सत्यवादी – जो मन, वचन, कर्म से सत्यवादी हो

5. जितेन्द्रियः – जो जितेन्द्रिय हो

6. दानशील – दान–शील हो

7. दयालु – केवल मनुष्यमात्र के लिए नहीं अपितु प्राणियों के लिए भी जिसके मन में दया हो

8. नम्र – जिसमें तनिक भी अभिमान न हो

इन आठों गुणों को पूर्ण रूप से अपने जीवन में धारण करने वाले मेरे परमस्नेही पूज्य पिताजी सच्चे आर्य थे। आदर्श जीवन, समय के पाबन्द, प्रभु विश्वासी, कोमल हृदय, प्रचारक, कर्मठ, सरल, निश्छल, द्वेष रहित, मनुष्य तो दूर प्राणीमात्र के लिए हृदय में प्यार समेटे हुए, ईश्वर के अनन्य भक्त, आशावादी, क्रान्तदर्शी, स्वाध्यायी, अत्यन्त नम्र एक कुशल आचार्य का जीवन हम सबके लिए प्रेरणास्पद है। हमारा अहोभाग्य है, परमेश्वर की असीम कृपा है कि वे हमें पिता के रूप में प्राप्त हुए। कहने को पिता, परन्तु उनका ममत्व माता से किसी रूप में कम न था और शिक्षा एवं मार्गदर्शन सच्चे गुरु से कम नहीं। उनका संपूर्ण जीवन हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। इन्हीं भावों को मन में रख कर मैं अपनी यादों के बिखरे

फूलों को समेटकर अर्पण कर रही हूँ जिससे कि हम भी अधिक नहीं तो कुछ तो प्रेरणा लेकर आगे बढ़ने का प्रयास कर सकें।

उनके पिता ने नाम रखा 'राम', जिससे कि पुत्र को बुलाने के बहाने भगवान का नाम तो निकले, परन्तु धन्य हैं वे पिता जिनके पुत्र ने अपने पिता के ही मुख पर नहीं अपितु संपूर्ण संसार में वेद प्रचार–प्रसार करके भगवद् जनों के केवल मुख पर ही नहीं परन्तु हृदयों में प्रभु को बसा दिया। और धन्य है वे गुरु जिनसे शिक्षा–दीक्षा पाकर वेदप्रचार किया और उन्हीं के चरणों में अपना वेद प्रचार–प्रसार (जिस भी रूप में व्याख्यान, पुस्तक, कैसेट्स इत्यादि) को अल्प प्रयास कह कर समर्पित कर दिया। दृढ़ निश्चय तो इतना कि हिन्दुस्तान/पाकिस्तान के विभाजन पर जब माता भारत आ गई तो 11 वर्ष की आयु में पाकिस्तान से अकेले ही बहिन जीजाजी के लाख समझाने पर भी यह कहना कि या तो मर जाऊँगा या माँ से मिल जाऊँगा। और हिन्दुस्तान के लिए अकेले ही चल पड़े। माता–पिता से अत्यन्त स्नेह के साथ–साथ मिले अर्चना के संस्कार। पिता ने जीवन को मोड़ दिया और बस फिर जब सच्ची राह पकड़ी तो बस सीधा मंजिल की डगर के अन्त तक अनुगामी बने रहे। पिता का यह कहना कि तुम्हें कौन खाने को देता है?– पुत्र का उत्तर– आप ले आते हैं, माँ बना देती है। फिर पिता की गहरी नींव यह कह कर रखना कि इस संसार के समस्त माता–पिता मिल जाए तो भी एक मक्की का दाना अथवा साग का पत्ता नहीं बना सकते। ऐसे परमात्मा की स्तुति/भजन/उपासना रोज़ अवश्य करो। स्कूल में बड़े भाई को 7 पुरुस्कार मिले और ये पहली/दूसरी में फेल हो गये तो एक ओर बड़े भाई की डाँट और अन्य जनों के उपहास के केन्द्र बने। पर फिर भी पिता का केवल इतना कहना बेटा अगले साल मेहनत करना। केवल पिता ही ऐसे थे जो इन्हें कुछ न कहते थे। परन्तु शायद उसी भट्टी के ताप में सोने ने कुन्दन बनना शुरु कर दिया था। बस फिर जो ठानी और पुरुषार्थ किया तो कुछ ऐसा हुआ कि पहले टीचर पढ़ाता था और फिर ये कक्षा को पढ़ाते थे। पिताजी की जेब से दुअन्नी चुपके से लेने पर जब पकड़े गए तो भी पिता ने ऐसा प्यार से मोड़ा की सुधार, बिना प्रयास हो गया। इनका गुलेल एक बहुत प्रिय खिलौना होता था। 7 गुलेलें इकट्ठी तो की थी पर कभी चलाई नहीं थीं। जब एक बार ऐसे ही आज़माने को चलाई तो एक चिड़िया तड़फती हुई गिर पड़ी। मन तो व्यथित हुआ परन्तु पहला भय यह था कि पिताजी आज नहीं छोड़ेंगे। बड़े घर में बात फैलती भी जल्दी है तो ये गद्दे में जाकर छिप गए। परन्तु आखिर कब तक। इस पर भी पिता की प्रभावपूर्ण **वाणी का** बाण पड़ा कि जब किसी को जीवन दे नहीं सकते तो किसी का

जीवन लेने का क्या हक है? वहीं पर उस गुलेल का भी सम्बन्ध समाप्त हो गया। 11 साल की अवस्था में जब पिता का देहान्त हुआ तो रात को बल्लियाँ गिनते हुए मन गहरी सोच में डूब जाता। सोते हुए बड़े भाई के साथ लेटे–लेटे न जाने मन किस सोच में खो जाता।

माता ने 40 तोले सोना रखा, विवाह पर दिया तो कहा कि मुझे केवल आशीर्वाद चाहिए और आधा बड़े भाई को एवं आधा छोटे भाई को दे दिया। युवावस्था में भी चंचलता और चपलता से कोसो दूर गम्भीर स्वभाव, स्वाभिमान एवं सच्ची लग्न की धुन थी। पिता के पश्चात् हिन्दुस्तान आकर सुबह स्कूल जाना, आकर बड़े भैया का दुकान में हाथ बंटाना और साथ–साथ अथवा रात को पढ़ना, यही दिनचर्या थी। इसमें भी समय निकाल कर सत्संग जाना, किसी विद्वान के मिलने पर दो श्लोकों का अर्थ जान लेना कितना आनन्दप्रद होता है उनसे अधिक कौन समझ सकता था? उपदेश सुना कि व्यांपार में आटे में नमक के बराबर लाभ कमाना चाहिए तो बस जो बालक इतने ग्राहकों से चुटकियों में सौदा करता था मोल भाव करके, वो सच और एक दाम पर जो अड़ा, तो चाहें बड़े भाई से सौदा नहीं बिका, डाँट पड़ी, तो भी पर्वत की तरह टस से मस नहीं हुआ चाहे अपने चाचा के साथं छोटी जगह में अलग सामान बेचना पड़ा। व्यापार में रस तो उनके लिए था ही नहीं, स्वाध्याय, सत्संग में रुचि देखकर पूज्य जीजाजी और बेजी ने स्वामी श्रद्धानन्द के आश्रम दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय में भेज दिया। घर से आर्थिक सहयोग न मिलने पर भी हिम्मत न हारी। पूज्य गुरुजनों के सहयोग से, कठोर तप करके आगे बढ़ते रहे कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

जीवन एक तपस्वी की भाँति जिया, जो कुछ हुआ उसे बाँट दिया। अपने पास कुछ न रखा। आयु के 35 वर्ष में, वे गुरुकुल काँगड़ी .... में प्राध्यापक के पद पर थे तो विवाह हुआ। प्रभु की अनुपम अनुकम्पा ऐसी रही कि जीवन साथी भी इतना कर्मठ, सुयोग्य, प्रभु भक्त, कदम के साथ कदम मिला कर चलने वाला, प्रत्येक शुभ कार्य में सहयोगी ही नहीं अपितु बढ़–चढ़ कर करने वाला मिला। माँजी का प्रभु कृपा से ऐसा साथ था जिससे उनका पथ विचलित होना तो बहुत दूर की बात है, पथ स्पष्ट, निष्कंटक ही नहीं अपितु सुगम एवं आनन्दप्रद हो गया। नियमित संध्या, हवन, सात्विक भोजन, अतिथियों का सहृदयतापूर्वक सत्कार, समस्त परिवार बन्धुओं का प्यार एवं आशीर्वाद एवं संत जनों का आवागमन एवं उपदेश, एक वैदिक आदर्श परिवार का जीता जागता स्वरूप था। अन्त समय में भी माँजी ही उनके साथ कंधे से कंधा मिलाते हुए चण्डीगढ़ तक साथ थी।

मनुष्य की वाणी बोलती है परन्तु पूज्य पिताजी का जीवन बोलता था। अपनी दीक्षा के समय जो उपदेश गुरुजनों से मिला कि स्वाध्याय जीवन में कभी न छोड़ना तो अन्त समय तक वह उनके साथ रहा। सादा जीवन, सादा भोजन, नियम से सोना/जागना, यज्ञ, संध्या तो सदा ही रहा। जो संस्कार अर्चना के पिता से पाए थे वे अपने बच्चों को देने में कोई कसर नहीं छोड़ी और उसी शालीनता से दिए जैसी धरोहर में प्राप्त किए थे। माँजी ने कहना कि बच्चों को कुछ सिखाओ – तो उत्तर में यह कहना कि मेरी व्यस्तता के संस्कार क्या कम हैं? अपने घर में अच्छे–अच्छे उद्धरण, श्लोक इत्यादि का लगाना, महापुरुषों के चित्र लगाना, नियम से संध्या, हवन, समय के पाबन्द, और ईश्वर पर पूरा भरोसा रखने वाले।

कर्त्तव्य के पक्के, प्रभु के प्यार में बोलते–बोलते नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होती थी। लक्ष्य प्राप्ति के लिए सदा तत्पर, एक गृहस्थी के रूप में संत, कभी गुस्सा नहीं, डाँटा नहीं, बच्चों को विद्या अध्ययन में सही मार्गदर्शन देना, योजनापूर्वक चलना सिखाना, जीवन में उदाहरणों, प्रेरणाओं और कहानियों से बहुत बड़ी–बड़ी बाते सिखाना, चलते–फिरते मन्त्र अथवा श्लोकों के अर्थ बताना, छोटी–छोटी बातों में जीवन के रहस्य को समझाना, एक कुशल विद्वान एवं एक परमस्नेही पिता ही दे सकता है। अपने छोटे से छोटे अथवा बड़े से बड़े काम के लिए स्वयं संलग्न रहना, कभी किसी से कहना नहीं। गृहस्थ जीवन में रहकर भी प्रचार–प्रसार करते रहे। उस पर भी कभी बच्चों को यह प्रतीत नहीं हुआ कि प्यार में कमी हो। सागर तो भरा है कोई जितना ले ले, खाली नहीं होता। आशीर्वाद सदा यही, फूलों की तरह खिले रहो और फलों की तरह फलो। कभी किसी से गिला नहीं रखा।

गृहस्थ जीवन में पंच महायज्ञों को कभी नहीं छोड़ा। ब्रह्मयज्ञ, वेवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ सदा चलते रहे। रोज कुत्ते/गाय को भोजन कराना। सदा विद्वानों, संन्यासियों, महापुरुषों, विद्यार्थियों का आवागमन।

एक घटना स्मरण आ रही है– डाक्टर परिवार । माता की मृत्यु । अन्तेष्टी पर जब सब रो रहे थे तो पिताजी ने कहा कि आप चाहो तो आपकी माँ जिन्दा हो सकती है! सब अवाक्, हैरान! परिवार को फिर समझाया कि आपमें से कोई यह नहीं कहता कि मेरी माता बड़ी सुन्दर थी, नाक ऐसी थी, आँखें ऐसी थी,......... सब कह रहे हैं बड़ी सात्विक थी, सुबह जल्दी उठती थी, संध्या, हवन करती थीं .... इत्यादि तो आज वो माँ रूपी गुलदस्ता टूट गया है, गुण रूपी फूल नीचे गिर गए हैं आओ इन्हें चुने और अपने जीवन में धारण कर लें तो

माँ जिन्दा हो जाएगी क्योंकि उनके गुण हममे आ जाएगें। आओ आज हम यही उपदेश ग्रहण करें। फूल जो सदा सबको सुगन्धि देता था, नीचे काँटे होने पर भी सदा मुस्कुराता रहता था और सबको खिले रहने की प्रेरणा देता था, वह आज टूट गया है, पंखुड़ियाँ बिखर गई हैं आओ इन्हें चुने और सब मिलकर कुछ ग्रहण करें जिससे की फूल अपनी सुगन्ध सदा बिखेरता रहे और मुस्कुराता रहे। अन्त में–

भरोसा कर तू ईश्वर पर तुझे धोखा नहीं होगा।
यह जीवन बीत जाएगा, तुझे रोना नहीं होगा।।

स्वभाव से अत्यन्त संकोची

घटना– (चने खाकर तीन दिन तक बोलते रहे।) तीसरे दिन जब भोजनालय में मंत्री .... ने पूछा कि वे विद्वान भोजन कर रहे हैं तो पता चला कि वो भोजनालय में आए ही नहीं। भोजनालय का न पता होने से और किसी से न कहने के स्वभाव से वे तीन दिन तक बाज़ार से चने ही खा रहे थे। बाहर खाने के स्थान होटल इत्यादि तो बहुत होते हैं परन्तु एक विद्वान को आदर्शों में बाहर होटल इत्यादि पर खाना नहीं था अत: चने लेकर वे तीन दिन तक चने ही खाते रहे।

अन्त समय में भी जब एक Heart Attack हो चुका था तो जब एक महीने बाद चंडीगढ़ कहीं यज्ञ में गए तो उन्होंने आर्य समाज में ऊपर के कमरे में इन्तज़ाम किया। तो माँजी के कहना चाहने पर भी, कि "सीढ़ियाँ चढ़ना मना है। अतः कहीं नीचे इंतजाम कर दे," इन्होंने रोक दिया। यह बहुत भयानक सिद्ध हुआ। परन्तु स्वभाव में ही किसी को कष्ट न देना, न कुछ कहना और अत्यन्त संकोची होना कूट–कूट के भरा था।

पिता के रूप में सदा घर में कभी किसी वस्तु की कमी न होने दी। शायद ही कभी किसी पर क्रोध किया हो, जब अनु मुझे तंग करता था उस पर भी तभी क्रोध करते थे अन्य किसी कारण से क्रोध किया ही नहीं। प्रातःकाल 4–5 बजे उठ कर संध्या का नियम घर में रखना जिसमें प्रातःकालीन मन्त्र एवं सायंकाल भजन, संध्या, आरती अथवा रात्रि के प्रायश्चित, ध्यान आदि का नियम से पालन। उसके बाद प्रातः भ्रमण और आसन, स्नान इत्यादि के बाद ठीक 6:30–7:00 बजे जाकर हवन के कमरे में बैठ जाना। कोई देर से आए जैसे तैयार होने

में बच्चे अथवा घर में काम के कारण माँजी, तो कभी कुछ न कहना, चुपचाप अपना समय पर पहुँच कर लिखना अथवा पढ़ने बैठ जाना। रोज़ की डायरी भरनी, अपने नियम, संकल्प एवं योजना में चूकने पर काटा (x) काटा और होने (√) लगाना इन्हीं डायरियों से अपना जीवन बनाना। एकाग्रता तो इतनी कि जब लिखते। पढ़ते हों तो कोई आ जाए तो पता ही नहीं होता था। पुस्तकें प्रचार के लिए स्वयं लिखना, प्रूफ देखना, छपाना, कागज़ लाना, स्वयं उठाकर थैले भरकर जहाँ जाना बाँटना, कोई कुछ दे दे तो ठीक न दे तो ठीक, उद्देश्य प्रचार था। कहना बहुत आसान है पर स्वयं करना बहुत कठिन। पुरुषार्थ अलग, पैसा भी यदि दान न हो तो, अपना ही लगाना। जो भी आए छोटा–बड़ा, स्वागत सत्कार करना, अच्छे से खिलाना, समय देना, उनकी समस्याओं को सुलझाना और प्रसन्न करके, समाधान करके विदा करना स्वभाव था। स्वयं दिन भर समय मिलने पर ऑफिस में, घर में पढ़ते–लिखते रहते। भोजन अथवा कमरे में भी डायरी साथ।

बड़ी पवित्र और प्यार से भरी हुई प्रतिक्षण प्रेरणा देने वाली है पूज्य पिताजी की जीवन गाथा। हम दोनों भाई, बहनों के पूर्व जन्मों के कुछ पुण्यकर्म अवश्य रहे होंगे जो ऐसे देवतास्वरूप पिता और ममतामयी मांजी के पुत्र–पुत्री होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज हमारे स्नेहिल पिता शरीर रूप में हमारे साथ नहीं हैं, किन्तु हृदय कहता है कि प्रेरणा और यादों के रूप में वे सदा हमारे रोम–रोम में बसे हैं।

प्रभो! हमें शक्ति देना कि हम उनके बताये मार्ग पर कुछ कदम चल सकें।

– श्रद्धा, अनुव्रत

यज्ञिय जीवन की प्रतिमूर्ति

आचार्य रामप्रसाद का जन्म श्री गंगा बिशन जी के घर में ग्राम थाना, मलाकण्ड एजेन्सी जिला मरदान, फ्रण्टीयर (वर्तमान पाकिस्तान) में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा राजकीय उच्च विद्यालय थाना में हुई। डी.ए.वी. हाईस्कूल रावलपिण्डी, आदर्श हाईस्कूल चन्दौसी तथा श्यामसुन्दर मेमोरियल हाई स्कूल चन्दौसी से आपने हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की।

दशम कक्षा पास करके आप लगभग सन् 1959 में दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर (अम्बाला) में वेदादि शास्त्रों की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रविष्ट हो गये।

सन् 1960 में मैं जब द0उ0 महाविद्यालय में आचार्य पद पर सेवा करने के लिये गया था उस समय ब्र0 रामप्रसाद, ब्र0 सत्यव्रत (राजेश) और ब्र0 हरिदत्त, ब्र0 वेदव्रत आदि सात विद्यार्थी इस महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। आर्य समाज के मूर्धन्य संन्यासी स्वामी आत्मानन्द जी इस संस्था के कुलपति थे और पं0 विद्याधर जी जो कि स्वामी आत्मानन्द जी के ही सुयोग्य थे, महाविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता थे। महाशय ताराचन्द पुस्तकालयाध्यक्ष, वानप्रस्थी कांशीराम भण्डारी और रामचन्द्र, सेवाराम गो सेवक थे। एक धर्मार्थ औषधालय भी था। महाविद्यालय का वातावरण अत्यन्त सात्विक था। कोई राजकीय परीक्षा की तथा राजकीय सेवा की कोई भावना छात्रों में नहीं थी। केवल वेदादि शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त महार्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के प्रचार–प्रसार की भावना ही छात्रों के चित्त में ओत–प्रोत थी। प्रत्येक रविवार को छात्रों को यमुनानगर, जगाधरी, सहारनपुर और अम्बाला छावनी आदि के आर्य समाजों में साप्ताहिक सत्संग में यज्ञ कराने और प्रवचन हेतु भेजा जाता था। अम्बाला छावनी रामप्रसाद जी का प्रिय आर्य समाज था।

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती अपने समय में काशी के उच्चकोटि के विद्वानों में गिने जाते थे। वहाँ एक–एक विषय के विद्वान थे किन्तु स्वामी जी व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि सभी विषय समान रूप से पढ़ाया करते थे। स्वामी जी की योग में बहुत ऊँची स्थिति थी। स्वामी जी के आदर्श जीवन और अद्भुत विद्वत्ता के कारण पं0 शिवकुमार शास्त्री, पं0

जगदीशचन्द्र दर्शनाचार्य, स्वामी ब्रह्ममुनि, स्वामी, मुनीश्वरानन्द, ब्र0 सत्यप्रिय जी आदि विद्वान्, इस महाविद्यालय के शिक्षा–यज्ञ में अपनी विद्या–आहुति डालकर इसे सर्वाङ्गपूर्ण यज्ञ बनाने का प्रयास करते रहते थे। स्वामी जी महाराज योग एवं उच्च सदाचार की शिक्षा देते थे। पं0 विद्याधर ज़ी वेद और निरुक्त पढ़ाया करते थे। मैं व्याकरण, दर्शन, साहित्य और आर्य सिद्धान्त पढ़ाता था। श्री रामप्रसाद जी सबसे बड़े छात्र होने के नाते छोटी कक्षाओं को पढ़ाते थे और अधिकारी वर्ग के कार्यों में भी हाथ बंटाया करते थे।

एक दिन किसी विद्यार्थी ने एक काला साँप जो कि उसके कमरे में घुस आया था, मार डाला। स्वामी जी निरीक्षण के लिये आये। कमरे में खून पड़ा हुआ देखकर कहा यह क्या है। मैंने बतलाया कि अमुक छात्र ने काला साँप मार डाला है। स्वामी जी ने कहा कि ऋषियों के आश्रमों में साँप, सिंह आदि ऐसे ही भ्रमण करते रहते हैं। इन्हें कभी मारना नहीं चाहिये। श्री रामप्रसाद जी आदि सभी छात्रों को एकत्र कर 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' (योग दर्शन) इस पातञ्जल सूत्र की बड़ी अच्छी व्याख्या बच्चों को सुनाई। और अपने जीवन की घटनायें सुनाई कि एक दिन एक काला साँप मेरे साथ मेरे बिस्तरे पर रात को सोता रहा और कुछ समय के पश्चात् स्वयं चला गया।

एक दिन गोसेवक श्री सेवाराम ने रामप्रसाद जी को अपने पास बुलाया और पूछा कि आप ये इतने बड़े–बड़े पोथे क्या पढ़ते रहते हो। मैंने तो स्वामी जी महाराज से एक ही वाक्य पढ़ा था कि– 'गौ की सेवा करनी चाहिये'। मुझसे तो यही पाठ अभी तक पूरा नहीं हुआ है। यह प्रश्न युधिष्ठिर के 'सत्य बोलो' जैसा था। श्री सेवाराम ने श्री रामप्रसाद जी को क्रियात्मक जीवन का बड़ा सुन्दर पाठ पढ़ाया। यह पाठ मुझे रामप्रसाद जी कई बार सुनाया करते थे।

श्री रामप्रसाद जी ने दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय से सिद्धान्तभूषण, और सिद्धान्त– शिरोमणि परीक्षा बड़ी योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। सिद्धान्त शिरोमणि में एक वेद सम्बन्धी एक शोध–ग्रन्थ लिखा था, यदि वह उपलब्ध हो तो प्रकाशित करना चाहिये। उपदेशक विद्यालय की शिक्षा के उपरान्त आप वेदादिशास्त्रों की शिक्षाप्राप्त करने के लिये गुरुकुल कांगड़ी चले गये। वहाँ उस समय के उच्च कोटि के विद्वान् पं0 आचार्य प्रियव्रत जी व पं0 रामनाथ जी आदि के चरणों में बैठकर वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और वेदालंकार तथा वैदिक साहित्य से ही एम0ए0 परीक्षा उत्तीर्ण की। गुरुकुल कांगड़ी में अध्ययन काल में आप वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में एक कमरे में रहते थे। साथ का कमरा श्री जयदेव जी के पास था। यहाँ रहते हुये उस समय के वानप्रस्थ आश्रम के प्रबन्धक श्री हरिप्रकाश जी के कार्य में पूर्ण हाथ बंटाया। जो छात्र गुरुकुल में पढ़ने आते थे उनके आवास,

भोजन और छात्रवृत्ति की व्यवस्था करना श्री रामप्रसाद जी अपना ही कर्त्तव्य मानते थे। **'परोपकाराम सतां विभूतयः'** के लिये समर्पित रहते थे।

सुयोग्य विद्वान् के अध्यापन, लेखन और उपदेश ये तीन कार्य प्रधान होते हैं। कोई विद्वान् केवल अध्यापन का ही कार्य करते हैं, कोई लेखन में ही व्यस्त रहते हैं और कोई उपदेश मात्र ही कर सकते हैं। श्री रामप्रसाद जी इन तीनों ही कार्यों में व्यस्त रहे। तीनों कार्य समान रूप से चलते रहे।

आपने द0उ0 महाविद्यालय, यमुनानगर, गुरुकुल झज्जर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरद्वार (वेदभाग) में अध्यापन के अतिरिक्त, आचार्य और उप–कुलपति पद पर कार्य भी किया।

उत्तर प्रदेश, दिल्ली, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, हरयाणा, पंजाब, हिमाचल, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, नेपाल और अमेरिका आदि में वैदिक धर्म का नाद बजाया। आपने वैदिक धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये लगभग 4 दर्जन पुस्तकें लिखीं। श्री रामप्रसाद जी के जीवन में भर्तृहरि का अधोलिखित श्लोक अक्षरशः चरितार्थ होता है–

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि व्रिकमः।
यशसि चभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौः
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

ईश्वर और विद्वानों की पूजा, सामाजिक जीवन में अद्भुत संगतिकरण और विद्या आदि शुभ गुणों के दान की उच्च भावना से ओतप्रोत होने से आचार्य रामप्रसाद जी को एक यज्ञिय जीवन की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है। वह प्रतिमूर्ति अब कहाँ चली गई? यज्ञिय जीवन के अभिलाषी उस प्रतिमूर्ति को इधर–उधर ढूंढ़ते फिरते हैं, किन्तु अब उन्हें वह दिखाई नहीं देती है। अब तो वह अनुव्रत के रूप में ही उस दिव्य मूर्ति के दर्शन हो सकते हैं।

अनुव्रतः पितुः पुत्रों माता भवतु सम्मनाः।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वावाचं वदत भद्रया।।

–आचार्य सुदर्शन देव जी
संस्कृत सेवा संस्थान
776/34, हरिसिंह कालोनी,
रोहतक।

एक अद्भुत व्यक्तित्व

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार का नाम लेते ही कई स्मृतियाँ मानस–पट पर एक साथ उभर आती हैं। जो उन के विविध चित्रों से उसे विभूषित करती हैं। उन चित्रों में उनका गौर वर्ण, सौम्य, हँसमुख चेहरा, भावपूर्ण आँखें और मृदुभाषी रसीली मधुर वाणी, विशुद्ध भारतीय वेशभूषा, सात्त्विक और कर्मठ जीवन, निष्काम–सेवा, मानवीय करुणा से ओतप्रोत संवेदनशील हृदय, वेद मंत्रों का उद्घोष करने वाला ओजस्वी व्यक्तित्व अपने रंगों और रेखाओं से बहुत कुछ कह जाता है। कहाँ से मैं प्रारम्भ करूँ समझ नहीं आता। क्या भूलूँ? क्या याद करूँ पता नहीं चलता। फिर भी 'रामप्रसाद' नाम मात्र एक नाम नहीं, अपितु एक अद्भुत व्यक्तित्व का प्रतीक थे। राम प्रसाद एक व्यक्ति नहीं, समष्टिगत चैतन्य का एक धवल रूप थे जो मानवी आकार में दिव्य गुणों का भण्डार थे।

मेरा उन से प्रथम परिचय सन् 1972 में मॉडल टाऊन दिल्ली (उनके ससुराल में) में उनकी धर्मपत्नी सरोज आर्या के माध्यम से हुआ। श्रीमती सरोज आर्या से मेरा परिचय 1961 में दिल्ली प्रशासन के एक राजकीय विद्यालय में हुआ। तब से वे मेरी छोटी बहन, घनिष्ठ मित्र और शुभचिन्तक रहीं हैं। तब कौंन जानता था कि उन के पतिदेव रामप्रसाद जी से यह परिचय अटूट, प्रगाढ़ भ्रातृभावना से रिश्ते में बदल जाएगा। उनकी साधारण वेशभूषा, सौम्य और शान्त स्वभाव और मृदु वाणी में एक विलक्षण आकर्षण था जिसने मुझे उन्हें 'भाई' सम्बोधन देने पर विवश किया। वे भी मुझे अपनी बड़ी बहन मानते। मिलने पर पाँव छूते। बड़ा अजीब लगता। आर्य जगत् और वैदिक संसार जिनके पाँव छूता हो, वेदों के प्रखर व्याख्याता और गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार के उपकुलपति विद्वान् वेदरत्न आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार मेरे पाँव छूएं? यह उन की विनम्रता और उम्र में बड़े लोगों के प्रति आदर–भावना ही थी जिससे मैं भावविभोर होकर मंत्रमुग्ध सी उन का चेहरा निहारती। चूँकि मेरा विषय भी वेद और संस्कृत था, अतः वेदों पर उन्हें मुझ से चर्चा करने में रस मिलता। विवाहोपरान्त ज्वालापुर में जब उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया तो मुझे सरोज सी सुयोग्य, सुशिक्षित, प्यारी सखी और बहन के साथ रामप्रसाद जी जैसा एक आध्यात्मिक भाई भी मिला। मैं भी प्रिय सरोज के पास ज्वालापुर जाना तभी पसन्द करती जब रामप्रसाद जी ज्वालापुर में होते। उन के सान्निध्य में अनुभवों के आदान प्रदान के साथ वेद–मंत्रों पर चर्चा का सुअवसर मिलता। ऐसे अवसर बहुत अधिक तो सुलभ नहीं हुए पर जितने हुए उनके

आधार पर मैं यह कह सकती हूँ कि वे गुदड़ी में लाल थे। साधारण होकर भी असाधारण थे। उन की जड़ें धरती के ऊपर जितनी दृष्टिगोचर होतीं थीं उससे अधिक धरती के अन्दर गहरी थीं।

वेदों का सन्देश जन जन तक पहुँचाने वाले सच्चे मिशनरी–

अपनी वाणी तथा लेखनी द्वारा वेदों को सरल सुबोध व्याख्या करके रामप्रसाद जी ने उनका सन्देश जन मानस तक पहुँचाया। वेद–सेवा ही उनके लिये प्रभु–सेवा थी। मानों राष्ट्र–कवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में वे कह रहे हों–

न तन सेवा न मन सेवा
न जीवन और न धन सेवा
मुझे है इष्ट जन – सेवा
सदा सच्ची भुवन–सेवा

एक सच्चे मिशनरी सिपाही के सदृश वे अपने लक्ष्यः हेतु बलि हो गये।

शरीर से दुर्बल और वर्षों से मधुमेह से ग्रस्त होते हुए भी वे अपने संयत खान–पान और संयमी जीवन से उसका सामना करते रहे। सक्रियता और कर्मठता नहीं छोड़ी। संकल्प के धनी, अपने व्रत के पालक और अदम्य उत्साह की प्रतिमूर्ति थे वे।

अपने प्रवचनों की श्रृंखला में चण्डीगढ़ के अन्तिम दौरे पर जाने से पूर्व धर्मपत्नी श्रीमती सरोज आर्या ने उन से विनयपूर्वक प्रार्थना की और आग्रह भी किया कि आप अभी – अभी पानीपत के कार्यक्रम से लौटे हैं। चिकित्सकों ने आपको अधिक श्रम करने से मना किया है। अतः आप चण्डीगढ़ का कार्यक्रम स्थगित कर दें। दोनों बच्चों (श्रद्धा और अनुव्रत) के अगले दिन दिल्ली से ज्वालापुर आने का भी वास्ता दिया कि कल वे घर लौटेंगे। ताला बन्द देख उन्हें निराशा होगी। 'पर वे नहीं मानें' उत्तर दिया– "बच्चों के लिये तुम रुकना चाहती हो तो रुक जाओं मैं आश्रम से किसी ब्रह्मचारी को लेकर चला जाऊँगा"। दृढ़ चट्टान की तरह उनका निश्चय अटल था संकल्प बलवान था बच्चों का मोह उन्हें अपने कर्तव्य–पालन से न रोक सका। पत्नी का प्यार उन्हें अपनी सीमा में न बाँध सका। उनके भीतर असीम प्यार, वेदों का सन्देश घर घर पहुँचाने का संकल्प ज्वालामुखी बन कर धधक रहा था। जो उनके दुर्बल शरीर को ऊर्जा प्रदान कर रहा था। उन्हें गतिमान और शक्तिमान बना रहा था। मृत्यु उस अमर पथ के पथिक की राह देख रही थी और वह तीव्रता से लपक कर अपनी बात जनमानस तक पहुँचाने को व्याकुल हो रहे थे। आखिर मृत्यु की जीत हुई। उसने उसे (राम प्रसाद जी को) वर कर अमर कर दिया और बुलन्दियों के शिखर तक पहुँचा दिया। आकाश

में यह ध्वनि प्रतिध्वनि बन कर गूँज उठी–

खुदी को कर बुलन्द इतना
कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे
बता तेरी रजा क्या है?

वे खुदा के बन्दे, प्रभु के प्यारे, वेदों के दुलारे, संकल्प–शील, व्रतशील तपोमय जीवन के सहारे अपने लक्ष्य बिन्दु तक पहुँच कर शहीद हो गये। चण्डीगढ़ की भूमि को इस बलिदानी का रक्त मिला। वह भाग्यशालिनी हो गई। उनके पार्थिव शरीर को श्रद्धांजलि देने ज्वालापुर में अथाह जन–सागर उमड़ पड़ा। दूर–दूर से आये विद्वान, सन्यासी, वानप्रस्थी, साधक, भक्त प्रशंसक, प्रिय जन, स्नेही सम्बंधी सभी ने अपनी भावभीनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की।

रामप्रसाद नाम की सार्थकता–

सचमुच रामप्रसाद अर्थात् प्रभु का प्रसाद बन कर धरापर उतरे। मैं नहीं जानती यह नाम उन्हें किस ने दिया। पर प्रभु के प्रसाद की तरह राम प्रसाद जी को लोगों ने ग्रहण किया। जिसे उनसे जो कुछ भी मिला–प्यार, दुलार, स्नेह, आशीर्वाद, उपदेश, सन्देश, आदेश, निर्देश– वह उसे पा कर कृतकृत्य हो गया। यही कारण है कि उनके आकस्मिक निधन के समाचार से उनके प्रशंसकों, भक्तों और चाहने वालों का अपार जन–समुदाय बिलख –बिलख कर फूट–फूट कर रो पड़ा। जाने अनजाने अपनी मूल्यवान् भावांजलि दिवंगत आत्मा को अर्पित की।

विद्वत्ता और विनम्रता का बेजोड़ सम्मिश्रण–

रामप्रसाद जी वेदों के विद्वान् थे। प्रायः विद्वान अहंकार युक्त होते हैं। रावण प्रकाण्ड पण्डित था पर अहंकारी था। अहंकार को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में सर्वाधिक बाधा डालने वाला दोष माना जाता है। परन्तु यदि हम अहंकार दोष की तीव्र आलोचना करने वाले योगी सिद्ध महात्माओं के जीवन पर दृष्टि डालें तो वे स्वयं भी सूक्ष्म अहंकार से ग्रस्त मिलेंगे। जहाँ भी वे जाएंगे अपने लिये प्राथमिकता और सर्वोच्च आसन चाहेंगे, न मिलने पर वे तुरन्त दुर्वासा बन जाएंगे। क्रोध और रोष उनके चेहरे से टपकने लगेगा। कारण कहीं न कहीं बहुत गहरे में वे यशलिप्सा और लोकैषणा से पीड़ित हैं। यशलिप्सा लोभ बनकर उनके भीतर सूक्ष्म अहंकार का पोषण कर रही होती है। पर मुझे यह कहते हुए गर्व का अनुभव हो रहा है कि आचार्य रामप्रसाद जी इस भयंकर किन्तु सूक्ष्म महामारी से अछूते थे।

मेरे आध्यात्मिक गुरु स्वामी योगीराज नानक ने एक बार अपने प्रवचन में कहा था कि जीवन को सुखी बनाने के लिये सर्वदा व्यवहार में तीन बातों का ध्यान रखो–

1– अपने सुख के लिये किसी को दुःख मत दो।
2– दूसरों से सुख की अपेक्षा मत करो।
3– जो सुख तुम्हें मिल रहा है उसके लिये प्रभु का धन्यवाद करो।

उपर्युक्त सरल किन्तु महत्वपूर्ण कसौटी पर कसने से लगता है– वे इस कसौटी पर शत प्रतिशत खरे उतरते हैं।

आचार्य रामप्रसाद जी के जीवन का सर्वाधिक मोहक, आकर्षक, सराहनीय एवं महत्वपूर्ण पहलू उनका सहज सौम्य, सन्तुलित, विनम्र व्यवहार था। वे संयत, संयमी, सदाचारी पुरुष थे। वे दिव्य सम्पदा के भण्डार थे। उनके स्वभाव में प्रतिशोध, तीव्रता, आक्रोश का नामोनिशान भी नहीं था। इसके लिये अवश्य ही उन्होंने अपने जीवन को साधना की भट्टी में झोंका होगा। उनकी जिन्दगी स्वयं एक हवन थी जिसमें उनकी सम्पूर्ण मानवी दुर्बलताएं आहुति बन चुकी थी।

उन पर स्वनाम धन्य सुकवि की ये पंक्तियाँ अक्षरशः घटित होती हैं–

दीप में कितनी जलन है
धूप में कितनी तपन है
यह बतायेंगें तुम्हें वे
जिन्दगी जिनकी हवन है

विद्वत्ता और विनम्रता के मिश्रण ने रामप्रसाद जी के जीवन में मानों सोने में सुगन्ध भर दी थी।

घर–परिवार में–

प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति समाज में अधिकाधिक यश बटोर लेता है और जनता का प्रियभाजन बन जाता है, जगह–जगह जिसे सम्मानित एवं पुरस्कृत किया जाता है उसे बाहर के लोगों का स्नेह, सम्मान तो मिलता है पर घर–परिवार में उसे वह सम्मान नहीं मिलता। कारण घर की मुर्गी दाल बराबर। पत्नी और बच्चे उसे कोसते हैं, क्योंकि घर परिवार वालों को वह समुचित प्यार नहीं दे पाता और उनके प्रति अपना दायित्व नहीं निभा पाता। परन्तु मुझे यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं कि स्वर्गीय रामप्रसाद जी इसका अपवाद थे। वे एक ऐसा अद्भुत व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपने घर–परिवार को, पत्नी और

बच्चों को न केवल स्नेह–दुलार एवं सम्मान दिया अपितु उनके लिये समुचित सुख–सुविधा के साधन भी जुटाये। उसी का यह परिणाम है कि उनकी धर्मपत्नी सरोज आर्या न केवल रामप्रसाद जी के गुणों के गीत गाती हैं अपितु उनके महान गुणों के सम्मुख एक शिष्य के सदृश श्रद्धापूर्वक सिर भी झुकाती हैं। अस्वस्थ होते हुए भी पति की सेवा में जी जान से जुटी रहती थीं और अन्त समय में भी वे उनके साथ थीं।

रामप्रसाद जी की प्यारी बेटी श्रद्धा तो मानों उनकी सजीव अनुकृति हैं। उसे अपने स्वर्गीय प्रातः स्मरणीय पिता से श्रेष्ठ संस्कार और ऊँचे विचार मिले। भरपूर स्नेह और दुलार भी। फलतः आज की इस घोर भौतिकवादी आधुनिक उच्छृंखल युवा पीढ़ी में प्यारी पुत्री श्रद्धा सात्त्विक जीवन जीने वाली, निर्मल मन और पवित्र बुद्धि वाली मेधावी विदुषी हैं। उसकी रुचियाँ परिष्कृत और परिमार्जित हैं। सुपुत्र अनुव्रत आर्य भी अल्पायु होते हुए भी परम पूजनीय पिता जी के आकस्मिक निधन के उपरान्त अपनी माँजी और बहन श्रद्धा के प्रति अपना दायित्व निभाने में निष्ठापूर्वक तत्पर है।

यही नहीं बाल्यावस्था में ही आचार्य रामप्रसाद जी ने अपने बहन–भाई, माता–पिता सबका परित्याग कर वेदों के अध्ययन एवं उपासना में अपने आपको समर्पित कर दिया था। उनके प्रति उनके परिवार के शेष जीवित सदस्य यथा भाईयों, बहनों और उनके बच्चों का अनन्य प्रेम भाव देखकर तो आश्चर्य को भी आश्चर्य होता है। कैसा अद्भुत व्यक्तित्व था आचार्य रामप्रसाद जी का, जिसमें प्यार का अपार सागर लहरा रहा था। जो असीम प्रेम का स्वामी था जिसका प्रेम बँटने पर और भी बढ़ जाता था। जो कोई उनसे एक बार भी मिल लेता उसे ऐसा प्रतीत होता कि रामप्रसाद जी की उसके साथ अनन्य आत्मीयता है। पर वह आत्मीयता दर्पणवत् अनासक्त थी। दर्पण जो सम्मुख आये उसी का चेहरा दिखाता है और फिर अपने निराकार स्वरूप में लय हो जाता है।

रामप्रसाद जी का प्रेम घर परिवार की सीमाओं में ही नहीं बंधा, वह वानप्रस्थाश्रम की सब माताओं और बन्धुओं में भी बंटा। ठीक ही है जिसका प्रेम मानवता में बंट चुका हो वह मानव के साथ कैसे बंध सकता है? वे गृहस्थी साधु थे और कर्मठ योगी।

पद का गर्व भी उनके स्वभाव की विनम्रता और सेवा भावना को नहीं दबा पाया।

मेरे यहाँ दिल्ली में आते दोनों हाथों में फलों से भरे झोले उठाये हुए। मैं यह दृश्य देख कर रोमांचित हो जाती। गुरुकुल विश्वविद्यालय का विद्वान आचार्य एवं उपकुलपति, वेदों का व्याख्याता, आर्यसमाज का धुरंधर उपदेशक दोनों हाथों में फलों से भरे थैले उठाये अपनी भारतीय वेशभूषा में प्रसन्नतापूर्वक चला आ रहा है। मुझे चाणक्य की याद आ जाती।

भारत का चोटी का कोटि का महान विद्वान, अद्वितीय कूटनीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाने वाला, उसका महामंत्री एक साधारण कुटिया में रहता था। इतना ही नहीं लोक–सेवा की भावना रामप्रसाद जी के रोम–रोम में भरी थी। मानों उसे उन्हें घुट्टी में पिलाया गया, हो, माँ के दूध के साथ। मुझे ज्वालापुर उनके निवास पर कई बार जाने का सौभाग्य मिला। मैं यह देखकर दंग रह जाती कि वे कभी किसी बूढ़ी माता को चावल सस्ते दाम पर लाकर दे रहे होते थे तो कभी किसी का टूटा छाता मरम्मत कर रहे होते। कलम चलाने वाले कोमल हाथ कर्मठता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते।

अतिथि– सत्कार उनके स्वभाव की एक और अनोखी विशेषता थी। हरिद्वार तीर्थ स्थल है। गंगा जी में स्नानार्थ प्रायः लोग देश–विदेश से निरन्तर आते रहते हैं। शायद ही उनका कोई भक्त, प्रशंसक या प्रिय जब ऐसा हो जो हरिद्वार आया हो और उन्हें न मिला हो। प्रायः सारा दिन आने जाने वालों का उनके निवास पर जमघट लगा रहता। पर बिना जलपान और अल्पाहार के कोई उनके आवास से न लौटता। परिचित–अपरिचित सबसे समान व्यवहार उनकी उदारता का बेजोड़ उदाहरण है। फिर इस व्यवहार में औपचारिकता कम और आत्मीयता अधिक होती थी। इससे उन्हें बड़ी तृप्ति और सन्तुष्टि मिलती थी। इस पुनीत कार्य में उनकी सहयोगिनी धर्मपत्नी श्रीमती सरोज आर्या का भी कम योगदान नहीं अपितु यह कहना चाहिये कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त 'गृहिणी गृहयुच्यते' की बात चरितार्थ होती है। श्रीमती सरोज आर्या एक सुशिक्षित, योग्य, आर्य संस्कारों तथा उदात्त भावनाओं वाली सेवा–परायण धर्मपत्नी पाकर रामप्रसाद जी कृतकृत्य हो गये। सरोज जी ने एक सच्ची अर्द्धांगिणी बनकर उनके प्रत्येक कार्य में सहयोग दिया। विवाहोपरान्त श्रीमती सरोज आर्या ने दिल्ली की सरकारी नौकरी केवल इसलिये छोड़ दी कि जनता–जनार्दन की सेवा में रत अपने भोलेनाथ फक्कड़ पति की वे समुचित देखभाल कर सकें। उनका यह त्याग समीचीन और प्रशंसनीय था और भारत की आदर्श नारी के अनुरूप था। पतिदेव ने इसका स्वागत किया और उन्हें इतना अधिक सम्मान एवं स्नेह दिया कि 'यत्र नार्यः पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' की सूक्ति को सार्थकता मिल गई।

मानवीय करुणा और निष्काम सेवा–

आचार्य रामप्रसाद जी न केवल प्रखर प्रतिभा के धनी थे, अपितु उनके पास एक ऐसा संवेदनशील हृदय था जिसने मानवीय करुणा को मूल्य प्रदान किया। उनके हृदय से फूटी करुणा की अजस्र धारा हर दुःखी और पीड़ित की सेवा में उन्हें रस प्रदान करने लगी। धन से सेवा का ढोंग रचने वाले मिथ्या यशलिप्सा के इच्छुक पूंजीपति उद्योगपति समाजसेवियों की सूची में अग्रगण्य रहते हैं। पर तन से सेवा कर दूसरों को सुख पहुँचाना, विरले कोमल

निर्मल हृदय वाले मनुष्य ही जानते हैं। तन से सेवा दुष्कर कार्य है। इसीलिये कहा गया है– 'सेवाधर्म परमगहनो योगीनामपि दुर्लभः'। यह दुर्लभ कार्य रामप्रसाद जी के स्वभाव का मुख्य अंग था। बाल्यकाल से ही दीनदुःखियों, जरूरतमन्दों और असहायों की सेवा और सहायता उन की सहज प्रवृत्ति थी। उन्होंने अपनी लेखनी और वाणी द्वारा तो आर्य–जगत् वैदिक समाज की भरपूर सेवा की जिससे उनका यश चारों ओर भारत के कोने–कोने में फैल गया। जिस गुरुकुल विश्वविद्यालय में उन्होंने ज्ञानार्जन किया और कालान्तर में वर्षों तक वहाँ ज्ञान दान दिया, वहाँ उनकी उज्ज्वल कीर्ति की पताका आज भी लहरा रही है और युगयुगों तक लहराती रहेगी। 'यशः जीवति स जीवति।' जिसका यश जीवित है वह कभी मर नहीं सकता।

रामप्रसाद जी की इस उज्ज्वल कीर्ति को चार चाँद लगाने वाली उनकी 60 वर्ष के लगभग वे पुस्तकें हैं जो 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित हुई। उपकुलपतिं पद पर रहते हुए अति व्यस्त जीवन में भी उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही, स्थान–स्थान पर उनके प्रवचनों की शीतल मंदाकिनी भी बहती रही जिसने आर्य जनमानस को वेदों की सरल व्याख्या द्वारा तृप्त कर दिया। उनकी लेखनी और वाणी का सर्वोत्तम गुण उनकी सरल भाषा और सीधी सादी शैली है। सामान्य जीवन में घटित उदाहरणों द्वारा अपनी बात को रोचक बनाते हुए वेदमंत्रों के गूढ़ रहस्यों को खोलने में वे सिद्धहस्त थे। मानों समुद्र की गहराई में छिपे हुए अमूल्य रत्नों को बाहर निकाल कर तट पर उन्हें बेमोल बिखेर दिया हो। वे रत्न जन साधारण के लिये सुलभ हो गये। पाण्डित्य–प्रदर्शन की भावना से उन्होंने अपने आपको, सर्वथा दूर रखा। सेवा और निष्काम–सेवा उनका आजीवन व्रत रहा। भलाई कर और कुएं में डाल। **"Do good & forget it".** यह उनका आदर्श वाक्य था।

ऐसे महान विलक्षण व्यक्तित्व के धनी आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार का पार्थिव शरीर भले ही आज हमारे बीच नहीं है, यह एक कटु यथार्थ है, पर उनका यशः शरीर सदियों तक अपना सौरभ और प्रकाश धरा–गगन को सुवासित एवं प्रकाशित करता रहेगा।

उस दिव्य आत्मा को कोटि–कोटि नमन्!

–प्रकाश कपूर

महासचिव– आध्यात्मिक साधना संघ

ध्यानयोग आश्रम, दिल्ली।

सहृदय व सरलता की मूर्ति

वैसे तो मेरा परिचय गुरुकुल महाविद्यालय झज्जर (हरियाणा) से ही था। उसके बाद दिल्ली में भी अनेक स्थानों पर यज्ञों पर आचार्य जी से मिलन होता रहता था। उनके प्रवचन सुनने का भी सौभाग्य मिला। उनके प्रवचनों का जनसाधारण में बहुत प्रभाव होता था। उसका कारण था उनके प्रवचन में मधुरता, कथात्मकता व आत्मीयता होती थी। वे बोलते बोलते इतने अधिक भावविभोर हो जाते थे, अनेक बार नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती थी। उनके प्रवचन सदा वेदमूलक ही होते थे, किन्तु वेद की गम्भीर बातों को लौकिक दृष्टान्तों व कहानियों से इतना अधिक रोचक बना देते थे जो श्रेष्ठ जनों को सरलता से हृदयंगम हो जाती थी। जो उनके प्रवचनों को एक बार सुन लेता था, उसकी उत्कण्ठा बार–बार सुनने को सतत बनी रहती थी। स्व0 आनन्द स्वामी जी की भाषण शैली ही आपको अतीव प्रिय थी।

जब आचार्य जी गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी (हरिद्वार) में गुरुकुल के रीडर, आचार्य, कुलपति आदि पदों पर कार्यरत थे उन दिनों में मेरा अनेक बार मिलन उनसे हुआ। उन दिनों मिलते ही कहा करते थे, मेरी प्रबल इच्छा है कि आप और आचार्य सुदर्शन देव जी विश्वविद्यालय में ही आ जाओ। और कहा करते थे सों की विद्या का लाभ यहाँ के छात्रों को मिले तो अच्छा रहेगा। उनका स्वभाव बहुत मधुर, मितभाषी, मृदु था, कठोरता तो कभी प्रिय ही नहीं थी। नम्रता के तो वे पुजारी थे। **"नमन्ति फलिनो वृक्षाः, नमन्ति गुणिनो जनाः"** की भावना उनके प्रत्येक कर्म में झलकती थी।

वे स्वाध्यायशील थे। 'स्वाध्यायान्माप्रमदः' का उपदेश उनके आचरण में रमा हुआ था, खाली बैठना तो वे जानते ही न थे। स्वाध्याय में भी वे वेदों को प्रमुखता देते थे। उनके निवास पर कोई व्यक्ति आ जाता तो उनका घर का बहुत बड़ा भाग स्वाध्याय की पुस्तकों से ही भरा होता था। बाहर से आने वाले व्यक्ति को भी उपहार स्वरूप अपनी पुस्तकें भेंट किया करते थे।

अतिथि सेवा के आचार्य जी परम भक्त थे। किसी विद्वान व संन्यासी के घर आने पर यथाशक्ति श्रद्धा से सेवा करते थे। पहले अतिथि को खिलाकर तब आप खाते थे। प्रतिदिन सन्ध्या व अग्निहोत्र उनकी दिनचर्या में रम गया था। सन्ध्या का समय होते ही पूरे परिवार के साथ मिलकर ईश्वरोपासना व यज्ञ अवश्य करते थे। कितना भी आवश्यक कार्य हो किन्तु उनकी इस दिनचर्या में कभी अनध्याय नहीं होता था। बड़े पदों पर आसीन होकर भी अपनी दिनचर्या में किसी प्रकार का अवरोध न होने देना आपकी बड़ी विशेषता थी। वे

स्वभाव से धार्मिक वृत्ति के थे। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेसां न समाचरेत' अर्थात् जो बात अपने प्रतिकूल है, जो व्यवहार अपने अनुकूल नहीं, वे दूसरे के साथ भी कभी उसे नहीं अपनाते थे।

श्री आचार्य जी निराभिमानी थे, कभी आत्मश्लाघा नहीं चाहते थे। क्रोध करते हुए कभी नहीं देखे गये। सदा ही प्रसन्न मन और शान्त स्वभाव रहते थे। उनके विषय में नीतिकारों ने ठीक ही लिखा है–

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनादयैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवाद निवृत्तैः क्वचित् क्वचित् मण्डिता वसुधा।।

अर्थात् जो अप्रिय वचन बोलने में दरिद्र हैं, प्रियवचन बोलने के ही धनी है, अपनी पत्नी से सदा सन्तुष्ट रहते हैं, ऐसे सत्पुरुषों से यह भूमि कहीं–कहीं ही अलंकृत होती है।

काल की गति बड़ी विचित्र है कि ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों को भी समय से पूर्व ही काल कवलित करने से नहीं छोड़ते। उसका जीवन बड़ा ही आदर्श था। वैदिक शिक्षायें तो उनके व्यवहार में रम गई थी। अथर्ववेद का यह मन्त्र तो बहुत ही उन पर चरितार्थ हो रहा है–

मधुमन् मे निष्क्रमणम्,
मधुमन् मे परायणम्।
वाचावदामि मधुमद्
भूयासं मधुसंदृशः।। (अथर्व0 1–34–3)

यद्यपि संसार में सरल हृदय होकर निवास करना बहुत कठिन है, किसी संस्कृति कवि ने लिखा है–

नात्यन्तैः सरलैर्भाव्यं गत्वापश्य वनस्थलीम्।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जाः तिष्ठन्ति पादपाः।।

बहुत सरल स्वभाव का होना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वन में जाकर देखो जो शाखा सीधी तथा काम में आने वाली होती है, उसी पर परशु पहले चलता है और जो टेढ़े मेढ़े होते हैं, उनको कोई काटता नहीं हैं। प्रतीत होता है कालबलि ने भी सरलता की मूर्ति को हमसे असमय में ही छीनकर उनके अमृतपान से हमें वञ्चित कर दिया है। भगवान् से मेरी करबद्ध विनती है कि ऐसे सहृदय, सरल, मधुर तथा वेद के अनन्य भक्त को संसार में पुनः भेजकर जगत् के अविद्यान्धकार को दूर कराने में सहायक बनें।

– राजवीर शास्त्री
(सं0 दयानन्द सन्देश)
मोदीनगर।
दि0 19–7–99

"एक मुलाकात जो कभी भूल न पाऊँगा"

श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार से मुझे जीवन में एक ही बार मिल पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पिताजी श्री रतीराम शर्मा (सिलीगुड़ी) ने एक दिन का कार्यक्रम मुख्यतः उनसे भेंट करने के लिये ही बनाया था।

जब उनके घर वेदसदन पहुँचे तो उनकी व उनकी धर्मपत्नी की आत्मीयता से हम सब अभिभूत हो गये। उनके आतिथ्य में औपचारिकता नहीं, गहरा प्यार झलक रहा था। पिताजी और माताजी के लिये ये मुलाकात/भेंट पहली नहीं थी इसलिए उनकी वार्ता में पहली मुलाकातों की बातों का प्रभाव मैं पढ़ पा रहा था। कुछ देर में ही वे वेद–प्रचार के कार्यक्रमों की चर्चा में जुट गये। आचार्य रामप्रसादजी ने बताया क़ि पुस्तकों की रचना 50 तक पहुँच गई है, और आगे कार्य जारी है। कैसेट भी कई आ गए हैं। कुछ देर में ही उठकर अंदर गए और ढ़ेर सारी पुस्तकें व कैसेट ले आये– हमें देने के लिए। पिताजी ने उनसे आग्रह किया कि एक पुस्तक आप और लिखें जिसका प्रकाशन व्यय मैं वहन करूँगा। कुछ पुस्तकों के प्रणयन की भूमिका का जिक्र करते हुए उन्होंने अपने भावपूर्ण अनुभव सुनाए। कुछ अनुभवों की मार्मिकता इतनी गहरी थी कि उनके आँखों के कोर गीले हो गये।

फिर कुछ चर्चा उन्होंने अपने निजी जीवन के सम्बन्ध में की। 'मेरे जीवन को बनाने में मेरी बहन का बहुत योगदान रहा है।' 'मेरे माता–पिता मुझे जल्दी ही छोड़कर चले गए थे। मेरी बहन ही मेरा सम्बल व मार्गदर्शक बनी। अभी भी जब आती हैं, तो बहुत खुश होकर लौटतीं हैं।' बहन की खुशी को बनाएं रखने में उनकी धर्मपत्नी की जो भूमिका थी– वह बहुत स्पष्ट थी।

वेद पर और श्रम करना चाहते थे और प्रत्येक कक्षा के छात्र–छात्राओं के लिए वे वेद को सुलभ करना चाहते थे।

कुछ बातें और हुई और उनकी पुस्तकों व कैसेटों का खजाना लेकर हम लोग दिल्ली लौट आये। मैंने एक–एक कर उनकी पुस्तकें पढ़ीं। उन पुस्तकों से मुझे उनकी वार्ता इतनी गहरी जुड़ी हुई दिखाई दी, जैसे कि उन्होंने अपने जीवन के अनुभूत सत्यों को ही इन पुस्तकों में उजागर कर दिया है।

मैंने उनकी पुस्तकों की कुछ अन्य विद्वानों से भी चर्चा की। डा0 वागीश आचार्य, प्राचार्य, आर्य गुरुकुल ऐटा से जब मैंने चर्चा की तो उन्होंने बताया कि उपनिषद के कुछ मंत्री

की इतनी सहज और ग्राह्य व्याख्या जो उन्होंने की है– वह मुझे कहीं भी नहीं मिली।

मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं एक बार उनसे फिर मिलकर आऊँगा। उनकी बेटी श्रद्धा और बेटे अनुव्रत से भी थोड़ी देर मुलाकात हुई, दोनों के संस्कारों ने मुझे प्रभावित किया। दिल्ली आकर बेटी श्रद्धा से कई बार फोन पर भी सम्पर्क हुआ पर मेरी उनसे चर्चा करके उनके गहन–ज्ञान से लाभ उठाने की इच्छा अधूरी ही रह गई।

जब मुझे उनके दैहिक शरीर छोड़ने की सूचना अखबार के माध्यम से मिली तो मुझे बहुत दुःख हुआ। पिताजी को भी मैंने सिलीगुड़ी खबर की।

जीवन की लम्बाई एक बात है, और गहराई दूसरी। 'कितना जिया' से ज्यादा महत्वपूर्ण है, 'कितना किया और कैसे जिया'।

'मौत तो वह है जिसका करे ज़माना अफ़सोस वरना तो लोग हर रोज़ मेरा करते हैं।'

आचार्य जी ने 'अग्निना अग्नि समिध्यते' के अनुसार न जाने कितनी ही आत्माओं के यज्ञकुण्ड में अग्न्याधान किया होगा। जब मुझे एक ही भेंट में इतना गहरा छू गए, तो जो भाग्यवान उनके निकट सानिध्य में रहें होंगे, उन्होंने उनके पवित्र जीवन से कितना कुछ पाया होगा। इन पंक्तियों को लिखते समय मेरी आँखें आर्द्र हैं, और एक आँसू बांयी आँख से छलक कर गिर भी पड़ा है – उनकी स्मृति में।

उनकी सहधर्मिणी ने उनके संकल्पों को पूरा करने का बेड़ा उठाया है– जो स्तुत्य है। मैं ईश्वर से उनके इस संकल्प को पूरा करने के लिये उनकी शक्ति व साधन दें– ऐसी प्रार्थना करता हूँ।

न जाने मेरे जैसे कितने ही हृदय उनके वियोग से दुखित हुए होंगे, पर उनका यशः शरीर तो सदा विद्यमान रहेगा। वेद की ज्योति जो उन्होंने दीप्त की है, उसे हम बढ़ाकर उनके काम को कुछ आगे ले जा सकते हैं। **जो "दिया" उन्होंने जलाया है, उसे सब आशीष दें– यह कामना है।** पुनश्चः जब मैंने यह संस्मरण पिताश्री को सुनाया, तो उनकी आँखें भी सजल हो गयी। संक्षेप में उन्होंने कहा– वे एक महान विद्वान और महान वेदरक्षक थे। मुझे उनकी स्मृति बनी रहती है।

– डॉ0 आनन्द कुमार शर्मा
कार्यकारी निदेशक (सतर्कता)
रेल मंत्रालय, रेल भवन
नई दिल्ली–110001

'राम' तो राम थे

परम आदरणीय आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार के मन में किशोर अवस्था में ही दसवीं कक्षा पास करने के पश्चात् संस्कृत एवं वेदों के पढ़ने की ऐसी तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि वह मार्ग दर्शन के लिए चन्दोसी में अपना घर छोड़कर वहाँ से हमारे पास रेणुका आ गए। आदरणीय भ्राता बालमुकंद जी एवं भाभी जी (राम जी की बहिन) तथा मैंने आपस में विचार विमर्श करके यह निश्चय किया कि राम जी को यमुना नगर के पास वैदिक साधन आश्रम में पूजनीय स्वामी आत्मानंद जी के पास पढ़ने के लिए भेजा जाए।

पूज्य स्वामी जी पाकिस्तान में रावलपिंडी के पास गुरुकुल रावलां के आचार्य थे। श्री स्वामी जी त्यागी तपस्वी एवं वेदों के प्रकांड विद्वान थे। सौभाग्य से मेरा रावलपिंड़ी में उनसे सम्पर्क हुआ था। मेरे मन में श्री स्वामी जी के लिए अगाध श्रद्धा थी। वह भी मेरे साथ बहुत स्नेह करते थे। जब भी मैं किसी वेद मंत्र के अर्थ जानना चाहता था और उनसे पूछता था, तो वह मुझे प्यार से अपने पास बिठा कर मन्त्र का अर्थ अति संक्षिप्त और सरल ढंग से समझा देते थे।

अतः मैं रामप्रसाद जी को पूज्य स्वामी आत्मानंद जी के चरणों में वैदिक साधन आश्रम में ले गया, और उनको वेदों और संस्कृत पढ़ने के विषय में बता दिया। श्री स्वामी जी ने कहा आप निश्चिन्त होकर इन्हें मेरे पास यहाँ छोड़ जाओं। इसके पश्चात मैं दो तीन बार रामजी को मिलने वैदिक साधन आश्रम गया। हर बार मैंने रामजी को सादे और अल्प वस्त्रों में पढ़ाई में मग्न देखा। एक बार जब मैं राम जी को मिल कर स्वामी जी को मिलने गया, तो स्वामी जी ने पूछा, आप अपने रामप्रसाद को मिल आए? मैंने उत्तर में कहा, राम अब हमारा राम नहीं है। यह आपका राम है। स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा, कुछ समय के पश्चात् राम तो मेरा भी नहीं रहेगा, यह तो जन जन का राम हो जायेगा।

आचार्य राम उच्च कोटी के वेदों के विद्वान थे। आचार्य राम मधुर भाषी मन वचन और कर्म से सत्यवादी, अहिंसावादी, धर्मात्मा, और मिलनसार थे। उनका जीवन सादा और सरल था। वह लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या–द्वेष और क्रोध से रहित थे। आचार्य राम संयमी, नम्र, सन्तोषी, सहनशील, तन मन से शुद्ध पवित्र, ईश्वर विश्वासी, श्रद्धालु तथा प्रभु भक्त थे।

सबका भला चाहने वाले परोपकारी थे। आचार्य राम का जीवन यज्ञमय जीवन था। कौन सा ऐसा गुण है जो राम में नहीं था?

कहतें हैं गुणों में एक दोष होता है। वह यह दोष होता है कि सारे गुण एक व्यक्ति में इकट्ठे नहीं हो सकते। किन्तु आचार्य राम में सभी गुणों ने इकट्ठे हो कर अपने इस दोष को मिटा दिया, अर्थात् वह सभी गुण सम्पन्न थे। आचार्य रामप्रसाद जी के सभी गुणों का वर्णन करना तो कठिन है, तथापि कुछ गुणों का वर्णन मैं अवश्य करना चाहता हूँ।

त्यागः– आचार्य राम के दो भाई और थे। एक बड़ा था, एक छोटा था। चन्दोसी में इनका कपड़े का अच्छा व्यवसाय था, घर में हर प्रकार की सुख सुविधा थी। परन्तु आध्यात्मिकता की, वेंदों के अध्ययन की एवं संस्कृत पढ़ने की तीव्र इच्छा के कारण घर–बार त्याग दिया।

नम्रताः– आचार्य राम गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य थे। वेदों के प्रकांड विद्वान थे। उच्च कोटि के वक्ता थे। ओजस्वी, तेजस्वी, माननीय व्यक्ति थें। तथापि मेरे पांव छूते थे। इसलिए कि मुझसे आयु में कम थे। इससे मुझे बड़ी शर्म महसूस होती थी, कि एक ऐसा महान व्यक्ति मुझ जैसे साधारण जन के पांव छुए। क्या यह नम्रता की पराकाष्ठा नहीं?

सम्मानः– आचार्य राम को कई संस्थाओं की ओर से सम्मानित किया गया था। परन्तु राम के लिए मान–अपमान बराबर थे। क्योंकि राम तो उजले वस्त्रों में भी सच्चे साधु संन्यासी थे।

प्रिय सत्यः– मनुस्मृति में लिखा है, सत्य बोलो; प्रिय सत्य बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो। आचार्य राम मनु महाराज के इस निर्देश का मन, वचन और कर्म से पालन करते थे।

मधुर भाषीः– राम के सम्पर्क में जो भी आता था, उनकी मधुर मीठी वाणी और सद्व्यवहार से अति प्रभावित हो जाता था। और ऐसा अनुभव करता था कि राम तो केवल मेरे ही प्रिय हैं। राम का प्रवचन, उदाहरणों के साथ, वेद मंत्रों की सरल व्याख्या प्रत्येक के मन को मोह लेती थी। प्रत्येक श्रोता बार–बार उनके प्रवचनों को सुनना चाहता था।

यज्ञमय जीवनः– राम जी का जीवन यज्ञमय जीवन था। घर पर हों या बाहर हों, हवन प्रति–दिन करते थे। तथा जन–जन को यज्ञ की प्रेरणा भी करते थे। अधिकाधिक लोगों को यज्ञ कराते भी थे। वेद प्रचार द्वारा ज्ञानामृत बांटते थे। तथाधर्म प्रचार द्वारा मानव मात्र का उपकार करते थे। स्वयं कष्ट उठाकर भी सब का भला करते थे।

साहित्य रचनाः– आचार्य राम जी ने आस्सी के लगभग छोटी–बड़ी पुस्तकों की रचना की

थी। सभी पुस्तकें सर्वोत्तम हैं। अनेक विषयों पर वेदों, शास्त्रों के आधार पर, सरल, स्पष्ट, मनोरंजक तथा प्रेरणादायक पुस्तकों की रचना की गई है। राम जी सभी पुस्तकें "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" द्वारा प्रकाशित कराते थे। और निशुल्क बांटते थे। वास्तव में तो राम जी, पुस्तकों द्वारा ज्ञान अमृत बांटते थे। हजारों लाखों पाठक रुचि पूर्वक राम जी की पुस्तकें पढ़कर लाभ उठाते थे। तथा अपना जीवन सफल करते थे। अब भी राम जी की पुस्तकें अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से पढ़ी जा रही हैं। राम जी की पुस्तकें प्रेरणा के स्रोत हैं। अमृत के घूँट हैं। अनेक दानी सज्जन श्रद्धा से, "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" को जी खोलकर दान देते रहते थे।

प्रभु भक्तिः– रामजी नियमित रूप से प्रतिदिन संध्या–हवन, प्रार्थना किया करते थे। सत्संग में जब कभी प्रभु भक्ति के भजन गाते थे तो सभी श्रोता भावविभोर हो जाते थे।

वेद प्रचारः– आचार्य राम वेद प्रचार, धर्म, प्रचार की धुन में दूर–दूर तक जाते रहते थे। ऋषि जन्म स्थान टंकारा (गुजरात) तो दो तीन बार गए थे। अंतिम दिनों में रोग ग्रस्त होते हुए भी प्रचारार्थ चंडीगढ़ चले गए थे। वहाँ पर ही उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई। वह अपने परम पिता की गोद में चले गए। उनके इस नश्वर शरीर के त्यागने पर, प्रत्येक छोटे बड़े, गरीब–अमीर, नर–नारी, बाल –वृद्ध, साधु–सन्त, सबकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। राम तो राम थे, राम सबके प्यारे थे, सबके दुलारे, सबकी आँखों के तारें थे। राम तो राम थे।

परिवारः– आचार्य राम जी की पत्नी श्रीमती सरोज देवी विदुषी देवी है। उनमें भी राम जी के समान कई गुण हैं। शालीनता, नम्रता, सेवा भावना, परोपकार की भावना, आदि उनके सद्व्यवहार से स्पष्ट उजागर होते हैं। राम जी की सुपुत्री श्रद्धा के वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चारण और सुन्दर भजन स्वयं मैंने सुने हैं। बेटी श्रद्धा विदुषी हैं, शालीनता, नम्रता, मृदुता आदि गुणों में अपनी माँ के समान है। रामजी के सुपुत्र अनुव्रत सभ्य है, मिलनसार हैं। उनमें भी प्रेम भावना, सेवा भावना में कोई कमी नहीं है। वह भी अपने पिताजी के समान मधुर भाषी बड़ों का आदर सम्मान और सेवा करने वाले हैं। आचार्य राम का परिवार धर्मपरायण तथा यज्ञ प्रेमी हैं। सभी पाठकों को आचार्य राम जी और उनके परिवार का अनुकरण करना चाहिए। मानव मात्र के लिए उनका जीवन अनुकरणीय है।

– पिशोरीलाल,
प्रेम ददाहू, ज़िला सिरमौर,
हि0 प्र0

वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना।
तुम्हीं सो गए दास्तान कहते कहते।।

भ्राता राम! फिक्र न करो। तुमने वैदिक सेना के अनुपम महारथी की तरह वीरगति पाई है। तुम्हारे अनुव्रती, तुम्हारी भार्या, तुम्हारे सहयोगी और अनेक उपकृत, प्रशंसक तुम्हारा धनुष उठाकर युद्धभूमि में तुम्हारे लक्ष्य को प्राप्त करने को अधीर हैं। तुमने वेद के अमर संदेश को घर घर पहुँचाने का जो संकल्प धारण किया था, उसे यह पूरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। तुम जैसे योद्धा का स्थान तो कोई पूरा नहीं कर सकता। फिर भी यथा साध्य ज़ो हो सकेग़ा, किया जायेगा।

आचार्य गोवर्धन शास्त्री (1881 – 1927) स्वामी श्रद्धानन्द के वक्त में गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय के मुख्याध्यापक रहे। स्वामी जी की प्रेरणा से उन्होंने रसायन और भौतिकी की पाठ्य पुस्तकों की हिन्दी में रचना की। फ्रांस के मशहूर दार्शनिक रूसो की 'ऐमील' का 'माँ और बच्चा' नाम से हिन्दी रूपान्तर किया। बाद में दिल्ली से 'प्रहलाद' नाम की पत्रिका निकाली और रामजस हाईस्कूल के प्रथम मुख्याध्यापक रहे। सन् 1920 में अपने वतन डेरा ग़ाज़ी ख़ान (जो अब पाकिस्तान में है) के आर्य सज्जनों के आग्रह पर, दिल्ली छोड़, डेरा में ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल स्थापित किया। उन का जद्दी ग्राम वहाँ की संघड़ तहसील का मुख्यालय तौंसा शरीफ़ था। वहां केवल मिडिल तक वर्नाक्यूलर स्कूल ही था। वहाँ हाईस्कूल चलाने के लिए उन्होंने संघड़ विद्या सभा की स्थापना की और अंग्रेजी, संस्कृत तथा आर्य भाषा के अध्ययन अध्यापन के लिए संघड़ ऐंग्लो–वर्नाक्यूलर हाई स्कूल खड़ा किया। ऐसे कर्मठ, पुरुषार्थी आर्य योद्धा की जन्मशती (1981) के अवसर पर संघड़ विद्या सभा ने गोवर्धन सम्मान प्रतिष्ठित किया, जो ऐसे विद्वान को दिया जाना निश्चित हुआ जिसने वैदिक मूल्यों, वैदिक सभ्यता, वैदिक, वैज्ञानिक आचार–विचार के प्रचार, प्रसार में श्लाघनीय कार्य किया हो।

प्रथम पुरस्कार के लिए चयन समिति ने आचार्य रामप्रसाद को सबसे अधिक उपयुक्त पाया। तदर्थ प्रशस्ति–पत्र में कहा गया कि वेद–वेङ्गाग का अध्ययन–अध्यापन प्रो0 रामप्रसाद वेदालंकार के जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार का संकल्प लेकर आपने निश्चय किया है कि वैदिक साहित्य ऐसे सरल, सुबोध रूप में प्रकाशित हो जिससे सामान्य योग्यता रखने वाला व्यक्ति भी उसे सहज हृदयंगम कर लाभान्वित हो तथा उसके मानवतावादी सही रूप का परिचय प्राप्त कर सके। आपके इस महत्त्वपूर्ण की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि आप वैदिक साहित्य को बेचते नहीं हैं। श्रद्धापूर्वक दान देने वाले महानुभावों के सहयोग से आप उसे 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित करके सुपात्रों में वितरण करने का प्रयास करते हैं।

11 ऐप्रिल, 1981 के दिन गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के 81वें वार्षिकोत्सव पर प्रो0 रामप्रसाद को **'गोवर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार'** द्वारा सम्मानित करते हुए आशा प्रकट की गई कि भारतीय संस्कृति के स्रोत वेद के प्रचार प्रसार के लिए आपका कार्य अक्षुण्ण गति से आगे बढ़ता रहेगा। तब तक आप द्वारा रचित 19 पुस्तकें सामने आ चुकी थीं। उनमें प्रार्थना सुमन, महान् विदुर के महान् उपदेश, वैदिक पुष्पाञ्जलि, वैदिक गृहस्थाश्रम, जीवनज्योति, आदि उल्लेखनीय हैं।

इस के बाद अगले 17 वर्षों में आपकी साधना निरन्तर, अनवरत् चलती रही। आपने 60 के करीब लघु पुस्तकों का निर्माण किया। हजारों वेद मंत्रों की सहज, सुगम व्याख्या की, हज़ारों ही पृष्ठ प्रकाशित किये, सैंकड़ों व्याख्यान दिए। कितने ही सम्मान अर्जित किए। इस दौरान प्रकाशित पुस्तकों में **वैदिक आदर्श परिवार, ईशोपनिषद्, नचिकेता के तीन वर, केनोपनिषद्, अष्टांग योग, क्रिया योग, दान दिए धन न घटे, जुआ मत खेलो, पुरुषार्थ करो, ईश्वर, मुझे सुखी करो**, आदि उल्लेखनीय हैं। आप की **'अनन्त की ओर'** का **'क्वैस्ट फार दि इनफाईनाईट'** नाम से अंग्रेजी रूपान्तर भी हुआ। दर असल विदेश में बसे भारतीय मूल के नागरिकों की ज़बदस्त मांग है कि आप के वैदिक साहित्य का अंग्रेजी रूपान्तर किया जाय, जिससे उन की नवोदित पीढ़ी लाभान्वित हो। गुरुकुल विश्वविद्यालय का अंग्रेजी विभाग यह कार्य हाथ में ले सकता है। वक्त था, गुरुकुल से 'वैदिक पाथ' नाम से अंग्रेजी जर्नल निकला करता था। इस की विदेश में बड़ी कद्र थी। उसे पुनर्जीवित करके उसके द्वारा प्रो0 राम प्रसाद का साहित्य विदेश में पहुँचाया जा सकता है।

प्रो0 रामप्रसाद कलम के धनी तो थे ही, बड़े ही मधुर कण्ठ, शालीन, ऋषितुल्य, धारावाहिक वक्ता, व्याख्याता थे। वेद मंत्रों की व्याख्या करते हुए वह सदैव, जनसाधारण की आप बीती के दृष्टान्त देते हुए, गूढ़ से गूढ़ पाठ को भी सरल, सुबोध बना देते थे। प्रो0 रामप्रसाद की वर्णन शैली ऐसी रोचक थी कि श्रोता अथवा पाठक के बोर होने का प्रश्न ही नहीं। वह इतना और ऐसा मधुर प्रेरणादायक साहित्य पीछे छोड़ गए हैं कि उसका जितनी बार स्वाध्याय करो, उतना ही मजा आएगा और मन शान्त, निर्मल और उत्साहपूर्ण भावनाओं से ओतप्रोत अनुभव करेगा।

ऐसे मनीषी को मेरे शत् शत् प्रणाम।

– बलभद्र भारती
(पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.
हरिद्वार)
"गोवर्धन" ए–15ए, विजयपथ,
तिलकनगर, जयपुर–302004

वैदिक वाङ्मय के कुशल व्याख्याकार

प्रो0 रामप्रसाद वेदालंकार वेद–वाङ्.मय के तलस्पर्शी व्याख्याकार हैं। वेद के मानव जीवनोपयोगी प्रयोजन को उद्घाटित करने में अपना उदाहरण आप हैं। वेद मन्त्रों को आधार बनाकर ईश्वर भक्ति, निःस्पृहता और अनासक्ति, परिवार, समाज–राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य–बोध, विवेक और नैतिकता जैसे विषयों को छोटे–छोटे जीवन–प्रसंगों द्वारा अपने प्रवचनों में बड़ी कुशलता से व्याख्यापित करते हैं। सच पूछा जाय तो आज वैदिक जगत् में वे एकमात्र ऐसे वेद कथाकार हैं, जो श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। उनकी शैली में स्वाभाविक सरलता, हृदयग्राहिता और सजीव अनुभवों की आर्द्रता की पदे–पदे प्रतीति होती है। वक्ता, विषय और श्रोता तीनों में ऐसा तादात्म्य स्थापित होता है कि वे तीन रह ही नहीं जाते, एक हो जाते हैं।

प्रो0 रामप्रसाद जी की एक विलोभनीय विशेषता की ओर बरबस ध्यान जाता है। अपने गरिमामय प्रसन्न व्यक्तित्व को पुष्प–पंखुड़ियों की तरह वे चारों ओर ऐसा बिखेर देते हैं कि स्वयं शून्य हो जाते हैं। मुझे लगता है कि उनका यह शून्य हो जाना ही उनकी उज्ज्वल उपलब्धि है। अन्यथा पांडित्य–भार से वेदकथा शून्य हो जाती।

राशिराशि जीवन के क्षणचित्रों, आन्तरिक ऊर्मियों और घर–घर, गाँव–गाँव, नगर–नगर, यात्रा–प्रवास में साकार होती अगणित जीवन–कथाओं के कोश प्रो0 रामप्रसाद, इनके माध्यम से वेद को सहज ही बोधगम्य, व्यवहार्य बना देने की अनुपम क्षमता से सम्पन्न हैं। यही कारण है कि आबालवृद्ध वनिता, सामान्य– असामान्य, पंडित–अज्ञानी, सभी अपने कोमल कान्त, स्नेहिल, भावों का पुष्प–पराग उन पर छिड़कते रहते हैं।

आइए, प्रो0 रामप्रसाद जी से भेंट करें। उनकी फ्रन्टियर से गुरुकुल कांगड़ी तक की विकट जीवन–यात्रा के चित्रपट पर हृदय रोक कर, एक मंगलमय दृष्टि डालें।

प्रो0 रामप्रसाद की फ्रन्टियर से गुरुकुल कांगड़ी तक की दुर्गम जीवनयात्रा पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो हमें आवाक् रह जाना पड़ता है। सामान्य मध्यवित्त परिवार। पिताश्री गंगा बिशन जी कपड़े के व्यापारी, जिनका 1946 में निधन हो गया। थाना, मलाकांड,

जिला मर्दान, फ्रन्टियर (अब पाकिस्तान) जैसे स्थान में जन्म। धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से विकट, विषम परिस्थितियाँ। दृष्टिपथ पर ना कोई लक्ष्य, न दिशा, न दिशाबोधक।

बालक रामप्रसाद थाना के ही गवर्नमेंट हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। पाँचवी बहन के यहाँ स्यात में और छठी की पढ़ाई रावलपिंडी में की। भारत में इस्लामी राज्य–पाकिस्तान बनने की घड़ी आ गयी थी। भारतमाता का शरीर कट रहा था। हिन्दुओं पर कत्ल, विनाश और दर–दर भटकने की काली घटायें उमड़ रही थीं। भयंकर अंधड़ की बेला आ गयी थी। रामप्रसाद जी के भाई, बहिन, माँ, भाभी किसी तरह भारत आ गये थे। रामप्रसाद पीछे रह गये थे। कहते हैं कि शहद और घी से लदे एक ट्रक में बैठकर अकेले मर्दान पहुँचे। और फिर मामा श्री भगवानदास के साथ विमान द्वारा अम्बाला आ गये। वहाँ से मामाजी के ससुर के यहाँ पटियाला पहुँचे। यहाँ उन्हें लेने के लिए भाई आ गये और पूरा परिवार जगाधरी कैम्प में रहा। रामप्रसाद यहाँ स्कूल जाने लगे।

अन्ततः पूरा परिवार चन्दौसी (उ0प्र0) आ गया और यहीं बस गया। 11 वर्ष के रामप्रसाद आदर्श हाई स्कूल, चन्दौसी में पढ़ने लगे, साथ ही भाई की जनरल मर्चैन्ट की दुकान में काम भी करते थे। नवीं में पहुँचे तो चन्दौसी आर्य समाज से सम्पर्क हो गया। अन्तःकरण में नयी दीप्ति कौंध गयी। वे बताते हैं– "वहाँ सत्य पर उपदेश सुना। दुकान में कार्य करता था। आचरण में निभा न सका। आर्यसमाज में तो उपदेश होते ही रहते थे। पुनः उपदेश सुना। साल बीत गया, सत्याचरण को आचरण में उतारने की आन्तरिक हलचल में। अन्ततः सफलता दृष्टिपथ पर प्रकटी। मैं तृप्त हुआ।" श्यामसुन्दर हाईस्कूल से 52/53 में मैट्रिक हुए और पढ़ाई छूट गयी।

प्रो0 रामप्रसाद जी कहते हैं, 'आर्यसमाज चन्दौसी' में ईशावास्य पर एक संन्यासी का व्याख्यान सुना। वे एक घंटा बोले। मैंने एक विद्यार्थी मित्र से पूछा– एक मन्त्र पर ये एक घंटा कैसे बोल गये? उसने कहा– "यह व्याकरण का कमाल है'। प्रो0 रामप्रसाद कहते हैं, "अब मैं 11 बजे से दिन भर दुकान में काम करता और उसके पहले गीता आदि पढ़ता या इधर–उधर भटकता। दशों दिशाएँ खुली थीं, पर मुझे किसी दिशा का बोध न था। शून्य में आँखें दौड़ लगातीं। कोई रास्ता नहीं मिला। अन्तर में पढ़ने की प्रबल आकांक्षा व्याकुल करती, पर क्या पढ़ूँ, कौन पढ़ाये? दुकान में काम करता ही था।

वे कहते हैं– "गुरुकुल कांगड़ी का तो मेरे दृष्टिपथ पर कहीं पता ठिकाना भी न था। इसी समय एक आर्यसमाजी सज्जन राममोहन घी वाले ने लाला विधीचन्द्र से मेरी भेंट करवा

दी। वे मुझे व्याकरण पढ़ाने लगे"। दुकान में तो मैं काम करता था, पर किसी न किसी संन्यासी, विद्वान की खोज में रहता था। ऐसे किसी व्यक्ति से मैं मिलता, तो घरवाले शंका करते कि मैं किसी दिन घर छोड़कर चला जाऊँगा। मेरी प्रवृत्ति, मेरे लक्षण उन्हें ठीक न लगते।

मैंने अपने आर्यसमाजी रिश्तेदार श्री पिशौरीलाल जी 'प्रेम' को पत्र लिखा। मैंने उन्हें लिखा कि मैं धन कमाकर दानी नहीं बनूँगा। मैं तो वह धन एकत्र करना चाहता हूँ, जो मेरे साथ जायेगा। मैं रेणका (हिमाचल प्रदेश) उनके यहाँ गया। पर पुनः वापस घर आ गया, और व्यापार करने लगा।

'मैं बरेली चला गया। वहाँ वुड वर्किंग इन्स्टीट्यूट में सीखने लगा। घरवालों को पता चल गया। घर से माँ तथा घर के 5–6 जन आकर घर ले गये। और मैं पुनः घर वापस आ गया।'

श्री पिशौरीलाल जी 'प्रेम' को मेरी व्याकरण पढ़ने की उत्कंठा ने प्रेरित किया। घर में मेरा मन नहीं लगता, इससे वे उद्वेलित हुए। उन्होंने स्वामी आत्मानन्द को लिखा था कि एक विद्यार्थी को अपने आश्रम में बुला लीजिए। घटनाचक्र बदलने लगा। स्वामी आत्मानंद जी का स्वीकृति सूचक पत्र मेरे घर आ गया। पत्र भाई के हाथ लगा। उन्होंने वह छिपाकर रख दिया। एक दिन भाई ने रुपये लेने के लिए मुझे घर भेजा, तो वहाँ स्वामी आत्मानन्द जी का पत्र मुझे दिखाई दिया। पढ़कर मैं बड़ा दुःखी हुआ। तत्काल मैं दुकान गया और पत्र छिपा देने के लिए भाई से बहुत नाराज हुआ। मैंने स्वामी आत्मानन्द जी को (वैदिक साधनाश्रम, यमुनानगर) उत्तर दिया कि मैं पूर्व मध्यमा की परीक्षा दे रहा हूँ, समाप्त होते ही आ जाऊँगा। बरेली से आया तो पिशौरीलाल जी 'प्रेम' के जीजा जी की मृत्यु पर मुझे रेणका भेजा गया। 18 दिन मैं वहीं पर था। जंगल में जाता और देर तक रहता।

प्रो० रामप्रसाद जी कहते हैं कि 'मेरी अन्यमनस्कता और वर्तमान परिस्थिति से तटस्थता की प्रवृत्ति मुझे किसी अदृष्ट की ओर आकर्षित कर रही थी। मैं निरन्तर ये पंक्तियां गाता रहता–

कल वृक्ष देखा था हरा, तो आज सूखा दीखता,
कल फल लगे थे डाल पर, तो आज सब ही लापता।
यदि फूल सूखा आज तो, मुरझायेगी कल को कली,
सब काल के हैं गाल में, ये काल है सबसे बली।

भाई को मेरा यह विरक्ति–संगीत अच्छा न लगा, उन्होंने गाने से मना किया। इतने में जीवन–यात्रा एक अकल्पित मोड़ पर पहुँची। सभी को मेरी चिन्ता सता रही थी और सभी कुछ न कुछ मेरे सम्बन्ध में सोचते थे। मेरी बहिन मेरी विचित्र प्रवृत्ति से व्याकुल हुई। उन्होंने अपने पति से कहा, 'मेरा भाई एक दिन घर छोड़कर चला जायेगा। साधु–संन्यासियों की संगत में पड़कर गाँजा, सुलफा पीने लगेगा। उसका जीवन बरबाद हो जायेगा। यह बहुत बुरा होगा। अच्छा हो कि उसे योग्य हाथों में अपने हाथ से सौंप दिया जाय। मेरे जीजा जी को बहन की यह बात जँच गयी। उन्हें भी लगा कि कहीं भटक गया, तो बरबाद हो जायेगा। बस निश्चय हो गया कि स्वामी आत्मानन्द के पास भेज दिया जाये।

लोटा, थाली, बिछौना आदि सामान देकर मुझे श्री पिशौरी लाल जी 'प्रेम' के साथ विदा किया गया। वे मुझे स्वामी आत्मानन्द के पास साधनाश्रम यमुनानगर ले गये। उस समय स्वामी जी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान थे।

पाँच साल तक दयानन्द उपदेशक विद्यालय में वैदिक साधनाश्रम यमुनानगर के अन्तर्गत रहा। सिद्धान्त शिरोमणि परीक्षा उत्तीर्ण की। आश्रमवालों ने वहीं अध्यापन कार्य करने के लिए आग्रह करते हुए कहा कि 'इससे आप गुरु ऋण चुका सकेंगे और हम लोगों का काम हो जायेगा। मैंने स्वीकार कर लिया। स्वामी जी की मृत्यु हो गयी। विद्यालय भटिंडा चला गया। मैं भी वहाँ चला गया।

अब जीवन चक्र तेजी से घूम रहा था। लक्ष्य दूर तो था, पर राह मिल गयी थी। पं0 विद्याधर जी मुझे हरिद्वार घूमने के लिए ले गये। वहाँ आर्य वानप्रस्थाश्रम में ठहरे। डॉ0 मार्कस गुरुकुल कांगड़ी में थे। उनका वानप्रस्थ आश्रम में व्याख्यान होने वाला था परन्तु वे नहीं आये। मुझे भाषण करने के लिए कहा गया। चालीस मिनट के भाषण में मुझे जो यश मिला, वह मेरे लिए भी अकल्पनीय था। उस समय मैं 27–28 का था। मेरे भाषण से पं0 विद्याधर जी बहुत गौरवान्वित हुए। गुरुकुल कांगड़ी में मैंने 'वेद विद्यालय' का बोर्ड लगा हुआ देखा'। मैंने उसमें प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। तत्काल प्रवेश के लिए फार्म भर दिया।

वानप्रस्थाश्रम से अम्बाला गया, जहाँ आर्यसमाज में मेरा भाषण हुआ। वहाँ से भटिंडा उपदेशक विद्यालय आ गया। गुरुकुल से स्वीकृति पत्र आ गया। जाकर वेद–विद्यालय में प्रविष्ट हो गया। निवास आर्य वानप्रस्थाश्रम रहा। चार साल में वेदालंकार हुआ। दो साल में वैदिक साहित्य में एम0ए0 किया।

सफलता के शिखरपर :– प्रो0 रामप्रसाद जी अपनी निःस्पृह, निरहंकार वृत्ति को हुए बड़ी तृप्ति और सन्तोष के साथ बताते हैं– 'गुरुकुल कांगड़ी के अधिकारियों ने आग्रह किया कि यहीं रहकर अध्यापन कार्य करूँ। उन्होंने मुझे अन्यत्र जाने ही नहीं दिया। 1 अगस्त 1968 से वहीं अध्यापन कर रहा हूँ। 72–73 में रीडर बन गया। आचार्य पद पर नियुक्त हो गया। 1981 में उपकुलपति बन गया।

आशा–निराशा, योग–वियोग, निश्चय–अनिश्चय की अनदेखी, अनजानी राहों में मार्गक्रमण करते–करते प्रो0 रामप्रसाद सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचे थे। अपनी बात समाप्त करते हुए अन्त में कृतज्ञतार्द्र वाणी में वे कहते हैं–

"फ्रंटियर से गुरुकुल कांगड़ी की इस दुर्गम यात्रा की ओर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ, तो मेरी माता और भाईयों की मेरे लिए चिन्ताभरी व्याकुलता और लक्ष्यहीन जीवन का घनान्धकार दिखाई दे जाता है। पर श्री बालमुकुन्द जी और उनके छोटे भाई श्री पिशौरीलाल जी 'प्रेम' की दौड़–धूप और विवेकपूर्ण सक्रियता तो प्रभु के वरदहस्त के रूप में ठीक समय पर मुझे उपलब्ध हुई। श्री बालमुकुन्द जी की अनुपम आत्मीयता, सदाशयता मेरे भविष्य की चिन्ता और मेरे कल्याण की निःस्पृह अभिलाषा का मधुर फल मैं चख रहा हूँ। वह दिन मैं कभी भूल नहीं सकता जब मेरी बहिन ने योग्य समय में भावी संकटों की कल्पना से भयभीत होकर, योग्य हाथों में मुझे सौंपने का निर्णय मेरे जीजा जी के साथ लिया था।"

बड़े साहस के साथ आकाश से गिरी स्वाति की बूँद मरुस्थल में भी गिर सकती थी, पर सीपी के मुँह में गिरी और मुक्ता बनी। हमारे रामप्रसाद ने ऐसी ही एक छलांग लगायी थी, परिणाम कुछ भी हो सकता था। पर आज प्रो0 रामप्रसाद गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति के रूप में हमारे सामने हैं।

वेदगगन में ही निरन्तर उड़ान भरने वाले प्रो0 रामप्रसाद को विश्व वेद परिषद द्वारा 'वेदरत्न' की उपाधि न मिलती तो ही आश्चर्य की बात होती।

कई पुरस्कारों, संस्थाओं और विद्वानों द्वारा सम्मानित प्रो0 रामप्रसाद जी का अब तक शुद्ध वेद–व्याख्या वाङ्मय प्रायः चार हजार पृष्ठों का प्रकाशित हो चुका है। यह साहित्य प्रचार की सुगमता की दृष्टि से प्रायः सौ–सौ पृष्ठों की पुस्तिकाओं में उपलब्ध है। मैंने पंडित जी से कहा कि इस सम्पूर्ण साहित्य को लुप्त होने से बचाने के लिए ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करवाने की व्यवस्था करिए। ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो जाने पर यह स्थायी रूप से शुद्ध

वेद–कथा के रूप में पढ़ा जाता रहेगा और भावी वेद–कथाकारों का मार्गदर्शन भी करता रहेगा। पंडित जी ने मेरी प्रार्थना मान्य की है।

वेद सम्बन्धी भावी लेखन की योजना के सम्बन्ध में प्रो0 रामप्रसाद जी ने बड़े उत्साह से अपनी चिरपरिचित प्रसन्नता बिखेरते हुए कहां कि ''48 भागों में 'वेदाध्ययन' विषय को प्रस्तुत करने की मैंने योजना बनायी है। गुरुकुल में समयाभाव अवश्य रहता है पर यह कार्य मैं पूर्ण करूँगा।''

प्रो0 रामप्रसाद जी का एकांगी, एकाकी जीवन उस समय पूर्णता को प्राप्त हुआ जब एक सुविद्य, सुशील, संस्कारक्षम महिला श्रीमती सरोज ने उनकी अर्द्धांगिनी सहचरी के रूप में उनके जीवन में प्रवेश किया। श्रीमती सरोज एक शिक्षिका थी, जो 12 अक्टूबर 1972 को पंडित जी के साथ परिणय सूत्र में बँध गयी। श्रीमती सरोज ने पंडित जी के जीवन में मधुमिश्री ही घोल दी। आनन्द, उमंग, तृप्ति, सन्तोष, प्रफुल्लता, कृतार्थता के रूप में श्रीमती सरोज के दर्शन प्रो0 रामप्रसाद के चेहरे पर निरन्तर होते हैं। पंडित जी की तमाम उपलब्धियों का श्रेय सरोज जी के हिस्से में जाता है, क्यों कि, उन्होंने घर को पंडित जी की प्रवृत्तियों के अनुकूल बनाने में कोई कसर नहीं रखी है।

काश! कि हम प्रो0 रामप्रसाद जी की पूज्या माता जी से, उनके स्नेहशील भाई से, उनकी भाभी से, सजग हितैषी श्री बालमुकुन्द जी तथा श्री पिशौरी लाल जी 'प्रेम' से, उनकी चिन्ताशील बहन तथा प्रिय जीजा जी से पूछ पाते कि आपकी व्याकुलता, आपकी चिन्ता दूर हुई या नहीं गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति, वेदरत्न प्रो0 रामप्रसाद जी वेदालंकार को देखकर।

– जगदेव सिंह ठाकुर,
7/ए, जयव्यू,
जयप्रकाश मार्ग,
अंधेरी (प0), मुंबई–400053

एक महान् व्यक्तित्व

भारत माता धन्य हैं जिसने अपनी कोख में ऐसे लाल उत्पन्न किए हैं जिनके कार्यकलापों से न केवल भारत भूमि अपितु सारा विश्व गौरवान्वित हो गया। ऐसे ही नर रत्नों में पूज्य रामप्रसाद जी वेदालंकार 'वेदरत्न' का नाम सर्वोपरि है।

इस परिवर्तनशील संसार में असंख्य प्राणी जीवन धारण करते हैं और काल के विकराल गाल में अचानक समा जाते हैं। आना और जाना इस संसार में निरन्तर बना ही रहता है किन्तु सही अर्थों में उत्पन्न होना उसी का सार्थक है जिसके समुत्पन्न होने से परिवार, समाज और राष्ट्र की कीर्ति को चार चांद लग जाएँ। क्रूर विकराल काल ने उनको हम से सदा के लिए छीन लिया। उनके असामयिक निधन से परिवार, समाज और राष्ट्र को जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है।

जब मैंने अपने दामाद रामप्रसाद के परलोकवासी हो जाने के हृदय विदारक समाचार को सुना तो माँ होने के नाते मैं असह्य वेदना से छटपटा उठी, मेरी आँखों से बरबस आंसुओं की धारा बह निकली। उनके साथ मेरा लगभग गत चालीस वर्षों से बड़ा ही आत्मीय और घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनकी धर्मपत्नी सरोज आर्या मेरी आदर्श पुत्री हैं। उनके असामयिक निधन से मेरी पुत्री सरोज आर्या पर दुःखों का असह्य पहाड़ टूट पड़ा है। उनकी सुपुत्री श्रद्धा और सुपुत्र अपने पिता की स्नेहिल छत्र–छाया से सदा के लिए वंचित हो गए। उन्हें इतना अवसर न मिल सका कि वे अपनी पुत्री का विवाह संस्कार अपने कर कमलों से सम्पन्न कर इस उत्तरदायित्व को निभा पाते। सरोज आर्या बड़ी विदुषी, पति परायणसाधी, साहसी एवं वीरांगना है जो बड़े, धैर्य और हिम्मत के साथ असह्य दुख को सहन कर सन्तति के प्रति माता–पिता के कर्त्तव्य को निभा रही हैं।

मानव मन स्वभाव से दुःख की निवृत्ति तथा सुख प्राप्ति की प्रवृत्ति वाला होता है। परन्तु आप एक ऐसे मन–मानस के हंस थे जो दुःख व सुख से परे ईश्वर–भक्ति के आनन्द की सम–अवस्था में विचरण करते थे।

उनका जन्म विशुद्ध आर्यपरिवार में हुआ था। आर्य समाज के प्रति उनका प्रेम वंश परम्परागत था। सौभाग्य से आर्य परिवार में जन्मी और आर्य संस्कारों से संस्कारित सुपुत्री

सरोज आर्या उन्हें सहधर्मिणी के रूप में प्राप्त हुई। इनका दाम्पत्य जीवन बड़ा आदर्शपूर्ण, सुन्दर एवं सुखद रहा। वैदिक धर्म के प्रति प्रचार–प्रसार एवं समर्पण जैसा इस दम्पत्ति का देखा गया, वैसा अन्यत्र मिलना असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। इन दोनों के शरीर पृथक–पृथक थे किन्तु **"संगच्छध्वम् संवदध्वम् सं वो मनांसि जानतम्"** इस वेदाज्ञा के अनुसार मन, वचन और कर्म में सर्वदा एकरूपता थी।

आपका व्यक्तित्व एवं कृतित्व "गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय", हरिद्वार के गौरवमय इतिहास को देदीप्यमान कर रहा है। आपने कई वर्षों तक इस संस्था में आचार्य एवं उपकुलपति के गौरवमय पद को सुशोभित किया। शैक्षणिक काल में अपने स्नेह की छत्र–छाया में आपने न जाने कितने युवकों का मार्ग–दर्शन कर उन्हें सच्चा सुयोग्य नागरिक, देशभक्त एवं समाजसेवी बनाकर जीवन जीने का मंत्र सिखाया। आपने छात्रों को उत्तम विद्या दान देकर महान उपकार किया है जो अपने आप में अनुपम है।

वे आर्य समाज के प्रकाश पुंज थे। आर्य–साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको समय–समय पर अनेक पुरस्कारों से सम्मानित एवं पुरस्कृत किया गया। वेदों के प्रकांड विद्वान एवं ज्ञाता होने के कारण आपको 'वेदरत्न' की मानद उपाधि से भी विभूषित किया गया।

उनका जीवन सूर्य के समान देदीप्यमान, चन्द्रमा के तुल्य शीतल, गंगाजल सम निर्मल, गिरि–शिखर सम उच्च एवं अचल तथा सागर सम गंभीर था। आप देवता स्वरूप थे। स्वभाव में कोमलता, मधुरता, उदारता एवं सौम्यता कूट–कूट कर भरी हुई थी। 'सादा जीवन उच्च विचार' की आप साक्षात मूर्ति थे। दया और सहनशीलता आपके जीवन के अंग थे। आपके चेहरे से हर समय प्रसन्नता टपकती थी। आँखों में असीम प्यार झलकता था। हृदय में सहानुभूति एवं मन में शांति विराजत्ती थी। आपने जीवन पर्यन्त मन, वचन, कर्म से स्वप्न में भी कष्ट देना या हानि पहुँचाना नहीं सीखा। आपके सान्निध्य में बैठकर दुःखी नर–नारी शांति की अनुभूति करते थे।

आप महामानव थे। अपने दिव्य गुणों से विभूषित **'परोपकाराय सतां निभूतयः'** की उक्ति को अपने जीवन का आदर्श मान आजीवन वेद–प्रचार प्रसार एवं समाज सेवा के कार्यों में तन–मन–धन से जुटे रहे। उनके जीवन का ध्येय था **'भौतिकवादी दलदल में फँसी मानवता को बाहर निकाल कर ईश्वरीय ज्ञान व भक्ति के प्रकाश से आलौकित करना'**। इस कार्य को वे सतत् बड़ी कर्मठता, आत्मविश्वास, दृढ़ संकल्प एवं पुरुषार्थ के साथ सम्पन्न करते रहे। वे चाहते थे कि सांसारिक लोग प्रभु की शरण में जाकर लौकिक

दुःखों एवं क्लेशों से मुक्त होकर आध्यात्मिक सुख एवं आनन्द का अनुभव करें। इसके लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

आप गुणों के आगार थे। गीता का कर्मयोग उनके जीवन में अक्षरशः घटित होता था। वे सच्चे कर्मयोगी थे। उनके रोम–रोम से कर्मठता का अजस्त्र प्रवाह अनवरत प्रवाहित रहता था। निष्काम समाज सेवा, तप, त्याग, ईश्वर–भक्ति तथा धर्मपरायणता आदि गुण चिरकाल तक आपका नाम अमर रखेंगे। और आगे आने वाली पीढ़ियां सदा आपसे प्रेरणा लेती रहेगी।

जिसने सदाचार के बल पर
गुण गौरव का दीप जलाया।
दीप्तिमान रहा बुझ क़र भी,
इस जग में वह अमर कहाया।।

वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। विद्या की देवी सरस्वती के वे उपासक थे। उन्होंने शैक्षिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र को आधार बना कर जन–जन का मार्ग दर्शन किया। उनकी रचनाओं में प्रवाहित ज्ञान–कर्म की उपासना की पावन धारा, जन–मानस को वेदसुधा का पान करा कर सच्चे जीवन का मूल मंत्र दर्शाती रहेगी। आपने मानव समाज एवं राष्ट्र को जो अनुपम देन दी है वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में सदा अमिट रहेगी।

वे वेदों के प्रकांड पंडित, मनीषी, तत्व चिन्तक दार्शनिक, सफल वक्ता एवं अध्यात्म साहित्य के रचियता थे। आप वैदिक आदर्शों, वैदिक सिद्धान्तों एवं वैदिक संस्कृति के मर्मज्ञ थे। इस क्षेत्र में आपका ज्ञान अतुलनीय था। आप एक तपस्वी एवं सच्चे साधक थे। अहर्निश साधना में रत रह कर अपने अथक परिश्रम एवं साधना द्वारा वेदों का निरन्तर स्वाध्याय, चिन्तन एवं मनन कर लगभग 100 पुस्तकों का सृजन किया। 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित अनेक पुण्य रत्नों की भेंट जो आपने मानव समाज को समर्पित की, वह सदा आपका ऋणी रहेगा।

आपके द्वारा रचित साहित्य जीवनोपयोगी, शिक्षा–प्रद, प्रेरणापद, सरस एवं अनुपम है। छोटी–छोटी रचनाओं में गागर में सागर भर दिया है। आपकी भाषा–शैली बड़ी सरस, सरलता, सुबोध, प्राजंल एवं प्रभावशाली है जो पाठक के हृदय पर गहरा प्रभाव डालती है। इसे पढ़ कर पाठक का मन–मानस विभोर हो जाता है। दर्शन के गूढ़ एवं ग्राम्भीर्य विषयों को भी बड़ी सरल, सहज, भाषा में अभिव्यक्त करने में आप सिद्धहस्त थे। आपने यमनियमों को अपने आचरण में उतार कर पाठकों के समक्ष बड़े सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। आपके द्वारा

रचित अध्यात्म साहित्य अज्ञान–अंधकार में भूले भटके मानवों का पथ – प्रदर्शन कर उनके जीवन को सफल एवं सार्थक बना रहा है और बनाता रहेगा। आर्य जगत एवं मानव समाज आपकी रचनाओं की भूरि – भूरि प्रशंसा कर रहा है और करता रहेगा।

आपकी वक्तृत कला का कौशल अनुपम एवं प्रभावशाली था। आपकी वाक् पटुता, वाणी की मधुरता एवं सरसता श्रोताओं को भाव – विभोर कर देती थी। आपके प्रवचन इतने ओजस्वी, प्रभावशाली गहन – चिन्तन एवं ज्ञान से ओत – प्रोत होते थे कि श्रोतागण मंत्र – मुग्ध होकर शांत भाव से सुनते हुए अघाते नहीं थे। यज्ञ, प्रवचन आदि कार्यक्रमों में अध्यात्म साहित्य को प्रसाद रूप में जनता में वितरण करना आपकी विलक्षण देन थी।

आप अपने गुणों की गरिमा से आज भी जीवित हैं "कीर्त्तिर्यस्य सः जीवति" जिसकी कीर्त्ति है वह जीवित है। युग युगों तक आपकी यशोगाथा अमर रहेगी। आपका नाम आते ही एक सादगी, सौम्य, सज्जनता, सहनशीलता, त्यागी तथा दानवीरता आदि गुणों की मूर्ति सजीव हो उठती है। आपकी मधुर स्मृतियाँ एवं जीवन के असंख्य प्रेरक प्रसंग मानस – पटल पर सदा अंकित रहेंगे। किसी ने ठीक ही कहा है–

धन्य जीवन हो गया, उपकार में जो रम गया है।
जी उठा बन कर अनेकों, बीज बन जो गल गया है।
वह अमरता पा गया, जो लोकहित में मर गया है।
तार कर भूले जनों को, वह स्वयं भी तर गया है।

आज उनका भौतिक शरीर नहीं है परन्तु उनका यश शरीर सदा अमर रहेगा। मैं प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि ईश्वर उनकी आत्मा को शाश्वत शांति प्रदान करें एवं सुपुत्री सरोज आर्या एवं परिवार को इस असह्य दुःख को सहन करने की क्षमता दे तथा उनके बताए मार्ग पर चलने की शक्ति प्रदान करें। मैं उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करती हूँ।

दीप जलते हैं, फूल खिलते हैं।
ऐसे महापुरुष बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

– आपकी स्नेहमयी माँ लीलावती गुप्ता
सेविका– आर्य स्त्री समाज, शक्ति नगर,
28/16 दिल्ली –110 007

अतुलनीय व्यक्तित्व के धनी : आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार जी

स्वर्गीय श्री रामप्रसाद वेदालंकार जी का नाम मुँह पर आते ही मानस पटल पर उनका शालीन, सुन्दर मुस्कराता हुआ चेहरा स्वतः ही प्रकट हो जाता है। वैसे तो उनका व्यवहार ऐसा था कि सभी को लगता था मानों वे उसी के निकट सबसे अधिक हैं मगर हमारे साथ उनकी विशेष ही घनिष्ठता थी। मेरी धर्मपत्नी सत्यप्रिया जी को उन्होंने अपनी सगी बहिन से कम नहीं माना है। मिलते ही गिला करते थें कि आप हमारे निवास पर क्यों नहीं आते। पंचकुला के कार्यक्रम पर उनसे पूरी तरह से आने का वायदा किया था मगर उसके कुछ दिनों के बाद ही बहुत ही दुःखद समाचार सुनने को मिला। यूँ तो उनकी विद्वता से प्रभावित होकर निरन्तर उनसे पत्र व्यवहार होता रहता था, मगर उनके दर्शन करने का सौभाग्य तब प्राप्त हुआ जब वे आर्यसमाज मण्डी के कार्यक्रम पर आए। उन्हीं का आकर्षण हमें मण्डी ले गया था। हमारी उनके साथ चित्र खिचवाने की बहुत लालसा थी मगर वे सन्ध्या में बैठ गए। उन दिनों सुन्दरनगर को रात्रिकालीन समय में बहुत ही कम बसें आया करती थीं तथा हम छोटे–छोटे बच्चों को भी घर पर ही अकेला छोड़ गये थे मगर चित्र खिंचवाने की इच्छा भी प्रबल थी। जब वे सन्ध्या से उठे और हमने अपनी इच्छा बताई तो वे एकदम चलने को तैयार हो गए मगर सर्दियों के दिन थे अतः सभी स्टूडियों भी बन्द हो गए थे। अन्ततः एक प्रसिद्ध स्टूड़ियो (पाल) के घर का पता पूछ – पूछ कर उनके निवास पर पहुँच कर चित्र खिंचवाया। आचार्य जी को इस प्रकार भूखा गलियों–गलियों में घुमाना हमें अच्छा नहीं लग रहा था मगर उनसे जब क्षमा मांगी तो मुस्करा कर बोले, कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है .... । उसके बाद तो निरन्तर उनसे पत्र व्यवहार होता रहा और स्नेह के सूत्र भी प्रगाढ़ होते चले गए। आज भी उनके साथ लिया गया वह चित्र हमारी बैठक में शोभायमान है।

फिर निरन्तर हमारी कार्यक्रमों पर मुलाकातें होती रहीं। उनसे उनके लेखन पर अधिक चर्चा होती थी मगर घरेलू समस्याओं पर विचार करने पर भी वे बहुत अच्छी तरह से मार्ग दर्शन करते थे। मैंने उनसे कहा कि कार्यक्रमों की बहुत अधिकता रहती है अतः नौकरी

छोड़ देने का मन करता है। उन्होंने कहा कि जितनी सर्विस से पेन्शन पूरी मिलती हो तब तक तो ऐसा विचार भी मन में मत लाना और परिवार के सभी दायित्वों को भी सर्विस में रहते- रहते ही पूरा कर लो। हमारी अन्तिम भेंट उनके स्वर्गवास से कुछ महीने पूर्व ही पंचकुला आर्य समाज के कार्यक्रम पर हुई थी। वे रात को बहुत देर से आए थे। प्रातःकाल अपनी कठिनाईयां बिना किसी आक्रोश या परेशानी के सुनाते रहे तो सत्यप्रिया ने कहा कि इतनी पुस्तकों का बोझा साथ मत रखा करें। प्रातःकाल के समय भी वे उन वस्तुओं को भी चुपचाप खा लेते थे जो उनके लिए अनुकूल नहीं थी। सत्यप्रिया के टोकने पर उत्तर दिया, 'आयोजकों को अलग व्यवस्था कराकर परेशान नहीं करना चाहता हूँ.... सब कुछ ठीक ही तो चल रहा है ...." । समय का सदुपयोग करने के लिए वे रेल में तथा मंच पर भी निरन्तर अपनी कलम चलाते ही रहते थे तभी वे इतना अधिक साहित्य दे पाए हैं। एक दिन रात को चर्चा होने लगी कि प्रचार कार्य में कितनी कठिनाईयां होती हैं। आचार्य विश्व देव जी भी थे। सब अपनी-अपनी हास्यात्मक यात्राओं की चर्चा करते रहे। आचार्य रामप्रसाद जी ने चूहों वाली रजाई में सोने की घटना इतना हँस हँस कर सुनाई कि सभी लोट पोट हो गए ...., उनकी अपनी आँखों से तो हँस हँस कर आँसू टपक रहे थे। फिर कष्ट दायक घटनाओं की चर्चाऐं हुई। उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे एकदम घुप्प अन्धेरे में सफर करते रहे और फिर एक निर्जन स्थान पर टूटी फूटी स्कूल बिल्डिंग में रात काटी थी ...... ।आचार्य विश्व देव जी ने भी अपनी दुःखद घटनाऐं सुनाई मगर जब मैंने अपनी दो दुःखद घटनाओं को सुनाया तो दोनों आचार्य कह उठे कि भई इस प्रतियोगिता में तो आप ही प्रथम रहे हैं ....। स्वयं असुरक्षा में भी प्रचार करने वाले आचार्य जी ने हमें परामर्श दिया कि अपनी सुरक्षा का सदा ध्यान रखा करो तभी आप अधिक कार्य कर पाओगे। वहीं पंचकुला में एक दिन भोजन आदि करने के बाद हमारे कमरे में आचार्य जी आकर बैठ गए और बातें करते करते कब रात के दो बज गए पता ही नहीं चला। उस दिन योग ध्यान पर हमारी अधिक चर्चा हुई। अपने व्यक्तित्व के समान वे कठिन मार्ग का नहीं बल्कि सहज और सरल मार्ग से योग ध्यान करने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने बताया कि वे किस प्रकार ध्यान करते हैं। मैंने वह विधि अपनी डायरी में नोट कर ली है तथा उससे लाभ भी हुआ है। उनके बारे में लिखते – लिखते इतनी घटनाऐं और स्मृतियाँ कागज पर उतरने के लिए उतावली हो रही हैं कि बहुत अधिक लम्बा लेख हो जायेगा। पंचकुला में मेरे प्रवचन के बाद जब प्रधान ने मेरी प्रशंसा में कुछ शब्द कहे तो उसके बाद अपने प्रवचन में आचार्य जी ने ऐसे शब्द कह दिए जो मेरे लिए प्रेरणास्त्रोत बन गए हैं।

दूसरे को प्रेरित करने का उनका अपना ही ढंग था। उन्होंने सभी विद्वानों और अधिकारियों की प्रशंसा करने के बाद कहा कि चैतन्य जी जिस ढंग से चले हुए हैं, एक दिन आयेगा कि ये हमसे भी बहुत आगे निकल जायेंगे ....। फिर मेरी ओर देखकर बोले, मैंने घोषणा कर दी है अब मैं जल्दी वह दिन देखना चाहता हूँ। यह सब उनका बड़प्पन था। वे वास्तव में ही महान थे। इतने महान कि उनके जाने के बाद उन जैसा आर्यजगत में मुझे तो दिखाई नहीं देता है। उनका चले जाना उनके परिवार के लिए नहीं बल्कि समूचे आर्यजगत और राष्ट्र के लिए एक अपूर्णनीय क्षति है। वे तहरीर और तकरीर के धनी तो थे ही मगर उनकी तहरीर और तकरीर का ढंग निराला ही था। मैंने उन्हें एक विवाह संस्कार में देखा है कि एक पौराणिक पण्डित जो पहले तो बहुत अहंकार में रहा मगर उनके शालीन व्यवहार, मृदुता और पाण्डित्य को देखकर बाद में चरणों में ही गिर पड़ा। **"ऐसे जादू जो सिर चढ़कर बोले"**, ऐसे कितने विद्वान आज हमारे पास रह गए हैं, यह चिन्तनीय विषय है। उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि भेंट करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि आर्य जगत में उन जैसे त्यागी, तपस्वी तथा मृदुभाषी और निःस्वार्थी उपदेशक वर्ग पैदा हो ताकि महर्षि दयानन्द जी द्वारा पुनः प्रशस्त वैदिक विचारधारा को सारे संसार में फैलाने में हम सभी समर्थ हो सकें।

– आचार्य भगवान देव "चैतन्य"
81/एस–4 सुन्दरनगर,
जिला मण्डी (हि0प्र0) 174402

चल दिए.....

धर्म–वैदिक को निभाकर, तुम यहाँ से चल दिए।
'राम' तुम तो राम ही थे, जीवन सजाकर चल दिए।
आँसुओं के बीच जब, अर्थी तुम्हारी उठ चली।
शोक से व्याकुल जनों को, तुम रुलाकर चल दिए....
अनवरत लिखते रहे, नहीं लेखनी को चैन था।
वेद का प्रसाद सबको दे, विदा हो चल दिए....
बोलने में क्या मधुरता थी, तुम्हारी जीभ में।
दिल में सबके याद अपनी, छोड़कर तुम चल दिए....
सत्य पर चलते रहे, अभिमान से तुम दूर थे।
'आचार्य पद' को कर सुशोभित, अमर पद पर चल दिए....
क्या कहें, किससे कहें, तुम राम थे या श्याम थे।
'कांगड़ी' के बन स्नातक, नाम करके चल दिए....
सब ऋणों से हो उऋण, जीवन बनाया था सखे!
उपकार ओरों का किया, सत्कार पाकर चल दिए....
सरल जीवन, मधुर वाणी, कर्म ही बस योग था।
'वेद–सिंधु' से अनेकों, निर्झर बहाकर चल दिए....
वन्दन तुम्हे सब कर रहे, निष्पाप होकर तुम जिए।
करुणानिधि की हो दया, स्वर्ग–धाम में तुम चल दिए....

प्रस्तुत भावाञ्जलि भाई रामप्रसाद जी की स्मृति को समर्पित है। वे हमारे एक प्रकार से सहपाठी ही थे। वे वेदालंकार के छात्र थे और हम विद्यालंकार के। वे आयु में बड़े थे। इसलिए हम उन्हें सदा आदर की दृष्टि से देखते थे। उनमें गुण भी ऐसे ही थे। मुझे याद है जब एक बार 'वार्षिक उत्सव' पर संस्कृत–सम्मेलन में मैंने संस्कृत में भाषण दिया था तो उन्होंने मुझे कितना प्रोत्साहित किया था; यह बात मुझे आज भी भूलती नहीं है। कारण 'मैं हमेशा सभाओं में बोलने से कतराया करता था। उनके आचार्य व उपकुलपति पद को प्राप्त करने पर भी मुझे कभी ऐसा महसूस नहीं हुआ कि यें वें ही वेदालंकार में पढ़ने वाले रामप्रसाद जी नहीं है। मुझसे तो सदा मेरा नाम लेकर ही बात किया करते थे। अच्छे लोगों का अभाव तो सदा खलता ही है। धन्य थे वें।

– महावीर 'नीर' विद्यालंकार
विद्यालय–विभाग
गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार

अनुकरणीय व्यक्तित्व : पं० रामप्रसाद वेदालंकार

पंडित राम प्रसाद वेदालंकार का नाम लेते ही एक व्यक्तित्व सामने उपस्थित होता है जो निश्चय ही दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ विशेषताओं को लिए हुए है। पंडित जी के साथ मेरा सम्पर्क छात्रावस्था से 1964 से ही रहा तथा मैंने दूसरों की भाँति मैंने भी पंडित जी को निकट से देखा, जाना पहचाना तथा उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप मन में समाहित की। रामप्रसाद जी एक आदर्श व्यक्ति थे। विद्वान तो अनेक हो जाते हैं किन्तु विद्या को प्राप्त करके अंहभाव भी प्रायः विद्या के साथ–साथ ही मनुष्य में प्रवेश कर जाता है। पंडित राम प्रसाद जी इससे सर्वथा अछूते थे। "विद्या ददाति विनयम्" की उक्ति को सुना, पढ़ा तो बहुत है किन्तु इसे चरितार्थ होते पंडित राम प्रसाद जी जैसे कुछ ही व्यक्तियों में देखा जाता है। पंडित जी का नाम लेते ही बीते दिनों की स्मृति अभी भी सजीव हो उठती है। कई वर्ष उनके सम्पर्क में रहने का अवसर मिला। वे वेदालंकार कक्षा में अध्ययन कर रहे थे तथा मैं उनसे दो श्रेणी नीचे विद्या विनोद कक्षा में। निरन्तर कई वर्ष निरन्तर साथ रहने पर भी कभी पंडित जी के मुख पर क्रोध की रेखा मैंने नहीं देखी। स्वभाव के चिड़चिड़ेपन को तो पंडित जी ने पता नहीं कब से तिलांजलि दी हुयी थी। पंडित राम प्रसाद जी का उनके व्यवहार का स्मरण करके एक श्लोकांश बरबस स्मृति पटल पर उतर आता है–

वदनं प्रसाद सदनं सदयं हृदयं सुधा मुचो वाचः यह पंक्ति पंडित राम प्रसाद जी पर सर्वांश में चरितार्थ होती थी। सदा प्रसन्नता पूर्वक बात करना मन में दूसरों के हित की कामना, बात करें तो इस प्रकार कि मानो मुख से पुष्पवृष्टि हो रही हो। ये समग्र गुण एक ही व्यक्ति में नहीं मिलते।

पंडित राम प्रसाद जी वेद के विद्वान तो थे ही इसके साथ ही यह विशेषता है कि वेद उनके जीवन में, उनके कर्म में, उनके आचरण में अवतरित था। उनके जीवन से वेद स्वयं बोलता था। पंडित जी ने अपनी विद्वत्ता, सुमधुर वाणी तथा निश्छल व्यवहार के लिये सर्वत्र ख्याति प्राप्त की। लोगों ने उनको पर्याप्त सम्मान दिया जो उन्हें मिलना ही चाहिए था। एक विशेष बात जिसका उल्लेख यहाँ करना अनिवार्य है। वह यह कि वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर

का गुरुकुल कांगड़ी के संस्कृत छात्रों को निवास देने में प्रशंसनीय योगदान है। इस कार्य को यह आश्रम अभी भी कर रहा है जिससे परोक्ष रूप में संस्कृत एवं वेद के प्रचार–प्रसार में ही यह आश्रम योगदान दे रहा है। इस कार्य को प्रारम्भ करने का श्रेय पंडित रामप्रसाद जी को ही है। सर्वप्रथम यहाँ डॉ0 जयदेव जी जो वर्तमान में गुरुकुल विश्वविद्यालय में "डीन" हैं, तथा पंडित राम प्रसाद जी, ये दोनों ही वानप्रस्थाश्रम में रहते थे। इसके बाद पंडित राम प्रसाद जी के सत्प्रयत्नों का ही यह परिणाम था कि आश्रम में प्रतिवर्ष इस प्रकार के छात्रों को निवास दिया जाता रहा है। यह सब पंडित जी के सत्प्रयास का ही परिणाम है।

पंडित राम प्रसाद जी प्रखर वक्ता थे, लेखक थे, चित्रक थे। आर्यसमाज में उन्हें प्रायः सर्वत्र वेदोपदेशार्थ बुलाया जाता था। इन सबसे बढ़कर वे सहृदय मनुष्य थे, वेदानुरागी थे, ईश्वर भक्त थे। इसीलिए उनके जीवन में शान्ति थी, सन्तोष था। उनका जीवन एवं कार्य दोनों अनुकरणीय हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को उनका लम्बे समय तक निर्देशन एवं योगदान प्राप्त हुआ। उनकी स्मृति में यह अंक निकाल कर विश्वविद्यालय का अनुसंधान विभाग अच्छा ही कार्य कर रहा है। गुरुकुल विश्वविद्यालय को ऐसे सुयोग्य स्नातकों पर गर्व है। यदि ऐसे सुयोग्य तपस्वी स्नातक गुरुकुल से निकलें तो इस गुरुकुलोद्यान की सुगन्धि सर्वत्र प्रसृत्त होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। पंडित राम प्रसादजी असमय में चले गये। यह विधाता का विधान ही है जिसमें हम सभी बंधे हैं इसका उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता। अभी उनकी आवश्यकता थी। उनके आदर्श अनुकरणीय थे। पंडित जी के प्रति यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी कि हम उनके आदर्शों का अनुकरण करें। गुरुकुल से पंडित राम प्रसाद जी जैसे सत्‌चरित्र, विद्वान निकलें तभी उनके साथ हम अपना सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। पंडित जी की पुण्य तिथि पर उनको सादर नमन्।

– रघुवीर वेदालंकार
वी–266, सरस्वती विहार,
दिल्ली–110034

"विद्वान और सन्त"

कालवा गुरुकुल की तपस्थली। व्याकरण की कठोर शिक्षा। पवित्र ब्रह्मचारियों का साथ । तेजस्वी आचार्यवर की तीक्ष्ण निगरानी। वहीं पर एक वार्षिक उत्सव का समारोह था। एक ब्रह्मचारी ने एक वेद मन्त्र की व्याख्या की। मैं उसे जानता था। इतना सुन्दर व्याख्यान उसके वश की सोच नहीं थी। कहीं से रटा था उसने। बाद में उसने जहां से व्याख्यान रटा था वह किताब मिल गई मुझे। हु ब हु सबकुछ किताब में लिखा था। वह पुस्तक थी **वेद रश्मि**। यही था पहला परोक्ष परिचय आचार्य जी से मेरा।

पूज्यवर आचार्य रामप्रसाद जी बाद में जाकर मेरे लिए इतने सहयोगी बनेंगे, मैं कैसे जान पाता उस समय। जब मैं प्रचार क्षेत्र में उतरा मेरी उम्र कम थी। कार्य गम्भीर था। उस समय मेरे पास साधन के रूप में वंशपरम्परा से आई हुई श्रद्धा भक्ति तथा वैदिक गुरुकुल से पाई हुई शिक्षा के अलावा कुछ भी नहीं था। भक्तवत्सल भगवान ने चमत्कार किया। थोड़े ही दिनों में देश के कोने–कोने से निमन्त्रण आने लगे। परिचय क्षेत्र बढ़ता गया। आर्य समाज के सभी विद्वानों, साधु महात्माओं तथा भजनोंपदेशकों के दर्शन करने का सौभाग्य मिला। सबका व्यवहार, शास्त्र ज्ञान, आचरण एवं प्रचार का तरीका देखा। आज भी यह यात्रा जारी है। सब के पास कोई न कोई प्रतिभा होती है। तभी उनकी समाज में आवश्यकता होती है। तभी वे प्रचार क्षेत्र में बने रहते हैं।

परन्तु पूज्य आचार्य जी की मुझ पर सबसे ज्यादा गहरी छाप पड़ी। क्या था ऐसा उनमें? क्यों मैं उनको अपना सबसे अच्छा हितैषी मानने लगा? अनेको बार पूज्य आचार्य जी के साथ एक मन्च में प्रवचन करने का मौका मिला। उनके अमृत वचन सुनने को मिले। ऐसे सिर्फ एक ही विद्वान आर्य जगत में मिले जिन्होंने मुझे दिल से अपनाया। मेरे ऊपर आशीर्वाद का वरद हस्त रखा। ऐसा क्यों? मैंने कभी उनकी कोई सेवा नही की। क्योंकि वे भी रात दिन अत्यन्त व्यस्त रहते थे। इधर मैं भी व्यस्त था। फिर भी वे मेरे सबसे करीब थे तपोवन आश्रम देहरादून में साधनारत माता नरेन्द्रा बब्बर जी हैं। वे आचार्यश्री की धर्म बहन हैं। माता जी का मेरे ऊपर उपकार है। मुझे आचार्य जी के करीब ले जाने में माता जी का बहुत बडा हाथ रहा है। माता जी तो आचार्यश्री की महिमा गाथा सुनाती ही थीं। सचमुच जब मैं पूज्य आचार्य जी के निकट आया तो समझ गया कि माता जी ने उनके लिए जो कुछ भी बोला था वह अक्षरशः

सत्य था। बल्कि एक गुरुकुल स्नातक होने के कारण मैं और भी ज्यादा पूज्य आचार्य जी को समझ सका।

मैंने प्रत्येक मिलन पर आचार्यश्री को केवल सुना ही नहीं, उनको करीब से देखा भी। उनकी स्मृति वेद की पावन ऋचाओं से ओत–प्रोत थी। उनकी प्रज्ञा मन्त्र के गूढ़ रहस्य को विस्तार से खोलने में निपुण थी। उनकी जिह्वा पर सरस्वती का वास था। उनकी आखों से करुणा और प्रेम के अश्रु झरते थे। वेद माता के सच्चे भक्त। ऋषि परम्परा के प्रबल समर्थक। आर्य विद्वानों के मुकुटमणि थे आचार्यवर। प्राणी मात्र के हितैषी। मधुरभाषी। उदार हृदय तथा सरलता की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे आप। अजातशत्रु नाम जिस तरह पाण्डवों में केवल युधिष्ठिर को प्राप्त था। ठीक इसी तरह आर्यजगत् के सभी उपदेशको, विद्वानों, वक्ताओं में सिर्फ पूज्य आचार्य जी को ही यह नाम शोभा देता है।

आचार्यवर ने इस घृणा द्वेष से आकीर्ण संसार में वैदिक प्रेम–अमृत का संचार किया। आपने सदा सबको जोड़ने का काम किया। आपको प्रशंसा करने की ऐसी सुन्दर आदत थी कि निन्दा बेचारी आपको छू भी नहीं पाई। मेरे पास ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो आचार्यश्री की महानता और पवित्रता को उजागर करते हैं। परन्तु यहाँ वे प्रसंग उतर नहीं सकते।

वे असमय में हमारी आँखों से ओझल हो गये। मैं विश्वास न कर सका कि उन्होंने नश्वर काया छोड़ दी है। बहुत दिनों तक मन अशान्त रहा। उनके प्रयाण पर हर दिल रो उठा है। लेकिन उनके दिवंगत होने से जो मेरा नुकसान हुआ वह बिल्कुल अलग तरह का नुकसान है। मेरे सिर पर जो एक विद्वान् सन्त पुरुष की छत्र छाया थी वह सदा–सदा के लिए उठ गई।

पूज्य आचार्य जी, संस्कृत वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, एक उच्च कोटि के सन्त पुरुष भी थे। प्रायः ये दोनों बातें विपरीत होती हैं। जो सन्त होता है वह विद्वान् नहीं होता। जो विद्वान् होता है वह सन्त नहीं होता। कबीर सन्त थे विद्वान् नहीं थे। बहुत से शास्त्रार्थ महारथी विद्वान् थे, सन्त नहीं थे। **"विद्या ददाति विनयम्"** ये बात अब नहीं रही। अब विद्या से अभिमान तो मिल जाता है। विनय मुश्किल है। पूज्य आचार्य जी विद्वान् और सन्त दोनों रूप से थे।

परन्तु आचार्यश्री में वही प्राचीन सूक्ति चरितार्थ थी। विनम्रता उनके रग रग में समाई हुई थी। मैं चाहता था कि उनके जीवित रहते उनका यह दिव्य गुण धारण करूँ, परन्तु वे जल्दी चले गये। मैं अपने जीवन पथ में एक बार जब संकटों से घिर गया तो उनके द्वारे

पहुँचा। मेरे अन्दर आवाज आई कि वे ही ऐसी विकट घड़ी में मुझे उचित सलाह दे सकते हैं। उनका घर परिवार कितना मनोहर। बिल्कुल उनके वेद प्रवचन की तरह। सुना तो था लोगों से पर अपनी आँखों से देखकर बहुत अच्छा लगा। उन्होंने मुझे अपने घर में बहुत ही स्नेह के साथ ठहराया। पूज्या माता सरोज जी ने अपने प्रति की सचमुच देवता के रूप में आराधना की है। चाँद और चकोर की उपमा आप दोनों पर सार्थक है।

उपदेश में आदर्श प्रस्तुत करना बहुत आसान है उसे जीकर, अपने परिवार में चरितार्थ कर पाना किसी भाग्यशाली विद्वान के लिए ही सम्भव है। यह सौभाग्य आचार्यश्री को मिला। आपके घर में जो भी आया उसे आपके प्रति और भी श्रद्धा हुई। इसका संम्पूर्ण श्रेय पूज्य माता सरोज जी को जाता है। उन्होंने अपने पति की कीर्ति में चार चाँद लगाये। अब हम पूज्य आचार्य जी को वेदों की मनोहर व्याख्या करते हुए और तो नहीं देख पायेंगे साथ ही उनकी तरफ एक टक लगाए देखने वाली उनकी श्रीमती जी को एक साथ कभी नहीं देख पायेंगे। यह हमारा दुर्भाग्य है। हम सभी प्राणी उस अदृश्य भगवान् से अपने कर्मानुसार जो आयुष्य लेकर आते हैं वह अनजाना ही रहता है। जब कोई अचानक विदा लेता है तभी हम जान पाते हैं कि कितना समय था। पूज्य आचार्य जी के पास समय थोड़ा था काम ज्यादा। वे सदा अपने काम में लगे रहे। उनकी लेखनी कभी नहीं रुकी। आज उनके सैकड़ों प्रवचन हमारे पास में हैं। उनकी वेद व्याख्यायें आने वाली पीढ़ियों को भी सन्मार्ग दिखाती रहेंगी।

आर्य समाज के मंचों पर, पारायण यज्ञों में, बड़े–बड़े सम्मेलनों में आचार्यश्री की अनुपस्थिति सदा खलती रहेगी। वेद सदन ज्वालापुर हरिद्वार में उनके परिवार की वाटिका महकती रहेंगी। उनकी यादों के सहारे पूज्या माता सरोज जी अपने पतिदेव के चरण चिन्हों पर चलती हुई सबका मार्ग दर्शन करती रहेगी। उनकी सन्तान–सुपुत्र–अनु और सुपुत्री–श्रद्धा अपने पिताश्री की अतुल कीर्ति एवं विद्वत्ता से रोशन रहेंगे। यही प्रार्थना प्रभु चरणों में करता हूँ कि हे अनन्त प्रभो! ऐसी दिव्यात्मा को पुनः हमारे बीच में जन्म दो ताकि प्रेरणा का पुंज हमारे आगे उपस्थित रहे। और हम उनके सहारे सत्पथ पर अग्रसर रह सकें।

प्रभु का तुच्छ सेवक
– अखिलेश्वर
संचालक – वैदिक वानप्रस्थ आश्रम
आनन्दधाम गढ़ी, उधमपुर
जम्मू–कश्मीर

वे वाक्वीर ही नहीं, कर्मवीर भी थे

एक वर्ष से अधिक का काल व्यतीत हो गया – उस शक्ल को देखे, जिसे देखकर ही हजारों व्यक्ति आनन्दित हो जाते थे जिसे देखकर विश्वास होता था कि कोई है जो किसी मञ्च पर उपदेश देते समय तो अच्छा लगता ही है परन्तु बाद में जब मिलते हैं, व्यवहारिक स्तर पर, तो उपदेशक से भी अधिक अच्छा लगता है। ऐसे कर्मवीर महात्मा का नाम है – स्व0 आ0 रामप्रसाद जी।

यह अतिशयोक्ति या औपचारिक कथन नहीं है। इस कथन के साक्षी हैं– भारत के विभिन्न नगरों में बसे हज़ारों नर–नारी। आज उपदेशकों की कमी नहीं है, बाढ़–सी आई है पर केवल शब्दों से गर्ज–गर्ज कर ऊँची–ऊँची बातों का उपदेश करने वाले इन उपदेशकों को मञ्च से हट कर घर में या अन्यत्र मिलते हैं तो "बातों के बातूनी" सिद्ध होते हैं।

इस क्लिष्ट कथन के कुछ अपवादों में एक थे– श्री पूज्य आ0 रामप्रसाद वेदालङ्कार जी। उनके निधन से मनुष्य जाति की विशेष हानि हुई है परन्तु मेरे जैसे अकिञ्चनों की व्यक्तिगत हानि भी हुई है।

कितनी घटनाएं, कितने अवसर और मौके आए, जब मैंने उनसे शैक्षणिक, भावनात्मक, सामाजिक व व्यक्तिगत लाभ प्राप्त किए, इनकी संख्या भी स्मरण नहीं है। जब भी मैं उनसे मिला, तब–तब यही प्रतीति हुई थी कि वे मुझसे सर्वाधिक स्नेह करते हैं, मुझ पर ही सर्वाधिक दयालु हैं, मेरे ही सर्वाधिक आत्मीय हैं। मैं जानता हूँ कि मेरे जैसे अन्य अनेक लोग भी विद्यमान हैं जिनसे वे स्नेह करते थे, जिन पर वे दयालु थे व जिनके वे आत्मीय थे परन्तु मन है कि इस सत्य पर विश्वास नहीं करना चाहता।

एक बार यमुनानगर के एक ऐसे कार्यक्रम में आचार्य जी पधारे थे, जिसके अन्त में बस अड्डे पर उन्हें विदा करने मैं गया था। सहारनपुर तक के लिए बस चलने के लिए तैयार खड़ी थी। मैं चाहता था कि आचार्यवर हरिद्वार जाने वाली बस में बैठकर जाएं। अतः मैंने कहा– "आप अगली बस में जाइए। वह बस सीधी हरिद्वार तक जाएगी।"

"इस बस में जाने में क्या हर्ज है?"

"इस बस में तीन कारणों से आपको नहीं जाना चाहिए। प्रथम, इसमें बैठने की बात तो छोड़िए, खड़े होकर भी जाना कठिन हो गया है क्योंकि इसमें पहले ही खचाखच भीड़ है। द्वितीय, आपके पास सामान काफी है। इससे भी अधिक कठिनाई होगी। तीसरा कारण यह है कि सहारनपुर में बस से उतरकर फिर एक दूसरी बस लेनी पड़ेगी। इससे भी सामान अधिक होने के कारण परेशानी होगी। अगली बस खड़ी होते ही आपको बिठा दिया जाएगा। बैठने के स्थान मिलने की निश्चितता के अतिरिक्त सीधे हरिद्वार तक आप सुविधापूर्वक यात्रा कर सकेंगे।"

पर वे नहीं माने और देखते ही देखते स्वयं उसी बस में सवार हो गए। बस चलने लगी थी। चलती बस में जैसे-तैसे शीघ्रता में मैंने उनका सामान उन्हें पकड़ाया और बस चली गई, उन्हें लेकर। मैं सोचता रहा कितनी कठिनाई में आचार्य जी जाएंगे, खड़े-खड़े। अपने उपदेशों में वे त्याग, तपस्या, प्रेम, सहयोग व सन्तोष आदि सद्‌गुणों की कितनी कहानियां सुनाते हैं- उनका सम्मिश्रण यदि देखना हो तो आचार्य जी को देखा जाए। पद, प्रतिष्ठा, विद्या, ज्ञान, उपदेश कला व शिक्षण कला - इन में से किसी में भी वे कम नहीं हैं परन्तु अभिमान उनको छू भी नहीं गया। सुविधाएं इन्हें आकर्षित नहीं कर पातीं। कष्ट व असुविधाएं इन्हें अवरुद्ध नहीं कर पातीं। 'कथनी' किस प्रकार 'करनी' से और 'करनी' किस प्रकार 'कथनी' से प्रतिस्पर्धा कर सकती है, यह देखना हो तो आचार्य जी के जीवन को देखा जाए।

* * *

मई माह सन् 94 में अल्मोड़ा में मेरे एक नाती का वेदारम्भ संस्कार व एक नाती का मुण्डन संस्कार आयोजित किए गए। यह कार्य श्री आचार्य रामप्रसाद वेदालङ्कार जी के सार्थक व कुशल पौरोहित्य में कराने का निर्णय किया गया था व तद्‌नुसार श्री आचार्य जी ने परिवार सहित हरिद्वार से एक बस में बैठकर प्रस्थान भी किया। जब हल्द्वानी में श्री आचार्य जी, आदरणीया बहन सरोज जी व प्रिय पुत्री श्रद्धा पहुँचे तो रात के दस बज गए थे व तब आगे अल्मोड़ा जाने के लिए कोई बस उपलब्ध नहीं थी। रात भर ये तीनों जने बस - स्थान पर ही रहे। पर्वतीय क्षेत्रों की जिन लोगों ने यात्राएं की हैं, उन्हें ज्ञात है कि पर्वतीय बस-अड्डों पर यात्रियों के लिए कितनी व कैसी असुविधाएं हैं। इस स्थिति में पूज्य आचार्य प्रवर व

परिवार ने कितना व कैसा कष्ट झेला होगा– यह कोई भुक्त भोगी ही जानता है। हम तो केवल अनुमान ही लगा सकते हैं।

आगामी दिवस जब आचा़र्यवर सपरिवार अल्मोड़ा में पधारे व हमें उपरोक्त घटना का ज्ञान हुआ तो हमें पीड़ा, लज्जा व श्रद्धा का मिलाजुला अनुभव हुआ। पीड़ा उनके कष्टों का अनुमान लगाकर हुई, लज्जा इसलिए हुई कि हमारे कारण उन्हें कष्ट उठाना पड़ा व श्रद्धा, उनके तप, आचरण व निस्पृहता के कारण हुई।

* * *

जिन्होंने पद, प्रतिष्ठा, धन, यश व लोकप्रियता को प्राप्त करके भी कभी इनके कारण सादगी, उच्चता, सहायता, सहृदयता, त्यागशीलता व परोकारिता के अपने सहज सुलभ गुणों का परित्याग नहीं किया – ऐसे महामानव को शत् शत् स्मरण! शत् शत् श्रद्धांजलि !! शत् शत् नमन् !!!

तू नहीं पर याद तेरी दिल में है।
बुझ गया दीप पर रोशनी महफ़िल में है।।

–इन्द्रजीत
1058, पुरानी सब्ज़ी मण्डी मार्ग,
यमुनानगर–135 001

मेरे बालसखा - आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार

श्री रामप्रसाद जी आर्य गुरुकुल काँगड़ी के उपाचार्य अथवा कुलपति थे। हमारे साथ गुरुकुल यमुनानगर में स्वामी आत्मानंद के विद्यालय में 4 साल पढ़े। उस समय हमारे शिक्षक श्री आचार्य सुदर्शन देव जी थे इनसे हमने व्याकरण पढ़ा।

रामप्रसाद जी बनिया बिरादरी से थे। ये दसवी पास करके शादीपुर आश्रम में वेद शास्त्री का विद्याध्यन करने हेतु आए। इनके व्यवहार से सभी प्रसन्न रहते थे सबके प्रति इनका बड़ा नम्र व मृदु व्यवहार था। जब ये किसी से भी बात करते थे तो हंस कर बात करते थे, स्नेहपूर्वक बात करते थे, और आंदरपूर्वक बात करते थे।

विद्यालय में हम 25 विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) थे। आश्रम में व्यायाम, आसन, प्राणायाम, हवन आदि की व्यवस्था थी और सब रामप्रसाद जी को ही करना पड़ता था। सभी विद्यार्थियों को प्रातःकाल 4 बजे उठना पड़ता था और रात्रि 10 बजे सोना पड़ता था। वहाँ ब्रह्मचारियों के कार्य करने के दिन निश्चित किए हुए थे। दो – दो व्यक्तियों को हवन का सामान इकट्ठा करना, गऊशाला की साफ – सफाई करना और अन्य कार्यों के लिए जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। आठ दिन तक हवन का सामान इकट्ठा करने, तैयारी करने की व साफ सफाई रखने की तथा लड़कों को तीनों समय भोजन कराने सुबह का नाश्ता, दोपहर को रोटी–सब्जी, रात्रि का भोजन सभी कामों की व्यवस्था करनी पड़ती थी। यह 8–8 दिन का नियम होता था। 8 दिन के पश्चात् अन्य दो विद्यार्थियों की बारी आ जाती थी।

रामप्रसाद जी जिसके साथ भी काम करते थे, उनका साथी बड़ा ही खुश हो जाता था। क्योंकि रामप्रसाद जी दूसरे साथी के आने से पहले ही सारा काम स्वयं ही निपटा लेते थे। अतः सभी विद्यार्थी अपनी बारी श्री रामप्रसाद जी के साथ ही लगवाने को उत्सुक रहते थे। रामप्रसाद जी लड़ाई झगड़ों को पसन्द नहीं करते थे और झगड़ा हो जाने पर भी किसी के पक्ष में नहीं बोलते थे। जब कभी विद्यार्थियों में पार्टी–बाजी हो जाती थी तो ये सबसे हाथ जोड़कर कहते थे कि तुम लड़ाई क्यों करते हो?

विद्यालय में सबसे अधिक लड़ाई मैं करता था। 15 दिन में तो मेरे पंद्रह उलाहने आ ही जाते थे। मैं मुसलमानों का विरोधी, संघियों का विरोधी और बाल – विवाह का कड़ा विरोधी था और यथा संभव ये काम मैं गांव में होने ही नहीं देता था। शादीपुर विद्यालय में मैं

ही एक पहलवान था। पहलवान की व फौजी की अक्ल मोटी होती है। ये पहले मारते हैं, और बाद में सोचते हैं। रामप्रसाद जी मेरे हाथ जोड़ते थे और कहते थे कि आपका शरीर सुन्दर है, आप बलवान हैं फिर ये लड़ाई – झगड़ा क्यों करते हो?

एक दिन इनके पास आश्रम का साझी, जिसका नाम था काला चमार, आया। यह आश्रम में खेती करता था एक बार इसे सत्तर रुपये की बड़ी आवश्यकता हुई और मांगने पर भी इसे कहीं से भी सहायता प्राप्त नहीं हुई। लेकिन पैसे की इसे सख्त जरूरत थी किसी ने इनको बताया कि तुम रामप्रसाद जी के पास जाओ उनके पिता साहूकार है और वे अपने पुत्र के लिये यहाँ पैसा भेजते हैं, वें आपकी सहायता अवश्य ही करेंगे। वह गरीब व्यक्ति इनके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा कि मेरी लड़की की शादी हुई है और इस समय सत्तर रुपये की मुझे सख्त आवश्यकता है। हम कमरे में तीन विद्यार्थी रहते थे। ये बात मैं भी सुन रहा था, रामप्रसाद जी उठे और अलमारी से नए–नए नोट निकालकर गिनकर 70 रुपये दे दिये, वह धन्यवाद करता हुआ चला गया और उसने अपना काम कर लिया। फिर वही व्यक्ति दो महीने के बाद पैसे लौटाने आया और उसने कहा कि आपने आवश्यकता के समय में मेरी सहायता की है मेरी जरूरत को समझा है, आपका धन्यवाद। अब मैं ये पैसे लौटाने आया हूँ। तब रामप्रसाद जी हंस कर बोले आपकी बेटी, हमारी बेटी है इस पैसे से कोई और काम कर लो और इसे ले जाओ। रामप्रसाद जी ने पैसे वापिस नहीं लियें।

मथुरा में आर्य समाज का एक बड़ा सम्मेलन हो रहा था। उस सम्मेलन में सभी ब्रह्मचारियों को शामिल होना था। अतः हम सब विद्यार्थी मथुरा के इस सम्मेलन में शामिल होने के लिए चल पड़े। इस सम्मेलन में लाखों व्यक्ति वहाँ इकट्ठा हुए थे। रेल में बैठे होने पर किसी अपरिचित लड़के की जेबकतरें ने जेब काट ली उसकी जेब में 30–35 रु0 थे और टिकट थी। तभी वहाँ टिकट चैकर टिकट चैक करता हुआ आ गया और उस लड़के के पास टिकट न होने पर वह उसे धमकाने लगा और कहा कि तुम गाड़ी से नीचे उतर जाओ। रामप्रसाद जी पास ही बैठे थे उन्होंने टी0टी0 से प्रार्थना की व हाथ जोड़कर कहने लगे कि बेचारे की जेब कट गई है इसे माफ कर दो। तब टी0टी0 साहब ने कहा कि आप इतने दयालु हो तो इसके पैसे आप दे दो। रामप्रसाद जी ने कहा, बोलो कितने पैसे हैं और टी.टी. को पैसे दे दिये और उस लड़के का आगे तक का भी खर्चा उठाया। उस लड़के ने रामप्रसाद जी का पता लिखा और एक महीने बाद पैसे शादीपुर आश्रम में पहुँच गए।

इनके अन्दर दानशीलता का गुण, भक्ति का गुण, सहनशीलता का गुण, सद्व्यवहार का गुण था। ये विद्या प्रेमी व ईश्वर भक्ति के प्रेमी थे। इनमें ये सब गुण मैंने अपनी आँखों से देखे। ये शादी नहीं करना चाहते थे लेकिन घर के बड़े लोगों के दबाव में आकर इन्होंने शादी

की। क्योंकि बहुत से स्वार्थी लोग इन्हें शरीफ समझ कर इनके पैसे को बर्बाद कर रहे थे। तब कुछ माताओं ने यह देखा और सोचा कि यदि इनकी पत्नी और बच्चे हो तो इनका धन सुमार्ग पर चलेगा, अतः इनकी शादी करा दी गई।

ये वेद शास्त्रों के विद्वान थे, गुरुकुल के उपाचार्य थे और सेवा निवृत्त होकर घर पर ही प्रचार करने लगे। अभी ये प्रचार करने के लिये चण्डीगढ़ के आर्य समाज़ सैक्टर–22 में गए थे। वहाँ पर हार्ट अटैक हो जाने से ये परमात्मा को प्यारे हो गए और अपनी लीला समाप्त कर गए।

कहां पैदा हुए, कहाँ लड़ाए लाड़,
और न जाने इस शरीर के,
कहाँ बिखरेंगे हाड़।

मैं मैं, मैं मैं करके मर गए,
अर्जुन योद्धा भीम।
धरी धराई रह गई सज्जनों,
हस्तिनापुर की नींव।।

जीवन ज्योति कैसे जगी, कैसे होगा अंत।
रविदास मनुष्य जाने नहीं, जाने है भगवतंत।।

रामप्रसाद जी को मैं नमस्कार करता हूँ उनके बारे में मैं बहुत कुछ जानता हूँ लेकिन बड़ा लेख न लिखते हुए थोड़े लेख से उन्हें श्रद्धांजलि देता हूँ कि उनकी आत्मा को शांति प्राप्त हो व उनके परिवारजनों को इस दुःख की घड़ी में इस दुःख से उबरने का सामर्थ्य प्रदान करें।

- अग्निदेव जी 'भीष्म'
योग आश्रम, ऋषिनगर
हिसार, हरियाणा

उनका महाप्रयाण स्थानान्तरण मात्र है

शरद्–पूर्णिमा की रात को सोम की चाँदनी में मैं एकान्त सेवन की अभिलाषा से गङ्गा के नीरव तट पर आँखें बन्द कर आसन लगाये बहुत देर से बैठे हुए था। मेरे चारों ओर आनन्द ही आनन्द था, मन उसे पीने की अभिलाषा कर दौड़े चले जा रहा था, वहाँ न कोई शब्द था न स्पर्श, रूप, रस गन्ध ही। स्वयं का भी आभास न था फिर अन्य किसी के होने का तो प्रश्न ही क्या? अचानक किसी ने आकर मेरे कर्ण–कुहर के द्वार पर टक–टक की ध्वनि की। मुझे उस ध्वनि को सुनकर बालात् उस आनन्द–वर्षा से लौटना पड़ा। आँखें खोली तो देखता क्या हूँ कि सोम मुझे चहुँ ओर से घेरे खड़ा है। मैं कुछ स्वागत–वाक्य बोल पाऊँ, इससे पूर्व ही वह बोला सखे सत्य, क्या तुमने एक ऐसे ऋषि को देखा है, जो वेदमन्त्रों के अन्दर प्रविष्ट होकर उसकी गहराइयों का दर्शन स्वयं करता और पृथिवीवासी जनों को कराता रहा?

क्या तुम जानते हो उस लेखक को जो वेदमन्त्र का लेखन अहर्निश सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय करता रहा, जिसने अपनी लेखनी को यथा–जीवन विश्राम देना उचित न समझा। क्योंकि समय के प्रतिबन्धन को वह जानता था। इसीलिए वह स्वयं नहीं थका, अपितु उसकी लेखनी थक गयी। जिसके मस्तिष्क रूपी कोष में विद्यमान वेद के विविध अर्थ समाप्त नहीं हुए अपितु उसकी लेखनी की मसीकृशता की ओर चल पड़ी।

कोई ऐसा शिक्षक, जों अपने पास से छात्रवृत्ति देकर छात्रों को पढ़ाता रहा। छोटे–बड़े, बूढ़े–बच्चे नवयुवक आदि को पठनार्थ प्रेरणा देता रहा। जो सत्य का पालक रहा, क्रोध जिसे छू न सका, हिंसा जिसको पकड़ न सकी, चौर्य उसे ढूँढ न पाया, अनाचरिता उसे सुन न सकी, और परिग्रह उसे अपनी छत्रच्छाया में लेने में असमर्थ रहा। जो मन, वचन, कर्म से पवित्र, उपलभ्यमान में सन्तोष, वेदप्रचार और प्रसार में तप, निरन्तर स्वात्मचिन्तन्, अद्भुत–ईश्वर प्रणिधान इन गुणों की खान रहा। जिसका आसन लेखकासन रहा, जिसके प्राणायाम में वेद–मन्त्रों की नित्य–नूतन व्याख्या बसी, जिसने परपीडापहरणार्थ प्रत्याहार

अपनाया औचित्य की स्थापना ही जिसकी धारणा रही, व्यावहारिक–दर्शन को जिसने ध्यान फैलाया, और साक्षात् ब्रह्म–निगम में जो समाधिस्थ रहा – क्या सत्य, तुमने उस अष्टाङ्ग, योग–सेवी को देखा?

परोपकार कर भी कृतोपकार को न दर्शाने वाला, गुणवान् होते हुए भी निज गुणों को न बखारने वाला, पर–निन्दा से दूर, स्तुति से भरपूर, वञ्चना का अस्पर्शक, आतिथ्य–परायण, स्वयं–याज्ञिक, मृदुभाषी, नित्य–हासी, विद्वज्जनाभिलाषी, सर्व–जनसेवी और अद्भुत् प्रभु–प्रेमी– क्या तुमने पाया है?

मैं अवाक् बना सोम की बातों को सुनता रहा। कुछ उत्तर दे सकूँ, इससे पूर्व.वह बोला – देख सत्य, जो उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर – मानव है, अब वह तुम्हारी पृथिवी प्रयाण कर चुका है और अन्य एक लोक में जाकर बस गया है। पृथिवी पर वह तुम्हें दिखाई नहीं देगा। किन्तु तुम सोच रहे हो, कि वह मर गया, वस्तुतः वह मरा नहीं है, उसका तो पदोन्नति के साथ स्थानान्तरण किया गया है। भूलोक पर सात जनवरी उन्नीस सौ छत्तीस को पिता गङ्गा बिशन के यहाँ जन्म लेकर अपना नाम रामप्रसाद धरवाकर, स्वामी आत्मानन्द सरस्वती को वक्तृत्व का, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति को कृतित्व का, आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार को चरित्र का गुरु बनाकर, गुरुओं के कुल से कुलपति के हाथो से वेदालङ्कार की उपाधि प्राप्तकर श्रीमती सरोज को जीवन–सङ्गिनी के रूप में ग्रहण कर, स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आचार्य–पदभार संभाकर अनेक मन्चों पर वेद–मन्त्रों का गुणानुवाद कर बहुश ग्रन्थों का प्रणयन कर एक अक्टूबर उन्नीस सौ अट्ठानवें को उनका भूलोक से अन्य लोक में स्थानान्तरण हो गया है। क्या सत्य, तुम्हें स्मरण है? जब तुम हरिद्वार के सिटी–हॉस्पिटल में उनका स्वास्थ्य–लाभ पूछने सपत्नीक गये थे, उन्होंने तुम्हें क्या कहा था? मैं बताता हूँ। वे बड़े रुन्धे हुए कण्ठ से बोले थे– "सत्य, मेरे जाने का समय आ गया है। तुम्हें वेद–विभाग में छोड़कर जा रहा हूँ। यह मुझे प्रसन्नता है। मुझे अब कोई दुःख नहीं है"। इतना कहते ही आचार्य जी के आँखों के आँसू छलक गये। तुमने धैर्य बँधाते हुए कहा कि "आप ऐसे मत कहो, अभी आपके जाने का समय नहीं हुआ है। अभी तो आपको श्रद्धा दीदी की और अनु भईया की शादी करवानी है, तथा समाज का बहुत काम करना है।" वे गम्भीर होकर धीमे स्वर से बोले, "सत्य, मैं अपनी ओर आते हुए स्थानान्तरण के पत्र को देख रहा हूँ। मैं तुमसे असत्य नहीं कर रहा हूँ" उनकी मुखाकृति देख तुम चुप हो गये

थे। क़िन्तु मन ही मन तुम्हें लगा था कि कहीं आचार्य जी सत्य तो नहीं कह रहे हैं? उन्होंने सचमुच में महाप्रयाण रूपी स्थानान्तरण का पत्र अपनी ओर आते हुए देखा था। और वे उस पत्र को पाकर सदा–सदा के लिए हमसे दूर चले गये। उनके द्वारा दिया हुआ आशीर्वाद, उनके द्वारा प्रशिक्षित व्यवहरित व्यवहार, आचरित कर्म, प्रचारित और प्रसारित धर्म हमारे सामने हैं, वे उन्हीं में हैं। उस मानव–धर्मव्रती को हमारे ये श्रद्धा–सुमन वाक्य समर्पित हैं।

मैं नितान्त अकेला हूँ। अतः मुझे भी तो प्रस्थान करना होगा। क्योंकि यहाँ की यही रीति है, जो आता है, वह जाने के लिए ही आता है। यह यहाँ का नितान्त कटु सत्य है।

– डॉ0 सत्यदेव निगमालङ्कार
वेद–विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार।

आर्य जगत के देदीप्यमान नक्षत्र थे आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार

आचार्य जी के प्रथम दर्शन मैंने विवाह की वेदी पर पहुंचने पर किये थे। तेजस्वी चेहरा, ओजस्वी वाणी लेकिन मधुरता लिए हुए, हंसते हुए मेरे पतिदेव से बातें कर रहे थे। मैं मन ही मन अपने भाग्य पर इठला रही थी कि इतने बड़े विद्वान के द्वारा हमारा विवाह सम्पन्न हो रहा है।

उसके बाद आचार्य जी के सम्पर्क में जैसे–जैसे आती गई, उतनी ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। उनका सरल, सरस व्यवहार, उनके उपदेश सुनने को सदैव मन लालायित रहता था। पीलीभीत से जब हम हरिद्वार आये तो आचार्य जी से संबंध प्रगाढ़ हो गये थे। वे जैसे बाहर थे वैसे ही भीतर भी थे। किसी की भी मदद करते थे तो हृदय से करते थे। हमेशा मुझे बेटी वीना कहकर ही बुलाते थे। उनके बुलाने में इतना आकर्षण था कि मैं उसका वर्णन शब्दों में नहीं कर सकती। जो लोग भी उनके सानिध्य में रहे हैं। वें यह अनुभव कर सकते हैं। एक बार भी ऐसा नहीं होता था कि आचार्य जी अपने घर से फलादि खिलाये बगैर भेज दें। साथ में बच्चों के लिए भी अवश्य देते थे। शायद ही कोई याचक उनके द्वार से खाली जाता होगा। वे अधिक से अधिक लोगों का सम्मान करते थे। मैं जब कभी उनके घर बैठी रहती थी तो उनके व्यक्तित्व को देख कर मन ही मन सोचती थी कि ईश्वर ने इनको कितना सुन्दर मन दिया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इनकी ओर खिंचा चला आ रहा है। क्या वानप्रस्थ आश्रम, क्या गुरुकुल, तो क्या आर्य समाज मंदिरों से जुड़े लोग। सभी आचार्य जी से बातें कर के अपने आप को धन्य समझते थे। केवल हरिद्वार, ज्वालापुर ही नहीं पूरे भारत से श्रंद्धालु उनके पास आते थे।

आचार्य जी के जीवन की घटनाओं को यदि लिखने बैठा जाये तो शायद कमल कभी रुकेगी नहीं।

आचार्य जी को जब प्रथम हृदयाघात हुआ तो उनको हम अस्पताल में देखने गये, वहाँ भी उनको ऐसा लग रहा था जैसे कि वे खाली लेटे हैं उठ कर कुछ लिख क्यों नहीं लेते।

4–6 दिन अस्पताल में काटने के बाद घर आकर उन्होंने बिल्कुल आराम नहीं किया। जब कभी हम जाते थे तो हमेशा उनको लिखते ही पाते थे। शायद वेदों के दीवाने आचार्य जी को वेद रूपी सागर में से मोती चुनने का बड़ा अभ्यास था इसीलिए वे सदैव उसमें गोते लगाते ही रहते थे। और मोती को ढूंढ कर उसको अनेक प्रकार से तराशते रहते थे। चाहे कितने ही लोग घर में बाहर कहीं भी बातें करें, लेकिन आचार्य जी के कार्य में कभी व्यवधान नहीं पड़ा। वह निरंतर अबाध गति से चलता रहा।

आखिर काल का दिन आ ही गया जिसको याद कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन जो सत्य है उसको स्वीकार करना ही पड़ता है।

1 अक्टूबर 98 की प्रातः वेला में मैं स्नानादि से निवृत्त होकर यज्ञ की तैयारी कर रही थी कि अचानक फोन की घंटी घनघना उठी। मैंने उठाया तो आचार्य जी के प्रिय बेटे अनुव्रत का फोन था। पूछा क्या बात है? बड़ी बोझिल आवाज थी, बोला भाभी! पिताजी नहीं रहे। हम लोग चंडीगढ़ से उनको लेकर दोपहर 12 बज़े तक पहुँच रहे हैं। आप वहाँ सबको खबर कर दीजिये। ऐसी अविश्वसनीय घटना को सुनकर मेरी अश्रुधारा बह चली, फोन हाथ से छूट गया। बच्चों को बताया हमारे प्यारे आचार्य जी नहीं रहे। ये सब कैसे हो गया। कल तो वे यहीं थे। आज चंडीगढ़ कैसे चले गये? अनेक सवाल मन में उठने लगे। खैर! मेरे बड़े बेटे रजत ने वानप्रस्थ जाकर सूचना दी। आर्यसमाज के मंत्री आदि को सूचना दी, गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य श्री वेदप्रकाश जी को सूचना दी। सभी लोग आचार्य जी के घर के सामने एकत्रित होने लगे। यह बात आग की तरह पूरे जनपद में फैल गई। सब ओर से लोग दौड़े चले आ रहे थे। अगर वहाँ नहीं था तो वह एक व्यक्ति जो आचार्य जी का सबसे प्रिय था। वह था उनका दत्तक पुत्र के रूप में प्रिय महावीर। सभी लोग बार–बार पूछते थे कि वह कहाँ हैं। मैं किस–किस को जवाब दूँ कि आचार्य जी ने तो उनको अपने स्थान पर वेद प्रचार के लिए ब्यावर भेज रखा है। जगह भी इतनी दूर थीं कि किसी भी कीमत पर वहाँ से नहीं आ सकते थे। मैंने इनको तुरन्त ब्यावर फोन कर दिया था। ये अपना रात्रि का आरक्षण छोड़कर उसी समय वहाँ से चल दिये फिर भी आचार्य जी को कंधा नहीं दे सके। अगले दिन, प्रातः 5 बजे घर पहुँच सके। आकर फूट–फूट कर रोने लगे और कहने लगे जिनकी बदौलत आज मैं इस स्थान पर पहुंचा हूँ आज उनकी अन्तिम यात्रा में भी शामिल नहीं हो सका। 3 अक्टूबर को वानप्रस्थ आश्रम में उनकी श्रद्धांजलि सभा में हजारों लोगों ने अश्रुपूरित नेत्रों से भाग लिया।

शायद ही कोई ऐसी आँख थी जिसमें अश्रु न तैर रहे हों, कुछ लोग तो सिसकियाँ भर–भर कर रो रहे थे। जिसने जैसे–जैसे सुना, अखबार में पढ़ा वैसे ही वह आचार्य जी की श्रद्धांजली सभा में भाग लेने के लिए दौड़ा चला आया। ऐसी विषम परिस्थिति में परिवार के लोगों ने बहुत धैर्य का परिचय दिया। प्यारे बेटे अनु ने रस्म पगड़ी के बाद सभी का धन्यवाद बहुत अच्छे ढंग से किया और अपने पिताजी के मार्ग पर चलने को कहा। प्यारी श्रद्धा ने रोते–रोते भी बहुत सुन्दर प्रभु भक्ति का भजन सुनाया। जिसको सुन–सुन कर लोग रोते भी जा रहे थे। और माँ जी तो मौन की प्रतिमूर्ति बनी निरंतर अश्रुधारा प्रवाहित किये जा रही थीं। जिनको देख कर हाल में बैठे हुए लोग कई बार उनकी याद में बिलख उठते थे। मैंने तो अपने जीवन में इतनी बड़ी श्रद्धांजलि सभा पहली बार देखी। ऐसा लग रहा था कि प्रत्येक व्यक्ति उनका अपना ही रिश्तेदार था। वह अपने परिवार में बहुतों से छोटे थे। इस बात का उनके भाई एवं बहनों को बहुत ही दुःख था कि वह इतनी छोटी आयु में हम सबको बिलखता छोड़ कर चले गये।

अब ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे जहाँ भी हों ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे। वे शीघ्र ही वेद प्रचार करने के लिए हम सबके बीच में फिर अवतरित हों। जन–जन को अपनी वाणी से आहलादित करें। हे प्रभो! हम सबकी इच्छा पूर्ण करो। हम सब मिलकर आचार्य जी के वेद प्रचार–प्रसार के कार्य को आगे बढ़ायें, उनके बताये मार्ग पर चलें। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

– डॉ0 वीना अग्रवाल
5, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार

"चिर - विदाई"

अश्रु – पूरित नेत्रों से देते हैं विदाई,
हम सब मन मलिन किये ।
आप कल तक थे बीच हमारे,
आज अनन्त – सागर में विलीन हुए ।।

इस आँगन में कभी वेदों का नाद गूँजता था,
और लेख लिखे मधुर मुस्कान लिये ।
सूना कर गये यह "वेद – सदन" आप
मुख मोड़, महाप्रयाण की ओर गये ।।

'नाविक' बनकर आये थे, गृहस्थी की
नैय्या पार लगाने को ।
बीच मंझधार में छोड़ गये,
बिना पतवार के डगमगाने को ।।

पत्नी ने ममता लुटाई थी, बहनों ने स्नेह,
और बच्चों ने प्यार दिया ।
न जाने कहाँ चूक हुई इन सबसे,
आपने स्वर्ग में एकान्त – वास किया ।।

ईश्वर की सृष्टि है यह पर मानव
समझ न पाया है।
विज्ञान ने की उन्नति है परन्तु
प्रभु का पार न पाया है ।।

यह शाश्वत सत्य है एक दिन
इस जग से सबको जाना है ।
परन्तु ममता भर देती है आँसू
मर्म न ये किसी ने जाना है ।।

हे देव-दूत! स्वर्ग के वासी आपको
शत-शत मेरा प्रणाम है।
दो फूल श्रद्धा-सुमन के हम
करते आपको अर्पण हैं ।।

आप अमर-पद को प्राप्त करो
नव-पथ के हो राही आप ।
अश्रु-पूरित नेत्रों से हम सब
दे रहे आपको हृदय-विर्दीण विदाई ये ।।

– बहिन अशोका आर्य,
मुजफ्फरनगर।

देवतुल्य आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार

गृहत्याग से पूर्व मन में अनेक प्रकार के दैवीय विचारों से एक विशेष प्रकार का आनन्द रहता था। उपवन के किसी कोने में, हिमालय की उपत्यकाओं में, ऋषियों के चरणों में, यतीश्वरों की सन्निधि में रहकर ध्यान, भजन, शास्त्रस्वाध्याय एवं भगवच्चर्चा द्वारा दिन व्यतीत किया करेंगें। बाल्यकाल में महर्षि वाल्मिकी विरचित रामायण का हिन्दी अनुवाद (गीता प्रेस गोरखपुर) पढ़कर ऋषियों की मुनियों की जो कल्पना थी – कृश तनु, श्वेत दाढ़ी–श्मश्रु, सिरपर जटा, तापस वेष, गेरु मिट्टी से रंगे हुए वस्त्र, कहीं कोई कोपिन मात्र में, कोई अवधूत अवस्था में, कोई धूनां लगाकर तप रहा होगा तो कोई युवा शिष्यों को शास्त्र पढ़ा रहा होगा, कहीं शंका समाधान तो कोई ध्यान मग्न होगा, कोई योग की गुप्त विधियाँ बता रहे होंगे, कहीं शिष्यों का परिसंवाद होगा, कहीं आनन्द से वन में विचरण करते हुए शिष्य-मण्डल के साथ गुरु हास परिहास कर रहे होंगे, कोई लिख रहा होगा, कोई पढ़ रहा होगा तो कोई किसी कोने में वृक्ष के नीचे मौन धारण किये बैठा होगा। इन्हीं भावों को लेकर मैंने हरिद्वार में पढ़ने का निश्चय किया था। वैराग्य परम अवस्था में था, तप की तीव्र लालसा थी, ईश्वर प्राप्ति की जल्दी थी। विचार था जैसे ध्रुव ने अपने व्यष्टि प्राणों से समष्टि प्राणों को रोककर समस्त विश्व को निस्तब्ध, निष्क्रिय और निरीह कर दिया था, उसी प्रकार पद्मासनस्थ होकर चिर समाधि में लीन होकर, परमात्मा में लय हो जाना है। इन्हीं विचारों से मेरा मानस ओतप्रोत था। न जाने कब हरिद्वार आ गया। हरिद्वार पहुँचने पर विचार किया कि कहाँ पढ़ा जाये। जहाँ शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन हो सके। अनेक उहापोह के अनन्तर गुरुकुल में पढ़ने का निश्चय किया।

गुरुकुल का नाम मन में आते ही मन एक बार पुनः प्रफुल्लित हो उठा। गुरुकुल जहाँ कृष्ण और सुदामा पढ़े थे, जहाँ उपमन्यु और उपध्नौव्य ने शिक्षा ग्रहण की थी, जहाँ वरतन्तु शिष्य कौत्स चौदह विद्याओं में निष्णात हुए थे। जहाँ गोविन्द भगवत् पादाचार्य के श्री चरणों में रहकर अद्वैत् वेदान्त को आत्मसात् किया था। कितना सुन्दर होगा वह जीवन? प्रकाश और केवल प्रकाश से परिपूर्ण, दिव्य भावों से ओत–प्रोत, अहा! आनन्दस्रोत प्रस्फुटित

हो गया। जहाँ इतने विद्वान्, त्यागी, तपस्वी, वीतराग, यज्ञानुरागी आचार्यों की सन्निधि प्राप्त होगी। मैं गुरुकुल में प्रवेश लेने हेतु गया, मेरा प्रवेश हो गया और मैंने वहाँ से पी0एच0डी0 की उपाधि भी ग्रहण कर ली। परन्तु क्या मैंने ऐसे आचार्यों को पाया जिनकी मूर्ति मेरे काल्पनिक मानस में विराजमान् थी? नहीं! आचार्यों को तो नहीं पाया हाँ एक आचार्य जरूर ऐसे ही प्राप्त हो गये। वे थे महामानव महामहिम करुणावरुणालय प्रेमावतार, दया के सागर, विद्यावारिधि, वेदमार्तण्ड सरल, सहज और सज्जन, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार।.जिनकी वाणी में माधुर्य, वचन में गाम्भीर्य, और थी कर्म में कुशलता। जो "मनस्मैकं, वचस्मैकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" की उक्ति को चरितार्थ कर रहे थे।

गुरुकुल में प्रवेश के अनन्तर छात्रावास में रहने के लिए कहा तो उत्तर मिला कि आप उप कुलपति आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार से मिल लें वे व्यवस्था करवा देगें। मैं उनके पास गया। जाते समय मन में भय था कि न जाने वे मुझसे मिलेंगे या नहीं? परन्तु आश्चर्य! महान आश्चर्य! वे जिस प्रकार मिले मैं उनका शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा लगा मानों कई जन्मों से हमारा और उनका परिचय है। उन्होंने मेरी सारी समस्याओं का समाधान उसी समय कर दिया यह बात अगस्त 1981 की है और तब से निरन्तर मैं उनके सम्पर्क में रहा, जितना अधिक उनके सम्पर्क में आता गया उतनी ही अधिक श्रद्धा उनके प्रति मेरे मंन में होती गई।

मई 1982 की घटना है। विश्वविद्यालय की वार्षिक परीक्षायें चल रही थीं। जिस दिन परीक्षा प्रारम्भ हुई, सभी अनुकरण (नकल) करने लग गये। क्योंकि यही परम्परा कई वर्षों से गुरुकुल में चली आ रही थी। वर्ष भर कुछ पढ़ाया नहीं जाता था, प्राध्यापक गप्प हांककर समय बिताते थे, अथवा परस्पर ईर्ष्या–द्वेष से एक दूसरे की निन्दा करके, अथवा अपनी ही प्रशंसा विद्यार्थियों के सामने करके ही समय बिताते थे। कुछ प्राध्यापक तो विद्यार्थियों को भी परस्पर की राजनीति में सम्मिलित करने की कोशिश करते थे। कुछ प्राध्यापक तो केवल विद्यार्थियों से चरणस्पर्श करानें तक ही सीमित थे, विद्यार्थी की योग्यता अथवा अयोग्यता से उनकां कोई सम्बन्ध नहीं था, जो वर्ष भर कक्षा में अनुपस्थित रहकर , कुछ न पढ़ लिखकर परीक्षा के समय चरण स्पर्श कर लेते थे उन पर वे अंकों की वर्षा कर देते थे। फिर पढ़ने और पढ़ाने की क्या आवश्यकता थी। अनुकरण के अतिरिक्त और कोई पथ नहीं दिखाई देता था। अनुकरण ही परम धर्म था। परन्तु आश्चर्य! इन आचार्य महोदय ने तो अनुकरण (नकल)

करना ही मना कर दिया। सभी से पुस्तके, पर्चियां, कागज आदि छीन लिये गये। इतना होना था कि पूरा विश्वविद्यालय भवन भयंकर शोर से गुंजायमान हो गया। यह क्या? सभी विद्यार्थियों ने उठकर प्रश्न पत्र फाड़ डाले, उत्तर पुस्तिका के कई टुकड़े कर इधर–उधर डाल दिये और मुर्दाबाद के नारे लगाते हुए परीक्षा भवन से बाहर आ गये। परन्तु आचार्य सस्मित मुस्कान के साथ घटनाक्रम को देखते रहे। और बड़े ही दृढ़ भाव से कहा कि अनुकरण नहीं होने दिया जायेगा। और यह क्रम निरन्तर कई दिनों तक चलता रहा। सभी विद्यार्थियों की एक ही माँग थी कि नकल करने दी जाये। कभी उनका घेराव करने लगे, कभी धमकी भरे पत्र लिखने लगे तो कभी फोन पर ही धमकाने लगे। मैं स्वाभाविक सहानुभूति से उनके पास गया तो मुस्कराये और कहने लगे कि यहीं, प्रभु अपने भक्तों की परीक्षा लेते हैं। कितना दृढ़ विश्वास प्रभु पर। अन्त में प्रभु भक्त की ही विजय हुई। सत्य और धर्म ही उनके जीवन के सहचर थे। प्रतिदिन नियमित रूप से यज्ञ करना और यज्ञवेदी पर ही वेदों का स्वाध्याय करना उनका नैसर्गिक नियम था। जब भी उनसे मिलो तो सदैव वेद मन्त्र की ही व्याख्या करते थे। उनका रोम–रोम प्रभु भक्ति से ओत–प्रोत था। यद्यपि वे उद्‌भट विद्वान् थे पुनरपि वेदों को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए अति सरल भाषा में वेदमन्त्रों का अनुवाद कर पुस्तक रूप में छपवाया।

दैवीय गुणों से सम्पन्न आचार्य का जीवन निश्चित ही एक प्रेरणाप्रद जीवन था। उनकी सरलता, सादगी और सौम्यता अनुकरणीय थी। मित्र और शत्रु में समभाव था। प्रिय वस्तु अथवा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति में कोई उद्विग्नता नहीं थी। सदा एक रस, उच्च विचार और उदान्त भावों से परिपूर्ण थे आचार्य प्रवर। उनको कोटिशः नमन।

- स्वामी मुक्तानन्द जी,
एम.ए., पी.एच.डी.

राम एक देव पुरुष

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व आदरणीय भाई राम प्रसाद जी से कानपुर में श्रीमती स्वदेश धवन जी द्वारा आयोजित वृहद यज्ञ में मेरी भेंट हुई। उनकी वाणी ने, उनके ज्ञान ने, उनके ह्रदय से प्रवाहित होते हुए स्नेह ने हम सब सत्संग में आने वाले भाई–बहनों को अपने स्नेह पाश में बाँध लिया। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मेरे अन्दर बार–बार यह भाव उठता था कि कितना अच्छा होता ये मेरे भाई होते, 'मैं इन्हें राखी बाँधती'। मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की और उन्होंने सहज भाव से, बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया। इसके बाद तो उनका कानपुर वार्षिकोत्सव के अवसर पर आना और मेरा ज्वालापुर वानप्रस्थ आश्रम में जाना होता ही रहता था। मुझे उन्हें बहुत ही समीपता से देखने का अवसर मिला।

'राम' प्यार का सागर–

आदरणीय भाई जी कानपुर से जब बिदा होते थे तो कहते थे मैं अपनी बहन की झोली में क्या डाल दूँ? यह कहते हुए बड़े प्यार से कुछ न कुछ भेंट दिया करते थे। यह कहना कि 'मेरी ओर से बच्चों को फल लेकर खिलाना', इतना अच्छा लगता था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता था जैसे भगवान ने स्वयं प्रसाद दिया हो। उनका यह व्यवहार एक बहन के लिये नहीं, न जाने कितनी बहनों के लिये, कितने भाइयों के लिये, कितने बेटों के लिये, कितनी माताओं के लिये था।

कानपुर में, ज्वालापुर में सभी जगह सब में एक ही अनुभूति थी कि राम प्रसाद जी मुझे बहुत प्यार करते हैं। आरम्भ में मुझे लगा कि शायद मेरे अन्दर कुछ विशेषता है कि भाई जी ने मुझे अपना स्नेह दिया है लेकिन बाद में मैंने देखा कि भगवान की तरह वो सबसे स्नेह करते हैं किसी एक से नहीं। ऐसा व्यक्ति मैंने तो अपने जीवन में नहीं देखा जिसने अपनी पत्नी, बेटा – बेटी, भाई – बहन सबकी झोलियाँ अपने प्यार से भर दी हों सबको आनन्दित कर दिया हो आदरणीय आचार्य जी देवता थे।

आदरणीय भाई जी का चलना, फिरना, बोलना, लिखना, देना, लेना सभी कुछ

देवत्व से पूर्ण था। उनके घर पर जो भी चला जाये इतने प्रेम से फल अपने हाथ से काट–काट कर खिलाना, इच्छा न होने पर भी लोग खाते ही चले जाते थे। "बड़ा अद्भुत दृश्य होता था", हृदय रोमांचित हो उठता उस समय, जब वो अपने घर पर काम करने वाली लड़की को भी बड़े प्यार से बुलाकर बिठा कर फल खिलाया करते थे। हर वार्षिकोत्सव पर झोले में किताबें भर–भर कर लाते और दोनों हाथों में किताबें भरकर बाँटते। कभी – कभी सत्संगियों की संख्या देखते हुए उन्हें कहना पड़ता था 'भाई जी अब 1–1 पुस्तक दे दीजिये'। 'पुस्तकों के लिये पैसा चाहिये' कभी उनके मुँह से नहीं निकला। लेकिन प्रभु की अपार कृपा उन पर रही वे जनता को देते जाते थे और प्रभु उन्हें दे रहा था।

उनके पास ब्रह्मचारी आते, अपनी पढ़ने की इच्छा व्यक्त करते। आचार्य जी कहते कि जाओ तुम्हे पढ़ाई के लिये किसी प्रकार चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं और वर्षों तक उनकी फीस जमा होती रहती। उनकी मृत्यु के बाद भी एक ब्रह्मचारी को 5 हजार का चैक दिया गया, जिसे उन्होंने देने का वादा कर दिया था। कानपुर में जब भी आये जिसने भी बुलाया उसके घर वे जरूर गये। हम सभी परेशान होते थे यह देखकर कि इन्होंने विश्राम नहीं किया, इन्हें थोड़ा विश्राम करना चाहिये। लेकिन वो पता नहीं कौन सी शक्ति थी जो उन्हें बिना रुके, बिना थके, निरन्तर मानव मात्र को प्यार बाँटने के लिये प्रेरित करती रहती थी। उनके देवत्व की कोई सीमा नहीं थी। घर पर भी 24 घन्टे अतिथि सत्कार के लिये द्वार खुले रहते थे।

ईश्वर के अनन्य भक्त थे, आदरणीय भाई रामप्रसाद जी। कभी किसी भी प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में उन्हें विचलित होते, क्रोधित होते नहीं देखा। शान्ति की, सौम्यता की, सरलता की साक्षात प्रतिमा थे वे। एक बार एक कार्यक्रम में उन्होंने बहुत ही सुन्दर प्रवचन दिया। जनता वस्तुतः सोम (आनन्द) रस का पान कर रही थी इनके पश्चात दूसरे सज्जन ने ठीक उनके प्रवचन के विपरीत ऐसी बातें कहीं जो किसी को भी अच्छी नहीं लगीं। उनका विरोध भी किया गया लेकिन उनके चेहरे पर शान्ति के अतिरिक्त कोई भाव नहीं दीखता था। न उस विषय में वाणी से एक भी शब्द का उच्चारण किया बल्कि दूसरे दिन उन सज्जन के आग्रह पर मिलने भी गये।

इसी तरह अजमेर शताब्दी के समय उन्हें उनकी वैदिक साहित्यिक सेवाओं के लिये सम्मानित करने के लिये स्वामी सत्य प्रकाश जी ने आमंत्रित किया था। कार्यक्रम में वैदिक गृहस्थ विषय पर बोलने के लिये उनका नाम छपा हुआ था। मैं भी कानपुर के कई लोगों के साथ उनका प्रवचन सुनने के लिये गई। वहाँ देखा कि निरन्तर दान ही इकट्ठा होता रहा, आदरणीय भाई जी को बुलाया ही नहीं गया और कार्यक्रम समाप्त हो गया। समाप्ति पर आदरणीय भाई जी मिले मैंने कहा कि हम लोग तो विशेष रूप से आज आपका ही प्रवचन सुनने के लिये आये थे। झट से बोले चलिये आप जहाँ रुके हैं वहीं बैठते हैं संध्या करेंगे और आपको वहीं पर सुना देंगे। इतने सरल भाव से कहा जैसे कोई खास बात ही नहीं जबकि हम लोगों को यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। लेकिन उनकी महानता को देखकर गर्व का भी अनुभव हो रहा था।

उनके उपदेश केवल दूसरों के लिये नहीं उनके अपने जीवन में पूरी तरह उतरें हुए थे शायद इसीलिये उनके साधारण शब्द हृदय में उतरते जाते थे बल्कि उनके कुछ भी न बोलने पर भी लगता था कि कुछ भीतर ग्रहण हो रहा है। जहाँ भी प्रचार के लिये जाते थे वे कभी नहीं चाहते थे कि उन्हें कोई लेने आये। कई बार इसी कारण काफी परेशानी भी उठानी पड़ती थी लेकिन वो इसका जिक्र तक नहीं करते थे। पिछले वर्ष जब वे प्रचार हेतु कानपुर आये वे अपनी धर्म बहन श्रीमती कमला मेहरा जी के निवास स्थान पर प्रातः 3 बजे पहुँच गये। धीरे से गेट खटखटाया, सभी घर के सदस्य गहरी नींद सो रहे थे अतः उन्होंने किसी की नींद खराब करना उचित न समझा, प्यास बड़ी जोर से लग रही थी। प्रातः 6 बजे दूध वाला आया। उसने घन्टी बजाई दरवाजा खुला, पूछा गया मामा जी आप कब आये? हँसते हुए उत्तर दिया आपने जब देख लिया। 7 बजे मैंने फोन किया पता चला भाई जी आ गये हैं उन्हें घर लेकर आये यहाँ पर भी उन्होंने उस घटना का जिक्र नहीं किया। यह घटना मुझे मेरी प्रिय भाभी सरोज जी से पता चली। ऐसा धैर्यवान व्यक्ति मैंने अपने जीवन में नहीं देखा।

ईमानदारी में भी नम्बर वन ही रहे। आदरणीय डॉ0 महावीर जी ने एक घटना सुनाई। एक बार कहीं से यात्रा करके आये। उन्हें टिकट नहीं मिलीं, ज्वालापुर आकर डॉ0 महावीर जी से बोले, 'महावीर एक टिकट ले आओ'। उन्होंने कहा आचार्य जी अभी तो आप आये हैं, अब टिकट की क्या आवश्यकता है? बोले 'मैं कह रहा हूँ, इसीलिये लेकर आओ'। महावीर जी बोले 'मैं टिकट लेकर आया और मेरे सामने ही उन्होंने टिकट फाड़कर फेंक दी'

महावीर जी ने कहा, यह क्या? तब बोले 'मैं बिना टिकट आया था मुझे टिकट नहीं मिल पाई थी'। यह था आदरणीय भाई जी का व्यक्तित्व।

साधारण से साधारण व्यक्ति को इतना सम्मान देते थे जिसके योग्य वो वस्तुतः नहीं होता था। हाँ उसके अन्दर वैसा बनने की इच्छा अवश्य उत्पन्न हो जाती थी। हर पत्र में भाई जी का सम्बोधन इस प्रकार होता था, 'मेरी पूजा के योग्य लाड़ली बहन, मेरी श्रद्धा एवं सम्मान के योग्य लाड़ली बहन'। इतना प्यार और सम्मान देना तो वास्तव में देवता का ही काम है मनुष्य का नहीं।

वेद के प्रति दीवानगी उनमें देखने लायक थी। देखने में बड़े सरल सीधे परन्तु असत्य के सामने कभी नहीं झुकते थे। विरोधियों का मुकाबला बड़े साहस से करते थे। रोज घर में न जाने कितने लोग भोजन करते थे लेकिन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति का पद प्राप्त करने के लिये किसी को भोजन नहीं कराया। आदरणीय भाई जी कहा करते थे "जब मैं" ध्यान में बैठता हूँ मुझे परमात्मा की आवाज आती है, "राम प्रसाद" मैं तुम्हें वह आनन्द दूँगा जो ऊँची से ऊँची कुर्सी पाकर भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। लिखने को तो बहुत कुछ है लेकिन उनके बारे में लिखना मेरी सामर्थ्य के बाहर है जो कुछ भी लिखा उसमें पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई अपनी योग्यता की कमी के कारण। अतः मैं अपने महामानव, योगी देवता भाई को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भगवान से प्रार्थना करती हूँ कि भाई जी जैसे, अपने जीवन काल में मानव मात्र के प्रेरक बने रहे वैसे ही उनके संस्मरण, उनका साहित्य, उनका व्यक्तित्व जन जागृति करता रहे, ज्ञान की ज्योति से मानव मात्र को ज्योतिर्मय करता रहे।

– श्रीमती सरला चौधरी
स्वरूप नगर,
कानपुर।

दिव्य-प्रेरणा-स्रोत आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार

श्रद्धेय आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार के प्रथम दर्शन उस समय हुए, जब आचार्य जी वेद मन्दिर सहारनपुर की जनता को अपने वचनामृतों से कृतार्थ करने पधारे थे। हमारे ही निवास पर ठहरे थे। लेकिन उस दिव्य पुरुष से वास्तविक परिचय तब हुआ जब हम लोग ज्वालापुर आर्य वानप्रस्थाश्रम में आए। उस समय आचार्य जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में कुलपति के पद को गौरवान्वित कर रहे थे। अत्यन्त मृदुभाषी, ज्ञान, तेज तथा अटल ईश–विश्वास का एक देदीप्यमान पुंज था उनका व्यक्तित्व। जहाँ अहंकार का कहीं लेशमात्र भी भान नहीं होता था।

जैसे जैसे उनसे सम्पर्क बढ़ता गया, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के दर्शन होते गये। उनकी मृदुल प्रतिभा, गतिशील सार्थक किन्तु भक्तिभाव से पूर्ण लेखन उनकी विद्वता से प्रभावित करता गया। उस कर्मयोगी की लेखनी की गति अजस्र थी। यात्रा हो या व्यास पीठ पर ब्रह्मा के पद का ग़ौरवपूर्ण कार्य, उनकी लेखनी निर्बाध रूप से चलकर वेदों के गूढ़ रहस्यों को, उपनिषदों एवं दर्शनों के अमर सन्देशों को जनमानस तक पहुँचाती रही। सरल किन्तु स्पष्ट एवं हृदयग्राही वेदों की व्याख्या हम लोगों के लिए सुलभ कर गए, लेखनी के अमर स्वामी आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार।

उनकी वाणी में तेजस्विता एवं मृदुता, ओज एवं तेज का अद्‌भुत संगम था। उन्नत ललाट, गौरवर्ण, प्रसन्न वदन के साथ जब आचार्य जी व्यास पीठ पर विराजते, व्यासपीठ की शोभा को द्विगुणित कर देते और जब उनके मुखारविन्द से भक्तिभाव की मर्मस्पर्शी धारा प्रवाहित होती, जनमानस को उद्वेलित कर देती। वेदों के मन्त्रों के प्रवचन उनकी वाणी मात्र से ही नहीं हृदय से प्रवाहित होते थे। उनका प्रभु प्रेम से गद्‌गद् स्वर, निरन्तर अश्रु प्रवाह, जहाँ उनकी आत्मा से निस्सरित भावों को प्रकट करता, वहाँ श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देता। आज उनकी उस वाणी के जादू, वह भक्तिरस में सने उद्‌गार सुनने को हम तरस गए हैं।

मुझे आचार्य रामप्रसाद जी से अग्रज भ्राता का वात्सल्य, स्नेह एवं आशीष प्राप्त हुआ। उनकी आत्मीयता एवं आशीष पाकर मैं धन्य हुई। लेकिन यह नहीं जानती थी कि

काल का क्रूर प्रहार हमेशा के लिए हमसे अपने उस दिव्य, उस ज्ञान पण्डित प्रभुभक्त भाई को इतनी जल्दी छीन लेगा।

जैसा मैंने पहले भी कहा है कि अहंकार उन्हें छू भी नहीं गया था। आज मुझे स्मरण आ रही है वह घटना, जब मेरे पतिदेव को देहली में हृदय रोग का गम्भीर झटका लगा था। जब उनकी तबीयत कुछ सम्भली तो मैं सामान लेने आश्रम आई। आचार्य जी को जब ज्ञात हुआ तो आचार्य जी अपनी सहधर्मिणी सरोज जी के साथ मेरे पास हाल चाल पूछने आए। मैं पुनः देहली जाने को तैयार थी, मेरे पास कुछ सामान भी था। इतने बड़े कुलपति के पद पर मण्डित मेरे पूज्य भाई आचार्य जी ने मेरा सामान कन्धे पर उठा लिया, मैं मना करती रही लेकिन उनकी सदाशयता एवं उदार हृदयता के आगे मेरी एक भी न चली और दोनों ने मुझे बस तक पहुँचाया। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं हैं जो एक ओर उनके अभाव से सालती हैं वहाँ हमें दिव्य सन्देश एवं पाठ पढ़ाती हैं।

उनकी प्रभु भक्ति इतनी अटल थी जिनके सामने समस्याएं आईं, उन्होंने किसी और की तरफ नहीं निहारा। प्रत्युत आँख मूंद, ध्यान मग्न हो, उस अपने पिता से ही वार्तालाप कर उससे मार्गदर्शन प्राप्त किया। बड़े–बड़े प्रलोभन भी उन्हें डगमगा नहीं पाए। उनकी प्रभु भक्ति एवं ईश विश्वास अटल एवं अनुकरणीय था। उस निर्लिप्त एवं निर्द्वन्द्व भाई जी का सारा जीवन अपने आचरण से ही उपदेश देता है।

आचार्य जी की धर्मपत्नी श्रीमती सरोज आर्या, जो इस दिव्य पुरुष के संसर्ग में रह कर जहाँ कुन्दन बनती गई, वहीं अपनी सेवा समर्पण एवं अतुल्य सहयोग से उस कर्मयोगी के मार्ग को प्रशस्त करने में सदा तत्पर रहीं।

उनके सुपुत्र चिरंजीव अनुव्रत एवं पुत्री सौभाग्यवती श्रद्धा अपने पूज्य पिताजी से प्राप्त श्रेष्ठ संस्कार, भव्य–भावनाओं से जहाँ अपने जीवन को उन्नत करेंगे। वहाँ यशस्वी बनकर अपनी यश–सुरभि से दिग्दिन्त को सुरभित करते हुए आचार्य जी के नाम को अमर रखने में सदा प्रयत्नशील रहेंगे।

मैं अश्रुपूरित नेत्रों एवं सम्पूर्ण हार्दिक भावनाओं से आचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ।

– प्रकाशवती रत्ना
2/35, आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर, हरिद्वार।

आचार्य राम : एक देवपुरुष

एक देदीप्यमान वर्चस्वी, वेदज्ञ, आध्यात्मिक साधना में ओत–प्रोत, धाराप्रवाह लेखनी के धनी ऐसे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में श्रद्धाञ्जली के शब्द लिखने में असमर्थता अनुभव करते हुए भी अश्रुओं के उद्वेग को रोकने का असफल प्रयास करते हुए अपनी विचार–शृंखला की उद्वेलित भावनाओं को व्यक्त करना आवश्यक समझता हूँ।

आचार्य रामप्रसाद जी के सम्पर्क में विगत दस वर्षों से आने पर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह वेदमन्त्रों के धातुओं की आचार्य यास्कमुनि द्वारा प्रदत्त निरुक्त के नियमों की मार्यादाओं का अक्षरशः पालन करते हुए, सामान्य जनमानस के लिए सुलभ, बोध–गम्य व्याख्यात्मक दृष्टिकोण देकर लगभग 70 पुस्तकों के लेखन का कीर्तिमान स्थापित किया। सरल भाषा, जीवन के साथ घटित दृष्टान्तों के उद्धरण, जहाँ लेखनी के माध्यम से भारत की जनता को एक अनुपम देन दी, वहाँ उत्तरी और मध्य भारत के विशिष्ट स्थानों में अपने मधुर व्याख्यानों एवं प्रवचनों से लोगों के हृदयों का स्पर्श कर उनकी हृदय–तन्त्री को झंकृत किया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के एक उज्ज्वल छात्र ने आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर में एक तपस्वी के रूप में वास करके अध्ययन करते हुए अन्ततोगत्वा उसी गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य, उपकुलपति एवं कुलपति के पदों की गरिमा बढ़ाई और अनेक शिक्षाविदों एवं विद्यार्थियों का दिशा निर्देशन किया।

सरल स्वभाव के धनी आचार्य प्रवर को किसी व्यक्ति के प्रति कभी – भी न द्वेष, न ईर्ष्या, न गिला, न शिकवा का भाव देखने को मिला। वह सचमुच महामानव थे, साधू थे। वह अपने प्रवचनों में प्रवचनमय हो जाते थे, जिसमें वाणी, हृदय, मस्तिष्क और आत्मा का सुन्दर समन्वय होता था।

इस छोटे से जीवन में उनके द्वारा विदेश गमन भी हुआ और 'ईशावास्यम्' उपनिषद का व्याख्यात्मक दृष्टिकोण आँग्ल भाषा में "Quest of Infinite" नाम से पुस्तक छपवाई। उनकी इस अनुपम देन को अत्यधिक अविस्मरणीय प्रशस्ति मिली एवं जनता लाभान्वित हुई।

प्रत्येक ऐसे सफल मनुष्य के पीछे एक सद्‌गृहिणी का हाथ होता है। बहिन सरोज जी ने इस व्यक्तित्व के निखरने में जो योगदान दिया, वह भी अत्यन्त सराहनीय अध्याय है। इनकी दोनों सन्ताने श्रद्धा एवं अनुव्रत उनके आदर्शों पर चलने में सिद्धहस्त हैं। आचार्य जी ने मनु महाराज द्वारा दिए गए दस धर्म के लक्षण अर्थात् "धृति, क्षमा, दयोऽस्तेयं, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धीर्विद्या, सत्यम क्रोधो इति दशकम् धर्म लक्षणम्" को अक्षरशः चरितार्थ किया। उनके सान्निध्य के दस वर्षों में, मैंने उन्हें क्रोधित होते कभी नहीं देखा और सदैव उनके मुखमण्डल को सरल मुस्कानों से भरपूर देखा।

मैंने उनके समीप बैठकर वेदों का अध्ययन किया। उस महान गुरु के प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

अन्त में इतना कह सकता हूँ कि उनका व्यक्तित्व एक अथवा दो नहीं परन्तु अनेक आभाओं से पल्लवित था। (He was multiple attributes in one) उन्होंने जीवन में आए कष्टों को सहृदयता, सरलता, धैर्य एवं मित्रभाव से सहन किया एवं उनका समाधान किया। मैं और मेरी सहधर्मिणी दोनों उनके ऋण से जीवन भर उऋण नहीं हो सकते। हम दोनों उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

आचार्य रामप्रसादाऽभिनन्दनम्

वेदोद्धारणमेव लक्ष्यमभवद् यस्यात्मनो जीवेन,
तस्यैव प्रतिपादनाय मतिमान यो चेष्टताऽहर्निशम्।
साङ्गोपाङ्गमधीत्य साधु सकलं यो वैदिकवाङ्मयम्,
व्याख्यां तस्य चकार सर्व–सुगमं तस्मै नमः यतिने।।

आर्या संस्कृतिमुद्दिधीर्षुखनो आर्य समाजं व्यदधासः,
तद् द्वारैव जनेषु वेद विहिताः प्रचारयः प्रक्रियाः।
वेदानां प्रचुरं प्रचारमकरोस् त्वं यज्ञ–होमैश्च यो,
वंदे संयमिनां वराय सुधिये तस्मैं रामप्रसाद!ते।

- आचार्य विद्यारत्न,
आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर

"वेदपुरुष को नमन"

श्रद्धेय आचार्य रामप्रसाद जी का पावन सान्निध्य प्राप्ति का सौभाग्य सात आठ वर्ष तक प्राप्त हुआ। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में जब मैंने प्रवाचक (रीडर) के रूप में कार्यभार ग्रहण किया, वे आचार्य पद पर आसीन थे। यद्यपि हम उनके अधीनस्थ थे, वे हमारे आचार्य थे, किन्तु उनका आचार्यत्व कभी इस भाव का आभास नहीं होने देता था। सभी के साथ उनका स्नेहिल व्यवहार उनके विशाल हृदय का परिचायक था। वे सदा कहा करते थे सोमदेव! इस गुरुकुल परिवार में तुम्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट हो तो मुझे बताना। उनके इस स्नेहिल व्यवहार की स्मृति आजीवन बनी रहेगी। उनके व्यवहार को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा प्रवर्तित गुरुकुलीय आचार्य परम्परा का आदर्श सदा उनके सम्मुख रहता था, जिसमें वे अपना प्रतिबिम्ब निहारने के प्रयास में लगे रहते थे।

आचार्य वरुण, यम, मृत्यु स्वरूप होता है। वैदिक आचार्य की यह छवि श्रद्धेय आचार्य जी में स्पष्टतः परिलक्षित होती थी, वे गुरुकुलीय सभी गतिविधियों का ज्ञान रखते थे, उद्दण्ड छात्र भी उनके नियमन में रहते थे। शतशः स्नेहिल व्यवहार से भी जो छात्र, या कर्मचारी नहीं मानते थे, उनके लिए वे दृढ़तापूर्वक उग्रता भी धारण करते थे। वे **वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि** के जीवन्त उदाहरण थे। एक बार की घटना मुझे याद आ रही है– एक चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी उनके सामने अनाप सनाप गाली गलौज कर गया। प्रमत्त अवस्था में अपना त्यागपत्र भी आचार्य जी को थमा गया। इन सब कार्यकलापों को आचार्य जी मुस्कराते हुए ऐसे देख रहे थे जैसे एक छोटे बालक की उद्दण्डता को माता–पिता हँसते हुए उपेक्षा कर जाते हैं। मैंने उनसे कहा, आचार्य जी यह व्यक्ति इतनी उद्दण्डता कर रहा है और आप हँस रहे हैं। उन्होंने कहा– सोमदेव! वह किसी कारण से आवेश में है। मैं कुछ प्रतिक्रिया करता हूँ तो उसके बच्चे भूखे मरेंगे। यह कह कर वे शान्त हो गये। उनकी इस महानता, प्रभुता सम्पन्न होने पर भी क्षमाशीलता के समक्ष मैं नत–मस्तक हो गया। उनका जीवन आचार्यत्व का जीवन्त निर्वचन भी था निदर्शन भी। उनका समग्र व्यक्तित्व आचार्य पद की

व्याख्या करता हुआ सा प्रतीत होता था।

जहाँ वे अपनी लेखनी से एवं वाणी से अहर्निश वेदों के गूढ़ सन्देशों को जन–जन तक सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में प्रसारित करने में संलग्न रहे, वहीं उनका सरल, सहज व्यवहार भी **मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्, ईशावास्यमिदं सर्वम्, वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को प्रसारित करता प्रतीत होता था। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक **'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'** इस श्रुतिवचन का अनुसरण करते रहे। वेद एवं महर्षि दयानन्द के सन्देशों को सुनाते सुनाते आचार्य जी ने अपनी इहलीला पूर्ण की। वेदपुरुष श्रद्धेय आचार्य जी के वेदालोक से आलोकित जीवनालोक से कुछ प्रकाश के कण हम अपने जीवन में धारण कर सकें, तो यही हमारा उनके प्रति सादर नमन होगा, हमारी यथार्थ श्रद्धाञ्जलि होगी।

– डॉ0 सोमदेव शतांशु
रीडर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

श्रद्धेय भाई रामप्रसाद जी

हे! वेदज्ञ हे! सौम्य सुमन
तुम क्यों अभी से अस्त हुये
छोड़ अधूरे काम आज
तुम किस देश गये
जीवन के अन्तिम क्षण तक
तुम वेद प्रचार में लगे रहे
सबको रोता छोड़ गये
दे जीवन से सन्देश गये

अभी तो उम्र का तृतीय पहर था
अन्तिम को क्यों अंगीकार किया
थी आर्य जगत को तुमसे आशा
पर तुम तो मुखड़ा मोड गये
वो लेखनी भी आज सिसकती है
कुर्सी भी प्रतीक्षा करती है
बहन सरोज को य़ाद सताती है
श्रद्धा अनुव्रत को बहुत तड़पाती है

अब कैसे धीर बन्धे उनको
तुम जैसा कौन प्यार करे उनको
पर ईश्वर की इच्छा आगे
सब नतमस्तक है उसके आगे
वो आपके सुखद सरल प्रवचन
सुनने को कान तरसते हैं
कर याद तुम्हें आचार्य जी आज
आँखों से अश्रु बरसते हैं।

थे आर्य जगत के तुम तारे
तुम बिन विद्वज सूने सारे
कहते कोई हमारा राम गया
कहते कोई हमारा गुरु गया
तुम सबको अपने लगते थे
जो कहते वो पूरा करते थे
हो आज जहाँ भी तुम्हें मेरा नमन्
लेलो हम सबके अश्रु सुमन्

— **लक्ष्मी आर्या**

2/17, वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर

मेरी वैदिक गणितीय शोध के प्रेरक : आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार जी

मैंने जुलाई 1960 में विज्ञान महाविद्यालय में प्रवेश लिया था। उस समय मैं बी.एस.सी. प्रथम वर्ष का छात्र था। उस समय श्री प्रियव्रत जी आचार्य एवं उपकुलपति थे। श्री रामप्रसाद जी का अध्ययन काल गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इसके पश्चात् का है। सितम्बर 1968 में मैं विश्वविद्यालय की सेवा में विज्ञान महाविद्यालय में गणित विषय के प्राध्यापक के रूप में सम्मिलित हुआ। विश्वविद्यालय में अनेक शीर्षाधिकारी अपने कार्यकाल पूर्ण करके सेवा निवृत्त हुए। इसी बीच में कब श्री रामप्रसाद जी की नियुक्ति हुई, मुझे कुछ पता नहीं चला। मैं तो उनसे जब परिचित हुआ उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित पाया।

मात्र दो तीन बार दर्शन प्राप्त होने पर ही मैं उनकी सज्जनता एवं विद्वता का कायल हो गया। कभी भी मैंने उन्हें क्रोध की मुद्रा में नहीं देखा। छात्रहित तथा अधीनस्थ शिक्षक एवं गैरशिक्षक कर्मचारियों के हित के प्रति वे सदैव सजग रहते थे। किसी छात्र के अथवा किसी कर्मचारी के कुछ अमर्यादित अथवा अनुचित आचरण करने पर उसे स्नेह से समझाते थे। किसी भी छात्र, कर्मचारी अथवा अधिकारी को उनसे असंतुष्ट नहीं पाया।

मुझे वैदिक गणित में शोधकार्य की प्रेरणा उनसे ही प्राप्त हुई। जब भी मिलते तभी पूछते कि क्या शोध कार्य कर रहे हो?, कहते कि वेदों में गणित का अध्ययन करो। मैं अपनी कठिनाई बताता कि आचार्य जी मैं तो उतनी संस्कृत नहीं जानता जितनी वेदों को समझने के लिए जाननी चाहिए। वे कहते कि प्रयत्न करने पर सब संभव है। मेरी सहायता प्राप्त करो।

एक दिन आचार्य जी ने मेरी कठिनाई सरल कर दी। उन्होंने मुझे आचार्य श्री राम शर्मा द्वारा लिखित यजुर्वेद भाष्य की पुस्तक दी और कहा कि इसमें मन्त्र तथा उनके अर्थ आदि सब दिये हुए हैं। अपने गणित से संबंधी मंत्रों को देखो तथा उनसे उचित परिणाम प्राप्त करो। कुछ और भाष्यों को जैसे श्री दयानन्द सरस्वती कृतयजुर्वेद भाष्यम् तथा सायणाचार्य जी का भाष्य भी देखने की सलाह दी। यजुर्वेद के जिन मन्त्रों ने मेरा ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित किया, उनके विषय में नीचे लिखा जा रहा है। सर्वप्रथम इस मंत्र को देखिये–

अग्निकाक्षरेणप्राणमुद्रजयत तमुज्जेषमश्विनौ ।
द्वयक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं,
विष्णुस्त्रक्षरेण त्रील्लोकांनुदजयतानुज्जेषं छं,
सोमश्चतुरक्षरेण चतुस्पदः पशुनुदजन्तानुज्जषम ।।

यर्जु0, नवमोऽध्यायः, मन्त्र (31)

इस मन्त्र में बताया गया है एक अक्षर से अग्नि ने आत्मा (एक) को जीत लिया है। दो अक्षरो से अश्विनी कुमारों ने व्यक्तियों (दो पैरों की ओर संकेत) को जीत लिया है। तीन अक्षरों से विष्णु ने लोकों (तीन की ओर संकेत) को जीत लिया है। चार अक्षरों से सोम ने पशुओं को (चार पैर की और संकेत को जीत लिया है।

निम्न मंत्रो का अवलोकन करें :–

1. एकथास्तुवत प्रजाऽअधोयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
2. तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यतब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।
3. पञ्चभिरस्तुवत सत्तऋषयो सृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ।
4. सप्तभिरस्तुवतसम्तऋष्योऽसृज्यन्तधाताधिपतिरासीत् ।
5. नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्यासीत् ।
6. एकादशभिरस्तुवतऽऋतवोऽसृज्यन्ताईवाऽअधिपतयऽआसन् ।
7. त्रयोदशभिरस्तुवतमासाऽससृज्यन्तसंवत्सरोऽअधिपतिरासीत् ।
8. पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रय सृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।
9. सप्तदशचिरस्तुवतग्राम्याः पश्वोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ।
10. नवदशभिरस्तुवत शुद्रार्य्यावसृज्येता महोरात्रेऽअधिपत्नी आसताम् ।
11. एकविंशशत्यास्तुवतैवशफाः पशवो सृज्यन्त वरूणेधिपतिरासीत् ।
12. त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पस्वोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
13. पन्चविंशशत्यास्तुवतऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्तवयुरधिपतिरासीत् ।
14. सप्तविंशशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतावसवोरुद्राऽआदित्या ।
15. ऽअनुव्या शंस्तऽखवाधिपतयऽआसनू ।।
16. नवविंशशत्वास्तुवत वनस्पनयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।

17. एकत्रि शंशतास्तुवत भूतान्य शाभ्यन् प्रजापतिः परमेष्ठाधिपतिरासीत् ।

यर्जु0, चतुर्दशो अध्यायः, मन्त्र 28–29–30–31

इस मंत्र में संख्यायें विशेष ढंग से प्रयोग की गई हैं । प्रथम पंक्ति में एक वाणी के विषय में कहा गया है । दूसरी पंक्ति में तीन प्राण, उदान तथा ध्यान का उल्लेख है । तीसरी पंक्ति में पाँच प्राणों का वर्णन है । चतुर्थ पंक्ति में दो कान, दो नासिका, दो नेत्र तथा एक जिह्वा, इस प्रकार कुल सात का उल्लेख है । पंचम पंक्ति में नौ के विषय में कहा गया है । षष्ठ पंक्ति में दस प्राण तथा एक आत्मा इसप्रकार कुल ग्यारह का उल्लेख है । सातवी पंक्ति में दस प्राण दो पाद तथा एक आत्मा इस प्रकार कुल तेरह योग होता है । आठवी पंक्ति में दो हाथ, दस उंगलियाँ, दो भुजाएं तथा अतिरिक्त एक मास, इस प्रकार कुल योग पन्द्रह बनता है । नौवी पंक्ति में दो पैर, दस पैरों की उंगलियाँ, दो जांघ, दो घुटने तथा एक अन्य, इस प्रकार कुल योग सत्रह है । दसवीं पंक्ति में हाथ की उंगलियाँ (दस) तथा प्राण (नौ), कुल उन्नीस का उल्लेख है । ग्यारहवीं पंक्ति में हाथ की उंगलियाँ (दस), पैर की उंगलियाँ (दस) तथा एक आत्मा इस प्रकार कुल इक्कीस योग बनता है । बारहवी पंक्ति में हाथ की तथा पैरों की उंगलियाँ (बीस), पैर तथा एक आत्मा कुल योग तेइस है । तेरहवीं पंक्ति में बीस कुल उंगलियाँ, दो पैर, दो हाथ एक आत्मा कुल योग पच्चीस का उल्लेख है । चौदहवीं पंक्ति में बीस उंगलियाँ । दो भुजाएँ, दो जंघाएँ, प्रशतिशा दो तथा एक आत्मा इस प्रकार कुल योग सत्ताइस है । पंद्रहवीं पंक्ति में उंगलियाँ बीस, प्राण नौ कुल उनतीस के विषय में कहा गया है । सोलहवी पंक्ति में उंगलियाँ बीस, अंग दस तथा एक अन्य कुल इकतीस योग है । सत्रहवी पंक्ति में कुल योग तैंतीस है । इन मंत्रों में एक से प्रारंभ करके तैंतीस तक की विषम संख्यायें प्रयुक्त की गयी हैं

- मन्त्र में प्रयुक्त संख्याओं को सारिणी रूप में निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है :

पंक्तियों में प्रयुक्त संख्याएं	**उनका योग**
1	1
1,1,1	3
1,1,1,1,1	5
2,2,2,1	7
9	9

10,1	11
10,2,1	13
2,10,2,1	15
2,10,2,2,1	17
10, 9	19
10,10,1	21
10,10,2,1	23
10,10,2,2,1	25
10,10,2,2,2,1	27
10,10,9	29
10,10,10,1	31
10,10,10,2,1	33

इस प्रकार मैंने वेदों में गणित का अध्ययन प्रारंभ किया। यजुर्वेद में कितने ही मंत्र ऐसे भी प्राप्त हुए जो अति विशेष है। इसके बाद मैंने कुछ ऋग्वेद का भी अध्ययन किया। वैदिक गणित शोध संबंधी कई लेख प्रकाशित किये। यह सब कार्य उनकी प्रेरणा से प्रारंभ हुआ था। मुझे आचार्य श्री रामप्रसाद वेदालंकार जी सदा स्मरण रहेंगे। मैं उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि देता हूँ।

– डॉ0 विजयेन्द्र कुमार शर्मा
गणित एवं सांख्यिकी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

आर्यजगत के चमकते सितारे, सत्य की साक्षात् मूर्ति : आचार्य रामप्रसाद जी

मेरे प्यारे पूज्य भाई राम जी को आज संसार से विदा हुए एक वर्ष ढाई मास हो गये हैं, जब वह अपनी तुच्छ बहिन को रोता बिलखता छोड़ गये थे। मैं उनकी इतनी ऋणी हूँ कि कई जन्म लेकर भी उनका ऋण नहीं उतार सकती जो उन्होंने मेरे एवं मेरे परिवार के प्रति उपकार किये हैं इतना गहरा स्नेह था मुझे अपनी माँ जाई बहनों की पंक्ति में मानते थे उनके 15 वर्ष पहले के लिखे पचासों पत्र विद्यमान हैं जो पढ़ते हुए उनकी लेखनी में दर्शन करती हूँ– वह चमकते सितारे प्रभात के तारे की तरह न जाने कहाँ छिप गये, खो गये, जल की बूंद की तरह विलीन हो गये, लुप्त हो गये। कोई ऋण ऐसा नहीं जो मैं अपने हृदय से भुला सकूँ। मैं अपना सम्बन्ध उनके साथ परमार्थ का मानती हूँ। उनके प्रति जो स्नेह सम्मान, है क्या वह लेखनी से लिखा जा सकता है? नहीं। भाई के मिलन की प्रथम घड़ियां सन् 69 में प्रथम बार व्यास आश्रम के शिविर में पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी जी की प्रेरणा से आई। मैंने इस महान आत्मा के दर्शन किये। एक सप्ताह का कार्यक्रम था इनके दर्शन किये। ऐसा आभास हुआ कि यह तप त्याग की मूर्ति कौन है? मटमैली धोती कुर्ता, छोटा सा कद, सौम्य चेहरा सूर्य के समान तेज से तमतमा रहा था। यज्ञ के ब्रह्मा थे। वाणी से सरस्वती का प्रवाह बह रहा था, नेत्रों से अश्रुधाराऐं बह रही थीं बस मैं तो प्रथम बार दर्शन करके दीवानी हो गई। भीतर हृदय तड़प रहा है इतनी महान आत्मा से बात कैसे करूँ। मेरा सौभाग्य नहीं है यह मुझसे बात करें। मैं मूक होकर अश्रु बहाती वापिस अहमदाबाद चली गई। दो तीन वर्ष ऐसा ही रहा बस इनकी मधु वाणी सुनती रहती। महात्मा आनन्द स्वामी जी के आदेश पर भजन गाती। मुझे यज्ञ वेदी पर कार्य करते देखकर थोड़े प्रभावित हुए। पूर्णाहूति वाले दिन मैं जूतों के पास खड़ी थी। वहाँ आकर बोले, बहिन जी मैं आपके लिए मंगल कामना करता हूँ, सदा प्रसन्न रहो। मुझे ऐसा लगा जैसे आज धन का खज़ाना मिल गया है। उनकी मधुर आवाज़ आज भी कानों में गूंज रहीं है। इस महान आत्मा की आवाज सदा सदा के लिए मेरे साथ बंध गई। ऐसे भाई को कैसे भूलूँ मैंने उनके साथ लम्बी–लम्बी राजस्थान की, गुजरात की व अन्य स्थानों की यात्राऐं की। प्रचार कार्य में साथ रही, निकट से निकट उनके क्रियात्मक जीवन का मैंने सम्यक् रूप से दिग्दर्शन किया। और अनुभव किया किस प्रकार उन्होंने अपने सारे

उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए गुरुकुल के ऊँचे पद का निर्वहन करते हुए, वेद माता की सेवा करते हुए, वेद के प्रचार प्रसार में समाजिक जीवन में प्रेरणा के स्त्रोत बनकर अन्तिम समय तक अपनी लेखनी चलाते हुए अपना जीवन होम कर दिया। उनका जीवन जलती मशाल था, वेद रूपी मशाल हाथ में लेकर भारत के कोने–कोने में जाकर अनेकों पथ से भटके लोगों को वेद का ज्ञान देकर, असंख्य लोगों के हृदयों से अज्ञान अन्धकार को दूर कर, सत्य पथ दिया। स्वयं जलकर प्रकाशित हुए औरों को भी प्रकाशित कर गये। महर्षि दयानन्द के सच्चे अनुयायी थे, वैदिक सिद्धान्त पर अडिग रहते थे। कितना ऊँचा, पवित्र जीवन, कितनी विनम्रता, सरलता, सहनशीलता, धैर्य, आत्मसन्तोष, हृदय में अलौकिक स्नेह का स्त्रोत बहता था। उनका हृदय अथाह समुद्र के समान गंभीर था, विशालता, उदारता सीमा पार कर गई थी, उनके भीतर दैवी गुणों का समावेश था। अपने जीवन में उनके चेहरे पर कभी क्रोध की रेखा नहीं देखी। मान–अपमान, हानि–लाभ, दुःख–सुख, रोग–शोक में सम रहना, मुस्कराते रहना, उनका विशेष गुण था। वेद का ज्ञान केवल ग्रन्थों में ही नहीं पाया, उनके जीवन से वेद बोलता था सारी सन्ध्या का मार्जन मन्त्र उनके आचरण में था। अन्तःकरण इतना पवित्र था, अपने पराये में भेद नहीं था जो उनको मिलता वह यही समझता कि मुझे यह सबसे अधिक प्यार करते हैं।

दूसरों के उत्थान में तन,मन, धन लगा देते थे, किसी के कष्ट को सहन नहीं कर पाते थे। इतनी पवित्र आत्मा थी जब भी मिलते बहन जी बैठो, एक मन्त्र सुन लो, सुनाने के पश्चात कहते भूलोगी तो नहीं। कोई ऐसा विद्वान भाई उनके जाने के बाद मिला नहीं जिसने ऐसे शब्द कहे हों, हर समय यही कहते थे, मैं आपको बहुत ऊँचा उठते देखना चाहता हूँ। कभी प्रवचन करने के बाद मिलते तो कहते बहन जी आपके लिए ही आज विशेष मन्त्र बोला है। मेरे और मेरे परिवार के ऊपर विशेष आशीर्वाद रहा, मेरे सब खुशी, गमी के कार्य इस भाई के कर कमलों से हुए हैं। भगवान कृष्ण की तरह बिना पत्र लिखे पहुँच जाते थे, इनके दर्शन कर हृदय आनन्द में झूम जाता था। जब हम दोनों पति पत्नी ने वानप्रस्थ भाई जी से लिया तो हँस कर आँसू बहाते कहते हैं आज हमारी बिरादरी कम हो गई है, वानप्रस्थाश्रम बिरादरी बढ़ गई है। वानप्रस्थ लेने के पश्चात जब मैं पहली बार ज्वालापुर इनके पास आई व वापिस तपोबन जाने लगी मैंने कहा मुझे आशीर्वाद दो, बोले बहुत अच्छा आशीर्वाद दूँगा। जो दूँगा वह ले लोगी, मैंने जब स्वीकार किया तो कहने लगे देखो, वानप्रस्थ में हर क्षेत्र में जहाँ से भी गालियां पड़ें, किसी का उत्तर नहीं देना, पूर्ण रूपेण मौन रहना, बहुत ऊँचा जीवन बनेगा। आर्य समाज के प्रचार प्रसार में सावधान रहना। सदा भुने चने पास रखना। मैं चारों ओर से आपका यश सुनना चाहता हूँ।

किसी के व्यक्तित्व की एवं योग्यता की पहचान करनी हो तो एक ही कसौटी वह वाणी से होती है। मेरे प्यारे भाई की वाणी से माधुर्य सोमरस टपकता था, नेत्रों से अश्रुधाराएं टपकती थीं। मेरा सिर उनके चरणों में झुक जाता, इक दिन मैंने कहा भाई जी मेरी एक बात मानोंगे? 24 घंटे आपकी बात मानने के लिए तैयार हूँ, बोलो तो सही। मैंने कहा इन डायरियों के, कापियों के अक्षर मिट जाएंगे, मैं हर समय आपकी कापियों के नोट लिखती रहती हूँ वेद ज्ञान की चोरी कर रही हूँ। बोले जी भर कर लिखों। मैंने प्रार्थना की मेरी इच्छा है इनको प्रकाशित कराओ, बोले हंसते हुए, बहिन जी आपकी इच्छा ईश्वर एक दिन अवश्य पूरी करेगा चिन्ता न करो बात आई गई हो गई। मैंने पूज्य आनन्द स्वामी जी के आग्रह पर तीन भजनों की पुस्तकें प्रकाशित कराई, एक प्रभु भजन संग्रह, बिखरे मोती, आनन्द सुमन। स्वामी जी के आदेश पर दो पुस्तकों में एक–एक लेख रामप्रसाद जी का भी दिया, बस जनता उन लेखों को पढ़कर दीवानी हो गई। पश्चात प्रार्थना सुमन, अनन्त की ओर छपी। अकेले ही सब साधन उपस्थित कर जीवन में संघर्ष करते हुए, लेखनी चलाते हुये, पार्सल, बिल्टियां बांधकर, थैले भर–भर लोगों को बिना मोल बांटते रहे। थोड़ा विचार तो करो, बिना मूल्य तो दुनिया में केवल परमात्मा ही दे सकता है और सब पदार्थ दे रहा है। यह किसी बन्दे का काम नहीं, मेरे भाई मनुष्य नहीं देवता थे। सच्चे प्रभु भक्त एवं उत्तम कोटि के साधक थे। बहुत कहती मंच पर आ जाओ, अब साधना कराओ। कहते 62 वर्ष के बाद मंच पर आऊँगा। विधि का विधान कौन जानता था? मन की तमन्ना मन में ही रह गई। सामान्य वार्तालाप करते हुये भी पवित्र गंगा जल की तरह उनके अश्रु बहने लग जाते, अपनी प्रशंसा कभी नहीं सुनना चाहते थे। आत्मप्रशस्ति से बहुत ऊँचे उठ चुके थे। श्रेष्ठ कर्मो के कारण वह स्वयं ही सूर्य–चन्द्र की तरह यशस्वीं रहेंगे। आने वाली सन्तानें उनका यश गाएंगी।

– नरेन्द्र आर्या वानप्रस्थी
तपोबन आश्रम
देहरादून।

पूज्य वेदरत्न आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार के सानिध्य में हुए कतिपय संस्मरण-

ऋग्वेद के एक मंत्र का भाव है कि सारे देव (जड़ चेतन) उस देवों के देव महादेव ईश्वर के सानिध्य से देवपन को प्राप्त करते हैं जिसे परमगुरु कहा गया है। **"वयं देवानां सुमतौ स्याम"** अर्थात हम सदा देव–विद्वानों की सुसङ्गति में रहे।

जीवन एक यात्रा है, जिसकी परिसमाप्ति मोक्ष होने पर होती है। इस जीवन यात्रा में अनेक अच्छे बुरे व्यक्तियों से सम्पर्क होता है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति भी मिलते हैं जो अपने जीवन व व्यवहार की अमिट छाप अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति के जीवन में छोड़ जाते हैं, ऐसे व्यक्ति प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से अनेक जिज्ञासुओं का निर्माण व मार्गदर्शन करते रहते हैं। ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तियों में अग्रणी आचार्य प्रवर थे, जिन्होंने अपने सम्पर्क में आने वाले कितने ही पठित युवको, ब्रह्मचारियों, गृहस्थ आदि जनों का वेद के परिप्रेक्ष्य में मार्गदर्शन किया है।

दैव अनुकम्पा से मुझे भी आचार्य प्रवर का वेद विषय में शिष्य बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम अक्टूबर 1990 में दिल्ली नगर में आचार्यप्रवर के मुखार बिन्दु से वेद प्रवचन सुनने का अवसर मिला, उनकी सरल, मनोहारी, सुसंस्कृत वेद व्याख्यान शैली ने प्रभावित किया। वर्ष 1995–96 में उन्हीं की प्रेरणा से 'वैदिक साहित्य' विषय में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से एम.ए. करने का संकल्प किया, उस काल में जो उनसे प्रेम, सहानुभूति, वेदार्थ शैली, वेदविज्ञान प्राप्त हुआ, वह जीवन में अविस्मरणीय रहेगा।

वैदिक वाड़्मय में विशिष्ट रुचि व प्रवेश करने का श्रेय पू. आचार्यप्रवर को ही जाता है।

वेद के विषय में इतनी श्रद्धा, रुचि प्रायः अन्य जनों में मैंने नहीं देखी जैसी वेदों में अपार श्रद्धा आचार्य जी में थी जिनकी जीवनचर्या वेदों के परिप्रेक्ष्य में होती है यथा– प्रातः से रात्रि पर्यन्त वेदों की चर्चा, वेदमंत्रों की व्याख्या लिखना, वेदप्रवचन आदि में ही व्यतीत होता था। वाणी, लेखनी, व्यवहार के धनी व्यक्ति ऐसे आचार्य को कभी खाली बैठे नहीं देखा, एकाग्रता इतनी अधिक थी कि शोरगुल के वातावरण में भी वेद पढा रहे हैं या पुस्तक लेखन में तल्लीन है, सामान्य व्यवहारकाल में भी उनकी लेखनी चलती ही रहती थी।

"उपकुलपति" के अत्यन्त कार्यभार वाले पद पर आसीन रहते हुए भी अपने सहयोगी कार्यकर्त्ताओं (Peon) से वेद के विद्यार्थियों को स्वयं बुलाकर वेद अध्यापन करते थे, अत्यन्त प्रतिकूलताओं में भी वेद अध्यापन से कभी विमुख नहीं हुए– "वेद का पढना, पढाना ....

परम धर्म है", इस वाक्य को प्रायः बोलते थे। ऋषि की यह पंक्ति उनके जीवन में चरितार्थ होती थी।

एक बार पू. आचार्य जी के सानिध्य में वेद प्रचारार्थ देवलाली– महाराष्ट्र में जाने का अवसर मिला। एक सप्ताह तक उनकी विशिष्ट वेद प्रवचनमाला व जीवन व्यवहार को निकट से पढ़ने का अवसर मिला। वेद एवं वैदिक सिद्धान्तों का अत्यन्त सरलीकरण व साथ–साथ कितनी ही व्यवहारिक–पारिवारिक समस्याओं का समाधान, कला को देखने का अवसर मिला।

बार–बार प्रयत्न व श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा का अवसर चाहने पर भी अत्यल्प रूप में ही सेवा लेते थे, जीवन तपस्वी था। सदा यही प्रेरणा व आशीर्वाद देते कि "वेद का विद्वान् बनकर मनुष्य जीवन का निर्माण करना"

उनकी पुस्तकों ... अनन्त की ओर, कहाँ है वह जो सब पर उपकारों की वर्षा करता है, ईश्वर मुझे सुखीकर, दान प्रशंसा, ने बहुत प्रभावित किया, अनेक बातों को मैंने स्व–जीवन में भी धारण किया। यदि मुझे आचार्यप्रवर का सानिध्य न मिलता तो, मैं वेद विषय में जितना ज्ञान–विज्ञान, वेदों में रुचि, श्रद्धा, जितनी आज अनुभव कर रहा हूँ वैदिक वाङ्मय में जो प्रवेश कर सका उससे वंचित रहता।

मेरी हार्दिक इच्छा पू. आचार्य से सम्पूर्ण "निरुक्त' पढने की थी, उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि मैं तुम्हें अपने पास रखकर निरुक्त पढाऊँगा, वह इच्छा अधूरी ही रह गई।

मैं पू. स्वामी सत्यपति जी को जहाँ योग व दर्शनविद्या का गुरु बनाकर अत्यन्त लाभान्वित हुआ, वहीं पू. आचार्य, वेदरत्न रामप्रसाद जी वेदालंकार को वेद का गुरु बनाकर स्वयं को अत्यन्त शौभाग्यशाली मानता हूँ। उनसे प्राप्त वैदिक विज्ञान का प्रचार–प्रसार सम्पूर्ण जीवन करने हेतु दृढप्रतिज्ञ हूँ।

अस्तु अत्यन्त सरल तपस्वी, वेद विद्वान्, प्रखर लेखक, वक्ता, विचारक, वाणी व व्यवहार के धनी, वेदभक्त पूज्य आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार के द्वारा किये गये उपकारों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

उनके प्रति अपने श्रद्धा प्रसून समर्पित करता हूँ।

–आशुतोषार्यः दर्शनाचार्यः
एम.ए. वैदिक साहित्य
आर्यवानप्रस्थाश्रम
ज्वालापुर, हरिद्वार।

पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर आचार्यश्री

अतीत में देखने पर एक निश्छल, सरल, उदारमना, मध्यम आकार की नम्रता की मूर्ति, सत्त्व की प्रकाशमयी छवि सी धवल धोती–कुर्ते में दिखाई पड़ती है जो समुद्र की गरिमा को धारण किए हुए है। उनकी धीर–गम्भीर–माधुर्य गुण से पूरित स्वर–सरिता में स्नानकर जिस तृप्ति का अनुभव होता था, वह सुखद अनुभूति मेरे अन्तःस्थल में आज पुनः जाग्रत हो गई है। ऐसा लगता है कि वह छवि मुझे कह रही हो – 'भारद्वाज! विचलित नहीं होते। प्रभु की इच्छा से ही यह सब हो रहा है। दुःखी होना या सुख अनुभव करना विवशता है'। हाँ! विवशता ही तो है। हमारे संस्कार ही जन्म, आयु, भोग देने वाले हैं, जैसा कर्म करते हैं, वैसा ही संस्कार बन जाता है। उनका फल ईश्वर–नियम के अन्तर्गत करने के लिए आगामी जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। इसमें हम परतन्त्र हैं किन्तु उस अवधि में स्वेच्छया कर्म करने के लिए हम स्वतन्त्र भी हैं। इसी कारण सत्कर्म (दानादि) तथा सत्संगति के फलस्वरूप व्यक्ति स्वकल्याण हेतु पुण्य संस्कार एकत्र कर सकता है।

'कर्मयोग' का सिद्धान्त है– फल की इच्छा न रखते हुए कर्म करना। यह ईश्वर–प्रणिधान पर टिका है। गीता में कहा है–

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।"

जो व्यक्ति आसक्ति रहित होकर ब्रह्म को अर्पित करके कर्म करता है, वह पाप से (अथवा पुण्य से भी) लिप्त नहीं होता, जैसे जल में रहकर भी कमल का पत्ता जल से विलग रहता है।

यह कर्म का सिद्धान्त है। हम जो कर्म करते हैं, उसके संस्कार जमा रहते हैं जो कालान्तर में फल देते हैं। यह ईश्वर की व्यवस्था है। कोई भी कर्म फल दिए बिना नहीं मिटता। मुस्लिम मत में 'तोबा' कर लेने पर 'खुदा' उसके दोषों को क्षमा कर देता है किन्तु वैदिक मत में प्रभु अपराध क्षमा नहीं करता। हर किए गए कर्म का फल भोगना पड़ता है। इसी मत के अनुसार व्यक्ति कर्म फल भोगने के लिए आगामी जन्म, आयु और भोग प्राप्त करता है। पुण्य कार्य के फलस्वरूप सुख, पाप कार्य के फलस्वरूप दुःख तथा पुण्य–पाप मिश्रित

कर्म के फल के स्वरूप सुख–दुःख मिश्रित रूप से प्राप्त होते हैं। यदि कर्म इस प्रकार किया जाए कि वह फल न दे, तो यह 'कर्म में कुशलता' कही जाती है। यदि कर्म को ब्रह्म को अर्पित करके किया जाए तो यह निष्काम कर्म व्यक्ति को फल नहीं देता। ऐसे ही कर्म करने वाला योगी पुरुष, कर्म के फल से बच जाता है। पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कारों को समाधि की अग्नि से जलाकर नष्ट कर देता है और मुक्त हो जाता है।

उक्त निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त आचार्य श्री रामप्रसाद वेदालंकार के ऊपर पूर्णतः ठीक बैठता है। स्वनाम धन्य, वेदमूर्ति, तप–त्याग की प्रतिमा, धीर–गम्भीर व्यक्तित्व के धनी, जिनके मुखमण्डल पर तेजस्विता झलकती थी, उनके विषय में कुछ भी कहना मेरी वाणी की सामर्थ्य से बाहर है।

आचार्य श्री मुझे बहुत स्नेह करते थे। जब योग विभागाध्यक्ष के पद पर मेरे स्थान पर उनको नियुक्त किया तो उन्होंने सहज भाव से मान्य डा. महावीर जी को कहा कि 'इसके लिए भारद्वाज ही उपयुक्त है। मैं कुलसचिव को अभी कहता हूँ'। तुरन्त कुलसचिव के पास जाकर मेरे नाम आदेश करा दिए। मैं जब भी कोई काम लेकर जाता, कभी सोचने– विचारने के लिए समय नहीं लेते थे। ऐसा अटूट विश्वास था और मैंने भी निष्ठा से उसे निर्वाह करने का प्रयास किया।

मनुष्य के जीवन में 'उतार–चढ़ाव आना एक सहज प्रक्रिया है। यदि झंझावात में धैर्य धारण करके समय गुजर जाए तो उन्नति के द्वार खुल जाते हैं और अधीर होने पर जीवन समाप्त हो जाता है। झंझावात की तीव्रगति भी आचार्य श्री को अपने उन्नति–पथ से विचलित नहीं कर पाई। कठिन से कठिनतर परिस्थितियों को ईश्वरानुग्रह कहकर सह गए। मुझे उनके सान्निध्य में रहकर सतत प्रेरणा मिली। मैं शीघ्र ही अधीर होने वाला तुच्छ जीव उस विराट व्यक्तित्व की झलक भर से स्थिरता प्राप्त कर लेता।

उनकी वाणी का जादू निश्चित रूप से मंत्रमुग्ध करने की सामर्थ्य रखता था। करुणा से छलछलाए नेत्र बिना बोले ही अन्तर्व्यथा को व्यक्त कर देते। श्रोता बिना आँख से बूँद गिराए उनके संभाषण का आनन्द नहीं ले सकता था। वाग्मी इतने कि हजारों की भीड़ को बाँधे रखने का सामर्थ्य उनमें था। चाहे मुम्बई महानगर की सभा हो या आर्यवानप्रस्थाश्रम की सुविज्ञ सभा – सब जगह उनका वर्चस्व बना रहता था। वैदिक विद्वान् के नाते उन्हें देशभर से बुलाने वालों की भीड़ लगी रहती थी।

यद्यपि काम अधिक थे तथापि उनका लेखन कार्य सतत चलता था। कक्षा लेने के पहले, लेने के बाद, सभा से पहले, सभा के बाद, भोजन से पहले, भोजन के बाद वे लेखन में

ही खोए रहते। शायद उन्हें यह आभास था कि जितना जल्दी काम पूरा हो जाए, वही अच्छा है। न जाने कब जीवन की सायं वेला आ जाए।

उनके शिव संकल्प युक्त मन में मैंने कभी दुर्भाव नहीं देखा। जो व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियोंवश निजी कार्य नहीं करा पाए और उनके दृढ़ व्यक्तित्व के आगे बौने पड़ जाते थे, वे भी उनको कभी बुरा नहीं कह पाते थे। ऐसे अजातशत्रु आचार्य श्री के मन में दुर्भाव कैसे स्थान पा सकते थे?

वेदमय जीवन सदा अपना प्रकाश बिखेरकर दूसरों को मार्ग दर्शन देता है। उन्होंने भी सदा हम लोगों को सन्मार्ग में प्रेरित किया। गुरुकुल में रहकर गुरुकुल की प्रतिष्ठा बढ़ाई। स्वामी श्रद्धानन्द, आचार्य रामदेव, आचार्य अभयदेव, आचार्य बुद्धदेव, आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति, आचार्य रामनाथ वेदालंकार आदि महामना आचार्यों की परम्परा को आचार्य श्री द्वारा अपने कन्धों पर उठाकर आगे बढ़ाया गया। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व ने सदा गुरुकुल को सर्वत्र सम्मान दिलाया। वेद के स्तम्भ के रूप में उनकी ख्याति देशभर में है और उसी के साथ गुरुकुल की पताका भी फहरा रही है।

उनकी जयन्ती के अवसर पर हृदय से उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। शमित्यो३म्।

– डॉ0 ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उ0प्र0

परम श्रद्धेय भैय्या रामप्रसाद

तुम स्वयं राम अभिराम,
मनोहर नाम तुम्हारा।
माधुर्य, ओज, प्रसाद,
गुणों का संगम न्यारा।
विनय, नम्रता, सात्विकता,
का तुम अनमोल खजाना।
रस तुम से रसवान हुआ,
और मर्म प्रेम ने जाना।
प्रतिभा सरसिज सी सरसी में,
लेती है अंगड़ाई।
श्रद्धा–साहित्य–सृजन में जिसकी,
गन्ध मधुर बिखराई।
वेदों की भागीरथी जिसकी वाणी में बहती हो।
कलम अगम की बात निगम के कानों में कहती हो।
धन्य हुआ यह वेद–सदन भी, या आवास तुम्हारा।
गृह–गृहिणी से शोभा पाता, सदन वेद से प्यारा।
और तुम अंच्युत परम स्नेही, प्राण से बन्द हुए काया में।
शाश्वत और सनातन हो तुम, मुक्त सतत छाया में।
प्रकृति पुरुष का मिलन, विधि का लीला अपरम्पार।
वेद–सदन है या कि राम का धाम स्वयं साकार।

– प्रकाश कपूर

सौम्य-मूर्ति आचार्य रामप्रसाद जी

स्वनाम धन्य आचार्य रामप्रसाद जी सचमुच 'राम' के प्रसाद थे अर्थात प्रभु कृपा में जीते जागते उदाहरण थे। अहंकार उनको छू तक नहीं गया था। उनकी सौम्यता व दूसरों को सहायता करने का स्वभाव लोगों को उनके निकट लाता था। उनकी सर्वप्रियता का यही मुख्य कारण है। मैं वानप्रस्थाश्रम में 1945 से आ रहा हूँ। सर्वप्रथम मुझे महात्मा खुशहालचन्द जी 1945 में अपने साथ लाए थे। उसके बाद आना-जाना बनता रहा। एक बार मैं आश्रम में आया और तत्कालीन मन्त्री द्वारा आश्रम में स्थान न होने के कारण मुझे नकार दिया था और मैं कार्यालय के बाहर असमंजस में खड़ा था कि सामने से आ0 रामप्रसाद जी आते दिखाई दिए मुझे उन्हें देख आशा बंधी। उन्होंने मेरे कार्यालय के बाहर खड़े होने का कारण पूछा। मैंने उन्हें वास्तविकता से अवगत कराया। मेरी बात सुन वह कार्यालय में गए। न जाने उन्होंने मन्त्री जी से क्या कहा? मन्त्री जी भी उनके साथ आए और मुझे अन्दर ले गए। मुझे कहा गया कि अपना सामान कार्यालय में रख दीजिए, सत्संग हो रहा है, सत्संग सुनिए और बाद में आपको कुटिया मिल जायेगी। और मुझे कुटिया मिल गई तो यह उनकी सज्जनता का जीता जागता उदाहरण है। उनसे प्रथम भेंट मेरी दिल्ली में राजोरी गार्डन में एक परिवार में हुई थी वहाँ उन्होंने अपना एक अनौपचारिक प्रवचन भी दिया था। उसको मैंने टेप कर लिया था। उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ था। उस टेप को मैंने कई बार सुना और उनका प्रशंसक बन गया। अक्सर उनसे दिल्ली में भेंट होती रहती थी। वह अक्सर अपने भाषणों में "वानप्रस्थाश्रम" की प्रशंसा किया करते थे और आश्रम में आने के लिए सबको आमंत्रित किया करते थे किन्तु साथ ही अगाह कर दिया करते थे कि आश्रम के सत्संग व शान्त वातावरण का आनन्द लेना चाहते हो तो वहाँ के मच्छरों और पतली दाल (उन दिनों दाल पतली बनती होगी) को सहन करना होगा। आश्रम से उनको बहुत स्नेह था और यदा-कदा इसको और उन्नत करने के लिए परामर्श देते रहते थे।

विड़म्बना है कि नियति ने उन्हें हमसे छीन लिया है पर हमारे हृदय और मस्तिष्क से उनकी स्मृति नहीं मिट पायेगी और वह सदा हमारे हृदय मंच पर आसीन रहेंगे।

— डॉ0 कृष्णदेव
प्रधान— आर्य वानप्रस्थाश्रम,
हरिद्वार

एक दीप जो कभी बुझ नहीं सकता

वेद में कहा गया है "ऋषिः स यो मनुर्हितः" (ऋग् 10/26/5), ऋषि वह है जो मानव मात्र का हितकारी हो। इस दृष्टि से आचार्य जी के प्रति बडी श्रद्धा से कहा जा सकता है कि वह एक ऋषि थे जिन्होंने केवल स्वामी दयानन्द द्वारा दर्शाये मार्ग पर स्वयं चलकर सत्य, सनातन, वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के आधार पर भूले–भटके और मत मतान्तरों के जाल में भटके मानवों को सत्य धर्म और न्याय का मार्ग दोहराया बल्कि अपनी लेखनी और प्रवचनों के माध्यम से आने वाली पीढ़ियों के लिये सही चिन्तन एवं मनन के लिये दिशा प्रदान की।

धन्य हैं पिता श्री गंगा बिशन जी जिन्होंने ऐसे कर्मठ आर्य विद्वान, चिंतक, दार्शनिक एवं महान आत्मा को जन्म दिया, जिन्होंने अपना सर्वस्व जीवन समाज–सेवा और वेद प्रचार में व्यतीत किया। इस सपूत को पैदा करनी वाली माता के प्रति नतमस्तक होना प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य बन जाता है।

आचार्य जी ने अपना जीवन एक कपड़े के व्यापारी बनकर आरम्भ किया। परन्तु ईश्वरीय कृपा उन्हें झंझोड़ रही थी कि रामप्रसाद तुम तो बहुत बड़े कार्य के लिये पैदा हुए हो। तुमने ऋषि दयानन्द का कर्जा उतारना है, तुमने भौतिक रूप में लक्ष्मी से घर को नहीं भरना अपितु आध्यात्मिक रूप से ज्ञान के प्रकाश से आर्य जाति के भविष्य को उज्ज्वल करना है। आत्मा की इस आवाज को उन्होंने सुना और वेदालंकार बनकर दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर में अध्यापन कार्य शुरु किया। गुरुकुल झज्झर में कुछ समय व्यतीत करने के पश्चात गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के लिये अपना जीवन ही सौंप दिया। वेद विभाग के अध्यक्ष बने, उपकुलपति बने और फिर कुलपति बनकर इस उपाधि को सुशोभित किया।

आचार्य जी ने अपने जीवन काल में 60 पुस्तकें लिखीं। उनकी शैली सरल और रोचक हुआ करती थी ताकि साधारण से साधारण व्यक्ति तक वेद की पवित्र वाणी पहुँच सके। अपनी सुपुत्री श्रद्धा के नाम से श्रद्धा साहित्य प्रकाशन की स्थापना की और सभी

साहित्य श्रद्धा प्रकाशन के माध्यम से जन–साधारण तक पहुँचता था। आचार्य जी के लेख प्रायः आर्य जगत् की हर पत्रिका में छपते थे। इसके अतिरिक्त कोई बीस के करीब उनकी ऑडियो और वीडियो कैसेट्स बनी हैं जो कि धर्म में रुचि रखने वाले व्यक्ति बड़े चाव से सुनते और देखते हैं।

कौन सा ऐसा प्रदेश है? कौन सी ऐसी आर्य समाज है? जहाँ आचार्य जी प्रचार के लिए न गए हों। और कौन सी ऐसी आर्य संस्था है? जहाँ आचार्य जी को सम्मानित न किया गया हो। उन्हें सम्मानित करने में संस्थाऐं अपना सौभाग्य समझती थीं।

आचार्य जी का शुभ विवाह सौभाग्यवती देवी, प्रति के समान मृदुभाषी, विदुषी श्रीमती सरोज आर्य जी से हुआ। विवाह के पश्चात् दाम्पत्य जीवन में और निखार आया और पति–पत्नी दोनों ही वेद प्रचार में जुट गए।

मृत्यु के क्रूर हाथों ने आचार्य जी को 1–10–98 को आर्य जगत से छीन लिया। एक बहुत बड़ी क्षति पहुँची उनके अधूरे कार्य को। परन्तु उनकी जीवन संगिनी जिनको प्रत्येक व्यक्ति श्रद्धा से बहनजी कहते हैं अर्थात बहन सरोज जी ने इस अधूरे कार्य को अग्रसर करने का भार अपने सिर पर लिया और वह अब श्रद्धा साहित्य प्रकाशन के अध्यक्ष के रूप में उनकी लिखी पुस्तकों को प्रकाशित कर रही हैं।

इसमें किञ्चित भी संदेह नहीं कि आचार्य जी आज हमारे मध्य में नहीं। परन्तु जरा विश्लेषण करें तो हम बड़े गर्व से कह सकते हैं कि आचार्य जी अपने गुण, कर्म और स्वभाव के कारण कभी नहीं मर सकते। शरीर की मृत्यु, मृत्यु नहीं। वह सदा अमर रहेंगे। ज्ञान के प्रकाश का वह एक ऐसा दीप थे जो कभी बुझ नहीं सकता जो सदा जलता रहेगा ओर मानव जाति के लिए पथ–प्रदर्शक और प्रेरणास्रोत बना रहेगा।

– आनन्द अभिलाषी
1/1, आर्य वानप्रस्थाश्रम,
ज्वालापुर

मेरे निरूक्त गुरु : आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार

गुरुकुल कालवा में व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन करने के उपरान्त मैंने निरूक्त पढ़ने की योजना बनाई। मन में ऐसी इच्छा थी कि किसी त्यागी, तपस्वी, विरक्त, षायवस्त्रधारी विद्वान् के चरणों में बैठकर ही वैदिक व्याकरण के इस अनुपम ग्रन्थ निरूक्त का अध्ययन किया जाये। एक मास तक देश के विभिन्न संस्थानों, आश्रमों, गुरुकुलों का प्रत्यक्ष अवलोकन करने के उपरान्त भी अनुकूल वातावरण, व्यवस्था–प्रबन्ध, जलवायु और विद्वान से युक्त स्थान की उपलब्धि नहीं हुई। अन्ततः अनेक शुभेच्छुकों के द्वारा प्रस्तावित गुरुकुल कांगड़ी के प्रो– वाइस चान्सलर, वेद विभाग के अध्यक्ष आचार्य रामप्रसाद जी से पढ़ने की इच्छा बलवती हुई। अतः हरिद्वार के पास ज्वालापुर में स्थित 'आर्य वानप्रस्थाश्रम' के परिसर के पास में ही आचार्य रामप्रसाद जी के घर में जाकर उनसे भेंट की, और निरूक्त पढ़ने की अपनी इच्छा व्यक्त की। आचार्य जी ने कहा "गुरुकुल, प्रचार और लेखन आदि के कार्य अधिक होने के कारण मैं निरन्तर तो आपको निरूक्त का अध्यापन नहीं करा सकता, व्यवधान से युक्त जब जब अवसर मिलेगा, पढ़ाता रहूँगा।" लगभग जनवरी 81 में मैं उनके पास घर पर ही निरूक्त पढ़ने के उद्देश्य से गुरुकुल कालवा से ज्वालापुर वानप्रस्थाश्रम में आ गया। लगभग 11 मास के काल में उन्होंने मुझे स्वामी ब्रह्ममुनि द्वारा भाष्य किया हुआ 'निरूक्त सम्मर्श' नामक विशालकाय ग्रन्थ जो संस्कृत भाषा में ही लिखा हुआ है, पढ़ा दिया। मैंने इसकी लिखित परीक्षाएँ भी दीं। लगभग दिसम्बर 81 में मैं स्वामी सत्यपति जी के साथ दर्शनों को पढ़ने के उद्देश्य से आन्ध्रप्रदेश में स्थित गुरुकुल वडलूर चला गया। आचार्य रामप्रसाद जी एक सरल, सौम्य, त्यागी, तपस्वी, मितव्ययी, उदार हृदय वाले साधु पुरुष थे। उनका विशेष गुण मैंने देखा कि 1 मिनट का समय भी वे व्यर्थ नहीं खोते थे। उनके स्वभाव में अत्यन्त विनम्रता और प्रेम झलकता था। ब्रह्मचारियों से उनका बहुत अधिक लगाव था। अनेक ब्रह्मचारियों को उन्होंने स्वयं की ओर से प्रेरणा व सहायता–सहयोग देकर वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। सहनशक्ति उनमें बहुत अधिक मात्रा में देखने को मिली। अपने प्रति किसी के द्वारा विश्वासघात, छल–कपट, अन्याय, पक्षपात, आरोप, हानि आदि कर दिये

जाने पर भी योगदर्शन की बताई विधि–प्रतिपक्ष भावना को उभारकर ऐसे अहितकर्त्ता के प्रति भी हमेशा मन में सद्भावना उत्पन्न कर लिया करते थे। ऐसा मैंने अनेक बार 11 मास के काल में उनके सानिध्य में रहते हुए प्रत्यक्ष देखा। वे एक उदारवादी संत स्वभाव वाले विशुद्ध ब्राह्मण थे, ऐसा मैं कह सकता हूँ। निरूक्त में आये हुए वैदिक क्लिष्ट शब्दों के निर्वचनों और व्याख्याओं के साथ–साथ जीवन–पथ पर पदे–पदे आने वाली व्यवहारिक बाधाओं, कष्टों, आपत्तियों, विरोधों का आध्यात्मिक समाधान किस प्रकार किया जाना चाहिये यह भी जाना और सीखा। गुरुकुल चलाने और वानप्रस्थाश्रम के विषय में अनेक बार उन्होंने पत्र लिख कर सम्मतियाँ, सुझाव, और निर्देश दिये। आग्रह करने पर एक बार आप सपत्नीक दर्शन योग महाविद्यालय में आये और अपना आशीर्वाद प्रदान किया। मेरा उनसे पत्रव्यवहार चलता रहता था और जब भी मैं हरिद्वार जाता सबसे पहले उन्हीं के पास जाकर आशीर्वाद लेता था। मैंने उनके जीवन से, उनके प्रवचनों से, उनकी पुस्तकों से, उनकी शिक्षा से बहुत कुछ सीखा है और उऋण होने का प्रयास कर रहा हूँ। मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि ऐसे उदात्त विचारों वाले आचार्य के सान्निध्य में 11 मास तक रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

–ज्ञानेश्वरार्य
दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन रोजड पो0 सागपुर
जिला साबरकांठा, गुजरात
पिन– 383 307

संस्मरणिका

पूज्य "रामप्रसाद वेदालंकार जी" जिन्हें "मैं" आदर से पिताजी कहती थी, मेरे लिए अविस्मरणीय हैं। उनसे प्रथम साक्षात्कार जिस दिन हुआ था वह दिन मुझे स्मरण है। व्यास आश्रम के "ब्रह्मानन्द पद" को सुशोभित करते हुए मैंने उनके दर्शन किये थे। प्रथम साक्षात्कार में ही वार्तालाप के प्रसंग में उनकी सद्भावना स्नेह तथा आन्तरिकता को मैंने अनुभव किया था। मेरी मातृभाषा हिन्दी न होने के कारण मैंने उनसे संस्कृत में ही सम्भाषण किया था। पितृवत् स्नेह की गंगा बहाते हुए उन्होंने मेरा मार्गदर्शन किया था। सचमुच वे प्रेम की साक्षात् मूर्ति थे। वेद उनके जीवन में उतरा था। वे हर बार मुझे कहते, यही आशीर्वाद देते थे कि तुम उन्नति के चरम सौपान पर अधिष्ठित हो और मैं यही चाहता हूँ। जब उनको हमारे गुरुकुल की सूचना मिली एवं ब्रह्मचारिणियों से मिले तब वह बहुत ही प्रसन्न हुए थे। तब उन्होंने मुझे कहा था– भगवान करे तुम्हारी ये फुलवारी सदा खिलती रहे। हमारे द्रोणस्थली कन्या गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर प्रवचन देते हुएं उन्होंने कहा– अन्नपूर्णा बेटी निर्माण के कार्य में व्यस्त हैं और मुझे विश्वास है कि यह गुरुकुल समुन्नत होगा क्योंकि इसके पीछे बेटी अन्नपूर्णा का शुभ संकल्प है। उन्होंने यह कहते हुए मुझे हृदय से आशीर्वाद दिया था। एक बात मैं उनकी भुला नहीं पाती– वे जब भी मिलते थे यही कहते थे कि बोलो बेटी तुम्हें क्या दूँ? मन करता है तुम्हें पता नहीं क्या–क्या दे दूँ। ईश्वर तुझे सारा सुख प्रदान करे। हरिद्वार में जब किसी कार्यवश रहना होता तो माँजी व पिताजी मुझे अपने घर पर ही रखते थे। माता सरोज जी मुझे अपने पास देखकर बहुत खुशी अनुभव करती थी, अभी भी करती है। उनके घर पर रहकर मैं और पिताजी अक्सर आध्यात्मिक चर्चा ही करते थे। वेदों के मन्त्रों की ही ज्यादातर मुझसे चर्चा करते थे। और अनेक बार मुझे वेदमन्त्रों के ऊपर नया चिन्तन बताते थे। उनकी एक और बात मुझे स्मरण हो रही है– एक बार उन्होंने मुझे कहा था कि मुझे खुशी है कि मेरी बेटी एक बहुत अच्छे स्थान पर आ गई है। और साथ ही गुप्ताजी जैसे महान व्यक्ति का साया जो बाप बनकर ढाल के रूप में इनके साथ हैं। उनकी सादगी और सरलता की तो सीमा ही नहीं थी। एक बार नरेला गुरुकुल के आर्य वीरांगना शिविर के आयोजन पर वे रात देर से

पहुँचे। उस समय मैं नरेला गुरुकुल में आचार्या पद पर थी। उन्होंने अपने आने की सूचना तक भी किसी को नहीं दी। वे इतने बड़े होते हुए भी बिना बिस्तर दरी पर जमीन पर ही सो गये। सुबह जब मुझे यह मालूम हुआ तो मुझे यह सुनकर बहुत दुख हुआ। मैंने उनसे ऐसा करने का कारण पूछा तो उन्होंने बड़े ही सरल एवं सहजपूर्ण ढंग से उत्तर देते हुए कहा– बेटी इतनी रात को असमय किसी को कष्ट देना अच्छा नहीं समझा। इसी से यह ज्ञात होता है कि वे कितने सरल, सहृदय एवं शान्तचित्त व्यक्ति थे। ऐसे सभी को अपना समझने वाला, जात–प्रान्त के सम्बन्ध से ऊपर उठकर सबको प्रेम करने वाला तथा अपने सुमधुर प्रवचन वेद विद्या तथा भावुकता से सबके हृदय मन मन्दिर में घर करने वाला वह मनीषी आज हमारे बीच में नहीं है। परन्तु स्मृति में वह जीवित है। किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है– कीर्तिर्यस्य सः जीवति" जिसका यश है वह अमर है। वह मरकर भी मरता नहीं। उनका पार्थिव शरीर नहीं है परन्तु उनकी दी हुई प्रेरणा मेरे जीवन के लिए सर्वदा मार्ग प्रस्तुत करती रहेगी। वे मेरे ही नहीं मेरी जैसी अनेकों के प्रेरणा के स्त्रोत हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

– डॉ0 अन्नपूर्णा
आचार्या कन्या गुरुकुल,
देहरादून।

परम श्रद्धेय आचार्य जी

आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने की भांति है। पूज्य आचार्य जी से मेरा संबंध वस्तुतः मेरे पिताजी डा. महावीर जी के माध्यम से ही हुआ था। जीवन में प्रत्यक्ष रूप से जिन लोगों ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, उनमें से आचार्य श्री प्रमुखतम हैं। उनका क्षेत्र वेद–वेदांग था, जबकि मैं विज्ञान–यांत्रिकी–प्रबंधन आदि का विद्यार्थी रहा हूँ। प्रत्यक्ष रूप से मैं कभी–भी उनके प्रवचन का लाभ भी न उठाने वाला अभागा हूँ, किन्तु अत्यन्त आत्मीयता भरे वेद–सदन में जाकर मैं बीच–बीच में उनके दर्शन करके ही अपने–आपको धन्य समझ लेता था।

ईश्वर की सत्ता के ऊपर आपके इस भौतिकतावादी युग में भी कोई अटूट विश्वास रख सकता है, वे इसके प्रतिमान थे। इस संदर्भ में अनेको प्रसंग उद्धृत किये जा सकते हैं। बड़े से बड़े कष्ट को भी ईश्वरीय विश्वास से सहने की जो शक्ति आचार्य जी में थी, वह आम इंसान के बाहर की बात है। जीवन की भौतिक प्रगति के लिए जहाँ बड़े से बड़े विद्वान भी चाटुकारिता तथा अन्य तुच्छ हथकंडों को अपनाने का छोटा सा भी मौका नहीं चूकते, वहीं आचार्य जी कभी भी किसी भी बड़े से बड़े काम के लिए केवल परमपिता की सत्ता पर ही अटूट विश्वास रखते थे। आचार्य जी के चरणों में बैठकर बड़े से बड़े कष्ट को सहने की जो शक्ति मिलती थी, उसे मात्र अनुभव करने वाला ही समझ सकता है।

आचार्य जी जब सम्पूर्ण भारत में वैदिक पताका लिए स्वामी दयानन्द के बताए मार्ग को पुष्ट कर रहे थे, हृदयाघात ने उनकी शक्ति क्षीण करने का प्रयास किया, किन्तु चिकित्सकों के मना करने पर भी अपने आत्म बल से उन्होंने वेद के प्रचार प्रसार का अनवरत कार्य जारी रखा। इसी वेद माता की सेवा करते–करते पूज्य आचार्य जी हम सबको बिलखता हुआ छोड़ करके विजयादशमी के दिन इहलोक से चले गये।

आइए! यदि हम सब इस महामानव को सच्ची श्रद्धांजलि देना चाहते हैं, तो यह प्रण करें, कि आचार्य जी द्वारा बताए गये प्रेम के मार्ग पर चलेंगे तथा ईश्वर की सत्ता पर अपने विश्वास को नहीं डिगने देंगे। पूज्य आचार्य जी के शब्दों में, "प्रभु सब ठीक करेगा" हमें इन्हीं शब्दों पर अपना विश्वास मजबूत करना है।

– रजत अग्रवाल
इंजीनियरिंग कॉलेज ऑफ रूड़की

आचार्यश्री के जन्म दिवस पर श्रद्धा सुमन

स्वर्गीय आचार्य जी की धर्म परायणा पत्नी श्रीमती सरोज जी आर्या ने पूज्य आचार्य जी का जन्म दिवस मनाने का निश्चय किया जो कि एक सराहनीय कदम है। ऐसे महापुरुषों की जयन्ती मनाने से अनेकों श्रद्धालुओं को उनके जीवनों से प्रेरणा मिलती है। आचार्य जी का सम्पूर्ण जीवन एक सुगन्धित वाटिका की भांति सबके मनों को आकर्षित करने वाला था। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इनकी सेवायें सदा स्मरणीय रहेंगी।

गृहस्थ जीवन भी इनका अपने ही ढंग का निराला था। अतिथि सेवा में भी दोनों ने मिलकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्णय बड़ी सुन्दरता से किया। आचार्य जी की वाणी में जादू था। जहाँ वह वेद के विद्वान थे वहाँ वेद के कुशल प्रवक्ता भी थे। वेद मन्त्रों की व्याख्या करते–करते वह इतने भाव विभोर हो जाते थे कि स्वतः ही उनकी आँखों में अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। एक–एक शब्द की व्याख्या करते हुए घंटों बोलते रहते थे। सुनने वाले भी बड़ी श्रद्धा से उनके प्रवचनों को सुनते थे। वह केवल कुशल प्रवक्ता ही नहीं थे लेखनी के भी धनी थे। उनकी लेखनी अन्त समय तक नहीं रुकी। अनेकों छोटी बड़ी पुस्तकें लिखकर उन्होंने समाज का बड़ा उपकार किया। आज वह हमारे मध्य में नहीं हैं। परन्तु उनकी मधुरस्मृति हमारे हृदय पटल पर सदैव बनी रहेगी।

सरल स्वभाव, आकर्षक व्यक्तित्व, मधुर भाषी, वेद के प्रति अगाध श्रद्धा, यज्ञ के प्रति समर्पण की भावना उन्हें विरासत में मिली हुई थी। यही कारण है घि वह अपने सद्‌गुणों के कारण सदैव स्मरणीय रहेंगे। व्यास आश्रम की पूज्या माता भाग्यवंती जी ने सदैव उन्हें प्रिय पुत्र की भांति स्नेह दिया। उन्होंने भी माता जी की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए व्यास आश्रम में निरन्तर 32 वर्षों तक वेद परायण यज्ञों में ब्रह्मा के पद को सुशोभित किया इसके साथ ही समय–समय पर आश्रम की सहायता में भी अग्रणी रहे। 18 मार्च 1981 को माता जी का अन्तिम संस्कार भी आचार्य जी के द्वारा हुआ। माता जी की अन्तिम इच्छा भी इनके द्वारा ही पूर्ण हुई। आचार्य जी ने अन्तिम समय तक अपने उत्तरदायित्वों का यथावत पालन किया। ऐसे महानुभावों की स्मृति सदैव बनी रहती है। व्यास आश्रम के सभी कार्यकर्ता एवं अधिकारीगण उनके सहयोग के लिये सदा ऋणी रहेंगे।

हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आचार्य जी के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर हम अपने जीवन को सुरभित बनायें। प्रभु हमें शक्ति दे हम ऐसी महान विभूतियों की जयन्तियाँ मना कर सदा प्रेरणा लेते रहें।

– उनकी बहिनें – विमला, शान्ति
व्यास आश्रम, सप्तसरोवर, हरिद्वार

कुछ संस्मरण

इस समाज की सदस्या श्रीमती सरोज रहेजा से दुःखद सूचना प्राप्त हुई कि विद्वद्वर आचार्य रामप्रसाद वेदालङ्कार 2 अक्टूबर, 1998 को यशःशेष हो गये। मेरा आचार्य जी से 12 वर्ष पुराना परिचय था। नवम्बर, 1986 में आर्य समाज नगीना, बिजनौर के उत्सव पर आचार्य जी और मैं दोनों ही प्रवचन हेतु आमन्त्रित थे। मैंने उनसे कहा, "मैंने अपने अनुज को बी.ए. कराकर आचार्य प्रद्युम्न नैष्ठिक के गुरुकुल में व्याकरण पढ़ने भेजा है। मैं उसे वेद का विद्वान् बनाना चाहता हूँ। क्या 'अमुक' स्थान पर भेजना उचित होगा?" उन्होंने कहा, "यदि उसे छात्रवृत्ति दिलाना चाहते हो तो उक्त स्थान पर भिजवा दो, मैं छात्रवृत्ति दिलवा दूँगा। यदि विद्वान् बनाना चाहते हो तो जहाँ है वहीं रहने दो।"

आचार्य प्रद्युम्न नैष्ठिक के गुरुकुल में मई/जून, 1987 में आचार्य जी और मैं पुनः साथ-साथ आमन्त्रित हुए। मैंने पूछा, "मैं प्रतिदिन यज्ञ करता हूँ किन्तु कोई मुझसे यह पूछता है कि क्या प्रतिदिन यज्ञ करते हो, तो मेरी वांणी से 'हाँ' नहीं निकलती, ऐसा क्यों होता है?" उन्होंने उत्तर दिया, "जो ईश्वर के महान् यज्ञ को देखता एवं अनुभव करता रहता है उसे अपना यज्ञ बहुत छोटा लगता है, इस कारण स्वमुख से उसकी स्वीकारोक्ति नहीं होती।"

लखनऊ में उन्हें ज्ञात हुआ कि कुछ प्रभावशाली लोग मुझे गुट-दृष्टि से देखते हैं तो सत्परामर्श देते हुए बोले- "आपका युवावस्था में ईश्वर और समाज की ओर पर्याप्त रुझान है, इसे बनाये रखना। लोग आपको बेचैन करके समाज छुड़वाना चाहते हैं किन्तु आप मस्तिष्क में वेद एवं हृदय में ईश्वर को बिठाये हुए एक साइलेण्ट वर्कर की भाँति चलते रहना।"

अगस्त-सितम्बर, 1998 में मैं डेढ़ मास के लिए वर्ल्ड एसोसियेशन फॉर वैदिक स्टडीज़, यू.एस.ए. के आमन्त्रण पर लॉस एंजिल्स गया था। वहाँ एक कार्यक्रम में एक सज्जन मिले और बोले, "मेरे मामा आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार हैं। उन्हें हृदय का रोग है। डाक्टरों के परामर्श पर वे यह कहते हैं कि डाक्टरों का डाक्टर तो ईश्वर है। मुझे उसी पर विश्वास है।

जितने दिन संसार में रखेगा, ठीक और पर्याप्त वही होगा।" मैं 26 सितम्बर को अमेरिका से लौटा। अगली बार आचार्य जी मिलते तो उक्त बात उन्हें सुनाता, किन्तु वे ही अपनी बात सुनवा गये।

वेदालंकार जी का गमन–समय ऐसा रहा कि अनेक व्यक्ति (आप सहित) यह सोच सकते हैं कि वर्षा न होती, बिजली होती, रात्रि न होती, दिन होता अथवा चिकित्सक होता तो यह न होता। किन्तु मृत्यु पर तो सदैव ही कुछ–न–कुछ पश्चात्ताप रहता है। आप उपस्थित थीं, यह दुःखद सन्तोष ही शान्ति–करण है।

आचार्य जी ने अपना जीवन विद्या के दान–आदान, आत्मा की उन्नति, समाज की सेवा एवं ईश्वर के ध्यान में लगाया। ये उत्तम जीवन के लक्षण हैं। वे ऐसे कर्मों में लगे रहे जिनके लिए कहा गया है **'न कर्म लिप्यते नरे।'** उक्त कर्मों का कर्त्ता वह जीवात्मा जो हमारी आँखों को दिखने वाले पर्दे से हट गया है, निश्चित रूप से हम साधारण जनों से उच्चतर स्थिति में पहुँच गया है। ईश्वर सबका कल्याण करे! विद्वान् का भी, प्रेमियों का भी, बन्धुओं का भी और सन्तति का भी।

– रूपचन्द दीपक
प्रधान– आर्य समाज श्रृंगार नगर
आलमबाग, लखनऊ – 226 005

'राम' एक अनूठा व्यक्तित्व

राम जो सबके रोम–रोम में रम रहा था
राम जो चुपचाप जैसे प्यार से कुछ कह रहा था
न जाने कितने हृदयों को प्रफुल्लित कर रहा था
अचानक न जाने कहाँ चला गया
हम सबको छोड़कर
हम सबसे मुख मोड़कर
राम इन्सान नहीं भगवान था
पत्नी को, बच्चों को भाई और बहनों को
ब्रह्मचारी और विद्वानों को, निर्धन और धनियों का
उन पर बड़ा मान था क्योंकि करता वह
सबका बहुत–बहुत सम्मान था।
अचानक न जाने कहाँ चला गया
हम सबको छोड़कर
हम सबसे मुख मोड़कर
राम मनुष्य नहीं देवता था
जो कुछ भी उसके पास था बस देता ही देता था
दोनों हाथों से भर–भर कर देता था
तन–मन–धन कुछ भी न बचाया
सर्वस्व दे डाला बड़े सहज भाव से
हम सब देखते ही रह गये
हे राम तुम कहाँ चले गये
हम सबको छोड़कर
सबसे मुख मोड़कर
राम का चेहरा सामान्य नहीं अद्‌भुत था
नेत्रों से स्नेह तो वाणी से अमृत बरसता था
रोम–रोम ईश्वर के प्रति आवर्जित होता जाता था
ज्ञान की धारायें बहती थीं रोम–रोम रोमांचित होता था
देवता के अश्रु बहते थे जनता के अश्रु बहते थे

दिव्यता से युक्त मेरा भाई राम न जाने कहाँ चला गया
हम सबको छोड़कर
हम सबसे मुख मोड़कर
प्रेम की प्रतिमूर्ति था, प्रेम का सागर था वह
लेते–लेते चाहे कोई थक जाय पर देते–देते नहीं थकता था वह
उसके दर्शनों में परमात्मा की झलक मिलती थी
एक नहीं वो हजारों लाखों से प्यार करता था
उसके देने में देवत्व था उसके लेने में देवत्व था
ऐसा प्यारा देवता अचानक न जाने कहाँ चला गया
हम सबको छोड़कर
हम सबसे मुख मोड़कर
काम नहीं था, क्रोध नहीं था, लोभ नहीं था, मोह नहीं था
द्वेष नहीं अहंकार नहीं था
प्रभु प्रेम में मगन, केवल वेद की लगन
वेद राम मय और राम वेद मय हो गया था
ऐसा वेद का दीवाना मेरा भाई राम
अचानक न जाने कहाँ चला गया
हम सबको छोड़कर
हम सबसे मुख मोड़कर
क्या कहूँ विधाता का क्या विधान है
प्रभु ने ऐसा क्यों किया इससे हम सब अनजान हैं
प्रभु ने ही हमको महामानव दिया उदाहरण के रूप में
फिर क्रूरता से छीन लिया ये कैसा दान है?
कहीं हमारे ही कर्मों में कमी थी जो अचानक
सबको रोता बिलखता छोड़कर
मेरा भाई राम चला गया
सदा के लिये हमसे मुख मोड़कर

– श्रीमती सरला चौधरी,
स्वरूप नगर,
कानपुर।

आचार्यश्री की सारस्वत साधना

गुरुकुल कांगड़ी की प्रशंसनीय आचार्य परम्परा में वेदरत्न स्वर्गीय पं0 रामप्रसाद वेदालंकार का अनुपम स्थान इसलिए है क्योंकि वे अहर्निश वेदों के चिन्तन और प्रचार प्रसार में संलग्न रहे। वेदानुकूल यज्ञीय जीवन बनाकर लोगों के प्रेरणा–श्रोत रहे। आचार्य रामप्रसाद जी ने.वैदिक साहित्य का अति सरल, सुबोध प्रकाशन और प्रसार कर मानव जाति का महान् उपकार किया है। उन्होंने 'वैदिक पुष्पाञ्जलि' आदि लगभग 56 पुस्तकों, अनेक लेखों एवं ऑडियो–विडीयो कैसेट आदि को वेद सागर का मन्थन कर नवनीत के रूप में जन सामान्य के सामने प्रस्तुत किया है। वे रात–दिन वेद प्रचार में ही संलग्न रहते थे। सोते–जागते, खाते–पीते, चलते–फिरते, बोलते–चालते हर समय उनके व्यक्तित्व से वैदिक शिक्षाओं का कोई न कोई सा रूप अवश्य परिलक्षित होता था। एतदर्थ उन्होंने न केवल अपना स्वतंत्र 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' खोला अपितु, देश–विदेशों में जाकर भी वेदों का डंका बजाया। वे जहाँ संस्कृत, हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं का ज्ञान रखते थे वहीं उर्दू भाषा में भी लिख एवं पढ़ सकते थे। आपकी कईं पुस्तकों का संस्कृत एवं अंग्रेजी में कईं विद्वानों ने प्रकाशन भी किया है। यह इस बात का प्रतीक है कि आचार्यश्री की रचनाऐं कितनी लोकप्रिय हैं। 'अनन्त की ओर' नामक उनकी कृति के तीन English Translation किये गये। जिनमें से एक Quest for The Infinite नाम से छपा। मोगा (पंजाब) निवासी श्री सन्तराम शास्त्री ने भी आचार्य जी द्वारा कृत अनेक मंत्रों की व्याख्याओं का संस्कृत में पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया है।

उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में वेद सेवा करने से पहले दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर और गुरुकुल झज्जर हरियाणा में अध्यापन कार्य किया था। गुरुकुल विश्वविद्यालय के माननीय सर्वोच्च अधिकारियों ने उनकी वेद के प्रति इस प्रकार निष्ठा एवं लगन को देखकर ही उन्हें गुरुकुल का आचार्य एवं उपकुलपति नियुक्त किया था। कुछ समय के लिए वे विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। इन सब प्रशासनिक जिम्मेदारियों के होते हुए भी उन्होंने वेद विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर के रूप में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा दिखाये मार्ग पर चलते हुए कभी भी छात्रों के अध्ययन में व्यवधान नहीं आने दिया। आचार्यश्री ने

समय–समय पर गुरुकुल की प्रतिष्ठा को अनेक नाजुक परिस्थितियों में बचाया है। ऐसे कई उदाहरण मेरे स्मृति पटल पर बार–बार यह लेख लिखते हुए आ रहे हैं, परन्तु विस्तारमय से हम उनकी यहाँ चर्चा नहीं करना चाहते।

यह कथन सत्य है कि इस धरा धाम में समय–समय पर निरतिशय लोकोत्तर गुणगान–विभूषित दिव्य विभूतियों का पावन अवतरण होता रहता है। परमादरणीय वेद रत्न आचार्यप्रवर रामप्रसाद जी उन्हीं विभूतियों में से हैं जिनमें परमेश्वर प्रदत्त प्रातिस्विक अप्रतिम प्रतिभा, वेद प्रचार–प्रसार–नैपुणी, भगवद्–भक्ति और विश्वास की विशिष्टता, सदाचार समर्पित सज्जनता, सत्यसन्धता, विद्वज्जन–प्रियता, राष्ट्र सेवा की तन्मयता इत्यादि सन्तजन सद्गुण समाज मानो अन्यत्र सुख निवास न पाकर सानन्द विश्राम कर रहा है। मुझे ऐसे सज्जन साधु पुरुष के आचार्यत्व में कार्य करने का सुअवसर मिला। वेद प्रचारार्थ जब कभी हरिद्वार से बाहर जाने का अवसर मिला सो वहाँ भी अधिकांश स्थानों पर आचार्य जी की यशोगाथा कर्णगोचरी करने का सौभाग्य मिला। उनकी सज्जनता के बारे में दूसरों से ही नहीं सुना अपितु स्वयं भी अनुभव किया है। यहाँ हम केवल उनकी सारस्वत साधना का ही वर्णन करना चाहते हैं। क्योंकि उनके व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों का बखान तो अन्य महानुभाव भी करेंगे ही। यहाँ अब मैं आचार्यश्री के रचना सर्ग के चतुर चितेरे के स्वरूप का दर्शन करता हुआ केवल कृतित्व (साहित्यिक–साधना) के विषय में ही कुछ लिखने का साहस कर रहा हूँ। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं कि अब तक आचार्य जी की जगत्त्छेयोविधापिनी लेखनी से 56 प्रसून प्रकाशित हो चुके हैं।

आचार्यप्रवर का अधिकांश साहित्य वेद, दर्शन, उपनिषद् एवं कर्मकाण्ड आदि से सम्बन्धित है। आचार्यश्री का यह ध्येय था कि केनापिप्रकारेण वेद का प्रचार घर–घर में होना चाहिए। वैदिक शिक्षाओं के अभाव में भारत वर्ष में नाना प्रकार के पाखण्ड फैल गये हैं, ऐसा वे अच्छी तरह समझते थे। अतएव उन्होंने अवच्छेदक–अवच्छिन्न वाली जनसामान्य की उन्नति में बाधक और देव भाषा के पतन में एक प्रमुख कारण रही क्लिष्ट साहित्यिक भाषा को न अपनाकर सरल, सर्वजनग्राह्य आम बोलचाल की भाषा में आज के दैनिक जीवन में घटने वाली घटनाओं के आधार पर कथानकों के द्वारा अपने विचारों को व्यक्त किया। यही कारण है कि आर्य समाज के हर मंच पर उनकी माँग रहती थी। काश! आज के प्रचारक, वैदिक मिशनरी दयानन्दीय वैदिक विचारों को संसार में फैलाने के लिए आचार्यश्री की इस विशेषता को समझ सकते तो शायद ही वे यह आलोचना न करते कि आचार्यप्रवर की रचनाओं में

कहानी, किस्सों के अलावा कुछ भी नहीं। ऐसा नहीं है कि आचार्य जी ने शोधपरक न लिखा हो। जहाँ आचार्यश्री की दूरदृष्टि वेदों के प्रचार में थी वहीं शोध की गहराईयों तक भी पहुंची हुई थी। ऐसा उनके कुछ शोध निबन्धों को पढ़ने से ज्ञात होता है। उनके ऐसे निबन्धों में – 'उद्‌गीय' और 'उपनिषदों के भाष्य' प्रमुख हैं। 'उद्‌गीय' लेख सर्वप्रथम गुरुकुल पत्रिका के जुलाई 1985 अंक में और इसके बाद के अंकों में धारावाही छपा। यह डॉ० राममूर्ति शर्मा के अभिनन्दन ग्रन्थों में भी प्रकाशित हुआ, ऐसी हमें धुंधली सी स्मृति है। इस गम्भीर शोधपरक लेख में औपनिषदिक ओ३म् का सांगोपांग विवेचन है। 'उपनिषदों के भाष्य' नामक लेख जो कि गुरुकुल पत्रिका के जनवरी 1985 अंक में प्रकाशित हुआ, से आचार्यप्रवर की ऐतिहासिक दृष्टि का ज्ञान होता है। इनकी इतिहास में गहन रुचि थी। इस बात का द्योतक यह निबन्ध है। इसमें उपनिषदों के सभी भाष्यकारों का, चाहे स्वदेशी हो या विदेशी, सिंहावलोकन है। आचार्य शंकर से लेकर राजा राममोहनराय एवं दाराशिकोह आदि सबकी चर्चा इस लेख में है।

आचार्य जी वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की प्राच्य विद्याओं की मासिक शोधपरक 'गुरुकुल पत्रिका' के भी प्रधान सम्पादक और संरक्षक रहे। समय–समय पर उनके द्वारा की गई मन्त्र–व्याख्याएें 'श्रुति–सुधा' के रूप में इस पत्रिका में छपती रहीं। कईं वैदिक पुस्तकों की महत्त्वपूर्ण संमीक्षा/ सम्मतियाँ भी जो आचार्य जी ने लिखीं– वें भी इस पत्रिका में छपी हैं। उनके अन्य लेख भी पत्रिका में देखे जा सकते हैं जो इन्होंने यथा समय लिखें। आचार्य जी के कतिपय लेख इस प्रकार हैं–

1. डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का एकादशोपनिषद् भाष्य।
   (डॉ० सत्यव्रत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० 341–343)
2. अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द।
   (गुरुकुल पत्रिका नवम्बर 86 अंक)
3. वैदिक उपदेशों के अभूतपूर्व व्याख्याता आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति।
   (मार्च 91 का प्रह्लाद पत्रिका का अंक)
4. आर्य समाज के प्रखर वैतालिक विद्यावाचस्पति पं० इन्द्रजी।
   (मार्च 90 प्रह्लाद पत्रिका अंक)

आचार्यश्री की रचनाओं में 'वैदिक पुष्पाञ्जलि' का मुख्य स्थान है। इसके चारों भागों को एक जिल्द में ब्रह्मचारी नन्द किशोर जी के सत्प्रयासों से लाला आदित्य प्रकाश जी

ने अपने अनीता आर्ष प्रकाशन पानीपत से प्रकाशित किया है। आचार्य जी की वेद व्याख्याओं में पाणिनीय व्याकरण, निघण्टु–निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थ, आख्यक महीधर–सायण–दयानन्द भाष्य, कशिका एवं उपनिषदों के प्रमाणों की बहुलता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत वेद मंत्र के अर्थ को अपर वेद मंत्रों के द्वारा भी स्पष्ट करने का उनके द्वारा स्तुत्य प्रयास किया गया है। इन्होंने अपनी ऊहा से एक मन्त्र के कई–कई अर्थ भी दिये हैं।

आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार ने वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन और अवगाहन किया था। परिणाम स्वरूप मुक्ताराशि उन्हें प्राप्त हुई उसे लेखनी के माध्यम से वेद के रसिक समाज तक पहुंचाने में उन्होंने कभी देरी नहीं की उनकी छोटी–छोटी रचनाऐं आज के व्यस्ततम् और तनावग्रस्त जीवन में इसलिए उपयोगी हैं क्योंकि छोटी पुस्तकों को अल्पसमय में पढ़ा जा सकता है।

आचार्य रामप्रसाद की सारस्वत साधना को अनेक अवसरों पर सम्मानित किया गया। न केवल उनके जीवन काल में ही अपितु मरणोपरान्त भी उनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उसे पुरस्कृत किया गया। लगभग 9 संस्थाओं ने उनकी वेद सेवा को देखते हुए सम्मानित किया। विश्व वेद परिषद ने सन् 1984 में उन्हें वेदरत्न मानद् उपाधि से अलंकृत किया था। आशा है आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार की यशस्वी लेखनी से प्रसूत सभी प्रसून समाज के प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे। इन्हीं शब्दों के साथ आचार्यश्री को मेरी विनत श्रद्धाञ्जलि।

– डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री
व0 प्रवक्ता, वेद विभाग

श्रद्धाञ्जलियाँ

यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ कि श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार का २-१०-९८ को देहावसान हो गया है। श्री रामप्रसाद जी ने अपने जीवन – काल में जितना आर्य समाज का प्रचार किया है, शायद ही किसी और विद्वान ने किया हो। उन्होंने मौखिक प्रचार भी किया और साहित्य के द्वारा भी प्रचार किया है। उनके चले जाने से आर्य समाज में जो स्थान खाली हुआ है उसकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकेगी। मैं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से और अपनी ओर से उस पवित्र आत्मा को अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ और परमपिता परमात्मा से उनकी सद्गति के लिये प्रार्थना करता हूँ। प्रभु से यह भी प्रार्थना है कि वह आपके सारे परिवार को इस दारुण दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

– हरबंस लाल शर्मा

सभा प्रधान– आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
गुरुदत्त भवन, किशनपुरा चौक,
जालन्धर – 144004

***

आदरणीय पूज्य भ्राता रामप्रसाद वेदालंकार जी के स्वर्गवास का अत्यन्त दुःख हुआ। उनके निधन से आर्य समाज को जो क्षति हुई है, वह निकट भविष्य में पूर्ण होनी असम्भव है। उन्होंने आर्य समाज के लिये जो कार्य किया है, वह मुझे आज भी स्मरण है। मुझे रावलपिण्डी के वह दिन भी याद हैं जब स्वामी आत्मानन्द जी के गुरुकुल रावल में पढ़ते थे, उसके बाद गुरुकुल यमुनानगर में और तदुपरान्त गुरुकुल कांगड़ी में विद्या अर्जित की। वे पिछले 15 वर्षों से हर वर्ष मेरी प्रार्थना पर महर्षि दयानन्द जन्म स्थान टंकारा में मनाये जाने वाले ऋषि बोधोत्सव पर पधारंते थे और अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखकर वेद प्रचार एवं आर्य समाज के प्रचार प्रसार में लगे रहते थे। वे इतने प्रतिष्ठित विद्वान होते हुए भी बसों में सफर करते थे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम उनके कार्यों को इतनी सहुलियत न दे सके। परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं सद्गति प्राप्त हो और आपको तथा आपके परिवार को यह अपार दुःख सहन करने की शक्ति प्राप्त हो।

संवेदना सहित–
– रामनाथ सहगल

मन्त्री– श्री महर्षि स्मारक ट्रस्ट टंकारा
उपकार्यालय आर्य समाज "अनारकली"
मन्दिर–मार्ग, नई दिल्ली– 110 001

***

चार मास तक मॉरीशस में योग एवं वेदप्रचार का कार्यक्रम सम्पन्न करके जब मैं दिल्ली आया तो गुरुकुल गौतमनगर के आचार्य हरिदेव जी के द्वारा यह दुःखदारुण्य पूर्ण हृदयविदारक अशुभ सूचना को सुना कि हमारे पूज्य आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार का आकस्मिक देहावसान हो गया। उन्होंने **अपने आचरण तथा ज्ञान से अनेक युवकों को मार्गदर्शन दिया। आपकी अनन्य सेवाओं को स्मरण करते हुए हमारा श्रद्धा से नम्रनमन स्वीकार हो।** योगधाम में चल रहे शिविर के सभी साधक–साधिकाऐं उनके निधन पर शोक सम्वेदना प्रकट करते हैं। परिवार को धैर्य धारण करने उनके कार्यों को पूर्ण करने की शक्ति हेतु सविनय प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

– दिव्यानन्द सरस्वती
पातञ्जल योगधाम न्यास (पंजी0)
आर्यनगर, ज्वालापुर (हरिद्वार)
पिन – 249 407

***

"आर्य जगत्" के 1 नव0 के अंक में आत्मीय भ्राता श्री रामप्रसाद जी के असामयिक देहावसान के समाचार ज्ञात कर अति ही मनः सन्ताप हुआ। उनसे मेरा पिछले 22 वर्षों से घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा। सन् 1977 में 4–6 माह के लिये मैं गुरुकुल कांगड़ी के मेडिकल कॉलेज की अव्यवस्था को नियमित करने गुरुकुल आया था; कुलपति श्री हूजा जी के साथ ही ठहरा था। श्री रामप्रसाद जी से तो उन्हीं दिनों लगभग प्रतिदिन ही मिलना होता रहा। जब–जब भी वह जयपुर आये मेरे यहाँ अवश्य आकर दर्शन देते रहे। उनके निधन में, हमने और आर्य जगत् ने अत्यन्त ही मनीषी, वेद विद्वान् एवं कुशल वेद व्याख्याता खो दिया है जिसकी क्षतिपूर्त्ति अपूरणीय है। प्रभु दिवंगत आत्मा को चिर शान्ति प्रदान करें और आप सभी पारिवारिक परिजनों को इस दारूण दुःख के सहन की सम्यक् शक्ति एवं ध्रुव धैर्य्य। हमें तो इन्हीं आप्त वचनों में धैर्य्य धारण करना है कि "हरीच्छा बलीयसी"। आत्मीय संवेदनाओं के साथ,

– सत्यदेव आर्य
भू.पू. निदेशक आयुर्वेद कालेज,
गुरुकुल कांगड़ी
एस.बी. 161, बापू नगर,
गाँधी नगर मार्ग
जयपुर – 302 015

***

जब मै अपने को अध्यात्म की ओर मुड़ा हुआ देखता हूँ तो आ0 राम प्रसाद जी का ध्यान आता है। उन के व्यक्तित्व तथा प्रवचन मेरे पथ प्रदर्शक बने। मै उनका हमेशा ऋणी रहूँगा। मैने गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से वैदिक साहित्य में एम.ए. किया और "उपनिषदों में त्रैत दर्शन" पर शोध कार्य कर रहा हूँ। यह उन्हीं की प्रेरणा से है। मैं उनके द्वारा लिखित पुस्तकों का अध्ययन करता रहता हूँ। यद्यपि भौतिक रूप से वे हमारे मध्य मे नहीं है परन्तु यश रूपी शरीर से वे आज भी विद्यमान है और हमेशा रहेंगे। मै उनकी यें पक्तियाँ, उनकी स्मृति में गुनगुनाता रहता हूँ :–

"भरोसा कर तू ईश्वर पर तुम्हें धोखा नहीं होगा।
यह जीवन बीत जायेगा तुम्हें रोना नहीं होगा।।"

वे आर्यसमाज का प्रचार करते करते परमपिता परमात्मा को प्यारे हो गये। अन्त में मैं उनको श्रद्धा–सुमन अर्पित करता हूँ। उनकी आत्मिक शान्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ।

– यशवन्त मुनि
भू0पू0 मन्त्री, आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर हरिद्वार

***

प्रकाण्ड विद्वान, वेद मर्मज्ञ, भाष्यकार, लघु पुस्तिकाओं के माध्यम से वेद की गूढ़ बातों को जनमानस तक पहुँचाने की अद्‌भुत क्षमते गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के भूतपूर्व कुलपति, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्य समाज संस्थापित महर्षि दयानन्द के उपदेशों को प्रचारित करने वाले आदरणीय श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार का देहावसान लघु बीमारी के पश्चात् हो गया। आर्य समाज लखीमपुर–खीरी के 105 वें वार्षिकोत्सव में पूर्व प्रधान श्री सुशील कुमार अग्रवाल जी ने उनके जीवन एवम् कृत्यों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहा कि आप द्वारा सृजित साहित्य का अध्ययन एवम् उन्हें जीवन में उतारने के कर्तव्यों का परिपालन करके हम उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकते हैं। समस्त आर्य जनों ने परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना की कि वह इस आत्मा को सद्‌गति व शान्ति प्रदान करे। शोक संतप्त परिवार को इस अपार दुःख को सहन करने की शक्ति दे। इस महान आत्मा के दिवंगत होने से स्थापित शून्य को प्रतिस्थापित करने की प्रेरणा प्रदान करे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

– रामजनम बरनवाल
मंत्री–आर्य समाज,
लखीमपुर–खीरी (उ0प्र0)

***

श्रद्धेय दिवंगत आत्मा रामप्रसाद जी, जिनकी हमें साधू रूप में प्राप्ति हुयी। उनके साधुत्व स्वभाव, सरलता, सात्विकता, कर्मठता, धीरता, ईश्वर में दृढ़ विश्वास, स्थिर प्रज्ञ बुद्धि, निर्णयात्मक निर्णय, शुभ संकल्प, चित्त की शुद्धता आदि गुणों को देखकर ऐसा लगता था मानो परम पिता परमात्मा का स्वभाव एवं गुण उनमें जन्मजात रूप में आकर समाये हुए हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से परम पिता परमात्मा के वेद ज्ञान की काफी ऋचाओं की सरल व हृदयग्राही भाषा में भावार्थ एवं व्याख्यायें की। अपने सरल व ओजपूर्ण प्रवचनों से हमें अत्यधिक प्रभावित किया। उनके प्रवचनों में उनके हृदय की सरलता एवं स्पष्टता के दर्शन होते थे। उनकी शैली में किसी प्रकार की बनावट नहीं दिखायी देती थी। अतः उनकी मधुरता, वाणी में आकर्षण हमें मुग्ध किये बिना नहीं रह सका। धन्य है ऐसी आत्मा को जो स्वयं वेद ज्ञान से उन्नत हुयी और अनेकों व्यक्तियों के जीवन उन्नत कर गयी। वे हमारे पथ–प्रदर्शक हुए। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा जो ज्ञान की ज्योति जलाई, वह सदैव जलती रहेगी, प्रकाश देती रहेगी यही हमारी उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि है।

– ऊर्मिल महता,
(भूतपूर्व प्रधान, आर्यसमाज
विकासपुरी, दिल्ली)
वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर।

***

आदरणीय पं. रामप्रसाद जी एक आदर्श सद्गृहस्थ कुशल प्रशासक, सफल आचार्य तथा अदभुत वेदश्रमी थे। चलते चलते भी हमें वैदिक पुष्पांजलि नाम का ग्रन्थ दे गये। विद्वान होते हुये भी वह विनम्र थे। उनके उपदेश, सरल, प्रभावशाली तथा हृदयग्राही होते थे। उन्होंने कई पुस्तके लिखी। अपने शिक्षा काल में यह हमारे यहाँ वर्षो रहे वह हमारे लिये गौरव का विषय है। उनमें सेवा भाव कूट–कूट कर भरा था। वह सदा ही प्रसन्न रहते थे। वह उच्चकोटि के ईश्वर भक्त थे। उनका अभाव आर्यजगत की अपूरणीय क्षति है।

– आत्मबोध सरस्वती
(आर्यभिक्षु)
आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर

***

डॉ. रामप्रसाद जी वेदालंकार इह लोक में नहीं रहे। उनकी अचानक मृत्यु की सूचना से यहाँ के सभी आर्यजन दुःख एवं शोक से व्याकुल हो उठे। दुर्भाग्य तो इस बात का है कि उनकी मृत्यु भी चण्डीगढ़ में हुई पर उनके अन्तिम दर्शन भी यहाँ के आर्यजन नहीं कर पाए। इस परिस्थिति पर हम सब अधिक खिन्न एवं संतप्त हैं। ईश्वर के नियम के आगे सिर झुकाते हैं। उनके देहावसान से आर्य जगत में जो खाली–पन हुआ, उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। **उनकी वैदिक साहित्य की सेवा को कभी भी बुलाया नहीं जा सकता। छोटे–छोटे ट्रैक्टों द्वारा उनका वैदिक साहित्य में अविस्मरणीय नाम है। सूक्ष्म, सुन्दर मेधा, कोमल हृदय, मीठी वाणी का उनका अपना अनूठा व्यक्तित्व था।** उनकी अचानक मृत्यु पर हम अपनी संवेदना प्रकट करते हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि संतप्त परिवार को विशेषकर उनकी धर्मपत्नी को इस सदमें को सहन करने की शक्ति दे। हमें विश्वास है कि डॉ. रामप्रसाद जी की आत्मा को परमात्मा अवश्य ही सद्गति देगा। क्योंकि उनके कर्मों में कभी कोई छल–कपट था ही नहीं।

– धर्मवीर बतरा एवं सभी
सदस्यगण
आर्य समाज, सैक्टर–9,
पंचकूला – 134 109

***

माननीय श्री रामप्रसाद जी 'वेदालंकार' जी के स्वर्ग सिधारने का समाचार विश्वसनीय लोगों से सुनकर समिति के सभी सदस्य भावविभोर हो गए। समिति के सभी सदस्य उन्हें श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। उनके सुन्दर शब्द, सभी के प्रेरणास्त्रोत रहें।

भरोसा कर तू ईश्वर पर, तुझे धोखा नहीं होगा।
यह जीवन बीत जाएगा, तुझे रोना नहीं होगा।।

उनका सुन्दर, सरल, सौम्य, सदाचारी, सुव्यवस्थित, लौकिक, प्रशंसनीय, भक्ति, श्रद्धा, उच्चकोटि, निर्मल समानता का जीवन इस आर्य जगत को उच्च शिखिर तक ले आया है। सारा समाज उनका ऋणी रहेगा। फरवरी 1996 में बृहद यज्ञ पर उन्हें सम्मानित कर समिति अपने आपको धन्य मानती हैं। परम पिता परमात्मा दिवंगत पुण्य आत्मा को शान्ति तथा आप सभी को शक्ति प्रदान करें।

–संयोजक एवं समस्त समितिगण
वैदिक यज्ञ समिति,
सोनीपत – 131001

***

आर्य समाज पुरानी मण्डी, जम्मू की यह साधारण सभा अपने साप्ताहिक अधिवेशन के अवसर पर आज 11 अक्टूबर 1998 को 'आर्य रत्न' प्रो. रामप्रसाद वेदालंकार के 1 अक्तूबर 98 को चण्डीगढ़ में हृदयगति रुक जाने से हुए आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। अपने जीवन की अन्तिम साँस तक आप वेद प्रचार में रत रहे, यह कम सौभाग्य का कर्म नहीं है। आप वेदों के मर्मज्ञ विद्वान् एवं उत्कृष्ठ साहित्यकार थे। इनकी लेखनी ने अपनी 62 वर्ष की अल्पायु में 62 से कहीं अधिक पुस्तक रूप में पुष्प चुनकर मानवता को भेंट किए हैं। यह उपलब्धि स्वयं में एक कीर्तिमान है। आप इस समय देश–विदेश में वेदों के शीर्षस्थ विद्वान् थे और आपका जीवन बहुत सादा था। विनम्रता की तो आप प्रतिमूर्त्ति थे। आपने देश के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय 'गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार' के कुलपति पद को भी सुशोभित किया। आपने अपने पारिवारिक जीवन से समय निकालकर देश–विदेश में वेदों को लोकप्रिय बनाने में अद्वितीय योगदान दिया और सच्चे अर्थों में वेदोद्वारक देव दयानन्द के सार्थक अनुयायी बने। आपके निधन से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। फिर भी ईश्वर की न्याय व्यवस्था के सन्मुख हम सबको नतमस्तक होना पड़ता है। उनका भौतिक शरीर भले ही हमारे बीच नहीं है परन्तु अपनी कीर्ति से वे सदैव हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित रहेंगे व जीवित रहेंगे। इस शोक की बेला में हमारी पूर्ण सहानुभूति शोक संतप्त परिवार के साथ है और हम सब उनके अंग संग हैं तथा आर्यजनों का यत्न रहेगा कि उनका अभाव आपको न्यूनतम खले। हम परमदेव परमात्मन् से विनती करते हैं कि वे श्रद्धेय आचार्य जी को शान्ति व सद्गति प्रदान करें तथा शोक–संतप्त परिवार को यह गुरुतर दुःख सहन करने का धैर्य तथा शक्ति प्रदान करें। आर्य समाज पुरानी मण्डी का यह सौभाग्य नहीं था कि वह उनके दर्शनों का लाभ उठा पाती। इसी वर्ष वेद प्रचार सप्ताह के अवसर पर उनको आमन्त्रित किया था परन्तु व्यस्ततावश वे हमारी प्रार्थना स्वीकार न कर सके। इसका खेद सदैव रहेगा।

– प्रो0 प्रभुशूर आर्य, मन्त्री
आर्यसमाज पुरानी मण्डी, जम्मू

***

सच है भविष्य को कोई नहीं जान सका! और कब ऐसी अनहोनी घटना हो जाए कि व्यक्ति चाहकर भी विश्वास न कर पाए। इस कालचक्र को कौन समझ सका है? आचार्य जी अकस्मात हमें छोड़कर चले जाएंगे जिसकी कल्पना भी नहीं की थी। हमारे परिवार का सम्पर्क उनसे 32 वर्ष का था। ऐसी सरलता और स्नेह की मूर्ति मैंने अपने जीवन में दूसरी नहीं देखी। मैं जब–जब भी उनसे मिली अपार स्नेह और आत्मीयता प्रदान की। कानुपर में जब भी आते हमारे पास ही रुकते। पूरे परिवार के साथ बैठकर धर्मचर्चा सत्संग और वेदों की बाते होतीं। हर समय वेद की व्याख्या में लगे रहना। बच्चों जैसी निश्छल हंसी। उस देवमूर्ति को कोई कैसे भुला सकता है। उनके घर में भी विद्वानों, शिक्षाविदों, धर्माचार्यों, संतों और समाज सुधारकों का मेला लगा रहता था। ईश्वर के परमभक्त और गायत्री के परम विश्वासी थे। सादा पहनावा। मैंने कभी उनके मुख से किसी के प्रति अपवचन नहीं सुने। अतः अब तो केवल उनकी स्मृति ही तो है जिसमें जीवन पर्यन्त वे बने रहेंगे और मेरा मार्गदर्शन करते रहेंगे। इसी विनय भाव से मैं अपने श्रद्धासुमन उनको समर्पित करते हुए कामना करती हूँ कि हम उनके बताये हुए, त्याग, सरलता तथा प्रेम के मार्ग को सत्यपूर्वक अपनाकर उनके आदर्शों का अनुकरण, अनुसरण और स्मरण करते रहें।

– श्रीमती अचला मेहरा

कानपुर।

***

श्रीमद् दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय शादीपुर यमुनानगर के सुयोग्य स्नातक सर्व हिताभिलासी सर्व जन सुखायं की कामना हृदयंगम करने वाले श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार का आकस्मिक निधन सुनकर समस्त कुलवासी शोक सन्तप्त अवस्था में उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना तथा उनकी की गई अतुलनीय सेवाओं को स्मरण किया गया। समस्त कुलवासी इस दुःखद क्षण में परिवार के साथ सहानुभूति व्यक्त करते हैं। हे प्रभु दयालु दिवंगत आत्मा को सद्गति तथा शान्ति अवश्य प्रदान करें। तथा उनके अभाव में हम सब गुरुकुल वासियों को उनकी सेवाए चिरस्मरण कराती रहेंगी तथा स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती तथा आचार्य श्री विद्याधर जी के सुयोग्य स्नातक को इस उद्यान में सदैव स्मरण रखा जायेगा।

– समस्त शोक संतप्त गुरुकुल
श्रीमद् दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय
(निकट शादीपुर)
यमुनानगर (हरियाणा)

***

श्रद्धेय आचार्य जी के देहावसान का मर्मान्तक वृतान्त सुनकर हृदय को अति आघात पहुँचा। यह कल्पनातीत समाचार देर तक अविश्वसनीय बना रहा। हृदय ने स्वीकार ही नहीं किया किन्तु भवितव्यता के सम्मुख विवश होकर अकल्पनीय को अपनी कल्पना में उतारना पड़ता है तथा अस्वीकरणीय को स्वीकार करना पड़ता है। मानव परतन्त्रता के जाल को छिन्न–भिन्न करता हुआ बढ़ता चला जाता है किन्तु इस ईश्वनीय व्यवस्था के समक्ष परतन्त्रता के बन्धन को नहीं तोड़ पाता। वस्तुतःय के सामने यह सबसे बड़ी पराधीनता है। सभी को अपने स्नेह, सहानुभूति तथा ज्ञान–दान द्वारा जीवन देने वाले का जीवन इतना अल्पायु होगा – ऐसा कभी विचार में भी नहीं आया था। इस आकस्मिक वज्रपात से परिवार के साथ ही आर्य जगत् की भी अपूरणीय क्षति हुई है। उनका सदय हृदय गंगा की पावन धारा के समान सभी को आनन्दित व तृप्त करता था। हमें सदैव व्यक्तिगत रूप से उनका आन्तरिक स्नेह व आशीर्वाद प्राप्त रहा। इस कन्या गुरुकुल की स्थापना के मूल में उनका स्नेह व सहयोग संस्था के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। आर्य संस्कृति के उत्थान के लिए उन्होंने अपने जीवन को आहूत कर दिया। सर्वशक्तिमान् प्रभु से प्रार्थना है कि वह आपको इस असह्य दुःख को सहने का सामर्थ्य व धैर्य प्रदान करे। हार्दिक शोक–संवेदना के साथ दिवंगत दिव्यात्मा के प्रति गुरुकुल परिवार सहित हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हुई,

– आचार्या, श्रीमद् दयानन्द कन्या
गुरुकुल महाविद्यालय,
चोटीपुरा, अजबपुर, मुरादाबाद।

***

हमारी समिति के कार्यकर्त्ताओं को पिछले दिनों पूज्य आचार्य जी के दुःखद देहावसान का समाचार मिला। इतना आघात पहुँचा कि जैसा अपना निकटतम सम्बन्धी न रहा हो। एक सप्ताह पूर्व ही पानीपत माडल टाऊन आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर उनके प्रेरणादायक प्रवचन हमारी स्मृतियों पर चिरकाल तक रहेंगे। उनका आपके जीवन पर कितना प्रभाव था, आपने स्वयं अपने प्रवचनों में वर्णन किया। श्रद्धेय आचार्य जी जैसा वेद मर्मज्ञ आज के समय में कहाँ मिलेगा। यह सोचकर हमारा हृदय दुःख से विह्वल हो जाता है। वेद के मर्मों से जिस सहज ढंग से श्रोताओं की बुद्धि एवं हृदय को प्रभावित करते थे कि हर आयु के लोग बारम्बार आपके उपदेशामृत पान करने को लालायित रहते थे। हमने यह समिति कुछ मास हुए गठित की थी कि घर–घर पहुँचकर परिवारों में वैदिक यज्ञों का आयोजन करें। हम इस समिति के शैशव काल से प्रौढ़काल तक पहुँचने के अन्तराल में इन महामानव–वेद विद्वान् के मार्गदर्शन का स्वप्न संजोये हुए थे, किन्तु परमपिता परमात्मा की विधि के समक्ष किसी का वश नहीं। आपके एवं आपके परिवार के इस असह्य दुःख में हम सभी सम्मिलित हैं। ईश्वर इन महान् आत्मा, पुण्यात्मा को सद्गति प्रदान करे।

– समस्त कार्यकर्त्ता
वेद प्रचार एवं वैदिक अग्निहोत्र समिति
आदर्श नगर एवं वीवर्ज कालोनी,
पानीपत – 132 103

***

आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार एवं गुरुकुल वि०वि० के परिद्रष्टा प्रो० शेरसिंह जी चिन्तन मुद्रा में

आचार्य त्रयी, डा० रामनाथ जी वेदालंकार, आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार, आचार्य वेद प्रकाश जी शास्त्री एवं साथ में खड़े हैं डा० महावीर (सम्पादक, गुरुकुल पत्रिका)।

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध–पत्रिका
Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ0 महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी-एच.डी., डी.लिट्.

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -249404

फरवरी - मार्च, 2000	वर्ष 51 वां	फाल्गुन - चैत्र सं. 2056

सम्पादक मण्डल

मुख्य संरक्षक : डॉ0 धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

परामर्शदाता : डॉ0 विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर - हिन्दी विभाग

सम्पादक : डॉ0 महावीर
निदेशक
वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक : डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

व्यवसाय प्रबन्धक : डॉ0 जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रकाशक : प्रो0 श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव

मूल्य : 25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेदमञ्जरी

को न नश्यति?

स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
सोमो हिनोति मर्त्यम् ।। ऋग्० १.१८.४

ऋषिः मेधातिथिः काण्वः । देवताः इन्द्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सोमः । छन्दः गायत्री ।

(सः) असौ (वीरः) शूरः सन् (घ) निश्चयेन (न रिष्यति) न नश्यति, (यं मर्त्यम्) यं मरणधर्माणम् (इन्द्रः) इन्द्रः, (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मणस्पतिः, (सोमः) सोमश्च (हिनोति) प्रेरयति । हि गतिवृद्धयोः, स्वादिः ।

हे मानवाः ! किं यूयं वीराःस्थ, मन्यध्वे च यज्जगतो विकटेषु मार्गेषु पदानि निदधाना यूयं केनापि रिपुणा क्षतविक्षता विनष्टाश्च न भविष्यथ । परं कदाचिदेवं तु नास्ति यत् काले समागते, भवतामेष विश्वासो वितथः सिध्येत्, हृदये वेदनां गृह्णाना भवन्तो विलपेयुः, चीत्कारं कुर्युः, कोलाहलं विदध्युः-अहो, हता वयं, वञ्चिता वयं, सर्वस्वं नाशितवन्तो वयमिति । यदि किञ्चिन्मात्रमपि सन्देहो मनसि विद्यते यद् विपत्सु दृढताधारणं कठिनमस्ति, अचलायमानता दुष्करा वर्तते, तर्हि समायात, अविनाशस्य वेदोक्तमुपायं कर्णगोचरीकुरूत । अहो, अविनाशः ! अविनाशः । महान् खल्वयं शब्दः । कियद् रहस्यमस्मिन् शब्दे सुरक्षितमस्ति । आत्मिकोऽविनाशः, भौतिकोऽविनाशः, वैयक्तिकोऽविनाशः, राष्ट्रियोऽविनाशः ! पदे पदे मनुजो विनश्यति । चरित्राद् विनश्यति, धर्माद् विनश्यति, सम्पदो विनश्यति, राष्ट्रियताया विनश्यति । सकलादपि विनाशाद् यदि त्राणं भवेत् तर्हि सा महत्युपलब्धिरस्ति । अविनाशः प्राप्यते तेन मर्त्येन यस्मै इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च प्रेरणां प्रयच्छति । इन्द्रो वर्तते अग्रगामितायाः, शौर्यस्य, अविचलतायाः, रिपुविदारणस्य, परमैश्वर्यस्य च प्रतिनिधिः । इन्द्रस्यैतानि वैशिष्ट्यानि वेदेषु पदे पदे वर्णितानि । अविनाशेच्छुकैर्जनैरिन्द्रस्य ता विशेषता हृदिं निधेयाः । ब्रह्मणस्पतिर्वर्तते ज्ञानस्य, महत्तायाः, विशालतायाः, वृद्धेर्ब्रह्मवर्चसस्य च प्रतिनिधिः । ब्रह्मणस्पतेस्ते आदर्शा अविनाशेच्छुभिरनुसरणीयाः। सोमोऽस्ति शान्तेः, रसमयतायाः, समस्वरतायाः, सर्जनशीलतायाः, सत्प्रेरणायाश्च प्रतिनिधिः । सोमस्यैते गुणा अविनाशाभिलाषुकैर्जनैरनुकरणीयाः, स्वजीवने धारणीयाः ।

एवं त्रयोऽप्येते देवाः, परमेश्चरीयसत्तायास्त्रीण्यप्येतानि रूपाणि यदाऽस्मान् सत्कर्मसु प्रेरयन्ति, तदा संसारस्य कापि शक्तिरस्मान् परास्तान्, क्षतिग्रस्तान् विनष्टान् वा कर्तुं न पारयति । अन्यथा मनुष्यस्तु मर्त्यो वर्तते, मरणधर्मा विद्यते । एषां देवानां सकाशाद् यद्यसौ शक्तिं सन्देशं च न गृह्णाति तर्हि यः कोऽपि बाह्यः आभ्यन्तरो वा रिपुस्तं वशीकरिष्यति, प्रहारैर्जर्जरं च विधाय नाशयिष्यति ।

– आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

◆◆◆

सम्पादकीय........

बोधरात्रि का सन्देश

संपूर्ण विश्व को मानवता का सन्देश देने वाले भारत वर्ष में समय–समय पर अनेक महापुरूषों का आविर्भाव होता रहा है। देवपुरूषों की इस परम्परा में युगनिर्माता महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। धन्य है गुजरात राज्य की टंकारां नगरी जहां बालक मूलशंकर ने जन्म लेकर विश्वकल्याण का संकल्प लिया था। भारतीय इतिहास में वह शिवरात्रि सदा स्मरण की जाती रहेगी, जिस रात्रि ने मूलशंकर के पवित्र हृदयमें सच्चे शिव को खोजने की अग्नि प्रज्वलित की थी। एक सामान्य सी घटना ने मूलशंकर के अन्दर हलचल मचा दी और मानवजाति के उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ममतामयी जननी का प्यार, पिता का दुलार, संसार का आकर्षण, धन, वैभव, सुख, सुविधा सब कुछ त्यागकर वह बालक सत्य की खोज में निकल पड़ा। नाना प्रकार के कष्ट सहें, हिंस्र–जन्तुओं से घिरे हुए बीहड़ वनों में भटकते रहे, लेकिन लक्ष्य से विचलित नहीं हुए, ईश्वर के सत्यस्वरूप के स्वयं दर्शन किये। संन्यास की दीक्षा ली, गुरू विरजानन्द के चरणों में बैठकर आर्षज्ञान प्राप्त किया और गुरू का आदेश पाकर अज्ञानान्धकार में भटकती हुई मानवता को सत्य मार्ग दिखाने की भीषण प्रतिज्ञा कर कर्म–क्षेत्र में कूद पड़े। विष के प्याले पिये, ईटों और पत्थरों की वर्षा हंसते–हंसते स्वीकार की, स्वार्थी लोगों ने बड़े–बड़े प्रलोभन दिये, भय भी दिखाये, किन्तु वे कर्त्तव्य–पथ पर बढ़ते ही रहे। परमात्मा के पवित्र ज्ञान का प्रचार–प्रसार करने के लिए वेद का भाष्य किया। अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की रचना की, अनेक शास्त्रार्थ किये, हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड–खण्डिनी पताका फहराकर सारे संसार में फैले हुए पाखण्ड को ललकारा। १८७५ में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के संकल्प को साकार करने की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम बढ़ाया। उस समय भारत देश पराधीन था, अंग्रेज इस देश का धन वैभव लूटकर ले जा रहे थे और यह देश निर्धनता से अभिशप्त हुआ जा रहा था, महर्षि ने स्वाधीनता का शंखनाद किया। सर्वप्रथम स्वराज्य की उद्घोषणा की और फिर स्वाधीनता–संग्राम की ऐसी प्रबल–धारा प्रवाहित हुई कि अनेक वीरों ने अपने

जीवन–पुष्प मातृभूमि की अर्चना में समर्पित कर दिये। स्वामी श्रद्धानन्द; पं. लेखराम, पं. गुरूदत्त विद्यार्थी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, महात्मा हंसराज, महात्मा नारायण स्वामी सदृश महापुरूषों ने अपने जीवन की आहुतियां देकर महर्षि के कार्य को आगे बढ़ाया । अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल , शहीदे आजम भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद प्रभृति देशभक्तों के बलिदानों से १५ अगस्त १६४७ को देश स्वतन्त्र हुआ।

महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश से प्रेरणा पाकर स्वामी श्रद्धानन्द ने हरिद्वार में गंगा के सुरम्य तटपर गुरूकुल कांगड़ी की स्थापना की। इस पुण्यभूमि में शिक्षा प्राप्त करने वाले यशस्वी स्नातकों ने वेदज्ञान के प्रकाश से देश को आलोकित कर दिया। गुरूकुलों की पावनधारा ने उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब की भूमि को पावन कर दिया। यह एक सुखद–स्वर्णिम इतिहास है आर्यसमाज का गुरूकुलों का, वैदिक संस्कृति का और राष्ट्र के निर्माण का।

मित्रों ! मूलशंकर को जगाने वाली महाशिवरात्रि प्रतिवर्ष आती है वर्षों बाद पुनः आई है, संसार को जगाने वाले आर्य समाज की स्थापना को १२५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। हम क्या थे और क्या हो गये, यह सोचने का क्षण पुनः उपस्थित हुआ है। कितने ऊंचे आदर्श लेकर आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी, हमारी विश्ववारा वैदिक संस्कृति कितनी महान् है, हमने सारी दुनियां को जीना सिखाया, प्रेम, अहिंसा, करूणा, दया और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। लेकिन आज दुनियां को जगाने वाला समाज स्वयं सो गया है। आपस की फूट और स्वार्थ परायणता ने संगठन को कमजोर बना दिया है। पाखण्ड बढ़ रहा है, देश भक्ति की भावना क्षीण होती जा रही है, नये–२ भगवान भोली–भाली जनता को दिग्भ्रमित कर रहे है। सीमायें आतंकित है, जातिवाद, प्रान्तवाद का दानव दनदना रहा है। भ्रष्टाचार की जड़े मजबूत होती जा रही है। ऐसी विषम परिस्थिति में देश पुनः वेद–ज्ञान से विभूषित, चरित्रवान् देशभक्त आर्यों की और आशा भरी नजरों से निहार रहा है। क्या ऋषिबोधोत्सव हमें अपने कर्त्तव्य का बोध करा सकेगा ? यदि शिवरात्रि के पावन पर्वपर हम अपने आत्मदीप को प्रज्वलित कर आस–पास का अन्धकार दूर कर सके तो धीरे–धीरे संपूर्ण जगती का अन्धकार अवश्य दूर होगा।

अपने सुधी पाठकों के कर कमलों में गुरूकुल पत्रिका का यह अंक समर्पित करते हुए मेरी यहीं कामना है।

-डा० महावीर

गीतायां सांख्ययोगः

कस्य न विदितं विपश्चितो भगवद्गीताया गुणगौरवम् । गीतेयं न केवलं प्रस्तवीति सर्वासामपि उपनिषदां सारभागम, अपितु श्रुतिसारमपि प्रस्तौतितराम् । सेयं सरलया भावाभिव्यक्ति-प्रक्रियया, भूयिष्ठयाऽअर्थगंभीरतया, प्रेष्ठया पद्धत्या, श्रेष्ठया विवृतिसरण्या, साधिष्ठया योग साधनादीक्षया, वरिष्ठया आत्मविशुद्धि-शिक्षया सर्वस्यापि लोकस्य आदृतिम् अनुभवति ।

गीतायाम् अस्यां सर्वासामपि उपनिषदां सारः मनोज्ञया पद्धत्या साधुतरं विविच्यते । उपनिषत्सु ये भावाः केवलं दार्शनिक पद्धत्या नीरसशैल्या च समभिहिताः सन्ति, त एव भावाः साधिष्ठया भाव प्रकाशन शैल्या विशदं समासतश्च प्रस्तूयन्ते । गीता न केवलम् उपनिषदामेव अपितु समग्रस्यापि पूर्ववर्तिनो वाङ्मयस्य सारम् उपस्थापयति । अतएव गीता लोकप्रिया विश्वप्रिया चाभवत् । उक्तं च-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

गीतायाः सर्वविषयावगाहित्वेन, ज्ञान-विज्ञान समन्वयेन, अध्यात्मविद्याचरमोत्कर्षेण, जगतो विनश्वरता प्रतिपादनेन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-प्रबोधनेन, निष्काम-कर्म-दीक्षया, अनासक्ति-योग शिक्षया चेयं समेषामपि विपश्चितां हृद्या संजाता ।

अस्यां गीतायां दर्शनानां सारभूताः आदर्शरूपाश्च भावा रुचिरया भाषया अभिहिताः सन्ति । भारतीय दर्शनेषु-सांख्य योगौ प्राधान्यं भजेते । सांख्यदर्शनं नितरां प्राचीनं दर्शनम् । नास्तिसांख्यसमं ज्ञानम् । योगदर्शनं चापि मानवजीवनं सफलीकर्त्तुम् अमूल्यनिधिरस्ति । सत्यमेवाभिहितं-'नास्ति योगसमं बलम्' । श्रीमद् भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन प्रतिपाद्यते यत् सांख्ययोगौ न पृथक्भूतौ यतो हि द्वयोरेकमुद्देश्यम्, एकैव च पद्धतिः । योगदर्शनं सांख्यप्रतिपादितान् सिद्धान्तान् क्रियायां परिणमयति । ज्ञानमुद्दिश्य सांख्यस्य यो विचारोवर्तते स एव योगस्यापि विद्यते ।

केचन दार्शनिकाः सांख्ययोगयोर्भेदं मन्वते । तेऽतत्त्वज्ञा इत्येवं भगवता कृष्णेन धर्ष्यन्ते। यथार्थतो विचारणे कृते सति लोके द्विविधा मानवाः दृग्गोचरी भवन्ति । एके ज्ञानयोगिनोऽपरे कर्मयोगिनश्च । ये बुद्धिजीविनस्ते ज्ञानयोगं प्रशंसन्ति, तमेव मार्गं चानुसरन्ति । ते निवृत्तिमार्गम् अनुसृत्य ब्रह्मतत्त्वं जिज्ञासन्ति । ये कर्मजीविनः सन्ति ते कर्मयोगं प्रशंसन्ति । अतएव गीतायां उभयविधस्य योगस्य वर्णनम् अवाप्यते । सांख्य समंतस्य ज्ञानयोगस्य वर्णनं क्रियते यत-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। गीता, २-३८

अस्मिन्नेव द्वितीयाध्याये कर्मयोगोऽपि वर्ण्यते-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।गीता, २-३९

सांख्ययोगयोः एकमुद्देश्यम्- दुःखप्रणाशेन ब्रह्मसाक्षात्कारो मोक्षाधिगमश्च । कमपि एकं मार्गम् आस्थितो जनो ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलम् अश्नुते । अतएव भगवता कृष्णेन प्रतिपाद्यते-

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः समयगुभयोर्विन्दते फलम् ।। गीता, ५-४

दर्शनतत्त्वज्ञाः सांख्ययोगयोः एकत्वम् अवधारयन्ति । ये द्वयोर्भेदं प्रतिपादयन्ति ते अतत्त्वज्ञाः। गीतायां सांख्ययोगयोरेकरूपतां स्वीकुर्वता पुनरपि प्रोच्यते-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। गीता ३-३

गीताया अनुशीलनेन इदं ज्ञायते यत् गीतायाः सांख्ययोगोनास्ति अक्षरशः महर्षि कपिलप्रणीतं सांख्यशास्त्रम्, नापि च निष्काम-कर्मयोगः पतञ्जलि प्रणीतं योगशास्त्रम्। श्रीमद् भगवद्गीतायाः मूलश्लोकानां सरलार्थे निभालिते सति मोक्ष प्राप्तये मार्ग द्वयं दृष्टिपथमुपैति, यत्र फले नास्ति भेदः । यथा सांख्यस्य, ज्ञानयोगस्य वा साधकः साधनारतः परब्रह्मणः स्वरूपं विज्ञाय मुक्तिमधिगच्छति, तथैव निष्काम कर्मयोग-साधकोऽपि भगवत्कृपया परब्रह्मणः तत्त्वज्ञानं संप्राप्य परमंपदं संप्राप्नोति-

तेषां सतत् युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।। (गीता १०/१०-११)

अत्रायमेव भेदो वरीवर्ति यत् सांख्ययोगेन सह विवेक-विचारस्य, शम-दमादि साधनानां, निष्काम कर्मयोगेन च सह भगवद्भक्तेः शरणागतेश्च विशिष्टः सम्बन्धो वर्तते । गीतायाः अष्टादशतमे अध्याये सांख्ययोगः ज्ञाननिष्ठाभिधानेन वर्णितः । यथा-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। (गीता १८/४६ से ५२)

योगेश्वरः कृष्णः उपदिशति भो कौन्तेय । सर्वत्र आसक्ति बुद्धिरहितः विगतस्पृहः जितात्मा पुरुषः सांख्ययोगेनापि परमनैष्कर्म्य सिद्धिं विन्दते । हे धनञ्जय । अन्तःकरण शुद्धिरूपां सिद्धिं प्राप्तः पुरुषः यथा सांख्य योगेन सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति तथैव तत्त्वज्ञानस्य या परानिष्ठा, तामपि त्वं मत्तः समासेन विजानीहि । निर्मल बुद्धियुक्तः, एकान्त सेवी मिताहारी, जितवाक् कायमानसः, दृढ़ वैराग्योपेतः पुरुषः सततं ध्यानयोगपरायणः सन् अहंकारं, बलं, दर्पं, काम क्रोधादिकं च विहाय सत्त्वगुण संपन्नया धारणया- शान्तः निर्ममश्च सच्चिदानन्दघने ब्रह्मणि एकत्वं विन्दते । तस्मिंश्च ब्रह्मणि अद्वैतरूपेण स्थितः प्रसन्नात्मा पुरुषः न शोचति नापि च कांक्षति । सर्वेषु भूतेषु समत्वमापन्नः तत्त्वज्ञानस्य पराकाष्ठा रूपां परमामीशभक्तिं प्राप्नोति । तया च पराभक्तया मां तत्त्वतोऽवगच्छति, तत्क्षणमेव च मयि प्रविशति । अनन्यभावेन प्राप्नोति । पुनश्च माम् वासुदेवमतिरिच्य तद् बुद्धौ न किमप्यन्यत् अवशिष्यते ।

अस्याः ज्ञाननिष्ठायाः साधक एव सांख्य योगी प्रोच्यते । सः प्रकृतिजं चमत्कारं तत्त्वतो विजानाति । इन्द्रियाणि स्व-स्व विषयेणु विचरन्ति, आत्मा तु शुद्धः चेतनः निर्लिप्तः, अकर्त्ता, अभोक्ता च । एवं तत्त्वज्ञानोपेतः पुरुषः आत्मानं परब्रह्मणः भिन्नं न मनुते । स तु परब्रह्मपरमेश्वरस्यैव विस्ताररूपं निखिलं प्रपञ्चजातमिति सर्वात्मना स्वीकरोति । साधन काले सः प्रकृतिं, तस्याश्च विस्तृतिं आत्मनोभिन्नाम् अनित्यां क्षणिकां च मन्यते । आत्मानं च अकर्त्ता, अभोक्ता परब्रह्मपरमात्मनश्च अभिन्नं मन्यमानः परमेश्वरीं सत्तां सर्वत्र व्यापिनीं मत्वा साधनारतो भवति । पुनश्च तद्दृष्टौ सच्चिदानन्दघनं वासुदेवं विहाय नान्यद् किमपि तिष्ठति । अन्ते च सः अनिर्वचनीयं परमं पदं लभते ।

निष्काम कर्मयोगमाचरतां जनानां कृते परमेश्वरः उपदिशति 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' । अतो यूयं कर्मफलकांक्षिणः मा भवत । कर्मपरित्यागविचारोऽपि भवद्भिः नैव कार्यः । फलाकांक्षाम् आसक्तिंचं परित्यज्य सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा सततं मामनुस्मर मय्यर्पितभावेन च सर्वाणि कर्माणि कुरुष्व-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। गीता ८/७

भगवदाज्ञानुसारं साधनं कुर्वतः निष्काम कर्मयोगिनो भावः सकामपुरुषेभ्यः सर्वथा विलक्षणो भवति । सः यत् किमपि कर्म करोति, तत्फलकांक्षां न करोति, कर्मासक्तश्चापि न भवति । कर्मकुर्वतः समापतितैः विघ्नैः न विचलितो भवति । कर्मणः अपूर्णत्वे विपरीते वा परिणामे न दुःखमनुभवति । कृतकर्मणः कृत्स्नेऽपि फले संप्राप्ते अनुकूले च परिणामे न हर्षमनुभवति । निष्काम कर्मयोग साधकः कदापि दूषितं नाचरति, यतोहि पापकर्माणि प्रायो लोभेन आसक्त्यैव वा क्रियन्ते । निष्काम कर्मयोगपथि गच्छन् पुरुषः पूर्वमेव जहाति एवंविधानि कर्माणि । सः जगतः चराचरान् निखिलान् अपि जीवान् भगवतो मूर्त्तिस्वरूपान् मन्यते । अतो कस्यापि प्राणिनो प्रतिकूलं नाचरति । सः प्रत्येकं कर्म भगवदाज्ञानुसारं भगवति एव करोति । कस्मिन्नपि कर्मणि तस्य स्वार्थभावो न भवति । भगवदर्पणं खलुतस्य जीवितम् , अतएव कलत्र, पुत्र, धन, गृहादिषु स्वशरीरे वा तस्य ममत्वं नावशिष्यते । सः सर्वदा भगवत् प्रेम्णि निमग्नो भवति । सः सर्वथा ईश्वरे एव विश्वसिति । सांसारिकं दुःखं तादृशं भक्तं तस्याः अवस्थायाः परिचालयितुं न प्रभवति । अस्याः भगवदाश्रय रूपायाः कर्मयोग निष्ठायाः वर्णनं भगवता श्रीकृष्णेन एवं क्रियते-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धि योगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।
मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । गीता. १८।५६-५८

एवं विधानां साधकानां कृते ईश्वरः प्रतिजानीते-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः, अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्, भवामि न चिरान् पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ।।

इत्थं गीतायां सांख्ययोगयोरेकमेव लक्ष्यं प्रतिपाद्यते । तथ्यमिदम् एवमपि अवगन्तुं शक्यते, कस्यापि लक्ष्यस्य संख्यानं, परिमितं याक्षातथ्यस्वरूपवर्णनं सांख्यः, तल्लक्ष्यप्राप्तये च साधन प्रतिपादनं योगः । इमौ उभावपि पन्थानौ भगवद्गीतायां रुचिरायां शैल्यां प्रतिपादितौ स्तः । नास्ति द्वयो कोऽपि विभेदः । अतः एवोच्यते-

यत्सांख्यैः प्राप्यते, स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। गीता- ५-५

-डॉ0 महावीर, डी.लिट्
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम् ।

◆◆◆

पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार की एक संस्कृत काव्य-कृति

आनन्द-षट्पदी

पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार वेदादि शास्त्रों में निष्णात होने के साथ-साथ ललित कलाओं के भी सच्चे पारखी एवं स्वयं उनमें प्रवीण थे । संगीत और काव्य दोनों में वे माहिर थे । हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में काव्य-रचना करके उन्होंने सरस्वती की आराधना की है । संस्कृत में उनका **'भक्तिलहरी'** नामक गीति-काव्य अत्यन्त मंजुल है । इसके अतिरिक्त पण्डित जी की दो रमणीक काव्य-कृतियां **'आनन्द-षट्पदी'** और **'कुलाद् वियुक्तस्य वियोगवार्ता'** हैं, जो उनके हिन्दी गीत-संग्रह **'बिखरे फूल'** में प्रकाशित हैं । उनकी एक प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी रीति की रचना **'दयानन्द-जन्मगाथा'** है जिसके अनुष्टुप् छन्द में लिखित १३ पद्य उपलब्ध हुए हैं । पण्डित जी के संस्कृत के कुछ फुटकर पद्य भी मिलते हैं । यहाँ हम उनकी **'आनन्द-षट्पदी'** का रसास्वादन पाठकों को करा रहे हैं । इसमें मालिनी छन्द के छह पद्यों में ऋषि दयानन्द के विविध रूपों के प्रति उनका भक्त प्रणति प्रकाशित कर रहा है । शब्दसौष्ठव और शब्दार्थालंकारों की छटा देखते ही बनती है ।

गहनगिरिगुहासु ध्वान्तपूर्णाटवीषु
हिमपिहितमुखासु श्रान्तसुप्तं नदीषु ।
विधुमिव घनमालावारितं क्लान्तकान्तं
कमपि विदितसारं नौमि बालं विशालम् ।।

"विदित बल वाले उस विशाल बाल अद्वितीय दयानन्द को मेरा प्रणाम है, जो गहन पर्वत-कन्दराओं में, अन्धकारपूर्ण अटवियों में, बर्फ से बन्द मुख वाली नदियों में थक कर चूर हुआ सो जाता था और जो मेघमाला से आच्छादित चन्द्र के समान क्लान्त होते हुए भी कान्त प्रतीत होता था ।"

'बाल होते हुए भी विशाल' इसमें विरोधालंकार व्यङ्ग्य है । 'बाल' का अर्थ 'अज्ञानी' तथा 'वि-शाल' का अर्थ 'घर-बार छोड़े हुए' करने पर विरोध का परिहार हो जाता है । यहाँ उस दयानन्द का वर्णन है, जो घर छोड़कर योग द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार करने की धुन में जंगलों में और बर्फीले पर्वतों पर योगियों की तलाश में मारा-मारा फिर रहा था । यहाँ गिरिगुहा, अटवी और नदी इन अनेक प्रस्तुतों में 'श्रान्तसुप्त' का योग होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है। जैसे घनमाला से वारित चन्द्रमा क्लान्त होते हुए भी कान्त लगता है, ऐसे ही विपद्ग्रस्त होने के कारण क्लान्त होते हुए भी दयानन्द कान्त प्रतीत हो रहे थे, इसमें उपमालंकार है । यहाँ छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास की रमणीयता भी है ।

हिमपरिगलदंङ्ग कण्टकक्षुण्णदेहं
सततरुधिरधारालिप्तमप्युल्लसन्तम् ।
तुहिनगिरिनितम्बे तेजसा भासमानं
तरुणरविसमानं नौमि कञ्चिद् युवानम् ।।

"बर्फ से अंग गल जाते थे, कांटो से शरीर छलनी हो जाता था, रुधिर की धार से वह लथपथ हो जाता था, फिर भी उल्लसित दीखता था । हिमालय की चट्टान पर तेज से भासमान होता हुआ वह तरुण रवि के समान प्रतीत होता था । उस अद्वितीय युवा दयानन्द को मेरा प्रणाम है ।"

प्रथम पद्य में किशोर दयानन्द का वर्णन करने के उपरान्त इस द्वितीय पद्य में कवि युवा दयानन्द का चित्रण कर रहा है । यहाँ दुरवस्था प्राप्त होने पर भी उल्लसित होने के वर्णन में विरोधालंकार का तथा 'तरुणरविसमानम्' में उपमा का सौन्दर्य है । दयानन्द को तरुण रवि के समान कहने में 'तुहिनगिरिनितम्बे तेजसा भासमानम्' यह वाक्यांश हेतु बन रहा है, अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है ।

खलबलदलनायाऽसह्यभासा ज्वलन्तं
सदयमथ दृगन्तमार्तलोके झरन्तम् ।
दुरितकलुषितानां पावनं तीर्थराजं
नमत कमपि शान्तिज्योतिषोः सङ्गमं तम् ।।

जो दुर्जनों का दलन करने के लिए असह्य तेज से जाज्वल्यमान था, जो पीड़ित जनों पर दयापूर्वक दृक्कटाक्ष बरसाता था, जो पापों से कलुषित हुए जनों को पवित्र करने वाला तीर्थराज था, उस ज्योति और शान्ति के अद्भुत संगम दयानन्द को प्रणाम करो ।"

इस पद्य में दयानन्द में तीर्थराजत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है । तीर्थराज कहने में 'दुरितकलुषितानां पावनम्' इन पदों का अर्थ हेतु बन रहा है, अतः काव्यलिङ्ग है । दयानन्द को ज्योति और शान्ति का संगम कहने में प्रथम तीन चरणों का अर्थ हेतु होने के कारण भी काव्यलिङ्ग है । अनुप्रास की छटा भी है ।

रुधिरपरिगतानां कातरालोकिनीनां
विदययवनशस्त्रं वीक्ष्य कम्पाहतानाम् ।
गतशरणगवामासान्त्वनं स्नेहसान्द्रं
नमत कमपि गोपं दुर्जनासह्यकोपम् ।।

"उस गोरक्षक अद्वितीय दयानन्द को प्रणाम करो, जो खून से लथपथ, कातर दृष्टि वाली तथा निर्दय यवनों के शस्त्र को देखकर कांपती हुई अशरण गायों को सान्त्वना देने वाला था, जो स्नेह से भरपूर था तथा जिसका कोप दुर्जनों से असह्य था ।"

यहाँ काव्यलिङ्ग, परिकर, स्वभावोक्ति एवं अनुप्रास अलंकारों का अङ्गाङ्गिभाव संकर चारुता उत्पन्न कर रहा है ।

नयनजलकपोलक्षालिनीनामजस्रं
विशरणविधवानां नेत्रनीरे प्रपूरे ।
सदयमपि वहन्तीं सान्त्वयन् मातृभूमिं
चरमकरवलम्बी ध्यायतां कोऽपि वीरः ।।

"निरन्तर आंसुओं से कपोलों को धोने वाली असहाय विधवाओं के नेत्रजलों की बाढ़ में बहती हुई मातृभूमि को जिसने दयापूर्वक सान्त्वना देकर हाथ का सहारा दिया, आओ, उस वीर दयानन्द का ध्यान करें ।"

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है, यतः विधवाओं के अश्रुजल में मातृभूमि का बहना सम्भव नहीं है, तथापि वैसा वर्णन किया गया है ।

नयनपथमुपेतैर्जीवनैरन्तकाले
विगतसकलशक्तीन् मानवान् जीवयन्तम् ।
प्रशममुपनयन्तं दुःसहेनापि धाम्ना
प्रणमत शिरसा तं ज्योतिषां कञ्चिदन्तम् ।।

कवि ऋषि दयानन्द के अन्तकाल का वर्णन कर रहा है । अन्तिम समय में जब उनके प्राण नयनपथ से बाहर निकल रहे थे, तब वे मानो विगत शक्ति वाले मानवों को प्राणवान् कर रहे थे । अपने अन्दर से प्राण मानो इस हेतु से बाहर निकाल रहे थे कि जो शक्तिहीन हैं उनमें प्राण डालने हैं । जीवन शब्द का अर्थ जल भी होता है । अन्तकाल में जब भावनाएं अश्रुजल बनकर नेत्रपथ से बाहर निकलने लगीं, तब उस दृश्य को देखकर हिम्मत हारे हुए भी मानव उत्साह से अनुप्राणित हो उठे कि ऋषि का अधूरा छूटा कार्य हम करेंगे । ऋषि अपने चेहरे पर विद्यमान दुःसह तेज से भी दर्शकों को शान्ति का पान करा रहे थे । दुःसह तेज से अग्नि को बुझा रहे थे, यह अर्थ भी ध्वनित होकर विरोधालङ्कार का सौन्दर्य दे रहा है । यहाँ कुवलयानन्द की दृष्टि से विरूपकार्योत्पत्तिरूप विषमालंकार है । ऐसे ज्योति के पुंज ऋषि को मस्तक झुका कर प्रणाम करो ।

इस सम्पूर्ण रचना में ऋषि या गुरु के प्रति रतिभाव वर्णित होने से यह भावध्वनि नामक काव्य है ।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

◆◆◆

अथर्ववेद के कुछ प्रयोग और हिन्दी

अथर्ववेद में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो उन्हीं रूपों में अथवा कुछ विकृत रूपों में हिन्दी में भी मिलते हैं। यहाँ संक्षेप में इसकी चर्चा की जा रही है।

‘राध साध संसिद्धौ’ धातु है। राध अथवा साध का अर्थ है- पूरा करना, सिद्ध करना। अथर्ववेद में राध तथा साध के प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं-

(१) **इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ।** -अथर्ववेद १/२४/४

(२) **त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ।**

राधना और साधना हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। सोच शब्द हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है। यह संज्ञा शब्द है तथा पुँल्लिङ्ग है। सोच, सोचहिं अवधी में प्रयुक्त है। अथर्ववेद (२/२०/४) में शोच का प्रयोग क्रिया के रूप में है- **“अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच ।** **‘शुष शोषणे’** धातु का प्रयोग अथर्ववेद (६/१३६/१) में मिलता है- **“तया सहस्रपण्या हृदयं शोषयामि ते ।”** हिन्दी में **‘सोखना’** शब्द का प्रयोग मिलता है। पार शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है:- ३/११/३, ६/१३३/१, २०/७६/५/ हिन्दी में भी पार जाना, पार लगना आदि प्रयोग मिलते हैं।

अथर्ववेद (४/१५/१२) में गर्गर शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। सायण ने गर्गर का अर्थ किया है-

“अनुकरण शब्दोऽयम् । ईहग्ध्वनियुक्ताः प्रवाहा इति ।”

हिन्दी में **‘गगरा’** शब्द प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ कलश है। यह संस्कृत के गर्गर शब्द से निकला है, जिसका प्रयोग हम अथर्ववेद में देख रहे हैं।

अमरकोश में शूर और वीर शब्द पर्याय माने गये हैं- **“शूरो वीरश्च विक्रान्तः”** -२/८/७७ । हिन्दी में प्रायः या तो शूर शब्द का प्रयोग होता है या वीर शब्द का । दोनों का एक साथ प्रयोग नहीं मिलता। अथर्ववेद में एक महत्त्वपूर्ण

प्रयोग मिलता है। यहाँ शूर तथा वीर इन दोनों शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है-
"वीर्यवावृत्सपत्नहा शूरवीरः परियाणः सुमंगलः ।" -८/५/१

हिन्दी में भी कभी-कभी शूरवीर पद का एक साथ प्रयोग दृष्टिगत होता है। अथर्ववेद के आधार पर यह प्रयोग शुद्ध है। राशि शब्द का महत्त्वपूर्ण प्रयोग अथर्ववेद में उपलब्ध होता है-

"अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ।।" -६/१४३/३

भाष्य इस प्रकार है- "हे यव तव उपसदः उपसत्तार उपयन्तारः कर्मकराः अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु राशयः धान्यसमूहाः । पृणान्तः गृहादिकं पूरयन्तः सहात्तारो जना अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु । अत्तारः भोक्तारः।"

'राशि' शब्द का प्रयोग आज भी अवधी में इसी अर्थ में होता है। जब खलियान में यव आदि को साफ करके उनकी ढेर लगा देते हैं, तब उसे राशि कहते हैं। उसको ढोकर घर लाते हैं और उसे किसी स्थान पर सुरक्षित कर देते हैं । जिस स्थान पर उसे रखते हैं, उसे कोठार (भंडार) कहते हैं अर्थात् धान्य को रखने के लिए सद्गृहस्थ कोठार बनाते हैं। कोठार से कोठारी शब्द बनता है। हम लोगों के गाँवों में वर्षों पहले भूमि में बहुत बड़ा गड्ढा खोद लेते थे और लीपपोत कर उसे सुन्दर बना लेते थे। उसमें धान्य की राशि रख देते थे। फिर उसके ऊपर लकड़ी की पटिंया रखकर उस गड्ढे को व्यवस्थित रूप से ढँक देते थे। समय आने पर उसे खोलते थे और अन्न का उपयोग करते थे। उस गड्ढे को गाड़ कहते थे। अथर्ववेद में उपलब्ध राशि शब्द का यह प्रयोग आज भी अवधी में ठीक उसी रूप में सुरक्षित है, जिस रूप में वेद में प्रयुक्त है।

अथर्ववेद में आश्चर्यजनक रूप से **'लोग'** शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इसका अर्थ है- लोक, समूह । आज भी अवधी में लोग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। 'आप लोग कहाँ से आ रहे हैं?' इत्यादि प्रयोग प्रतिदिन सुनायी पड़ते हैं। अथर्ववेद का प्रयोग इस प्रकार है-

उत्ते स्तम्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निद्धन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ।। -१८/३/५२

इस मन्त्र में 'स्थूणा' पद प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी का थूनी शब्द इसी से निकला हुआ है। थूनी का अर्थ है- किसी भार को गिरने से रोकने के लिए नीचे लगाया जाने वाला खम्भा ।

जनि शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है-

(१) अनश्रवो अनभीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।जनयः -उपत्यजनन्यः । -अथर्ववेद १८/३/५७ (२) परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये। जनयः जनयन्ति उत्पादयन्ति अपत्यम् इति जनयो योषितः । -२०/१७/१

अथर्ववेद में 'महामनाः' का विशिष्ट प्रयोग मिलता है-

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ।।
महामनसाम् - अदीनमनसाम् । - १६/१३/१०

'महामनाः' का प्रयोग अध्यात्म रामायण में भी मिलता है-

प्राह सर्वे कुशलिनो भरतस्तु महामनाः ।
फलमूलकृताहारो जटावल्कलधारकः ।। - युद्धकाण्ड १४/१८

पंण्डित मदनमोहन मालवीय के लिए 'महामना' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'महामनाः' शब्द का प्रयोग उक्त स्थलों से ही लिया गया होगा।

डॉ0 अमरनाथ पाण्डेय
एन. 1/30, ए-9
नगवा, वाराणसी-221005

◆◆◆

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

(जु०-अक्टू० ९९ अंक से आगे......)

७- एतरेय उपनिषद- एतरेय उपनिषद में ब्रह्म का आख्यान निमित्तकारण के रूप में उपलब्ध होता है। वह ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् इस कार्य रूप जगत से पूर्व था । ऐसा उसके तुल्य नहीं था जो उसकी स्पर्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था । उसने ही अपनी ईक्षण शक्ति द्वारा सभी लोक लोकान्तरों को उत्पन्न किया ।[४८] अन्य उपनिषदों की तरह ब्रह्म को अनेक नामों से ऐतरेय में कहा गया है । उस ईश्वर का नाम ब्रह्म उसी का नाम इन्द्र, प्रजापति, और प्रज्ञानेत्र आदि नाम हैं । जिससे समस्त पदार्थ सत्ता रूप में व्यक्त होकर लाभ को प्राप्त करते हैं उसका नाम नेत्र है ।[४९] अर्थात् जिसके ज्ञान रूपी नेत्र हों उसका नाम प्रज्ञा नेत्र है ।[५०] प्रत्ययवादी इसका अभिप्रायः यह लेते हैं यह जड़ चेतन जगत् शुक्ति रजत के समान प्रज्ञानरूप ब्रह्म में कल्पित होने के कारण इस संसार वर्ग को प्रज्ञान में प्रतिष्ठित कहा गया है । अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो, आरोप रूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम प्रज्ञानेत्र है ।[५१] और चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलय काल में स्थिति पाने के कारण इसे प्रज्ञा प्रतिष्ठा कहा गया है ।[५२] इस प्रकार संसार का एकमात्र कारण वे ब्रह्म को ही मानते हैं । ये अन्त में जो "प्रज्ञान" ब्रह्म कहा है इससे यह जीव ब्रह्म बन जाता है । परन्तु यह उनका कथन उचित नहीं है क्योंकि अगले मंत्र में ही जीव की उत्क्रान्ति का विवेचन करके उसको सुख रूप मुक्ति की प्राप्त करने का उल्लेख किया है । यदि उक्त अभिप्राय होता तो, जीव के लिए मुक्ति का वर्णन न किया होता । जब प्रज्ञानेत्रो लोकः कहकर अखिल ब्रह्माण्ड के साथ बाधसमानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन किया गया है तो जीव भी तो उसी में आ गया । दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रथम मंत्र में प्रज्ञानपद ईश्वर वाच्य है तो यहाँ ब्रह्म के प्रकरण में प्रज्ञान का अर्थ जीव क्यों ग्रहण किया जाय । प्रकृष्ट ज्ञान का स्रोत ब्रह्म ही है । इसीलिए ब्रह्म के लिए ही प्रज्ञान पद का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है । अतः स्पष्ट है कि प्रज्ञान पद का विशेषण न देकर कहा जाता तो ब्रह्म का अर्थ प्रकृति, जीव और वेद भी तो हैं । इसीलिए इनसे पृथक् करने के लिये' ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा है ।

८- **तैत्तिरीय-** तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप सत्य, ज्ञान अनन्त रूप में कहा गया है। वह परमात्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त धर्मों वाला है। इस वाक्य में ब्रह्म विशेष्य और सत्यादि उसके विशेषण हैं। यदि ब्रह्म सत्य कहा जाता तो प्रकृति में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि जीव भी ज्ञानस्वरूप है इसकी व्यावृत्ति के लिये अनन्त ब्रह्म अनन्त है। जीव के समान परिच्छिन्न नहीं हैं। इन तीनों पदों के मिलाने से ब्रह्म का लक्षण हुआ। ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। इससे वह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषण वाला (गुणी) है। परन्तु अद्वैतवादी विद्वानों के मत में यह लक्षण नहीं बन सकता है कि लक्षण व्यावर्तक भी होता है क्योंकि इनके यहाँ ब्रह्म भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर किसका लक्षण किया जाय। अद्वैतवादी इसका यह अर्थ भी करते हैं, कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है परन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही प्रतीत होती है। क्योंकि उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा है कि वह "सर्वान् कामान्" सब कामनाओं का उपभोग ब्रह्म के साथ करता। यदि ब्रह्म ही हो जाता तो फिर कामनाओं का प्रश्न ही न पैदा होता। वस्तुतः इसका अभिप्रायः यह है कि परम ब्रह्म को जानने वाला जीवात्मा भी ब्रह्म अर्थात् महान् ब्रह्म ही है।[५३] आचार्य शंकर का मत इसी अध्याय में पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।[५४]

९- **श्वेताश्वेतर-** इस उपनिषद् में प्रश्नोत्तर रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। वह कारण रूप ब्रह्म क्या है? प्रकृति और जीवात्मा क्या है? यह ब्रह्म ही अपेक्षित है। वह ब्रह्म नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है जो सांख्य और योग द्वारा जाना जाता वही सृष्टि को व्याकृत करने में कारण है। उसे जान कर ही मुक्ति मिल सकती।[५५] इतना ही नहीं अपितु इससे पूर्व कहा है कि एकदेव समस्त भूतों में व्याप्त है,[५६] वह सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से विरल है। वह हमारे कर्मों का साक्षी है और निर्गुण है। वह अणु से सूक्ष्म और महान् से महान् है[५७]। समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब का ज्ञाता है। वह ब्रह्म हाथ, पाँव रहित होकर भी वेगवान होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जानता है किन्तु उसे साधारणतः कोई नहीं जानता है। वह प्रभु महान् है।[५८] आगे इसी को प्रकारान्तर से कहा है कि उस ब्रह्म के सब और हाथ पाँव हैं सब और आँखें, सिर, और मुख हैं, वह सर्वत्र सुनने वाला है।[५९] अभिप्रायः यह है कि ऐसा स्थान नहीं जहाँ पर वह देखता सुनता, न हो, वेद कहता है कि अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमें कोई भी नहीं देखता है परन्तु वरुण तृतीय उन्हें देख रहा है।[६०] वास्तव में वह पुरुष ही भूत, भविष्य और वर्तमान में सबका स्वामी है। वही अमृत है। इन मंत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्विशेष रूप में मानकर

प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप में कहा है कि वह ब्रह्म ज्ञानशील है। और प्रकाश स्वरूप है।[६१] यह प्रकाश स्वरूप होने से सविशेष है। यदि निविशेष रूप कहा होता तो प्रकाश और तप दोनों से रहित कहना चाहिए। इससे आगे कथन किया है कि उस ब्रह्म से उत्कृष्ट वस्तु कोई भी नहीं है और सबसे सूक्ष्म होने के कारण उससे छोटी वस्तु भी कोई नहीं है। न ही उससे कोई महत्तर है।[६२] वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म से व्याप्त है। ईशोपनिषद् में भी कहा है कि जगती में जो जगत् है वह ईश्वर से व्याप्त है।[६३]

इसी प्रकार आगे कहा है कि वह ब्रह्म एक होकर भी अपनी शक्ति से नानाविध संसार का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् रचता है।[६४] उस ब्रह्म के अनेक नाम हैं इसका विवेचन इस प्रकार किया है कि अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा और शुक्रादि नाम उसी ब्रह्म के हैं।[६५] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदें अनेक देवतावाद या बहुदेवतावाद को नहीं मानती हैं। परमात्मा की अनन्त शक्ति है, उसी ब्रह्म के द्योतक अनेक शब्द हो सकते हैं। महर्षि दयानद जी का भी यही मत है।[६६] ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी इसी आशय के मंत्र अनेकों उपलब्ध होते हैं इन्हीं भावों को यजुर्वेद में कहा है।[६७] ऋग्वेद् में कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और मातरिश्वान उसी एक ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं। विद्वान लोग उसे बहुत नामों से कहते हैं कि जबकि वह एक ही है।[६८] यह सर्वव्यापी ने समस्त लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों[६९] को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशान्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म का अर्थ ज्ञात हुआ जिस प्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिदे हुए होते हैं या जिस प्रकार रथ के पहिये आरों से लगे होते हैं इसी प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण वाणियाँ प्राप्त हैं अथवा वह ओंकार ही सम्पूर्ण में व्याप्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है।[७०] उसकी व्यापकता के साथ सूक्ष्मता का विवेचन बड़े विशद रूप में छान्दोग्य में उपलब्ध है। जैसा कि उदाहरणों से समझाया है कि ब्रह्म, जिससे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, और लय होता है उन पदार्थों को ब्रह्मस्थ समझें क्योंकि ब्रह्म को जगत् से तीनों कालों में भिन्न माना है। यह उनके अनुसार मुख्य समानाधिकरण है अर्थात् समस्त पदार्थ अपने-अपने आकार से ब्रह्म रूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। यहाँ यह विवेचनीय है कि क्या इन पदार्थों को ब्रह्म माना जाय या इन पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक माना जाय। यदि पहली बात मानी जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पत्ति स्थिति, लय वस्तुओं का होने के कारण ब्रह्म विकृत नहीं हो जायेगा ! विवर्त कहने से दोष दूर नहीं हो सकता क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है।वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म है। इसीलिए ये वस्तुएँ ब्रह्म नहीं हो सकतीं। क्योंकि आगे ही प्रतिपादन है कि उक्त गुणों वाला ईश्वर मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म धानों से और यवों

से और सरसों से चावलों से भी अति सूक्ष्म है । यह ब्रह्म मेरे हृदय के मध्य में पृथ्वी से अन्तरिक्ष द्यौलौक से अर्थात् लोकों से महान् है । यहाँ सूक्ष्म- से-सूक्ष्म, महान-से-महान रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है ।[७१] शाण्डिल्य ऋषि ने ब्रह्म के स्वरूप का विश्वकर्मा रूप में वर्णन किया है । सर्वकर्मों वाला, सब कामनाओं वाला, सब गन्धों वाला । सब जगत् उस ब्रह्म से व्याप्त है । वाणीरहित पक्षपात शून्य मेरे हृदय देव जगत्कर्ता और सर्वथा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है । उस परम ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा बुद्धि से जानकर मनीषि लोग अमर हो जाते हैं । इस ब्रह्माण्ड में देव अपनी शक्ति से अनेक प्रकार से उत्पन्न विकृत कर अन्त में संहार करता है । तथा यह महात्मा ईश्वर ही (कल्पान्तर के आरंभ) प्रजापतियों को पुनः उत्पन्न कर सबका आधिपत्य करता है ।[७२] उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि जगत् का निमित्तकारणभूत जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को स्थिर करता है । अकेला ही समस्त संसार का नियमन करता है और जो समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है वह परम ब्रह्म है ।[७३] ब्रह्म की यथार्थ रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है जैसा कि कहा है कि इस गहन संसार के भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्व के रचयिता, अनेक रूप, विश्व को एक मात्र व्याप्त करने वाले देव को जानकर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है ।[७४] इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण निमित्तकारण रूप में ही हुआ है । आचार्य शंकर का इस पर जो भाष्य उपलब्ध होता है उसे प्रायः अद्वैतवादी विद्वान् स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका कहना है कि यह उनकी भाषा प्रतीत नहीं होती है । परन्तु उनका ऐसा कहना संभवतः इसीलिए है कि इस उपनिषद् में पूर्णरूपेण यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन मिलता है ।

१०- **छान्दोग्य-** इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ओ३म् शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि ओ३म् उसका मुख्य नाम है जो अक्षर (अविनाशी) इसी का उद्‌गीथ अर्थात् वाणी का आधार मानकर उपासना करे ।[७५] उसकी सर्वव्यापकता के लिए कहा है कि ब्रह्म के अन्दर है । यही वह ब्रह्म है । ऐसे गुणों वाले या स्वरूप वाले ब्रह्म को प्राप्त होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है[७६] । उक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि ब्रह्म हमारा स्वामी है, पिता है । जीवात्मा उसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, के सम्बन्ध से प्राप्त करना चाहता है । परमात्मा के कोशों का वर्णन भली प्रकार करते हुए प्रतिपादन किया है कि उसका कौश कैसा है । आकाश जिसका उदरं समान है, पृथ्वी पाद समान है, दिशायें जिसके कोणें हैं, द्यौलौक जिसका खुला मुख है । इत्यादि ऐसा जो परमात्मा रूप कौश है कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् सदा एक रस रहता है । विश्व का धन उसके कोश के आश्रित हैं ।[७७] छान्दोग्य उपनिषद् की तरह वेदों में भी ब्रह्म का विराट् रूप में

वर्णन प्राप्त होता है । ऋग्वेद् के दशम मण्डल के इक्यासी और बयासीवें सूक्त से ब्रह्म का विश्वकर्मा के रूप में वर्णन हुआ है । क्योंकि वह विश्व का बनाने वाला है ।[७८] छान्दोग्य में ईश्वर का वर्णन भूमा के रूप में भी हुआ है । भूमा नीचे, ऊपर, पीछे, पूर्व में, वही दक्षिण, वही उत्तर में स्थित है । अर्थात् वही इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है ।[७९] उस उपनिषद् में ब्रह्म का नाना रूप में व्याख्यान हुआ है । उसके सत्य नाम की व्याख्या देखने योग्य है । ब्रह्म के सत्य नाम में स, त, य यह तीन अक्षर हैं इन अक्षरों में जो साकार है वह अमृत है । और जो तकार है, वह मर्त्य है । तथा जो यकार है वह उक्त दोनों को नियमन में रखता है । इसी कारण यू कहलाता है वास्तव में जो ऐसा जानने वाला है, वह प्रतिदिन महान् सुख को प्राप्त होता है । इस उक्त स,त्, य का अभिप्राय यह हुआ कि किसका अर्थ अमृत जीवात्मा है । त का अर्थ मर्त्य अर्थात् प्रकृति है । य का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने आधीन रखता है । उसका नाम सत्य है । प्रकृति में परिवर्तन होने से वह मर्त्य है । वह य रूपब्रह्म दोनों का उपयोग कर संसार का निर्माण करता है ।[८०] इससे आगे ब्रह्म का वर्णन सेतुरूप में हुआ है । वह ब्रह्म जो सदा विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषण युक्त है वही संसार का सेतु है । अर्थात् जैसे हम सेतु पर बिना चढ़े नदी को पार नहीं कर सकते ।[८१] इसी प्रकार ब्रह्म का आलम्बन लेना आवश्यक है । इसी सेतुरूप को कठ में, श्रेष्ठ आलम्बन नाम से कहा है । यदि यह सेतु संसार को धारण न करे तो संसार तत्काल नष्ट हो जाय अतः यह अमृतमय सेतु ही इसकी रक्षा कर रहा है । मुण्डक में भी इसको अमृत का सेतु कहा है ।[८२] छान्दोग्य का ब्रह्म भी दूसरी उपनिषदों के समान है इसी भाव को यजुर्वेद में भी प्रदर्शित किया है ।[८३] वास्तव में उपनिषद् के मंत्र केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है अपितु समाधि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर जो अनुभूति या साक्षात्कार ऋषियों को हुआ वही उपनिषदों में प्रतिपादित है । अनुभव सदा समान ही हुआ करता है क्योंकि ब्रह्म एक ही है तो उसका साक्षात् भी समानरूप में ही होगा ।

क्रमशः……

—प्रो० जयदेव वेदालंकार
डीन- प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

◆◆◆

कैवल्य

भारतीय दर्शनों में निवृत्ति और आनन्दावाप्ति को कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, आर्हतीदशा, अपवर्ग, निःश्रेयस, प्रपञ्चसम्बन्ध विलय, ब्रह्मपदावाप्ति आदि अनेक शब्दों से अभिहित किया है। वस्तुतः जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों के फलस्वरूप इस संसार में सुख-दुःखादि का भोग करते हुए आत्मा को कष्ट की अनुभूति होती है। इसी कष्ट से मुक्ति प्राप्त करना उसका उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को विभिन्न शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से निरूपित किया है। यही उद्देश्य ही मोक्ष, मुक्ति या कैवल्य के रूप में विवेचित किया गया है।

अन्य दार्शनिकों के मतों का उल्लेख करके योग-प्रतिपादित कैवल्य की चर्चा करना समीचीन होगा।

चार्वाक मत-

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इन्होंने मोक्ष की सत्ता और उपयोगिता स्वीकार की है। इनकी मान्यता है कि देह ही आत्मा है। अतः देह का विनाश ही मोक्ष है[१]। यह मोक्ष शाश्वत है क्योंकि पुनर्जन्म नहीं होता[२]।

बौद्ध मत-

बौद्ध दार्शनिक त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक छुटकारा ही निर्वाण मानते हैं, यह निर्वाण निषेधात्मक है, विध्यात्मक नहीं। जैसे दीपक का निर्वाण निषेधात्मक होता है। विशेषतः शून्यवादी बौद्धों की यही मान्यता है[३]। निर्वाण को प्रहाण, प्राप्ति, उच्छेद, निषेध और उत्पत्ति से रहित माना गया है[४]। क्योंकि यह अभावरूप है और सभी कुछ क्षणिक है[५]।

जैन मत-

जैन दार्शनिक मान्यतानुसार कर्मफल में आसक्त होना बन्धन व समस्त कर्मों से छूट जाना मोक्ष है। इस अवस्था को इन्होंने आर्हती अवस्था या अर्हन् पद की प्राप्ति माना है। मिथ्यादर्शनादि बंध के कारण हैं। संवर से नए कर्मों का आस्रव रुक जाता हैं और निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म हो जाता है। इस प्रकार कर्मबन्धन से छूटकर मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है[६]।

न्याय मत-

न्याय दर्शन मोक्ष को अपवर्ग कहता है। यह अपवर्ग दुःखों का अत्यन्ताभाव रूप है[७]। दुःखों का प्रधानकारण है- यह जन्म। सकाम कर्मों में प्रवृत्ति ही जन्म का कारण है। प्रवृत्ति दोषवशात् होती है। दोषों का कारण है अविद्या या मिथ्याज्ञान[८]। प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होकर अपवर्ग का अविराम होता है[९]।

वैशेषिक मत-

न्यायदर्शन की भाँति विशेषिक में भी अपवर्ग को परम पुरुषार्थ कहा गया है तथा उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'निःश्रेयस' दी गई है[१०]। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर शांत हो जाती है, कुछ भी शेष नहीं रहता। इसी प्रकार दुःखों का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष में सुख नहीं होता[११]।

सांख्य मत-

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन है, जिसे संसार कहा जाता है। तत्त्वज्ञान से इन दोनों का वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है[१२]। प्रकृति व पुरुष का सम्बन्ध अंधे व लंगड़े के सम्बन्ध के समान है। इस मान्यता के अनुसार बंधन व मोक्ष प्रकृति का ही होता है, पुरुष में तो उसका उपचार ही होता है[१३]। महत् तत्त्व के आठ धर्म हैं- धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य तथा ऐश्वर्यानैश्वर्य। ज्ञान के अतिरिक्त सातों द्वारा प्रकृति पुरुष को बांधती है[१४]।

योग मत-

पातंजल योग दर्शन के अनुसार मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा कैवल्य है। वस्तु के स्वरूप को केवल कहते हैं। केवल का भाव कैवल्य है। मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है[१५]। जब बुद्धि (प्रकृति) और पुरुष में एक जैसी शुद्धता हो जाती है, तब कैवल्य होता है[१६]। यह शुद्धि-साम्य विवेक ज्ञान से प्राप्त होता है। क्योंकि अविद्या का नाश होने से क्लेश-नाश और क्लेश-नाश से संस्कार नहीं बनने के कारण जन्मादि नहीं होता। यही पुरुष का कैवल्य है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के दो ही प्रयोजन हैं- पुरुष के लिए भोग व मोक्ष देना। जब प्रयोजन पूर्ण हो जाता है तो पुनः प्रतिप्रसव नहीं होता। पुरुष निज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है[१७]। तत्त्वज्ञान चित्तवृत्ति निरोध रूप योग से होता है। यह योग अभ्यास और वैराग्य रूप है[१८]। क्रियायोग, अष्टांगयोग और ईश्वर प्रणिधान रूप भक्तियोग भी कैवल्य प्राप्ति के अन्य साधन हैं[१९]।

मीमांसा मत-

मीमांसा मत में जीवात्मा के साथ जगत्प्रेम के सम्बन्ध के विलय को मोक्ष कहा जाता

है। मीमांसक जीव और जगत् दोनों को नित्य मानते हैं। जगत् की प्रलय यहाँ अमान्य है। अतः जगत् का विलय तो हो नहीं सकता है। केवल प्रपञ्च के साथ जीव के सम्बन्ध का लय होता है[२०]। प्रपञ्च तीन प्रकार का होता है- शरीर, इन्द्रियाँ और विषय। शरीर भोगायतन, इन्द्रियाँ भोगसाधन और विषय भोग्य है। सुख-दुःख रूप जो अपरोक्षानुभूति है, वह भोग है, जिसका कर्ता पुरुष है। इस त्रिविध प्रपञ्च रूप बन्धन का सदा के लिए अवरुद्ध हो जाना मोक्ष है[२१]। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से प्रपञ्चविलय होता है।

शांकर मत-

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती अपितु बन्धन के भ्रम का निवारण हो जाता है। जीव ब्रह्मस्वरूप व नित्यमुक्त है। जीव को माया के कारण यह भ्रम हो गया है कि वह बद्ध है। जैसे कण्ठ में पड़े विस्मृत हार की प्राप्ति नहीं होती अपितु ज्ञान मात्र होता है। प्राप्त तो वह पहले ही है। यह ज्ञान किसी पृथक् उपदेष्टा द्वारा होता है। इसी को दशम न्याय कहा गया है। इस मुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है, कर्मानुष्ठान की नहीं। यह ज्ञान गुरु के द्वारा बहुशः उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों द्वारा होता है। श्रवण, मनन व निदिध्यासन उस ज्ञान के सहकारीकारण हैं[२२]।

आचार्य रामानुज का मत-

रामानुजाचार्य के मत में भगवान श्रीहरि के दासत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्षावस्था में जीवात्मा भगवान का किंकर बनकर वैकुण्ड में भगवान के चरणों में निवास करता है[२३]। वह ब्रह्म के साथ मिलकर अभिन्न नहीं हो जाता। वह सदा ब्रह्म से पृथक् ही रहता है। मोक्ष दशा में विशेष आनन्द मोक्ष का फल है। जीव स्वरूप से नित्य है। ध्रुवानुस्मृति रूप भक्ति ही मोक्ष का साधन है[२४]।

आचार्य मध्व का मत-

माध्यमत में भी ब्रह्म की प्रसन्नता से वैकुण्ठ की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाती है। गुणों के संकीर्तन से भगवान प्रसन्न होते हैं। इनके मत में निर्गुणमुक्ति कभी नहीं होती। मुक्त पुरुषों का आश्रय केवल विष्णु हैं[२५]। मोक्ष के चार प्रकार मान्य हैं- **सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य व सायुज्य** ।

आचार्य निम्बार्क का मत-

इनके मत में मुक्ति का अर्थ ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। भक्ति का अर्थ है- शरणागति या परा-प्रपत्ति। परा-प्रपत्ति में भगवान की अनुकूलता का संकल्प लेना, प्रतिकूलता का वर्जन करना, 'भगवान ही रक्षा करेंगे' ऐसा विश्वास करना तथा

ईश्वर के रक्षकत्व रूप महिमा का वर्णन किया जाता है[२६]। भगवान् भक्त के कार्णण्य भाव से प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न हुए भगवान् भक्त को स्वकीय धाम प्रदान करते हैं।

आचार्य वल्लभ का मत-

आचार्य वल्लभ के अनुसार भगवत्स्वरूपापत्ति को जीव की मुक्ति कहा जाता है। आनन्द स्वरूप भगवान् श्रीहरि स्वयं प्रकट होकर अपने स्वरूप बल से भक्त को अपना स्वरूप प्रदान करते हैं। उस अवस्था में जीव ईश्वर में अपने अन्यथाभाव को छोड़कर स्वरूप में स्थित हो जाता है[२७]। इनके मत में मुक्ति का साधन पुष्टिमार्ग है। भगवान् के अनुग्रह का पारिभाषिक नाम पुष्टि है। केवल भगवदनुग्रह से ही लौकिकी और वैदिकी सिद्धि सम्भव है, ज्ञान अथवा किसी अन्य कर्मानुष्ठान से नहीं[२८]।

स्वामी दयानन्द का मत-

स्वामी दयानन्द दुःखों से मुक्त होने को मुक्ति कहते हैं- 'मुञ्चन्ति प्रथम्भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः'[२९]। मुक्ति की यही सीधी-सादी परिभाषा है। यह जीवनकाल में भी हो सकती है और शरीरान्त के पश्चात् भी। जैसे लोक में व्यक्ति औषधि आदि के सेवन से कुछ काल तक रोगों से दूर रह सकता है, वैसे ही उपासना, सत्कर्म आदि के अनुष्ठान से जन्म-मरण के चक्र का कुछ काल तक निरुद्ध हो जाना मोक्ष है। उनके विचार से मुक्ति कुछ काल पर्यन्त होती है, आत्यन्तिक नहीं। आत्यन्तिक का वे अत्यधिक अर्थ करते हैं[३०]। उनका कथन है कि अल्पज्ञ और अल्प शक्तियुक्त जीवात्मा का इतना सामर्थ्य नहीं कि वह त्रिविध दुःखों से शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर सके ।

उनके अनुसार, "परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करें, वह सब पक्षपातरहित न्याय धर्मानुसार ही करें। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बंध होता है[३१]। इनके अतिरिक्त वे साधन-चतुष्ट्य, श्रवण-चतुष्ट्य, मैत्री करुणा मुदिताउपेक्षा आदि भावना को मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं[३२]।

औपनिषदिक मत-

प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपने मत की पुष्टि में उपनिषद् को प्रमाण माना है और उपनिषदों की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से कर ली है। उपनिषदों के पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों का चरम लक्ष्य आत्मा की अपरोक्षानुभूति कराकर स्वराज्य की

प्राप्ति कराना है। उपनिषदों की स्पष्ट घोषणा है कि मानव जीवनयापन के दो मार्ग हैं- श्रेय व प्रेय[३३]। प्रेयोमार्ग आपातरमणीय हैं। सांसारिक सुख की इच्छा वाले व्यक्ति इस मार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह अन्तिम मंगलसाधन नहीं है। तभी तो नचिकेता यमराज द्वारा शतायुष् पुत्र-पौत्रादि, पशु, हाथी, घोड़े, धन आदि भोग सामग्री का त्याग कर देता है[३४]। तभी वह कहता है कि मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता। तेरे रहस्य को समझने के बाद सब कुछ प्राप्त हो जाता है[३५]। जीर्णन होने वाली अमृत अवस्था को प्राप्त करके कौन जीर्ण होने वाली मरणावस्था को प्राप्त करना चाहेगा[३६]। यही भाव मैत्रेयी ने प्रकट किया है कि यदि वित्तादि से मैं अमर नहीं हो सकती तो लेकर क्या करूँगी? मुझे अमरता का उपदेश दो[३७]। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सब कुछ जिस आत्मा के लिए प्रिय होता है, वह आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है[३८]। अतः स्पष्ट है कि श्रेयमार्ग ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई नहीं[३९]।

उपनिषदें मोक्ष को स्वोपलब्धि कहते हैं। इसका अर्थ है- आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मभिक्षेन और आत्मानन्द[४०]। कठोपनिषद् में परमगति की अवस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि निर्व्यापार हो जाते हैं[४१]। मोक्षकेवल दुःख का अभावरूप नहीं अपितु आनन्दरूप भी है[४२]। केवल ब्रह्मलोक में वास मोक्ष नहीं अपितु अभौतिक शरीर से आनन्दोपभोग करना मोक्ष है।

उपनिषदों में ज्ञान, कर्म, उपासना और योग साधना को मोक्ष के उपाय रूप में स्वीकार किया है। ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का साथ-साथ अनुष्ठान ही करणीय है, केवल एक पर्याप्त नहीं। योगसाधना से साधक को जन्म, मृत्यु व जरा नहीं सताते[४३]। क्योंकि संस्कार दग्धबीज अवस्था को प्राप्त होने के कारण जन्मादि के बन्धन से छूटकर साधक मोक्ष का आनन्द प्राप्त करता है। नचिकेता को यमाचार्य ने इसी विधि का उपदेश दिया था[४४]।

उपसंहार-

समस्त भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष सम्बन्धी जो मत दिए हैं, अधिकांशतः वे सभी मूल रूप से उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। अतः ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग- इन सभी उपायों का आश्रय लेकर स्वयं को पवित्रान्तःकरण करके भूमा और विशाल होकर परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानकर उस अप्रतिम मोक्ष रूप की प्राप्ति करना ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए । परम पुरुषार्थ मोक्ष ही कल्याणकारी है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय ।

- डॉ0 ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष, योग विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

◆◆◆

सन्दर्भ संकेत

१- देहच्छेदो मोक्षः। -सर्वदर्शन संग्रह- पृ०१

२- यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?
- सर्वदर्शन संग्रह- पृ० २४

३- सत्काम दृष्टि प्रभवानशेषान्
क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्धवा
योगी करोत्यात्म निषेधमेव ।।
- माध्यमिका वृत्ति

४- अप्रहाणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नं एतान्निर्वाणमुच्यते ।।
- माध्यमिका वृत्ति

५- यत्सत्तत्क्षणिकम् - सर्वदर्शन संग्रह- पृ० ३८

६- मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध हेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जरा हेतु सन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः । तदाह-बन्ध हेत्वभावनिर्झराभ्यां कृत्सनकर्म विप्रमोक्षणं मोक्षः ।
- तत्त्वार्थसूत्र १०/२

७- (क) सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः । -सर्वदर्शन संग्रह- पृ० १६७
(ख) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । -न्यायसूत्र- १/१/२२

८- दुःखजन्मप्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।
-न्यायसूत्र १/१/२

९- प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन दृष्टान्तसिद्धान्तावयव तर्कनिर्णय वाद जल्पवितण्डा हेत्वाभास छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । - न्यायसूत्र १/१/१

१०- दुःखत्यन्तोच्छेदापरपर्याय निःश्रेयसरुपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात् । -सर्वदर्शन संग्रह- पृ० ४४७

११- दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः । -न्यायसूत्र

१२- पुं प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्यभिधीयते -सांख्यसूत्र

१३- तस्मान्नबध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाः प्रकृति ।।
- सांख्यकारिका, ६२

१४- रुपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ।।
- सांख्यकारिका, ६३

१५- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। -योगसूत्र १/३

१६- सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति । -योगसूत्र ३/५५

१७- पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।
-योगसूत्र ४/३४

१८- अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । -योगसूत्र १/१२

१९- (क) तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । - योगसूत्र २/१

(ख) यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधियोऽष्टावंगानि । -योगसूत्र २/२९

(ग) समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् । -योगसूत्र २/४५
ईश्वरप्रणिधानाद्वा । -योगसूत्र -१/२३

२०- प्रपञ्चसम्बन्ध विलयो मोक्षः । -मीमांसा दर्शन (शास्त्रदीपिका) पृ० ३५८

२१- त्रेधा हि प्रपंचः पुरुषं बध्नाति-भोगायतनं शरीरम्,
भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः ।
भोग इति च सुखदुःख विषयोऽपरोक्षानुभूति उच्यते ।
तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धनस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः ।
- मीमांसा (शास्त्रदीपिका) पृ० ३५८

२२- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । -बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/५/६

२३- श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः ।
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यःयुमान् ।।
-लोकाचार्य

२४- न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं, त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ।।
-आलवन्दार स्तोत्र

२५- मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा ।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदेव स ईश्वरः ।।
-सर्वदर्शन संग्रह पृ० २७९

२६- आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासाः तथा गोप्तृत्व वर्णनम् ।।
- वेदान्तरत्न मंजूषा

२७- मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः । - श्रीमद्भागवतपुराणम्

२८- अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स उच्यते ।।
- प्रमेयरत्नार्णव (हरिराज)

पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य प्रमाणमार्गात् विलक्षणः । -अणुभाष्य ४/४/९

२६- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६१

३०- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६४

३१- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६४

३२- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६५-६६

३३- श्रेयश्चं प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्धृणीते ।।
-कठोपनिषद्, १/२/२

३४- शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । -कठोपनिषद्, १/१/२३

३५- न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदाशिष्यति त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।
-कठोपनिषद् १/१/२७

३६- अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत् ।।
-कठोपनिषद् १/१/२८

३७- सा होवाच मैत्रेयीयेनाहं नामृता स्यां किमहं तेन ।
कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रहीति ।।
- वृहदा० २/४/३

३८- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । -बृहदा० २/४/५

३६- तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यःपन्थाः विद्यतेऽयनाय । -श्वेताश्वतरो० ३/८

४०- इदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म क्रीडआत्ममिथुन आत्मानन्दः
स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।
-छान्दो० ७/२५/२

४१- यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न निचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।
-कठोपनिषद् २/३/१०

४२- अत्र ब्रह्मं समश्नुते । -कंठोपनिषद् २/३/१४
आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विमेति कुतश्चन । -तैत्तिरीयो० (व० वल्ली), ६

४३- न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् । -श्वे० २/१२

४४- मृत्यु प्रोक्तां निचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । कठो० २/३/१८

◆◆◆

द्विकर्मक धातुओं में अभिधान की व्यवस्था तथा वेदों में द्विकर्मक धातु

किसी भी शब्दानुशासन या व्याकरण की परिपूर्णता के लिए उसका पाँच अवयवों से युक्त होना आवश्यक माना जाता है। व्याकरण के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त पञ्चाङ्ग[1] या **'पञ्चग्रंथी'** शब्दों का प्रयोग इस विषय में तात्पर्यग्राहक है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से आचार्य पाणिनि अपने क्षेत्र में सर्वातिशायी वैयाकरण रहे हैं। ये पाँच अङ्ग इस प्रकार हैं - **सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन ।**

यद्यपि उक्त पाँचों पाठों में प्रथमोपात्त सूत्रपाठ ही वरीयान् होता है। शेष तो उसके सहायक रूपमें ही उपस्थित होते हैं। अतः वे 'खिलपाठ' के नाम से जाने जाते हैं। तथापि उनका प्रातिस्विक महत्त्व है। व्याकरण को सातिशय लाघव प्रदान करने में इनकी अपनी अनुपेक्षणीय भूमिका है। व्याकरण के सैंकड़ों सूत्र इन खिलपाठों से युक्त होकर ही अपनी अर्थवत्ता रखते हैं, अन्यथा नहीं। अतः इस दृष्टि से ये भी सूत्रपाठ के समान ही समादर्तव्य हैं ।

सम्भवतः प्राचीनकाल में ये **'खिलपाठ'** सूत्रपाठ के साथ ही यथास्थान व्यवस्थित थे। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है कि व्याकरण को भाषा या वैदिक साहित्य को सीखने का लघुभूत उपाय बनाने के लिए बाद में इन्हें सूत्रपाठ से पृथक् कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में ये व्याकरण जगत् में उपेक्षित प्राय हो गए। यद्यपि भोजराज ने इन्हें पुनः एक बार सूत्रपाठ में सम्मिलित करके इनको प्राचीन गौरव प्रदान करने का यथासम्भव भगीरथ प्रयास किया किन्तु उनके व्याकरण **सरस्वतीकण्ठाभरण** के व्यापक प्रचार न पा सकने के कारण यह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पाया ।

अस्तु, इन 'खिलपाठों' में भी "सर्वाणि नामान्याख्यातजानि"[2] इस सिद्धान्त के मूल धातुपाठ का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य पाणिनी ने अपनी तरफ से इसे पूर्णतया वैज्ञानिक बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। फलतः उन्होंने नाना अनुबन्ध संवलित करके इनसे अनेक इष्टों का साधन किया। इन अनुबन्धों के आधार पर ही कुछ धातु आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी तथा कुछ उभयपदी हो जाती हैं। इसी प्रकार इन अनुबन्धों के कारण ही कुछ

धातु नेट् (अनिट्), कुछ सेट् तथा कुछ वेट् हो जाती हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्य पाणिनि ने कुछ धातुओं को **अकर्मक**, कुछ को **सकर्मक** तथा कुछ को **द्विकर्मक** भी स्वीकार किया है। इस विषय में ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि किस प्रकार सकर्मक धातु अकर्मक बन जाती है। इस सन्दर्भ में निम्न कारिका द्रष्टव्य है-

> **"धातोरर्थान्तरे वृत्तेधात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।**
> **प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ।।**[३]

अर्थात् सकर्मक धातु भी अकर्मक बन जाता है यदि धातु अर्थान्तर में प्रवृत्त हो जाए, जैसे- 'वहति भारम् (सकर्मक) तथा नदी वहति स्यन्दत इत्यथः अकर्मक या कर्म धात्वर्थ में ही अन्तभूर्त हो जाए, जैसे- 'जीवति नृत्यति' या कर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हो, जैसे- मेधो वर्षति अथवा फिर कर्म की विवक्षा ही न की जाए, जैसे- 'हितान्नं संश्रृणुते स किम्प्रभुः' (किरात १.५)

जहाँ तक द्विकर्मक धातुओं का प्रश्न है, उनका परिगणन करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं -

> **"दुहि याचि रूधि प्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।**
> **ब्रुवि शासि गुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना"।।**[४]

अर्थात् दुह्, याच्, रूध, प्रच्छ्, भिक्ष्, चिञ्, ब्रूञ् तथा शास्- ये आठ धातु द्विकर्मक हैं । भाष्योक्त इस श्लोक में पठित **"च"** ग्रहण से, माधव के अनुसार, आचार्य सुधाकर को निम्न अतिरिक्त पाँच धातुओं का ग्रहण या उपसंख्यान और अभीष्ट है। तद्यथा तारि, ग्राहि, मोचि, त्याजि तथा दीप् ।[५] किन्तु इन पाँच धातुओं में तीन को द्विकर्मक मानना : विचारणीय ही है। क्योंकि तारि धातु तो गत्यर्थक होने से, ग्राहि धातु बुद्ध्यर्यक होने से एवं दीप् धातु के अकर्मक होने के कारण अथवा अन्तर्भावित ण्यर्थ मानकर उसके बुद्ध्यर्थक होने से "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ"[६] इस सूत्र द्वारा अन्यथासिद्ध हैं।[७] दण्ड् तथा दीप् या दाप्[८] धातुओं का छान्दस प्रयोग होने से वे यथाविहित ही साधु हैं।[९] क्योंकि छान्दस प्रयोगों के लिए यह न्याय प्रसिद्ध है- "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"[१०] अर्थात् वेद में जैसा प्रयोग दृष्टिगोचर हो वैसा ही अनुविधान कल्पित कर लेना चाहिए। इस प्रकार केवल दापि, त्याजि तथा मोचि इन तीनों णिजन्त धातुओं का ही उपसंख्यान कर्त्तव्य शेष रह जाता है जो कि **गत्यादि** सूत्र में कर देना चाहिए।[११]

द्विकर्मक धातुओं का परिगणन करते हुए भाष्यवातिककार आगे कहते हैं -

"नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च ।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ।।[१२]

अर्थात् नी, वहि, हृ तथा सभी गत्यर्थक धातु[१३] भी द्विकर्मक हैं। किन्तु अर्वाचीन वैयाकरण टीकाकारों के अनुसार उक्त श्लोक में पठित **"तथैव च"** ग्रहण से जि, दण्ड्, कृष्, पच्, मन्थ, ग्रह् और धा-ये अन्य आठ धातु भी गृहीत हो जाती हैं।[१४] भाष्यवातिककार द्वारा किए गए इस परिगणन का लाभ या प्रयोजन यह है कि उक्त सभी धातुओं के योग में अपादानादि विशेष कारको की विवक्षा न होने पर फिर **"अकथितं च"**[१५] सूत्र से इन अपादानादि कारकों की कर्मसंज्ञा हो जाएगी। परिणामतः **"कर्मणि द्वितीया"**[१६] से द्वितीया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। यदि उक्त परिगणन न किया जाता तो **"नटस्य श्रृणोति"** इत्यादि प्रयोगों में भी **"अकथितं च"** सूत्र प्रवृत्त होकर अनिष्ट प्राप्त हो जाता। द्विकर्मक धातुओं के उदाहरण इस प्रकार है- **"गां दोग्धि पयः। व्रजमवरूणद्धि गाम्। माणवकं धर्मं ब्रूते।"** यहाँ इन सभी उक्त उदाहरणों में क्रमशः अपादान, अधिकरण तथा सम्प्रदान कारकों की **विवक्षा**[१७] न करने पर क्रमशः गो, व्रज तथा माणवक शब्दों की उपर्युक्त सूत्र से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। यहाँ यह भी अवश्य ध्यातव्य है कि भाष्यवार्तिककार द्वारा पठित श्लोक में परिगणित धातु ही द्विकर्मक नहीं होते अपितु इनके साथ-साथ इनके पर्यायवाची धातु भी द्विकर्मक होते हैं।[१८] परिणामतः निम्न भाष्य प्रयोग सुसंगत हो जाते है..... "**शकारमसि चोदितः**[१९] इत्यादि।"

व्याकरणशास्त्र में अभिधान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। **"शिष्टानां ततोऽर्थबोधस्वरूपम्"** अर्थात् शिष्टों में अर्थबोध हो जाना ही अभिधान का स्वरूप है। अभिधान के विषय में जिज्ञासा होने पर प्रायः यही कहा जाता है कि यह शब्द तो प्रयुक्त या निष्पन्न (परिनिष्ठित) होता है और वह नहीं। **शब्दशक्तिस्वभावात्** लोक में ऐसे शब्द का अभिधान, प्रयोग या व्यवहार नहीं होता है। शब्दशक्तिस्वभाव के कारण ही शब्दों में **नियतविषयता** देखी जाती है।[२०] तदनुसार कहीं प्रकृति का प्रयोग होता है और कहीं विकृति का।[२१] शब्दार्थ सम्बन्ध की लोकसिद्धता (संज्ञा प्रामाण्य) के विषय में भी भाष्यकार का यह वचन अवश्य ध्यातव्य है-

"अभिधान लक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः"।[२२]

इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रदीपकार कहते हैं- "कृत्तद्धितसमासाभिधानं नियामकं लक्षणं त्वनभिज्ञानां तदभिज्ञानसूचकम्" अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सम्बन्धी सूत्रों का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है। दूसरे शब्दों में- प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा यदि शब्द से उस अभीष्ट अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। इस विषय में भाष्यकार प्रोक्त **वार्क्षमूलः** उदाहरण की लौकिक अनुपपन्नता स्पष्ट निर्दशन है। शब्द से अर्थ का अभिधान अभीष्ट है। वह अर्थ मुख्य रूप से सिद्ध होने पर भाष्यवार्तिककार उसके साधन की विशेष चिन्ता नहीं करते। इनका पदे-पदे **अनभिधानात्** कहना ही साधन प्रक्रिया को गौण सूचित कर रहा है। इस अभिधान-अनभिधान रूपी **ब्रह्मास्त्र** से भी भाष्यकार ने अनेक सूत्रों का अन्वाख्यान प्रत्याख्यान किया है। पदमञ्जरीकार के अनुसार अभिधान के स्वभाव को समझने के लिए भाष्योक्त निम्न कारिका भी देखी जा सकती है-

> **"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।**
> **संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" ।**

यहाँ मतुप् आदि का बहुत्व अभिधानवशात् विशिष्ट ही आश्रमणीय है।[२३] इसीलिए एक-दो गाय रखने के कारण कोई व्यक्ति 'गोमान' नहीं कहलाता अपितु अभिधानबलात् अधिक गाय रखने से ही वह गोमत् पदभाक् हो सकता है। इसी प्रकार थोड़ा-बहुत रूप तो हर किसी के पास होता है परन्तु 'रूपवान' वही कहलाता है जिसके पास पर्याप्त प्रशक्त रूप सम्पत् हो। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए। मतुप् आदि के अन्य उदाहरण निम्न है, निन्दा अर्थ में जैसे- कुष्ठी या ककुदावर्तिनी कन्या, नित्य योग में जैसे-क्षीरिणों वृक्षाः । अतिशायन अर्थ में जैसे- उदरिणी कन्या, संसर्ग अर्थ में जैसे दण्डी या छत्री तथा अस्ति विवक्षा में जैसे- अस्तिमान्। अभिधान को ही संस्कृत व्याकरण में शब्द शक्तिस्वभावे नाम से भी कहा जाता है।

परन्तु यह अभिधान अनभिधान बड़ा **दुर्ज्ञान** है। इसके लिए व्यक्ति को बहुदर्शी होना आवश्यक है। वर्तमान में यह अधिकार वैयाकरण निकाय में भाष्यवार्तिककार तक ही सीमित है जो कि संस्कृत भाषा की तात्कालिक जीवन्त स्थिति को संकेतित करता है।[२४] इसके अतिरिक्त शब्दों का यह अभिधान-अनभिधान सहसा न होकर विद्वानों के लिए गवेषणीय है। क्योंकि शब्दों के इस अभिधान-अनभिधान के मूल में कोई न कोई **मनोवैज्ञानिक** या **जड़वैज्ञानिक** अर्थात् मानसिक चिन्तन की प्रक्रिया के अनुसार अथवा जड़ पदार्थ के

स्वभावानुसार हेतु या कारण अवश्य ही होना चाहिए। अवधेय है कि अभिधान-अनभिधान की इतनी महत्ता होने पर भी व्याकरणशास्त्र में इसे आपातरमणीय दुर्बल समाधान के रूप में **अगतिकगति** माना गया है।[२५]

वास्तव में व्याकरणशास्त्र में **अभिधान** शब्द का प्रायः दो शब्दों में प्रयोग देखा जाता है। एक तो किसी शब्द का शिष्ट लोक में प्रयोग या प्रचलन होना तथा दूसरा शास्त्र में किसी प्रत्यय आदि से कर्ता-कर्म-भावादि अर्थ का विशेष कथन, बोध या संकेत होना, जैसे-पाणिनी व्याकरण का सारा कारक प्रकरण इस अभिधान-अनभिधान व्यवस्था से ही संचालित होता है। इनमें किसी शब्द के लौकिक अभिधान के विषय में ऊपर कहा जा चुका है, जहाँ तक शास्त्रीय अभिधान का सम्बन्ध है तो उसके विषय में निवेदन है कि भाष्यवार्तिककार के अनुसार यह अभिधान प्रायः तिङ् प्रत्यय, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय तथा समास से होता है।[२६] ध्यातव्य है कि जो भी कर्ता-कर्मरूप कारकादि विशेष अर्थ किसी प्रत्यय विशेष से अभिहित हो जाता है तो फिर उसको व्यक्त करने वाले शब्द में **"उक्तार्थानामप्रयोगः"**[२७] इस न्याय से तत्तत् कर्ता-कर्मरूप कारकादि अर्थप्रयुक्त क्रमशः तृतीया-द्वितीया आदि विशेष विभक्ति उत्पन्न नहीं होती अपितु उसके केवल प्रातिपदिकार्य रूप शेष रह जाने से उसको वाक्यार्ह पदत्व सामर्थ्य प्रदान करने के लिए, अन्यथा **"अपदं न प्रयुञ्जीत"** नियम प्रवृत्त हो जाएगा, **"प्रथमातिक्रमे कारणाभावः"** न्याय से **"सुप्तिङन्तपदम्"**[२८] सूत्रानुसार प्रथमा विभक्ति विधान कर दी जाती है। इसी बात की पुष्टि भाष्यवार्तिककार ने "अभिहिते प्रथमा"[२९] ऐसा कहकर की है।

इनमें तिङ् प्रत्यय से अर्थ का अभिधान जैसे - "हरिः सेव्यते" यहाँ "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"[३०] सूत्रानुसार लादेश 'त' प्रत्यय से कर्म का अभिधान होने से हरि में प्रथमा विभक्ति होती है। **कृत् प्रत्यय** से अर्थ का अभिधान, जैसे- "लक्ष्म्या सेवितः" यहाँ "तयोरेव कृत्यक्तखलार्थः"[३१] सूत्रानुसार 'क्त' प्रत्यय से कर्म का अभिधान होकर उसमें प्रथमा विभक्ति आयी है। **तद्धित प्रत्यय** से अर्थ का अभिधान जैसे 'शतेन क्रीतः शत्यः' यहाँ "तेन क्रीतम्"[३२] सूत्रानुसार 'यत्' प्रत्यय से पटादि रूप क्रीत कर्म का अभिधान होकर उसमें प्रथमा विभक्ति आयी है। **समास** से अर्थ का अभिधान, जैसे-'प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः ग्रामः' यहाँ अन्य पदार्थ ग्राम रूप कर्म का बहुव्रीहि समास से अभिधान होने के कारण प्रथमा विभक्ति हुई है। पूर्वोक्त भाष्यवार्तिक में **'प्रायः'** यह कहने का यह अभिप्रायः है कि इस विशेष अर्थ का अभिधान कभी-कभी निपात से भी देखा जाता है, जैसे- "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्"[३३]

तथा "क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः"[३४] यहाँ उभयत्र **"असाम्प्रतम्"** तथा **"इति"** इन निपातों से कर्म का अभिधान होने से क्रमशः विषवृक्ष तथा नारद रूप कर्मों में द्वितीया विभक्ति न आकर प्रातिपदिकार्थ मात्र की प्रथमा विभक्ति ही आती है।

द्विकर्मक धातुओं पर विचार करते समय यह महत्त्वपूर्ण बात ही अवधेय है कि **"याचते पौरवम् कम्बलम्"** इत्यादि प्रयोगों में इनका कर्तृवाच्यगत प्रयोग तो निरापद, असन्दिग्ध तथा स्पष्ट है किन्तु इसका कर्मवाच्य बनाते समय यह सन्देह उत्पन्न होता है कि लादेश **'त'** आदि प्रत्ययों से स्वाभाविक रूपेण प्रधान कर्म को अभिहित माना जाए या गौण कर्म को। ध्यान रहे कि व्याकरण शास्त्र में **"अकथितं च"** सूत्रविहित कर्म गौण कर्म के नाम से जाता है। इसका उत्तर यह है कि सामान्यतः तो **"प्रधानाप्राधानयाय"**[३५] से प्रधान कर्म का ही लादेशों से अभिधान होता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रधान कर्म का ही अभिधान सम्भव है। गौण कर्म के तो कारक ही न होने से उसका अभिधान सम्भव ही नहीं है। फिर भी यदि लादेशों से प्रधान कर्म को अभिहित माना जाए तो फिर पूर्वोक्त गौठा कर्मरूप पौरव में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी। क्योंकि उक्त वाक्य में पौरव रूप गौण कर्म अकथित है। अतः उसके कारक न होने से वहाँ षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी। यदि तो उसे कारक मान लिया जाए तब तो उसमें अपादान वाली पञ्चमी विभक्ति होकर इष्ट सिद्ध हो जाता है।[३६] यदि तो **"अनभिधानात्"** यहाँ षष्ठी का अभाव स्वीकार किया जाए तो बात अलग है।[३७]

इसके अतिरिक्त लादेशों से यदि प्रधान कर्म का ही अभिधान स्वीकार किया जाए तो फिर दुह् आदि धातुओं में अव्यवस्था रूप दूसरा दोष भी प्राप्त होता है अर्थात् उक्त नियम के आधार पर फ़िर दुह् आदि में भी प्रधान कर्म का ही अभिधान प्राप्त होता है जबकि यहाँ हमें गौण कर्म का अभिधान इष्ट है। परिणामतः **गौ दुह्यते पयः** के स्थान पर **गां दुह्यते पयः** ऐसा अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होगा। अतः भाष्यवार्तिकवचनप्रामाण्य से दुह् आदि धातुओं के योग में तो अप्रधाधान या गौण कर्म का अभिधान ही एष्टव्य है।[३८]

वस्तुतः यदि देखा जाए तो उक्त व्यवस्था ठीक भी है कि 'दुह्' आदि के योग में अप्रधान कर्म को ही लादेशों से अभिहित माना जाए। क्योंकि भौतिक जड़ पदार्थ के नियमानुसार भी दुग्धार्थी अन्तरङ्गत्वात् पहले गौ (अप्रधान कर्म) के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है तथा बाद में दुग्ध (प्रधान) के साथ। इसके विपरीत दुह् आदि से भिन्न 'नी' आदि धातुओं के योग में प्रधान कर्म को अभिहित मानना भी युक्तिसंगत है। क्योंकि वहाँ भी ग्राम

रूप अप्रधान कर्म की अपेक्षा अजा रूप प्रधान कर्म के साथ **पूर्वभावित्वात्** पहले सम्बन्ध होता है। अतः उक्त अभिधान-अनभिधान व्यवस्था न्यायसिद्ध ही है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि **दुह्** आदि धातुओं के साथ-साथ **जि, दण्ड्** तथा **मुष्** धातुओं के योग में भी अप्रधान कर्म को ही अभिहित मानना चाहिए।[३९] इस प्रकार **दुह्** आदि के कर्मवाच्य में निम्न तीन प्रयोग साधु हैं-

१. अपादान विवक्षा-गौः पयो दुह्यते ।
२. अकथित कर्म-गौः पयो दुह्यते ।
३. विशेषण रूप या सम्बन्ध में षष्ठी-गौः पयो दुह्यते ।

आगे भाष्यकार ने एक रोचक प्रश्न उठाया है कि **अजां ग्रामं नयति** इत्यादि वाक्यों के लिए इन **नी** आदि धातुओं को द्विकर्मक मानने की क्या आवश्यकता है। किन्तु तब उक्त वाक्यों में अजा के साथ-साथ ग्राम में भी द्वितीया विभक्ति कैसे सिद्ध होगी तो इसके उत्तर में निवेदन है कि **"प्रविश पिण्डीम्"** इस न्याय के आधार पर वहाँ "ग्रहण" क्रिया का आक्षेप करके ग्राम में द्वितीया विभक्ति हो जाएगी। भाव यह है कि जैसे **"प्रविश पिण्डीम्"** यहाँ **''ग्रामं प्रविश पिण्डी भक्षय''** इस प्रकार अप्रयुक्त भक्षण क्रिया का आक्षेप करके पिण्डी की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो जाती है वैसे ही **अजां ग्रामं नयति** यहाँ भी **"अजामसौ गृहीत्वा ग्रामं नयति"** इस प्रकार वाक्यार्थग्रहण करके अजा को ग्रहण क्रिया का कर्म बनाकर द्वितीया सिद्ध हो जाएगी।[४०] किन्तु यहाँ सब दोष आता है कि ऐसा मानने पर फिर लादेशों से होने वाली कर्ता और कर्म आदि के अभिधान की व्यवस्था उपपन्न नहीं हो पाती अर्थात् तब उक्त वाक्य के कर्मवाच्य में लादेश त् प्रत्यय आदि से अजा रूप प्रधान का अभिधान प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अजा तो ग्रहण (गृहीत्वा) क्रिया का कर्म है, लादेश त् प्रत्यय का नहीं। अतः **"अजां नीयते ग्रामः"** ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा।[४१]

लादेशों के द्वारा कर्म के अभिधान प्रसङ्ग में विजन्त प्रक्रियागत कर्म भी विचारणीय है। क्योंकि वहाँ दो कर्म हैं।-१. प्रयोज्य तथा प्रधान कर्म एवं २. साधारण अप्रधानकर्म। ऐसी स्थिति में लादेशों से किस कर्म का अभिधान होना चाहिए? इस आकाङ्क्षा के उत्तर में निवेदन है कि भाष्यकार पहले तो गतिबुद्धि सूत्रपोक्त गमनार्थक से भिन्न धातुओं के योग में लादेशों द्वारा अप्रधान कर्म का अभिधान कथन करते हैं।[४२] परिणामतः **"माणवकं धर्मः बोधयते"** इत्यादि वाक्य सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि माणवकरूप प्रयोज्य कर्म तो प्रयोजक

व्यापार द्वारा आप्यायमान होने से प्रधान कर्म है। अतः लादेश व प्रत्यय से वह अभिहित नहीं हुआ।[४३] किन्तु आगे चलकर भाष्यकार **"अपर आह"** के नाम से **"ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणि"**[४४] ऐसा कहते हुए पुनः प्रयोज्य तथा प्रधान कर्म रूप माणवक में अभिधान स्वीकार कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप **"माणवकः धर्मं बोध्यते"** यह प्रयोग भी साधु सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः देखा जाए तो **गतिबुद्धिः** सूत्रप्रोक्त गतिभिन्न धातुओं के योग में **विवक्षा** के कारण दोनों कर्मों में वैकल्पिक **गुणप्रधानभाव** इष्ट होने से उक्त दोनों रूप सिद्ध हो जाते हैं।[४५] इसी प्रकार गत्यर्थक तथा अकर्मक धातुओं के योग में भी लादेशों से प्रधान कर्म ही अभिहित होता है।[४६] तद्‌यथा- **"मासमास्यते देवदत्तः"** तथा **"ग्रामं गम्यते देवदत्तः"**। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि लादेशों द्वारा दुह् आदि के तो अप्रधान कर्म तथा **नी, कृष्, वह्,** इन धातुओं के प्रधान कर्म का नित्य अभिधान होता है। इसी प्रकार गत्यर्थक तथा अकर्मक णिजन्त धातुओं में भी निश्चयेन प्रयोज्य या प्रधान कर्म में ही लादेश होते हैं। किन्तु बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मा धातुओं के प्रधानाप्रधान कर्मों में वैकल्पिक गुण प्रधानभाव होने से लादेश भी उनमें विकल्प से होते हैं।[४७]

अभिधान के विषय में अब अन्त में एक यह शङ्का और उत्पन्न होती है कि वाक्य में किसी प्रत्यय से एक साथ कितने अर्थ अभिहित हो सकते हैं, तो इसका उत्तर है कि यद्यपि आचार्य पाणिनी इस विषय में मौन हैं तथापि टीकाकारों के अनुसार लक्ष्यानुरोध से अनेक अर्थों का युगपत् अभिधान नहीं होता। अथवा **"सल्लक्ष्ये प्रवृत्तिः"** न्याय से प्रत्यय एक अर्थ का अभिधान करके फिर दूसरे अर्थ को अभिहित करने का सामर्थ्य खो देता है और यह युक्तिसंगत भी है। क्योंकि यदि किसी प्रत्यय से अनेक अर्थों का युगपत् अभिधान मान लिया जाए तो सारा वाक्य गड़बड़ा जाएगा अर्थात् अनेक अर्थों के एक साथ अभिहित होने की अवस्था में फिर उन सबसे प्रथमा विभक्ति प्राप्त होगी। फलतः कारक विशेष का ज्ञान न हो पाने से श्रोता को स्फुट बोध या सर्वथा अर्थबोध नहीं हो सकेगा जो कि अनिष्ट है।

द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग को लेकर जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि यदि वेदों में उक्त परिगणित या अन्य द्विकर्मक धातुओं का प्रयोग दृष्टिगोचर न होता तो आचार्य पाणिनि **"अकथितं च"** सूत्र क्यों बनाते? निश्चयेन उनके इस सूत्र का बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध होना चाहिए। यह बात अलग है कि डा० एस०डी० जोशी (पूना) आदि आधुनिक समालोचक "अकथितं च" इस पाणिनि सूत्र को ही प्रक्षिप्त=पीछे से जोड़ा

गया=मानते हैं। इनके अनुसार दो कर्म हैं- **ईप्सिततम** कर्म तथा अनीप्सित या ईप्सितमात्र कर्म। इनमें प्रथम की कर्मसंज्ञा “कर्तुरीप्सिततमं कर्म”[४८] से हो जाती है तथा दूसरे सबकी जिनमें द्विकर्मक भी हैं, **“तथायुक्तं चानीप्सितम्”**[४९] से हो जानी चाहिए । अतः, इनकी दृष्टि में, यह सूत्र प्रक्षिप्त है। लेकिन उनकी यह बात विचार की अपेक्षा रखती है। क्योंकि निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य, ईप्सिततम, उदासीन, अनीप्सित तथा अपादानादि विशेष संज्ञाओं से अनाख्यात अकथित या अविवक्षित भेदों से कर्म सप्तविध हैं।[५०] ये सब कर्म अपने अलग-अलग सूत्रों के विषय हैं। असन्देह भी व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से केवल दो सूत्रों से वे सक कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः “तथायुक्तं चानीप्सितम्” सूत्र के विषय तो केवल द्वेष्य तथा उदासीन कर्म ही हैं। फलतः द्विकर्मक धातुओं के लिए **“अकथितं च”** सूत्र सर्वथा अर्थवत्ता रखता है। अतः इसे प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता।

अस्तु, वेदों में द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग इस प्रकार हैं-

दुह्- “दुहे गां पिप्युषीमिषम्”[५१] अर्थात् मैं गौ से पुष्टिकारक अन्न को दुहता हूँ। यहाँ अपादान की अविवक्षा में **“अकथितं च”** से कर्म संज्ञा हो जाती है तो दुह् धातु के **इष्** और गो ये दो कर्म बन जाते हैं।

याच्- “अपो याचामि भेषजम्”[५२] अर्थात् मैं जलों से आरोग्य माँगता हूँ। यहाँ **याच्** धातु के अप और भेषज ये दो कर्म हैं।

प्रच्छ्- “विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान्”[५३] अर्थात् अविद्वान् मनुष्य विद्वान् अश्वियों से द्वार पूछे या अपने कल्याण का मार्ग पूछे। यहाँ **‘प्रच्छ’** धातु के **विद्वांसौ** और **दुरः** ये दो कर्म हैं। अपादान की अविवक्षा में यहाँ **“अकथितं च”** से **विद्वांसौ** की कर्म संज्ञा हो गई।

ब्रूञ् या वच्- “तानो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य”[५४] अर्थात् वे दोनों विद्वान् अश्वी हमको मनन योग्य बातें बताएँ। यहाँ ‘वच्’ धातु के प्रयोग में **विद्वांसा** और **मन्म** ये दो कर्म हैं। वच् को चाहे तो ब्रूञ् के स्थान पर आदेश माना जाए, चाहे उसे स्वतन्त्र धातु माना जाए- दोनों ही स्थितियों में ब्रूञ् के समानार्थक होने से यह द्विकर्मक सिद्ध हो जाता है।

नी- “इमं यज्ञं नयत देवता नः”[५५] अर्थात् इस हमारे यज्ञ को देवताओं को पहुँचाओ। यहाँ नी धातु के यज्ञ और देवताएँ ये दो कर्म हैं। इस नी धातु का अन्य उदाहरण इस प्रकार है- **“अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वायुनानि विद्वान्**[५६] अर्थात् हे अग्ने!

आप "अस्मान् विश्वानि वायुनानि नय" यानि हमको सम्पूर्ण उत्तम कर्म एवं विज्ञान प्राप्त कराओ। यहाँ **नी** धातु के **अस्मान्** और **वायुनानि** से दो कर्म हैं।

वह्- "ता न आवोढमश्विना रयिं पिशङ्गसंदृशम्"[५७] अर्थात् हे अश्वियो। तुम हमको उत्तम चमकीला धन प्राप्त कराओ। यहाँ नः और **रयिम्** ये दो कर्म **वह्** धातु के हैं।

ई- "इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा राजसः"[५८] अर्थात् हम इन्द्र से दान माँगते हैं। यहाँ ई धातु मांगने अर्थ में विशुद्ध रूप से वैदिक है तथा उपर्युक्त परिगणित द्विकर्मक धातुओं से बहिर्भूत है। यहाँ **इन्द्रम्** तथा **सातिम्** ये दोनों **ईमहे** क्रिया के कर्म हैं।

इस प्रकार आचार्य पाणिनी के **"अकथितं च"** सूत्रप्रोक्त द्विकर्मक धातुओं का बहुत विशाल प्रयोगक्षेत्र है। लौकिक संस्कृत साहित्य तो ऐसे प्रयोगों से समुल्लसित है ही, साथ ही, वैदिक साहित्य में भी उक्त पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर हो सकते हैं। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है। अन्वेषण करने से सम्भवतः अन्य भी द्विकर्मक धातु वेद में मिल जाएँ।

- डॉ0 भीम सिंह
रीडर- संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

सन्दर्भ संकेत

१. प्रसाद टीका (प्रक्रिया कौमुदी, सम्पा० कमला शंकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट्र पूना, १९२५, सूत्र सं. १.३.२ पृ० १६
"धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।"

२. निरूक्त, सम्पा० कपिलदेव शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९८५, अध्याय ४,पाद ४

३. वाक्यपदीय (वा०प०), सम्पा० के०वी० अभ्यङ्कर, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, पूना विश्वविद्यालय पूना, १९६५, कारिका सं० ३.७.८८

४. महाभाष्य (महा०, प्रदीपोद्द्योतसहित), सम्पा० वेदव्रत शास्त्री, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्झर (रोहतक), १९६२, भा० २ सू० १.४.५१, पृ० ४१५-१४

५. बृहच्छब्देन्दुशेखर (बृ० श० शे०), सम्पा० सीताराम शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९६०, भा० २ सू० ५३९ पृ० ८३५

"ननु माधवेन..."

"तारेर्ग्राहिस्तथामोचेस्त्याजेर्दीपेश्च संग्रहः।
कारिकायां च शब्देन सुधाकरमुखैः कृतः।।"
इत्येननाऽन्येऽपि संगृहीताः।"

६. पाणिनीयाष्टाध्यायी (पा०) श्री धरशास्त्रिसम्पादित, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट् पूना, १९३५, सूत्र सं० १.४.५२

७. द्र० बृ० श० शे० भा० २ सू० ५३९ पृ० ८३६-३७ "वस्तुतो ग्राहेर्बोधनार्थस्य गतिबुद्धीत्येव सिद्धम्... तारेरपि गत्यर्थत्वात्... दीपयतेश्चाकर्मकत्वादेव सिद्धिः"।

८. वही- ८३७ "क्वचिद् दापेरिति पाठः"।

९. वही ८३७-३ "तत्र 'दण्डयो दाप्यश्च तद्धनमिति' स्मृति प्रयोगात् ... दण्डये दाप्यश्चेति छान्दसं बोध्यम्।"

१०. महा० भा० १ सू० १.१.६ पृ० १८०

११. बृ० श० शे० भा० २ सू० ५३९ पृ० ८३७ "त्याजितैः फलमुत्खातैः (रघुवंशे ४.३३) इत्यादि महाकवि प्रयोगात्, सुधाकराद्युक्तेश्च, तथैव चेतिभाष्ये चकाराच्च दापि त्याजि मोचीनां गत्यादिसूत्रे उपसंख्यानमेव बोध्यम्"।

१२. महा० भा० १ सू० १.४.५१ पृ० ४२४

१३. गत्यर्थक से यहाँ अभिप्राय **"गतिबुद्धि"** सूत्रोक्त गत्यर्थक धातुओं से है।

१४. महाभाष्यप्रदीप (महा० प्र०) भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२४-
"तथैव चेति- चकारेण जयत्यादयः समुच्चीयन्ते इत्याहुः"।

१५. पा० १.४.५१

१६. पा० २.३.२

१७. द्र० "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"।

१८. महा० प्र० भा० २ सूत्र १.४.५१ पृ० ४१५- "दुह्यादीनां चार्थोपलक्षणायोपादानात् पर्यायप्रयोगेऽपि कर्मसंज्ञा भवति"।

१९. महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत (महा० प्र० उ०) भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१५-
"अर्थोपलक्षणायेति... अत एव शकारमसि चोदित' इति 'परस्मैपदानामिति' सूत्रे भाष्ये

पृच्छिपर्यायस्य दुहेर्द्विकर्मकप्रयोगः संगच्छते"।

२०. महा० भा० १ पस्पशाह्निक, पृ० ३८ "एतस्मिन्नतिमहतिशब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद् यथाशवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति..."।

२१. निरूक्त, २.१ "अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु"।

२२. महा० भा० ३ सू० ३.३.१६ पृ० ३२७

२३. पदमञ्जरी (प०मं०) काशिका (का०) सम्पा० कालिका प्रसाद शुक्ल, तार प्रकाशन वाराणसी, १६६५

२४.क प०मं० (का०) भा० ३ सू० ४.४.२३ पृ० ७४७- "अनभिधानं तु दुर्ज्ञानम्"

ख प०मं० (का०भा० २ सू० ३.२.१ पृ० ५४१) "तच्चानभिधानं यत्राप्तैरूक्तं तत्रैव, अन्यत्र तु यथालक्षणं भवत्येव"।

२५. शब्दकौस्तुभ, सम्पा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ बनारस; सूत्र सं० २.४.२६ पृ० २६१ "इदं च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधानाश्रयणमगतिकगति, ..."

२६. द्र० महा० भा० २ सूत्र २.३.१ पृ० ७६२ "तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम्"

२७. महा० भा० १ सू० १.१.४४ पृ० ३३१

२८. पा० १.४.१४

२६. महा० भा० २ सू० २.३.१ पृ० ७५६

३०. पा० ३.४.६

३१. पा० ३.४.७०

३२. पा० ५.१.३७

३३. कुमारसम्भव (कालिदास ग्रन्थावली, सम्पा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी १६७६ श्लोक सं० २.५५

३४. शिशुपालवध, सम्पा० हरगोबिन्दशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १६८४; श्लोक सं० ३

३५. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१६ "प्रधानाप्रधानसन्निधौ प्रधानस्यैवाभिधानस्य न्याय्याखात्" ।

३६. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१६
"कथिते लादयश्चेत् स्युः षष्ठीं कुर्यात् तदा गुणे ।

अकारकं ह्यकथितात् कारकं चेतु माऽकथा ।
कारकं चेद् विजानीयाद यां यां मन्येत सा भवे" ।।

३७. बृ० श० शे० भा० २ सू० ५३६ पृ० ८४४ "द्विकर्मकेषु गवादीनां कर्मत्वाविक्षायां क्रियान्वये षष्ठी न, अनभिधानात्। गोः पयो दोग्धीत्यतो गोसम्बन्धि पय इत्येव बोधात्"।

३८. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२२ "प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनाम्"।

३९. प०मं० (का० भा० १ पृ० ५७६)- "तदयमत्र निर्णय :- नी वहि हृ कृषिभ्य प्रधानकर्मणि लादयः, तत्सम्बन्धस्य पूर्वभावित्वात्। दुह्यादिभ्यो जिदण्डमुषिभ्यश्चाप्रधाने, तत्सम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात्"।

४०. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२४ "सिद्धं वाप्यन्यकर्मणः ... अन्यस्यात्राजा कर्मान्यस्य ग्रामः। अजामसौ गृहीत्वा ग्रामं नयति।" इसी स्थल पर प्रदीप भी द्रष्टव्य है- "यथा प्रविश पिण्डीमिति भक्षणापेक्षं पिण्ड्याः कर्मत्वं तथाजां ग्रामं नयतीत्यत्र ग्रहणापेक्षमजायाः कर्मत्वम्। नयतिस्तु प्राप्तिमात्रवाची। तेनाजां गृहीत्वा ग्रामं प्राप्नोतीति वाक्यार्थः सम्पद्यते।"

४१. वही पृ० ४२४ "अन्य कर्मेति चेद् ब्रूयाल्लादीना मविधिर्भवेत्... परसाधन उत्पद्यमानेन लेनाजाया अभिधानं न प्राप्नोति"।

४२. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२० "गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे... सहपरे योगेन गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ।

४३. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२१ "प्रयोजकव्यापारेणाप्यमानत्वान् माणवकस्य प्राधान्यं धर्मादेस्तु गुणभावः"।

४४. महा०भा० २ सू० १.४.४१ पृ० ४२०

४५. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२३ "माणवकं धर्मं बोधयतीत्यादावनियमतो गुणप्रधानभाव इत्याहुः"।

४६. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२२ "ध्रुवयुक्तिषु (अकर्मकेषु) चेष्टितयुक्तिषु गत्यर्थेषु चाप्यगुणे कर्मणि लादयो भवन्ति"।

४७. महा० प्र० उ० भा० २ सू० १.३६ पृ० ४२५

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।
बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मणां च निजेच्छया।।
प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः।
लक्ष्यं दृष्ट्वा निर्णयोऽत्र कर्तव्यो भाष्यपारगैः।।

४८. पा० १.४.४६

४६. पा० १.४.५०

५०. द्र० वा०प० ३.७.४५.४६

"निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धाऽन्यतु कल्पितम्।।
औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्।।

५१. ऋग्वेद (ऋक्०), सम्पा० विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १६६४-६५

५२. वही १०.६.५

५३. वही १.१२०.२

५४. ऋग्वेद (ऋक्०), सम्पा० विश्वबन्धु, विवेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १६६४-६५, १.१२०.३

५५. वही, ४.५८.१०

५६. वही, १.१८६.१

५७. यजुर्वेद. सम्पा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, १६७०; मन्त्र सं० २०.८३

५८. ऋक् १.६.१०

◆◆◆

न्याय दर्शन में छ्ल का सम्प्रत्यय : अर्थ एवं भेद

न्याय-दर्शन में छल का सम्प्रत्यय-

प्रस्तुत निबन्ध में न्याय दर्शन से अभिप्राय गौतम मुनि प्रणीत न्याय शास्त्र से है जिसकी गणना षड्, वैदिक दर्शनों के अन्तर्गत की जाती है और न्याय चिंतन-परम्परा में जिसे "प्राचीन-न्याय" के नाम से भी जाना जाता है। न्याय-दर्शनकार का इस शास्त्र की रचना के मूल में मुख्य प्रयोजन निश्रेयस का प्रतिपादन जान पड़ता है, जैसा कि इस शास्त्र के प्रथम सूत्र-

प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णयवाद जल्पवितण्डा हेत्वा भासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः ।। १-१-१

से पता चलता है- अर्थात्-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्तावयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभासच्छल, जाति और निग्रह स्थान के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि होती है।

किन्तु इन सभी सम्प्रत्ययों के तत्वज्ञान से किस तरह निःश्रेयस की प्राप्ति होगी और उसका स्वरूप कैसा होगा? इस विषय में भारतीय दार्शनिक जगत में पर्याप्त मतभेद है और कई दार्शनिक तो इस कारण न्याय शास्त्र को मोक्षशास्त्र मानने के लिये तैयार भी नहीं हैं। परन्तु इन सम्प्रत्ययों का गहराई से अनुशीलन करने से यह कहा जा सकता है कि इन सौलह में से कुछ सम्प्रत्यय तो ऐसे हैं, जिनके अध्ययन-मनन से निःश्रेयस की सिद्धि में सहायता मिलती है। इसलिये ऐसे सम्प्रत्ययों को निःश्रेयस का साधन या विधायक पक्ष कहा जा सकता है। जिनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयब, तर्क, निर्णय और वाद- ये दस सम्प्रत्यय सम्मिलित हैं।

इनके अलावा न्यायदर्शनकार ने जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान- इन छः सम्प्रत्ययों को निःश्रेयस का साधन माना है और यथा प्रसंग अपने ग्रन्थ में सूत्र रूप में इनकी व्याख्या भी की है। हम इन्हें निःश्रेयस का निषेधात्मक पहलू कह सकते हैं। क्योंकि इनके अध्ययन से निःश्रेयस मार्गी निहित स्वार्थी तत्वों के दूषित प्रयासों को यथा तथ्य समझ

सकता है और स्व लक्ष्य की संसिद्धि हेतु निर्दिष्ट पथ पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रह सकता है जो कि इस मार्ग के पथिक के लिये नितान्त आवश्यक है।

अस्तु, यदि हम उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर छल, नामक सम्प्रत्यय का अवलोकन करें, जो प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय भी है, तो वह निःश्रेयस के निषेधात्मक पक्ष के अन्तर्गत आता है। और षोडश पदार्थ गणनाक्रम में शास्त्राकार ने उसे चौदहवें स्थान पर रखा है। इससे छल के प्रति शास्त्रकार के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। इसे और अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने के लिये यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि छल जैसे नकारात्मक सम्प्रत्यय को तत्वतः जानना क्यों निःश्रेयस मार्गी के लिये आवश्यक है जिस कारण शास्त्रकार को उसे ग्रन्थ में स्थान देना पड़ा। इस प्रसंग में शास्त्रकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यह हेतु दिया जा सकता है कि जिज्ञासु को मोक्ष मार्ग से विमुख करने वाले अनेक दार्शनिक मत पथ हो सकते हैं। उनके आचार्य जिज्ञासु को स्व पथ की ओर आकर्षित करने के लिये छलादि दूषित साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी सम्भावना के होने पर जिज्ञासु का छलादि सम्प्रत्यय की भेद सहित तात्विक जानकारी होना मोक्षमार्गी के लिये आवश्यक है। ताकि कोई विगतवादी उसे छल द्वारा अभीष्ट पथ से विमुख न कर सके।

इसी प्रसंग में एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि क्या न्याय दर्शनकार की दृष्टि में छल को तत्वतः जानना मात्र आवश्यक है। ताकि विमतवादी के छल-तर्क से बचा जा सके। अथवा स्वपक्ष के स्थापन एवं प्रचार के लिये उसका प्रयोग भी किया जा सकता है। छल के प्रयोग के सन्दर्भ में जहाँ तक न्याय शास्त्रकार के दृष्टिकोण का प्रश्न है उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई सीधा दिशा निर्देश तो नहीं दिया। परन्तु न्याय दर्शन के चौथे अध्याय की दूसरी आहिनका में सूत्र सं० ५० व ५१ में ज़ल्प व वितण्डा क़े प्रयोग की दो कारणों से शास्त्रकार ने अनुमति अवश दी है (१) तत्वाध्यवसाय संरक्षणार्थ अर्थात् जैसे बोये हुये बीज के अंकुरित होने पर कटीली झाड़ियों की बाड़ द्वारा उसकी पशु आदि से रक्षा की जाती है (२) अन्याय, अभिमान ग्रस्त प्रतिपक्षी द्वारा तिरस्कृत तत्वज्ञानी व्यक्ति द्वारा प्रतिपक्षी को तत्वज्ञान का यथार्थ मार्ग दिखाने हेतु भी जल्प, वितण्डा का प्रयोग कर सकते हैं- न्यायशास्त्र की दृष्टि से ।

छल के प्रयोग के सन्दर्भ में भी शास्त्रकार का यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है इसके दो कारण हैं (१) जल्प और वितण्डा- ये दोनों कथायें छल, जाति एवं निग्रह स्थान जैसे दूषित साधनों के प्रयोग पर ही निर्भर हैं। जल्प एवं वितण्डा के सम्बन्ध में जैसा कि न्याय दर्शनकार

का कथन है- **"यथोक्तोपपन्न श्छलजाति निग्रह स्थान साधनो पालम्भो जल्पः"**। न्याय- १-२-२ एवं **स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्ड़ा**- न्याय १-२-३ । अतः शास्त्रकार के लिये छल के प्रयोग का अलग से विधान करना आवश्यक नहीं था। इसके अलावा न्याय दर्शन के जिस प्रकरण में जल्प एवं वितण्डा के प्रयोग की गौतम ऋषि ने सीमित अनुमति दी है। उससे आगे हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान नामक सम्प्रत्यय आते हैं। जाति एवं निग्रहस्थान के ऊपर पूरा पन्चम अध्याय केन्द्रित है। शास्त्रकार ने हेत्वाभास के सभी रूपों की न्याय दर्शन के पाँचवे अध्याय के अंतिम सूत्र में निग्रह स्थान में गणना की है। इसलिये भी उसके लिये अलग से प्रयोग करने के विधान की आवश्यकता शास्त्रकार ने नहीं समझी है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छल का प्रयोग भी न्याय शास्त्रकार को जल्प एवं वितण्डा की भाँति ही सौद्देश्य एवं सीमित रूप में धर्मतत्व रक्षणार्थ ही मान्य है।

छल के प्रसंग में ही यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि गौतम मुनि प्रणीत न्यायशास्त्र विश्व का ऐसा पहला दार्शनिक ग्रन्थ है जिसके अर्न्तगत निःश्रेयस के सन्दर्भ में छल सम्प्रत्यय के तात्विक ज्ञान एवं प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण भी उसे अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों की कटु आलोचना का पात्र बनना पड़ा है। परन्तु यदि न्यायदर्शन की रचना कालीन परिस्थितियों, जिनका यत्रतत्र संकेत भारतीय दार्शनिक साहित्य में पाया जाता है, की ओर तनिक भी ध्यान दिया जाये तो विरोधियों की छल सम्बन्धी आलोचनायें अधिक अर्थपूर्ण प्रतीत नहीं होंगी। भारतीय सन्दर्भ में तो, विशेषकर ऐसे वातावरण में जहाँ स्वमत पथ की स्थापना का प्रमुख आधार ही विद्वानों के मध्य होने वाला "शास्त्रार्थ" बन गया था, छल को शास्त्रार्थ का कवच बनाना न केवल सम्भव ही था अपितु उससे भी आसान था तत्वज्ञान के सरल जिज्ञासु को छल तर्क के प्रयोग से स्व-पथ की ओर आकर्षित करना ।

जहाँ तक छल के दार्शनिक स्वरूप विवेचना का प्रश्न है इस सन्दर्भ में न्यायदर्शन ही हमारा ठीक-ठीक मार्गदर्शन कर सकता है। क्योंकि परवर्ती न्याय चिंतन परम्परा, जिसे आधुनिक शब्दावली में "नव्य न्याय" के नाम से जाना जाता है, के अन्तर्गत प्रमाण का विशद-विवेचन हुआ है। इसी कारण नव्य न्याय में हेतु, व्याप्ति तथा हेत्वाभास पर तो पर्याप्त सामग्री मिलती है परन्तु छलादि नकारात्मक एवं गैर प्रमाण मीमांसीय सम्प्रत्ययों के बारे में यह मौन है। यही कारण है कि आज भी छल के यथार्थ स्वरूप एवं भेदों को जानने के लिये न्याय-चिंतन परम्परा में गौतम मुनि प्रणीत न्याय दर्शन के अलावा अन्य सभी प्रामाणिक स्रोत अभी तक अप्राप्य ही हैं। इसलिये, इस सन्दर्भ में, न्याय दर्शन पर निर्भर रहना एक प्रकार की विवशता भी है और प्रामाणिकता भी ।

न्याय दर्शन में छल का अर्थ

सामान्य दैनिक जीवन में कपट युक्त व्यवहार को छल समझा जाता है, किन्तु न्याय दर्शनकार ने ऐसे कपटपूर्ण व्यवहार की एक निश्चित परिभाषा दी है जो छल के वास्तविक स्वरूप को समझने में विशेष रूप से सहायक है। दर्शनकार के शब्दों में- **"वचनविघातोऽर्थोविकल्पों पपत्या छलम्"**- न्याय १-२-१० अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके, उसके कथन का खण्डन छल कहा जाता है। उदाहरणतः वक्ता ने वर्ण शब्द का उच्चारण 'वृ' वरणे धातु के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए वैदिक वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए समाजवाद से उसकी तुलना करनी चाही; परन्तु प्रतिवादी उसके मूल अर्थ को ग्रहण न करके वर्ण शब्द को **"रंग"** के अर्थ में लेते हुए यदि यह कहे कि आपके अनुसार वर्ण का अर्थ रंग है और रंगभेद पर आधारित कोई भी समाज व्यवस्था समाजवाद से तुलनीय कैसे हो सकती है। अतः आपका कथन अमान्य है। तब ऐसी स्थिति में प्रतिवादी छल का प्रयोग कर रहा होता है।

छल के भेद-

गौतम मुनि के मतानुसार छल के तीन भेद या विभाग हैं- यथा-

'तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च' ।। १-२-११

अर्थात्

१- वाक्छल

२- सामान्य छल

३- उपचार छल

१. वाक्छल-

न्याय दर्शनकार गौतम मुनि के शब्दों में-

'अविशेषाअभिहितेअर्थे वस्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्'।। १-२-१२

अर्थात् सामान्य रूप से कहे गये कथन में वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है, जैसे-नवयः कम्बलः अस्य। इस कथन से वक्ता का सीधा अभिप्राय है कि इसका कम्बल नया है। किन्तु छलवादी ऐसे प्रकरण में "नव" शब्द का संख्या वाचक अर्थ "नौ" करके प्रतिप्रश्न करता है कि आप कैसे कह रहे हैं कि इसके पास नौ कम्बल हैं। इसके पास तो केवल एक ही कम्बल है। अतः आप का कथन मिथ्या है। इस उदाहरण में वाणी द्वारा

उच्चारित पद 'नव' शब्द के आधार पर छल होने से इसका नाम वाक्छल है।

निराकरण-

इसका निराकरण करने हेतु प्रथम वक्ता द्वारा छलवादी को इस प्रकार का उत्तर दिया जाना चाहिए कि आप के अनुसार 'मैंने कहा कि इस बालक के पास नौ कम्बल हैं'- यह आपने कैसे अथवा किस हेतु से जाना? मैंने कहा था कि इसका कम्बल 'नव' अथवा नया है जो सामने दीख रहा है। आप कोई प्रमाण दीजिए जिससे आपका कथन सत्य सिद्ध होवे अन्यथा आप का उक्त कथन नितान्त मिथ्या है।

२- सामान्य छल :- न्याय दर्शनकार के शब्दों में-

'सम्भवतोअर्थस्यातिसामन्योगा द्सम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्। १-२-१३

अर्थात्, यह छल वहाँ होता है, जहाँ सम्भव हो सकने वाले अर्थ की अत्यन्त सामान्य के साथ असम्यक अर्थ की कल्पना कर ली जाती है तथा उसके आधार पर दूसरों के कथन में दोष निकाला जाता है। यह सामान्य छल कहलाता है। जैसे किसी वक्ता ने किसी विशेष अर्थ में कोई सम्भावना व्यक्त कर दी किन्तु उस सम्भावना को अत्यन्त सामान्य आधार में ले जाकर जोड़ देना और एक असम्भव अर्थ की परिकल्पना कर लेना तथा उस कल्पना के आधार पर वक्ता के कथन को मिथ्या सिद्ध करना। उदाहरणतः-

एक वक्ता ने अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए कहा, **"अहो खल्वसौ ब्राह्मणोः विद्याचरण सम्पन्नः"** । इस वक्तव्य के अनुसार यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है । इस कथन पर अन्य व्यक्ति ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा- **"सम्भवति ब्राह्मणें विद्याचरणे सम्न्रः"**। अर्थात्- ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति का होना सम्भव है। किन्तु यदि इस कथन की सम्भावना को छलवादी अति-सामान्य के साथ अर्थात जन्मगत ब्राह्मणों के साथ जोड़ देता है और एक असम्भव अर्थ की कल्पना करते हुए कहता है कि यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार की सम्पत्ति संभव है तो 'व्रात्य' में भी उसी तरह ज्ञान और सदाचार होना चाहिए, यह उल्लेखनीय है कि व्रात्य उस ब्राह्मण को कहा जाता है जो अपने वर्णधर्म का आचारण न करने के कारण पतित हो गया हो। जो अर्थ उत्तम गुण कर्म युक्त ब्राह्मण में संभव है उस अर्थ की सभी जन्मगत ब्राह्मणों में कल्पना करके वक्ता के कथन में दोष लगाना सामान्य छल है।

निराकरण-

इस छल का निराकरण करने के लिए वक्ता छलवादी से कह सकता है कि मैंने ब्राह्मण मात्र को विद्यायुक्त सदाचारी नहीं बताया अपितु केवल जहाँ विद्या और सदाचरण है उसी व्यक्ति विशेष की प्रशंसा करने के लिए यह कथन व्यक्त किया है। इसलिए ऐसे विशेष प्रकरण से सामान्य अर्थ की कल्पना करना मेरे विचार से पूर्णतः विरुद्ध है। इसलिए सर्वथा अनुचित भी है। उदाहरणत, किसी ने कहा कि **"सम्भवन्ति क्षेत्रे सानया"**अर्थात् इस क्षेत्र में धान उत्पन्न होने की अच्छी संभावना है। परन्तु इसका आशय यह तो नहीं है कि बीज भी न बोवे और फसल भी हो जाये। अतः ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने मात्र से विद्या सदाचार की उन्नति संभव नहीं है। इस प्रसंग में केवल उसके अनुकूल वातावरण की संभावना को व्यक्त किया गया है।

३- उपचार छलः- शास्त्रकार गौतम मुनिवर के अनुसार-

"धर्मविकल्पनर्देशेअर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।" १-२-१४

अर्थात् न्यायदर्शनकार, गौतम मुनि के अनुसार "धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर उसके अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना 'उपचार छल' है। शब्द का अर्थ है अपने वस्तुभूत अर्थ का बोध कराना। शब्द से अर्थ का बोध कहीं अभिधा-शक्ति से कहीं लक्षणा-शक्ति से और कहीं वयन्जना-शक्ति के अनुसार होता है। शब्द के अर्थ-बोध रूप धर्म की यह पद्धति त्रिविध प्रकार की है। यह धर्म विकल्प है। अभिधा-शक्ति से अर्थ बोध कराने पर, लक्षणाशक्ति के आधार से उस अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना तथा लक्षणा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर अभिधा-शक्ति से प्रतिषेध करना। अर्थात् जिस पद्धति से वाक्य प्रयोग हुआ है उससे भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर वक्ता द्वारा कहे गये कथन का प्रतिषेध करना 'उपचार छल' है।

उदाहरण स्वरूप, किसी ने किसी से कहा "मन्चान् क्रोशन्ति" मचान चिल्ला रहे हैं। यहाँ वाक्य का लक्षणा-परक अर्थ है परन्तु छलवादी इसका लक्षण-परक अर्थ न लेकर अभिधा परक अर्थ लेकर कह देगा कि मचान कहाँ चिल्ला रहे हैं? आप का कथन मिथ्या है।

'उपचार' का तात्पर्य है किसी शब्द के अर्थ को उसके समीप सम्बन्धी आदि पर आरोपित करना। प्रस्तुत प्रसंग में पुरुष पद के अर्थ को मचान से आरोपित कर दिया गया है। जो जैसा नहीं है किन्हीं निमित्तों के आधार पर उसको वैसा बना देना 'उपचार' है।

निराकरण-

वक्ता छलवादी से कह सकता है कि लोक में अभिधा के अलावा लक्षणा और व्यन्जना मूलक कथन भी प्रचलित हैं, और वे मान्य हैं। इसलिए तर्क संगत यही है कि वक्ता ने जिस पद्धति से कहा है उसी पद्धति के अनुसार उसका अर्थ स्वीकार करना या प्रतिषेध करना। प्रस्तुत प्रसंग में वक्ता ने लक्षणा-पद्धति का प्रयोग किया है। उसका उसी लक्षणा परक अर्थ में ग्रहण करना उचित है। अभिधा परक अर्थ यहाँ सर्वथा अनुचित है इसलिये त्याज्य है।

न्याय दर्शनकार ने आगे इसी प्रसंग में छल के विभिन्न भेदों का भी परीक्षण किया है, जो अलग से विचार का रोचक विषय बन सकता है। इस ओर अध्येयता का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक भी है परन्तु इस निबन्ध के विस्तारमय के कारण छल प्रभेद एवं उनका परीक्षण इस विषय पर विचार नहीं किया जा सका है।

अस्तु, न्याय दर्शन मूलतः मोक्षशास्त्र है अतः छल के उक्त भेद निःश्रेयस को दृष्टिगत रखते हुये किये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु क्या लौकिक अभ्युदय की संसिद्धि के लक्ष्य को सामने रखते हुये छल नामक सम्प्रत्यय के अन्य भेद एवं उपभेद सम्भव है, यह देखना रुचिकर है। परन्तु दर्शन के अध्ययेता के नाते यह देखना भी हमारा कर्तव्य है कि वर्तमान एकीकृत होते जा रहे विश्व में, सूचनाक्रान्ति के इस दौर में, जबकि विश्व एटमिक सर्वनाश के ढेर पर खड़ा हो, जरा सी भ्रांति मात्र ही, एक बहुत बड़े विनाश का कारण बन सकती है, वहाँ सैद्धान्तिक रूप में छल की स्वीकृति से क्या यह विश्व सुरक्षित रह पायेगा? पुनश्च, आज जबकि बदलती जा रही विश्व परिस्थितियों में सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता जैसे उच्च मूल्य मानवीय आचरण के अपरिहार्य मानक बनते जा रहे हैं, ऐसे में, छल को तत्व रक्षणार्थ स्वीकार करना हमारे लिये कहाँ तक उचित होगा? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर न्यायदर्शन के अध्येयताओं को चिंतन-मनन करने की आवश्यकता है।

डॉ0 सोहनपाल सिंह 'आर्य'
प्रवक्ता, दर्शन विभाग,
गु0 काँ0 वि0 वि0, हरिद्वार ।

◆◆◆

प्रस्तुत निबन्ध- दर्शन विभाग गु०कां० वि०वि० हरिद्वार के तत्वाधान में आयोजित एवं आई०सी०पी०आर० नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तीन दिवसीय राष्ट्रीय दार्शनिक संगोष्ठी (२१-३० मई ९६) में प्रस्तुत किया गया।

ऋग्वेद में गत्यर्थक 'इष' धातु के प्रयोग

वैदिक कोष निघण्टु में 'इषति' गत्यर्थक धातुओं में पठित है।[१] इससे ज्ञात होता है कि निघण्टुकार 'इष' धातु को भ्वादिगणी मानकर गत्यर्थ में गृहीत करते हैं। वैयाकरणों में काशकृत्स्न ने 'इष' धातु भ्वादिगण में पठित की है। वहाँ वे इसे उञ्छार्थक मानते हैं। टीकाकार चन्नवीर ने उञ्छ का अर्थ इच्छा और परिचालन किया है।[२] इसके अतिरिक्त काशकृत्स्न, क्षीरस्वामी, मैत्रेयरक्षित, सायण, भट्टोजि सबने गत्यर्थक 'इष गतौ' धातु दिवादिगण में (इष्यति), 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिगण में (इष्णाति), 'इषु इच्छायाम्' तुदादिगण में (इच्छति) पठित की है। आख्यातचन्द्रिका में 'इष्यति' गत्यर्थक[३] तथा पलायनार्थक[४] धातुओं में पठित है।

यद्यपि निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'इषति' (भ्वादिगणी इष धातु) परस्मैपदी पठित है, तथापि ऋग्वेद में इसके प्रयोग बहुत कम हैं। गति अर्थ में अधिकतर 'इष्यति' (दिवादिगणी इष धातु) प्रयुक्त हुई है। इष्णाति (क्र्यादिगणी इष आभीक्ष्ण्ये धातु) और इच्छति (तुदादिगणी इषु इच्छायाम् धातु) के प्रयोग भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल गत्यर्थक 'इष' धातु से है, अतः हम 'इषति' और 'इष्यति' पर ही मन्त्रोद्धरणपूर्वक विचार करेगें। भ्वादिगणी 'इष' धातु यद्यपि निघण्टु में परस्मैपदी ही पठित है, तथापि वेद में उभयपदी मिलती है।

इषति, इषते

भ्वादिगणी गत्यर्थक निरुपसर्ग 'इष' धातु ऋग्वेद में केवल छह स्थलों पर प्रयुक्त मिलती है। नीचे उन स्थलों को उद्धृत करते हुए धात्वर्थ की परीक्षा हम कर रहे हैं ।

तुभ्यं शुक्रासः शुचयस्तुरण्यवो मदेषूग्रा
इषणन्त भुर्वण्यपामिषन्त भुर्वणि ।। ऋ० १,१३४,५

देवता वायुः । 'हे वायु, तेजस्वी, पवित्र, शीघ्रगामी, उग्र, मरुद्गण जलों को बरसाने के लिए तुझे प्राप्त होते हैं'। 'इषन्त' रूप गत्यर्थक आत्मनेपदी 'इष' धातु का लङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन का है। आट् आगम का अभाव छान्दस है। 'एषन्त' के स्थान पर 'इषन्त' है। वेंकट ने 'इषन्त' का अर्थ किया है 'व्याप्रियन्ते'[५]। सायण 'इषन्त' रूप 'इषु इच्छायाम्' का

मानते हैं[६]। स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'इष' धातु प्राप्त्यर्थक मानी है।[७]

यज्ञानां रथ्ये वयं तिग्मजम्भाय वीळवे ।
स्तोमैरिषेमाग्नये ।। ऋ० ८,४४,७

देवता अग्निः । 'अग्नि के प्रति स्तोमों के द्वारा हम पहुँचते हैं' । एवं परस्मैपदी 'इष' धातु यहाँ गत्यर्थक है। परन्तु वेंकट एवं सायण यहाँ भी 'इषेम' को 'इषु इच्छायाम्' का रूप मानते हैं।[८]

यज्ञासाहं दुव इषेऽग्निम् । ऋ०१०,२०,७

देवता अग्निः । 'यज्ञासाट् अग्नि के प्रति मैं परिचर्या पहुँचाता हूँ' । यहाँ 'इषे' रूप गत्यर्थक आत्मनेपदी 'इष' धातु का उत्तमपुरुष एकवचन का है। 'इषे' का अर्थ है प्रेरयामि। एवं यहाँ 'इष' धातु गत्यर्थक गृहीत हो सकती है। परन्तु वेंकट एवं सायण यहाँ भी 'इषे' को इच्छार्थक 'इषु' धातु का रूप मानते हैं।[९]

तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे
नक्षते तुम्रमच्छ ।। ऋ० ६,२२,५

देवता इन्द्रः । 'बहुतों को सहारा देने वाले, बहुत कर्म करने वाले, गति देने वाले, इन्द्र से मैं मार्ग को प्राप्त करता हूँ' । यहाँ वेंकट एवं सायण दोनों इस धातु को गत्यर्थक गृहीत करते हैं।[१०]

'इषे' रूप ऋग्वेद में दो अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होता है।[११] परन्तु वेंकट एवं सायण ने वहाँ 'इष' धातु इच्छार्थक गृहीत की है। परन्तु वहाँ भी गत्यर्थक गृहीत की जा सकती है।

इष्यति

गत्यर्थक दिवादिगणी 'इष' धातु ऋग्वेद में छह स्थलों पर प्रयुक्त हुई है। इसके इष्यति, इष्यसि, इष्यामि और इष्यत रूप मिलते हैं। ये प्रेरणा एवं गमन अर्थों में आती हैं । प्रयोग स्थल निम्नलिखित हैं ।

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत।
नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ।। ऋ० १,१५,९

देवता द्रविणोदाः । 'हे ऋत्विजो, द्रविणोदा देव ऋतुओं के साथ नेष्टा के पास से सोमरस पीना चाह रहा है, अतः तुम होमस्थल में जाओ (इष्यत), आहुति दो और प्रस्थान

करो'। यह सायणकृत अर्थ है। एवं सायण ने यहाँ 'इष' धातु गमनार्थक मानी है।[१२] स्कन्द भी गत्यर्थक ही गृहीत करते हैं।[१३] वेंकट ने 'इष्यत' का अर्थ किया है 'यज्ञ करने की इच्छा करो'[१४]। स्वामी दयानन्द यहाँ 'इष' धातु को विज्ञानार्थक लेते हैं।[१५]

नासत्या गच्छतं हूयते हविर्मध्वः पिवतं मधुपेभिरासभिः ।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ।। ऋ० १,३४,१०

देवता अश्विनौ । 'हे अश्विदेवो, तुम्हारे चित्र-विचित्र घृतयुक्त रथ को उषा से पूर्व सविता यज्ञ के लिए प्रेरित कर रहा है (इष्यति)' । यह सायणीय अर्थ है। एवं सायण ने यहाँ इष धातु प्रेरणार्थक गृहीत की है।[१६] वेंकट वैकल्पिक अर्थ देते हुए धातु को इच्छार्थक तथा प्रेरणार्थक लेते हैं[१७]। स्कन्द 'इषु इच्छायाम्' से व्यत्यय द्वारा श्यन् करते हैं और 'इष्यति' का अर्थ करते हैं 'चाहता है' अथवा 'चाहा'[१८]। स्वामी दयानन्द धातु को गमनार्थक ग्रहण करते हैं।[१९]

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः ।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ।। ऋ० ८,९६,१४

देवता इन्द्रः । इन्द्र मरुतों को कह रहा है। 'हे मरुतो, मैंने द्रुतगामी कृष्णासुर को विषुमती नदी के उपहर में विषम स्थान में विचरता हुआ देखा है। मैं तुम्हें प्रेरित कर रहा हूँ (इष्यामि) संग्राम में जाओ और युद्ध करो"। एवं यहाँ 'इष' धातु प्रेरणार्थक ही प्रतीत होती है। परन्तु वेंकट[२०] एवं सायण[२१] दोनों ने बलात् इच्छार्थक गृहीत की है।

प्र धारा अस्य शुष्मिणो वृषा पवित्रे अक्षरन् ।
पुनानो वाचमिष्यति ।। ऋ० ९,३०,१

देवता सोमः । 'इस बलवान् सोम की धाराएँ दशापवित्र में अनायास क्षरित हो रही हैं। पवित्र करने वाला यह सोम वाणी को प्रेरित कर रहा है (इष्यति)' । वेंकट[२२] एव सायण[२३] दोनों ने यहाँ धातु का अर्थ प्रेरणा ही गृहीत किया है।

हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि ।
अक्रान् देवो न सूर्यः ।। ऋ० ९,६४,९

देवता सोमः । 'हे पवमान सोम, विधारक दशापवित्र में डाला जाता हुआ तू वाणी को प्रेरित करता है (इष्यसि)' । वेंकट[२४] एवं सायण[२५] धात्वर्थ प्रेरणा ही गृहीत करते हैं।

त्वं सोम विपश्चितं पुनानो वाचमिष्यसि ।
इन्दो सहस्रभर्णसम् ।। ऋ० ६,६४,२५

देवता सोमः । 'हे सोम, पवित्र करता हुआ तू प्रज्ञायुक्त वाणी को प्रेरित कर रहा है (इष्यसि)' । वेंकट[२६] एवं सायण[२७] यहाँ भी धात्वर्थ प्रेरणा ही गृहीत करते हैं।

निष्कर्ष

यहाँ हमने भ्वादिगणी तथा दिवादिगणी दोनों 'इष' धातुओं के ऋग्वेद के प्रयोगस्थलों की परीक्षा की है। उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों ही धातुएँ प्रेरणा, व्याप्ति एवं गति अर्थों में प्रयुक्त हुई हैं। जिन भाष्यकारों ने इन्हें 'इषु इच्छायाम्' का छान्दस रूप माना है, उनका वह प्रयास चिन्त्य प्रतीत होता है, यतः इन स्थलों में प्रेरणा, व्याप्ति या गमन अर्थ चरितार्थ हो जाते हैं।

गत्यर्थक 'इष' धातु से सम्पन्न इष (अन्न), इषु (बाण), इषुधि (तरकस), इषुका (बाण), इषीका (शरकण्डिका), इष्टका (ईंट) आदि शब्द वेदों में प्रयुक्त हुए हैं।

- डॉ0 सत्यदेव निगमालंकार
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0
हरिद्वार

◆◆◆

:- सन्दर्भ संकेत -:

१- निघ० २, १४

२- इष ईष उञ्छे/भ्वादि २६१, इषति, इच्छायां परिचालने परिचालयति ।

३- चरति ध्रञ्जति शवत्यण्ठते ग्लुञ्चतीष्यति ।गतौ, ।।क्ष० ८,

४- इष्यति नश्यति पलायतेऽन्तर्धन्त इत्यपि ।पलायने ।।क्ष०२३,

५- उग्राः मरुतः अपाम् वृष्टिलक्षणानां भरणे व्याप्रियन्ते ।

६- किंच अपां भुर्वणि मेघे इषन्त उदकमिच्छन्ति उत्पादयितुम् ।यद्वा यजमानाः त्वामुद्दिश्य आजुह्वाना अपां वर्षणं इषन्त इच्छन्ति ।

७- इषन्त प्राप्नुवन्तु ।

८- स्तोमैः अन्नं कर्तुमिच्छेम अग्नये ।।वेंक०

अग्नये स्तोमैः स्तोत्रैः वयम् आङ्गिरसाः इषेम स्तुतिं कर्तुमिच्छेम ।।सा०

९- महत्त्या यज्ञस्य अभिभवितृधनम् इच्छामि ।।वेंक०

तमग्निमभिलक्ष्य दुवः परिचरणम् इषे इच्छामि ।।सा०

१०- वेपनशीला उच्यमाना स्तुतिः यस्य स्तोतृभिः क्षिप्रम् अभिगच्छतीति ।।वेंक०

स यजमानः गातुं सुखम् इषे गच्छति -सा०

११- स्वऽर्णं चित्रतममिष आ गोः ।।४,२३,६

महःसु वो अरमिषे स्तवामहे ।।८,४६,१७

१२- इष्यत होमस्थाने गच्छत ।।

१३- ऋतुभिः ऋतुभिः सह इष्यत । इषु गतौ । गच्छत। मा विलम्बध्वमित्यर्थः ।।

१४- ऋतुभिः सह यष्टुमिच्छत ।।

१५- ऋतुभिः वसन्तादिभिर्योगे इष्यत विजानीत ।।

१६- इष्यति हि प्रेरयति खलु ।।

१७- सविता दिवस्करणाय इच्छति प्रेरयति वेति ।।

१८- इष्यति इच्छतेरयं व्यत्ययेन श्यन् । इच्छति । यस्मात् यजमानः युष्मदीयम् औषसं च रथं पूर्वमिच्छति तस्मादागच्छतमित्यर्थः । अथवा- इष्यतीत्यपि भूतकाले लट् व्यत्यत्येन द्रष्टव्यः । इष्यति इष्टवान् प्रार्थितवान् ।।

१९- गच्छति ।।

२०- दृष्टे च सत्यस्मिन् युद्धार्थं युष्मान् इच्छामि ।।

२१- हे वृषणः कामानामुदकानां वा सेक्तारो मरुतः वः युष्मान् युद्धार्थम् इष्यामि अहमिच्छामि ।।

२२- पूयमानः वाचं प्रेरयति ।।

२३- तदानीं पुनानः पूयमानः सोमः वाचं स्तुतिं स्वीयं ध्वनिं वा इष्यति प्रेरयति ।।

२४- प्रेर्यमाणः वाचम् प्रेरयसि ।।

२५- हे पवमान सोम हिन्वानः प्रेर्यमाणस्त्वं वाचं शब्दम् इष्यसि प्रेरयसि ।।

२६- वाचम् प्रेरयसि ।।

२७- वाचम् इष्यसि प्रेरयसि ।।

◆◆◆

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की राष्ट्रीय चेतना

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म मध्यप्रदेश में सुजालपुर तहसील के भयाना गाँव में ८ दिसम्बर १८९१ को हुआ था और २९ अप्रैल १९६० को उनका निधन हुआ । इन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया । आजादी की लड़ाई में नौ बार जेल गए तथा सांसद भी रहे । इनका जन्म पूर्णिमा के दिन होने पर भी जीवन भर कष्टों से संघर्ष करते रहे- बचपन में गरीबी से, जवानी में देश की गुलामी से तथा जीवन के अन्तिम समय में बीमारी से । परन्तु ये बड़े ही साहसी और जीवट के व्यक्ति थे । ये सदा हँसमुख और आशावादी रहे । त्याग और बलिदान इन्हें पिता से मिला तो भक्ति और प्रेम माँ से । ये स्पष्ट वक्ता थे । साहित्यिक रुचि इनमें सरस्वती पत्रिका से और देशभक्ति उस समय के साप्ताहिक पत्रों से पैदा हुई । दिनकर जी ने लिखा है कि वे अज्ञातशत्रु थे तथा वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- 'मित्रों के लिए वे गंगाजल थे' । उनमें देशभक्ति की भावना 'प्रताप' के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी ने जागृत की। वे आजीवन विद्यार्थी जी के भक्त रहे और उन पर **'प्राणार्पण'** लिखा ।

नवीन जी की रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं, साप्ताहिकों, मासिकों में यत्र तत्र इधर-उधर छपती रहीं। पुस्तकाकार रूप में उनका पहला काव्य संकलन १९३९ में 'कुंकुभ' नाम से छपा। इसके १२ वर्षों बाद **'रश्मिरेखा'** और **'अपलक'** संग्रह तथा १९५२ में **'क्वासि'** एवं मृत्यु से पूर्व स्फुटकविता **'विनोवा स्तवन'** और एक प्रबंधकाव्य **'उर्मिला'** तथा बाद में **'प्राणार्पण'** एवं **'हम विषपायी जनम के'** कुल आठ रचनाएं छप पाईं। साहित्यिक जीवन में नवीन जी सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी थे। वे समझौता नहीं कर सकते थे। राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभाषा प्रेम, राष्ट्रीय संस्कृति प्रेम का उनके जीवन में सबसे बड़ा मूल्य था। वे अपने युग की राष्ट्रीय कविता से अधिक प्रेरणा पाते रहे। इनकी कविता में भावोत्थान का एक निश्चित क्रम है-सबसे अधिक वीर, फिर करूण और फिर श्रृंगार और इसी क्रम में उनका जीवन क्रम-भी सर्वाधिक समय देशभक्ति के संग्राम में, फिर समाजसेवा एवं समाज की विषमताओं को दूर करने में और सबसे कम गृहस्थ या व्यक्तिगत प्रेम में बीता ।

कवि जिन परिस्थितियों को झेलता है उन्हीं का चित्रण वह अपनी कविता में करता है। राष्ट्रीय चेतना उसे कहते हैं जिसमें राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता एवं

अखण्डता को स्थिर रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिसमें मातृभूमि के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास, गौरवपूर्ण संस्कृति के प्रति तीव्रानुराग, राष्ट्रविरोधी शक्तियों एवं शत्रुओं के प्रति तीव्र आक्रोश तथा क्षोभ और राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के प्रति जन सामान्य के हृदय में तीव्र ज्वाला उत्पन्न करने की शक्ति एवं सम्पूर्ण मानवता के उत्थान की अभिलाषा निहित हो ।

चेतना का शाब्दिक अर्थ है-होश, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, बोध या विस्तार। राष्ट्रीय चेतना में यह बोध या विस्तार के अर्थ में आता है जिसका अर्थ है- 'राष्ट्र सम्बन्धी चेतना या बोध अथवा दृष्टि । यह चिन्तन का वह स्वरूप है जिसके केन्द्र में सम्पूर्ण राष्ट्र होता है। राष्ट्रीय चेतना का उद्देश्य-राष्ट्र की स्थिति का निष्पक्ष मूल्यांकन करके उसकी वास्तविकता को बताना होता है।

कविता विचारों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय चेतना रचना के मूल कारण को प्रभावित करती है जिससे कवि को अपनी कृति समाज के सामने लाने में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना का विकास करना होता है। इसके पश्चात वह अपनी चेतना को काव्य के माध्यम से दूसरों तक पहुंचाने की योजना तैयार करता है और तब कोई कविता निर्मित हो पाती है अर्थात् विभिन्न स्रोतों से प्राप्त अनुभवों एवं संवेदनाओं के आधार पर प्राप्त चेतना परिपक्व होकर कवि के कविता का मूल आधार बनती है। साहित्य सृजन-

१. समस्याओं का यथार्थ चित्र पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना ।
२. समस्याओं के समाधान की दिशा दिखाना तथा
३. पाठक को कर्म की दिशा निर्देश देना-की दृष्टि से किया जाता है ।

साहित्य व्यक्ति को स्वतंत्रता और रूढ़ियों से समाज को मुक्ति की दिशा दिखाता है। यह मुक्ति नवीन मूल्यों एवं नवनिर्माण की ओर ले जाती है। इसीलिए साहित्य में हर प्रकार के शोषण का विरोध रहता है।

राष्ट्रीयता मानव की तीव्रतम भावनाओं में से एक है। सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास तथा सामूहिक आत्मसम्मान की भावना ही राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति का अनुराग स्वाभाविक है। सामूहिक चेतना जन्य इस भावना की तीव्रता और सघनता को सबने स्वीकारा है। राष्ट्रीयता का स्वरूप सदैव एक सा नहीं रहा है। वीरगाथा कालीन राष्ट्रीय भावना अत्यंत संकुचित थी। इस काल में छोटे-छोटे राज्यों को ही राष्ट्र मानकर उनके प्रति अनुराग प्रदर्शित किया गया है तथा चारणों एवं भाटों द्वारा अपने-अपने आश्रयदाताओं की अभ्यर्थना में लिखा गया है। जहाँ कहीं राष्ट्रीयता कुछ विकसित हुई है वहाँ उसका साम्प्रदायिक अथवा

धार्मिक रूप सामने आया है। मध्यकाल तक राष्ट्रीयता का यही संकीर्ण स्वरूप बना रहा। रीतिकाल में भी सम्पूर्ण भारत का एक इकाई के रूप में राष्ट्रीयता का उन्मेष नहीं हुआ। १८५७ की स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात ही राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हो पाया है जिसमें साम्प्रदायिकता नहीं थी। इस समय राष्ट्रीयता का ऐसा संस्कारित रूप सामने आया जिसमें राष्ट्रीय भावना में सांस्कृतिक मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों का समावेश हुआ ।

प्रत्येक कदम पर बंधन, अवरोध, अपमान, अत्याचार और दमन से संवेदनशील व्यक्ति बौखला उठता है। चरमबिन्दु तक पहुँची बौखलाहट ही कवि के स्वरों में फूट पड़ती है और वह शताब्दियों से सुषुप्त भारतवासियों को मोहनिद्रा से जगाने का प्रयत्न करता है। विदेशी शासकों के अन्याय, अत्याचार, दमन और आतंक से इस युग का कवि न तो स्वयं हताश हुआ और न देशवासियों को हतोत्साहित होने दिया है। काले कानून और हत्याकांड भी भारतीय कवियों को लक्ष्य भ्रष्ट नहीं कर सके और इन्होंने इस स्थिति से जनता को विचलित न होने दिया। यद्यपि कवियों की लेखनी पर नियंत्रण था फिर भी उन्होंने जागृत के गीत गाकर देशवासियों को कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित किया। नवीन जी ने हम विषपायी जनम के में लिखा है-

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोड़े संग अहो,
जब दुनियादारों की होवे धीमी हृदय उमंग अहो,
जबकि पड़े जय जय की ध्वनि का कुछ कुछ फीका रंग अहो,
तब तुम अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभंग रहो ।

(हम विषपायी जनम के)

इस युग की वीर भावना मध्ययुगीन वीर भावना के विपरीत है। इस युग की कविता में सत्य और अहिंसा का, न्यायसंगत कर्म और शीशदान की महिमा का गान हुआ है। नवीन जी स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि विजय सदैव त्याग और बलिदान चाहती है। जो जीवन की सम्पूर्ण आशाएं और आकांक्षाएं तथा यौवन समर्पित करने को प्रस्तुत होता है वहीं शताब्दियों की दासता के बंधनों को काटने में समर्थ हो सकता है-

है बलिवेदी सखे, मांग रही ईंधन क्षण-क्षण,
आओ युवक लगा दो तुम अपने यौवन का ईंधन
भस्मसात हो जाने दो ये प्रबल उमंगे जीवन की
अरे सुलगने दो बलि वेदी, चढ़ने दो बलि यौवन की।

नवीन जी की १९२१ तक लिखी प्रारम्भिक कविताओं में अध्यात्म, राष्ट्रीयता, प्रकृति

प्रेम सब एकाकार हो गये हैं। उनकी कविता में राष्ट्रीयता सांस्कृतिक प्राचीन भक्ति सूत्रों से मिल जाती है। 'प्रतापं' में 'कुली के चरणों में' कविता में उन्होंने लिखा-

न हो विकल ऐ कुली, टिकट मारीशस का हम ले देंगे
अथवा किसी क्रूर जेल की, ट्रंक उठाने भेजेंगे ।

यह व्यंग्य ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा मजदूरों पर अत्याचार ढाने वाले गोरों पर है। **'गिरमिटिहा'** कहकर भारत के भोले भाले भोजपुरी भाषी गरीब जहाजों में भर भरकर खेतों में काम करने के लिए विदेश भेजे जा रहे थे। उन्हें मारीशस का टिकट दिया जा रहा था और मना करने वालों को जेल भेजा जा रहा था। यह उसी कुली प्रथा पर तमाचा है। जो कवि कोमल भावनाओं का वर्णन कर रहा था, वहीं बाहरी अन्यायों के प्रति कितना सजग था, तेइस वर्ष आयु के नौजवान की यह राजनैतिक व्यापक दृष्टि महत्वपूर्ण है। नवीन जी के लेखन के पीछे पूरे राष्ट्र की वेदना स्फुरित होती है, जिसे अपने अधिकारों से वंचित रखा गया है -

हम संक्रान्तिकाल के प्राणी, बढ़ा नहीं सुख भोग
घर उजाड़कर जेल बसाने का, हमको है रोग ।

नवीन जी के सबसे बड़े आराध्य महात्मा गांधी थे। उनकी देशभक्ति जीवन और अध्ययन से बढ़ती गई। आरंभ में **'प्रभा'** और **'प्रताप'** के लेख ने उनमें देश के प्रति समर्पित होने के भाव जगाए तो लोकमान्य तिलक के लेख ने क्रान्ति की ओर आकर्षित किया। अपने जेल के समय में उन्होंने अन्य नेताओं के लेख पढ़े। कवि भी एक स्वतंत्र विचारक होता है अतएव बलिदान, निश्शस्त्र असहयोग आदि विचारों के साथ ही क्रान्ति का उल्लेख भी नवीन जी में आया है। उन्होंने **'प्रलयंकर'** में क्रान्ति का स्वागत करते हुए लिखा है-

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर उधर को जाए ।

लेकिन यह उनकी राष्ट्रीय कविता का मूल स्वर नहीं है. अपितु उसमें त्याग, कष्ट सहन, बलिदान की भावना की प्रमुखता है। पराधीन भारतीयों के मन से हीन भावना का निराकरण कर गौरव की भावना की प्रतिष्ठा करने में नवीन जी का भी हाथ है जिन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से गौरवमंडित अतीत की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। तत्कालीन समाज में फैली हुई अनेक विषमाताओं की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। इन्होंने अशिक्षा, विधवा क्लेश, रूढ़िवादिता, अस्पृश्यता, नैतिक पतन, अन्याय और साम्प्रदायिकता आदि के चित्र उपस्थित किए हैं। प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने अपनी कविताओं में स्वर्णिम भविष्य की कामना की है और सुंदर तथा सुखद भविष्य का निर्माण किया है और यह कल्पना की है कि वह कितना सुन्दर

और सुख शांति पूर्ण समय होगा जब पराधीनता के बंधन कट जायेंगे। नवीन जी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता असंकीर्ण तथा उदार है। पराधीनतापाश और स्वदेशमुक्ति का लक्ष्य होने पर भी यह वैमनस्यपूर्ण तथा अन्तर्राष्ट्रीयता विरोधी नहीं है। उन्होंने काव्य 'उर्मिला' में भारत कल्याण को विश्व कल्याण के रूप में देखा है -

> **देश विदेश संकुचित जन का, है अनुचित संकुचित विचार,**
> **है मनीषियों का स्वदेश वह, जहाँ सत्यशिव का विस्तार,**
> **हैं जग के नागरिक सभी हम, सब जग भर यह अपना है,**
> **सीमित देश विदेश कल्पना मिथ्या भ्रम का सपना है ।** - (उर्मिला)

राष्ट्रभक्ति की भावना नवीन जी की काव्य रचना में बराबर बदलती गई। उनमें क्रांति के समर्थक और शांति के प्रचारक के रूप में राष्ट्रभक्ति की कई सीढ़ियां मिलती हैं। 'प्रलयंकर' में क्रान्ति के कई गीत हैं। पराजय गीत का आरंभ होता है-

> **आज खड़्ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ,**
> **विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य भ्रष्ट यह तीर हुआ।**

इनके राष्ट्रीय गीतों में भारतमाता की वंदना, महापुरुषों एवं त्यागी राष्ट्रसेवी नारियों की प्रशस्तियाँ भी अपना अलग स्थान रखती हैं। इनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण या संकुचित नहीं थी और न किसी प्रदेश, भाषा, जाति, धर्म या अन्य राष्ट्र का विद्वेष ही उनमें है। उनकी राष्ट्रीयता में किसी का विरोध था तो शोषकों का । वे मजदूरों के मसीहा थे । उनका विश्वास था भारत की राष्ट्रीयता, भारत की राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान विदेश से आयातित विचारों से नहीं होगा। उसे तो यहीं की मिट्टी और गंध में ढूंढ़ना होगा । वे क्रान्ति के नाम पर हिंसा करने वालों के विरोधी थे। उन्होंने अपनी कविता में भक्ति को देशभक्ति तक पहुँचाया है । व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों में व्याप्त उलझाव को उन्होंने सुलझाने की कोशिश की । हिंसा पर अहिंसा की विजय का गुणगान किया और अपने युग के श्रेष्ठ विचारों को सरल भाषा में लिखा । उनकी कविता का अधिक अंश राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता के लिए संग्राम के स्वर से भरा हुआ है। समाज में व्याप्त कुरीतियों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। **'क्वासि'** की भूमिका में लिखा- **'पूंजीवादी समाज में मनुष्य क्रीतदास बन जाता है'**। उनकी कविता राष्ट्रीय जीवन के संघर्ष से जुड़ी हुई है। वे मजदूरों के नेता थे, उनकी प्रेरणा से लिखा है -

> **सुन लो गर, तुममे हिम्मत है, नंगे भूखों का यह गाना,**
> **अब तक के रोने वालों का, यह विकट तरान मस्ताना।**

◆◆◆

जिनको तुम कीड़ा समझे थे, वे तो यारों निकले मानव,
जो रेंगा करते थे अब तक, वे आज कर उठे हैं तांडव ।।

प्रलयंकर में **'धन्य सभी रूसी जनगण'** कविता में उन्होंने फासिस्टों के विरूद्ध लिखा। कारागृह जीवन की झांकी उनके उन गीतों में दृष्टिगत होती है जहाँ वसंत, होली, दीवाली, राखी आदि त्यौहारों के समय अभिभूत होकर अपनी मजबूरी पर लिखते हैं। रश्मिरेखा में **'आज है होली का त्यौहार'** कविता में लिखा है -

उनकी क्या होली, दीवाली उनका क्या त्यौहार,
जिसने निज मस्तक पर ओढ़ा, जन विप्लव का भार ।

अपनी रचनाओं में उन्होंने देश के गौरवमय अतीत एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के सुखद भविष्य पर, विश्वप्रेम पर और स्वतंत्रता संग्राम की विभूतियों पर बहुत ही भावना पूर्ण होकर लिखा है। उनकी आरंभिक कविताएं भावावेशमय हैं और बाद की चिंतन प्रधान । उम्र के साथ-साथ कविता भी विचारात्मक प्रौढ़ता में बदलती गई है । अकेलापन, अनिकेतनता उनके जीवन का आधार रहा और देशभक्ति एक मात्र प्रेरणा । उनका हठ था-गुलाम भारत में शादी नहीं करूगां, भारत को गुलाम संतान की भेंट नहीं दूंगा और उन्होंने इसका निर्वाह किया ।

नवीन जी ने क्रांति के उन प्रलयंकारी भैरव स्वरों का आह्वान किया है जिनसे जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियाँ एवं परम्पराएं विलीन हो जाती हैं । उनकी वाणी में संगीत, उल्लास, विद्रोह, नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा का वेग है तथा साथ ही राष्ट्रीय जागृति की प्रभाती ध्वनि, करुणा का राग, आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति चिह्न और मानव जीवन के उदात्त पहलू जो विस्मृत गौरव की पुनरावृत्ति का पथ प्रदर्शन करते हैं और मानवता की विजय का संदेश है । उनके काव्य में भारत भक्ति है तो विश्व मानवता का बोध भी है, अतीत के प्रति अनुराग है तो वर्तमान की चुनौतियां और भविष्य की आशाएं हैं मानव की उद्दाम जिजीविषा, उसका अमोघ संकल्प और अविरत कर्मरत चरण हैं तो आततायियों के प्रतिकार के लिए क्रान्ति के लिए उद्यत उदात्त भावनाएं, शोषितों और दीन दलित मजदूरों को सचेत एवं जागृत बनाने की अभिलाषा भी है। उन्होंने मानवता के शाश्वत कल्याण के लिए वांछनीय आवश्यकताओं को काव्य के सरस, आकर्षक परिधान में प्रस्तुत करके जनग्राह्य बनाया है ।

- डॉ0 भगवान देव पाण्डेय
रीडर, हिन्दी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

◆◆◆

'गुरुकुल-पत्रिका' ने गुरुकुल का वर्चस्व बढ़ाया

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी की इस **'श्रद्धानगरी'** गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का इतिहास लिखते हुए गुरुकुल की आन्तरिक गतिविधियों का इतिहास यदि नहीं मालूम तो हम **'गुरुकुल-पत्रिका'** के स्वरूप को, उसकी पहचान को भी नहीं जान सकते । **'गुरुकुल-पत्रिका'** का जन्म १९४८ ई० में हुआ। वहीं इससे पूर्व गुरुकुल में विविध सभाओं व पत्रों के द्वारा एक ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिसने आगे चलकर एक विशिष्ट साहित्यिक चेतना का ही निर्माण नहीं किया अपितु सभी स्तरों पर उन्नति के चरम बिन्दुओं को चूमा ।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि गुरुकुल का वातावरण बना नहीं बल्कि बनाया गया था । उस वातावरण को बनाने में जहाँ ब्रह्मचारियों ने रुचि ली और उसमें अपना तन-मन लगाया वहीं कुल के गुरुजनों ने अपने निष्काम चरित्र के द्वारा, अपने ज्ञान-कोष के द्वारा प्रेरणा और परिष्कार देकर ऊँचा उठाया । इसलिए गुरुकुल में आर्य भाषा (हिन्दी), अंग्रेजी व संस्कृत की त्रिवेणी बहती थी । इस ज्ञान-गंगा में जो नहाया वही कुन्दन हो गया, स्वर्ण हो गया । इसी से गुरुकुल गौरवान्वित हुआ और अब शताब्दी वर्ष में प्रवेश करने जा रहा है ।

हम चाहे विद्यालय-स्तर की बात करें या महाविद्यालय स्तर की । गुरुकुल में धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक व क्रीडात्मक गतिविधियों का महत्वपूर्ण स्फुरण रहा है । साहित्य-संगोष्ठी, बालसभा, पार्लियामेन्ट आदि सभायें उस समय के छात्रों में नवीन गतिविधियों का संचार करती थी । सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकायें गुरुकुल के पुस्तकालय या वाचनालय में आती थी । विद्यालय-विभाग में तो आश्रम में ही वाचनालय था । जिसमें मध्याह्न के भोजनोपरान्त बड़े ब्र० पत्र पत्रिकायें पढ़ते थे । प्रताप, नव-जीवन, आर्य, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, बालसखा, चन्दामामा, हिन्दुस्तान टाइम्स, वीर अर्जुन, नवभारत टाइम्स आदि पत्र आते थे । विद्यालय-विभाग में तो अब भी यत्किंचिद् वह परम्परा चल रही है । विश्वविद्यालय स्तर पर तो विशाल पुस्तकालय और वाचनालय छात्रों को उपलब्ध है । फिर भी **।अस्तु।** उस समय सभी सभाओं के मन्त्री हुआ करते थे । यहाँ तक कि कुलीय स्तर पर **'कुलमन्त्री'** भी होता था । जिसके ऊपर गुरुकुल के मुख्य-मुख्य उत्सवों पर विविध क्रिया कलापों के आयोजन करने का उत्तरदायित्व होता था ।

गुरुकुल में अपना **'प्रिंटिंग प्रेस'** होते हुए भी विद्यालय व महाविद्यालय स्तर पर ब्रह्मचारी लेख, गल्प, कविता, कहानी आदि लिखते थे । हस्तलिखित पत्रिकाओं का सम्पादन होता था । लेख के लेखक और मेरे मित्र स्व० जगन्नाथ विद्यालंकार ने अपने विद्यालय और महाविद्यालय जीवन में यह कार्य किया था । विद्यालय में दीवाली या विजयादशमी के अवसर पर **'विजया'**, **'चन्द्रिका'** आदि हस्तलिखित पत्रिकाओं का सम्पादन होता था । महाविद्यालय (कालेज) में तो अनेक सभायें थी, जो अपने 'पत्र' निकालती थी । उस समय की हस्तलिखित पत्रिकाओं का दर्शन आप विश्वविद्यालय पुस्तकालय में पुस्तकालयाध्यक्ष की अनुमति से कर सकते हैं । इस प्रकार उस समय छात्रों में नयी-नयी साहित्यिक व सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित होती थी । साप्ताहिक सभायें उनके इन प्रयासों को मूर्त रूप देती थी । हस्तलिखित पत्र-पत्रिकायें उन्हें नयी-नयी बातें लिखने को प्रेरित करती थी । गुरुजन सदा प्रोत्साहित करते थे । ब्रह्मचारी भी गुरुओं को सादर बुलाकर गोष्ठियों में सभापतित्व कराते थे । गुरुजन उनकी कमियों को नोट कर उन्हें बताते और अच्छा लिखने व बोलने को प्रेरित करते थे । विविध गोष्ठियों में राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर चर्चायें होती थी । निबन्ध, कविता, गल्प व लेख पढ़े जाते थे । समस्या-पूर्तियाँ की जाती थी । महाविद्यालयाश्रम (टेकचन्द नागिया हॉस्टल) के वर्तमान रामदेव सभा-भवन अर्थात् उस समय की ड्योढी पर हर सप्ताह कोई न कोई कार्यक्रम होता ही रहता था । जिससे ब्रह्मचारी व कुलवासी प्रेरित होते थे ।

अब हम गुरुकुल के उस सामाजिक और साहित्यिक स्वरूप का वर्णन करेंगे जो अन्दर ही अन्दर छात्रों में विविध गतिविधियों का संचार करता था । और जिसके कारण गुरुकुल ने बाह्य-जगत को बड़े-बड़े होनहार साहित्यकार लेखक व सम्पादक ही नहीं अपितु उच्च कोटि के विद्वान् एवं वाग्मी स्नातक दिए । जिनके लेख आदि गुरुकुल-पत्रिका में बड़े चाव से पढ़े जाते थे । गुरुकुल की इन्हीं आन्तरिक हलचलों ने **'गुरुकुल-पत्रिका'** को जन्म दिया ।

गुरुकुल की विद्यालय एवं महाविद्यालय स्तर की उन सृजनात्मक गतिविधियों का हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं । आओ, चलो आज से ६०-७० वर्ष पूर्व के गुरुकुलीय इतिहास में लौट चलें :-

१– **साहित्य-परिषद्** :- महाविद्यालय-आश्रम की यह एक बहुत पुरानी सभा थी । जिसकी स्थापना २६ ज्येष्ठ १९६५ विक्रमी में हुई थी । इस सभा का मुख्य उद्देश्य हिन्दी-संसार में स्थिर साहित्य उत्पन्न करना था । इसमें कोई शक नहीं कि इस सभा में पढ़े गए लेख और पुस्तकें हिन्दी संसार में प्रसिद्ध हुई ।

२— **पार्लियामेन्ट** :- साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त सा०प० की ओर से कई विशेषाधिवेशन होते थे । इनमें सबसे प्रथम 'पार्लियामेन्ट' था । जिसका उद्देश्य ब्रह्मचारियों को शासन-विधान सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कराना था । यही कारण है कि गुरुकुल के कई स्नातक भारत की संसद और विधायिकाओं के सदस्य बने । जिनमें सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, अमरनाथ विद्यालंकार, पूर्णचन्द्र, दीनदयालु शास्त्री तथा विनायकराव विद्यालंकार का नाम आदर से लिया जा सकता है ।

३— **सरस्वती सम्मेलन** :- साहित्य-परिषद् सभा की ओर से होने वाला यह दूसरा विशेष अधिवेशन 'सरस्वती सम्मेलन' था । यह प्रतिवर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर किया जाता था । इस अधिवेशन का आयोजन कुछ वर्षो से ही बन्द हुआ है । इसमें गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध एवं विविध रचनायें पढ़ी जाती थी । जिससे उत्सव पर आने वाले दर्शकों को यहाँ के ब्रह्मचारियों की प्रतिभाओं का ज्ञान होता था ।

४— **वाग्वर्धिनी सभा** :- महाविद्यालय के सामाजिक जीवन को बनाये रखने में इस सभा का विशेष हाथ रहा । इस सभा के क्रिया-कलाप १९६६-६८ ई० तक हमारी दृष्टि में आते रहे । इस सभा की स्थापना १ पौष सम्वत् १९६९ तदनुसार १५ दिसम्बर १९१२ ई० को हुई थी । इस सभा का मुख्य उद्देश्य गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक स्थिति कें ज्ञान के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति का भी ज्ञान कराना था । इस सभा के साधारण अधिवेशन हर शनिवार को होते थे । इस सभा ने ही गुरुकुल को बड़े-बड़े वाक्शूर इन्द्र जी, चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार, सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार, बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड (समर्पणानन्द जी), क्षितीश जी वेदालंकार, धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड पश्चाद् जयपाल जी, प्रशान्त जी, विश्वबन्धु जी, जयदेव जी, विश्ववर्द्धन आदि वाग्मी दिए ।

इस सभा की ओर से प्रतिवर्ष '**हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कवितागल्प-सम्मेलन, कांग्रेस** और **असेम्बली अधिवेशन** होते थे । उत्सवों पर हिन्दी साहित्य सम्मेलनों और कविता-गल्प-सम्मेलनों का आयोजन तो बहुत ही उत्कृष्ट होता था । इस सभा की ओर से '**श्रद्धानन्द-बलिदान-सप्ताह**' के अन्तर्गत किए गए '**शाहजहाँ, अकबर, पृथ्वीराज की आँखे, वीर दुर्गादास राठौर** आदि नाटक तो आज भी आँखों के आगे साकार हो उठते हैं । इन सम्मेलनों में उस समय के उच्च कोटि के साहित्यकार, हिन्दी सेवी, कवि तथा संगीतज्ञ आमन्त्रित किए जाते थे । कवियों में **पं० नाथूराम शंकर शर्मा, प्रकाशचन्द्र कविरत्न, बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड, राधेश्याम जी कथावाचक, प्रियहंस, देवराज 'दिनेश'** आकर अपनी रचनाओं से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करते थे । ब्रह्मचारियों के हृदयों और लेखनी

पर इनकी छाप पड़ती ही थी। **सेठ गोविन्द दास** जैसे हिन्दी के पक्षधर तो सदा ही इस सम्मेलन में आते थे। किन्तु बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इन्द्र जी के कुलपतित्वकाल में वर्तमान प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी भी झूम-झूम कर अपना भाषण देकर इस सम्मेलन को सुशोभित कर चुके हैं। गुरुकुल के **'वेदमन्दिर'** में जिस समय इस सभा की ओर से **राष्ट्रकवि रामधारी सिहं 'दिनकर'** ने अपना काव्य पाठ किया था तो सभी उस ओजस्वी वाणी को सुन रोमाञ्चित हो गये थे। यही कारण है कि इन सम्मेलनों ने भी गुरुकुल से बड़े-बड़े लेखक व कवि साहित्य को दिए।

वाग्वर्धिनी सभा का मुख्यपत्र :- **'राजहंस'** इस सभा का मुख्य पत्र था। यह पहले हस्तलिखित पाक्षिक रूप से निकलता था। जिसमें राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज विज्ञान् पर बड़े गम्भीर और उत्तम लेख होते थे। फिर यह पत्र १९६०-६२ ई० में आते-आते मासिक हो गया। इसका प्रमुख वाक्य था-

जड़-चेतन गुन-दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त-हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥

वास्तव में यदि देखा जाये तो **राजहंस** पत्र का छात्रों में लिखने की प्रवृत्ति पैदा करने में एक प्रमुख हाथ रहा। इस पत्र में सम्पादित अनेक लेख 'गुरुकुल-पत्रिका' में भी शोभित हुए। जिनसे छात्रों ने प्रेरणा प्राप्त की।

५- संस्कृतोत्साहिनी सभा :- यह सभा ब्रह्मचारियों में संस्कृत की वक्तृत्व एवं लेखन कला को उन्नत बनाने के लिए २३ आषाढ़ सम्वत् १९६८ को स्थापित की गयी थी। इस सभा के अधिवेशन-सप्ताह में बृहस्पतिवार को होते थे। यह सभा **संस्कृत सम्मेलन, कविता सम्मेलन, प्रतिभा सम्मेलन** आदि का संयोजन करती थी। उत्सव पर जिस समय ब्रह्मचारी इस सम्मेलन में संस्कृत श्लोकों की अन्त्याक्षरी करते थे तथा संस्कृत में भाषण देते थे तो जनता भाव-विभोर हो, गद्-गद् हो जाती थी। इस सभा का मुख्य पत्र हस्तलिखित निकलता था, जिसका नाम था - **'देव गोष्ठी'**। इसमें लेख और संस्कृत की छन्दोबद्ध रचनायें होती थी।

६- विज्ञान परिषद :- संसार में विज्ञान की प्रगति को मध्ये नज़र रखते हुए ब्रह्मचारियों में विज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए 'विज्ञान-परिषद' का गठन १५ ज्येष्ठ १९८७ विक्रमी को किया गया था। सभा की ओर से हस्तलिखित **'विज्ञान-पत्रिका'** भी निकलती थी।

७- आयुर्वेद परिषद् :- गुरुकुल में वेद व साधारण महाविद्यालय के साथ आयुर्वेद महाविद्यालय का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान था। इस सभा की स्थापना २० आषाढ सम्वत्

१६७६ को हुई थी । इस सभा का उद्देश्य ब्रह्मचारियों को आयुर्वेद का ज्ञान कराना था । इस सभा द्वारा हस्तलिखित **आयुर्वेद-पत्रिका** का भी प्रकाशन होता था । जिसमें ब्रह्मचारियों के आयुर्वेद व एलोपैथी पर विचारपूर्ण लेख होते थे । यही कारण है कि गुरुकुल ने बड़े-बड़े आयुर्वेदालंकार समाज को दिए । इस सभा के तत्वावधान में वार्षिकोत्सव पर **'आयुर्वेद-सम्मेलन'** का आयोजन भी चरमोत्कृष्ट होता था ।

८— **कॉलेज यूनियन** :- यह सभा अपना सारा कार्य अंग्रेजी में करती थी । बुद्धवार को इसका साधारण अधिवेशन होता था ।

६— **हिन्दी साहित्य मण्डल** :- यह वाग्वर्धिनी सभा की एक शाखा थी । १५-१५ दिन के अन्तर से इसके अधिवेशन गोष्ठी के रूप में होते थे । उस समय के प्रसिद्ध समालोचक व साहित्यकार पं० पदम सिहं शर्मा ने इसकी अति सराहना की थी । यह सभा गुरुकुल वि०वि० के पुस्तकालय के लिए प्रतिवर्ष हिन्दी के उत्तम-उत्तम ग्रन्थ लेखकों और कवियों से मंगाती थी ।

१०— **वाग्विकासिनी और वाग्विलासिनी सभा** :- उपरोक्त सभा समितियों के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों में भाषण शक्ति को बढ़ाने के लिए इन दो सभाओं की स्थापना की गयी थी । इस तरह गुरुकुल में इन विशिष्ट कार्यक्रमों के द्वारा ब्रह्मचारियों में कुछ बनने की भावना जागृत होती थी । वे निठल्ले या निष्कर्मा नहीं बैठ सकते थे । ऊलजुलूल बातों के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं था । बस कुछ बनने और बनाने के भाव ही अहर्निश ब्रह्मचारियों और गुरुजनों को चैन नहीं लेने देते थे ।

इस प्रकार इन हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं और गोष्ठियों के द्वारा जो रचनायें ब्रह्मचारी अपने परिश्रम से प्रयास में लाते थे, उन्हें बाह्य-जगत तक विस्तार देने का कार्य **'गुरुकुल-पत्रिका'** ने किया । यह गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल के उद्देश्यों, उसके विकास, उसकी आगामी उन्नति, भविष्य में होने वाली उपलब्धियों तक में प्रकाश डालती थी । गुरुकुल में पढ़ने वाले प्रत्येक ब्रह्मचारी (विद्यालय अथवा महाविद्यालय) के घर यह पत्रिका अवश्य जाती थी । इसमें **गुरुकुल समाचार** का स्तम्भ मुख्य आकर्षण होता था । गुरुकुल परिसर में होने वाली समस्त गतिविधियों, विभागों के क्रिया-कलापों, ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य व उनकी उपलब्धियों, गुरुकुल में आने वाले दान, आने वाले मुख्य अतिथियों, उनके स्वागत-सत्कार का सभी विवरण यह पत्रिका देती थी । गुरुकुल का ऋतुरंग, जलवायु, तापमान का ब्यौरा, पुरानी पत्रिकाओं में आज भी देखा जा सकता है । गुरुकुल में होने वाले त्यौहारों व वार्षिकोत्सव के सभी दिनों का वर्णन इसमें होता

था । उच्च कोटि के लेखों से तो यह पत्रिका सुशोभित ही रहती थी । वैदिक वाङ्मय पर, साहित्य, संस्कृति व इतिहास पर उच्च स्तरीय समसामयिक लेख एवं काव्य रचनायें इस पत्रिका की धरोहर हैं । गुरुकुल पत्रिका में ही एक **'साहित्य-परिचय' या समीक्षा तथा 'सम्पादक-टिप्पणी'** के स्तम्भ होते थे। जिसमें आगत पुस्तकों की विविध विषयों पर समालोचनापरक टिप्पणी होती थी ।सम्पादक टिप्पणी में समसामयिक विषयों पर वस्तु परक आख्या होती थी ।

कुछ वर्षों तक तो इसका प्रकाशन 'संस्कृत-भाषा' में भी होता रहा । वहाँ पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड की लालित्य पूर्ण भाषा शैली एवं श्री पं० भगवद्दत्त जी की शिवराज-विजय की भाषा शैली पर ओजपूर्ण एवं सरल संस्कृत भाषा के दर्शन उन अंकों में देखने को मिल जाते है । इन्द्र जी का भारतैतिह्यम्, पं० वागीश्वर जी की साहित्य सौदामिनी तथा पं० विद्यानिधि जी भैंसवाल व पं० नृसिहं देव जी व्याकरणाचार्य व निगमशर्मा जी के संस्कृत लेख इस पत्रिका का महत्व बढ़ाते हैं ।

इस प्रकार यह पत्रिका उन्नत पत्रिकाओं में गिनी जाती रही है । इस पत्रिका के कलेवर को सम्पादित करने व सुन्दर रूप देने में जहाँ सर्वश्री इन्द्र जी, सत्यव्रत जी, रामेश वेदी जी, पं० सुखदेव जी, पं० शंकर देव जी, पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, पं० भगवद्दत्त जी, प्रो० निगम जी, प्रो० रामाश्रय मिश्र जी लगे रहे वहीं वर्तमान में प्रो० महावीर अग्रवाल, प्रो० भारतभूषण विद्यालंकार, प्रो० जयदेव जी एवं मेरे विद्यागुरु डा० विष्णुदत्त जी राकेश उन्नति शील बनाने में प्रयत्नशील हैं। अब यह विश्वविद्यालय की **'शोध-पत्रिका'** के रूप में संस्थापित है । गुरुकुल-पत्रिका होते हुए भी- 'गुरुकुल-समाचार' न होना शायद इसकी विवशता है । इस पत्रिका ने समय-समय पर उच्च कोटि के विशेषांक भी पाठकों को हस्तगत कराये, जिनमें कुछ प्रमुख थे- **'स्वर्ण जयन्ती विशेषांक, श्रद्धानन्द विशेषांक, शिक्षा विशेषांक, हीरक जयन्ती विशेषांक, गुरुकुल शिक्षा विशेषांक, आयुर्वेद विशेषांक, वेदों में आयुर्वेद विशेषांक** । **१९९९ में जस्टिस महावीर सिहं अंक, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, वेद विशेषांक, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार विशेषांक** ।

उपरोक्त विवरण के पश्चात् अब हम लेख के हृदय को संकुचित करते हुए गुरुकुल इतिहास के एक ऐसे युग का भी वर्णन करना अवश्य चाहेंगे जब गुरुकुल पत्रिका ही नहीं अपितु परिसर में अनेक-विध - **'ध्रुव, प्रह्लाद, विज्ञान-पत्रिका, वैदिक पथ, शोध भारती**, आदि पत्रों का नियमित प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । गुरुकुल-पत्रिका के भी अनेक महत्वपूर्ण अंक प्रकाशित हुए । जैसे - **१- रवीन्द्र कवीन्द्र अंक (मई १९७९ ई०), २- आर्यभट्ट अंक (अप्रैल**

१६७६ ई०) ३- सरदार भगत सिंह अंक (मार्च १६७६ ई०), ४- महर्षि दयानन्द अंक (फर० १६७६) ५- लाजपतराय अंक (जन० १६७६) ६- श्रद्धानन्द अंक (दिस० १६७५) ७- नेहरु अंक (नव० १६७५) । इस प्रकार गुरुकुल में इस युग के सूत्रधार थे- कुलपति बलभद्र कुमार हूजा । उन्होंने गुरुकुल को एक हीन भावना से ऊपर उठाकर उस समय एक नयी भावना का संचार किया । सर्वत्र वेदध्वनि का संचार कर, देव कुल बनाने में लगे रहे । पुराने गुरुकुल की और काँगड़ी ग्राम की पुण्य स्मृतियों और गतिविधियों को वर्तमान गुरुकुल से जोड़कर नये संदर्भ को जन्म दिया । उनके काल में जो विविध पत्र-पत्रिकायें एवं गुरुकुल पत्रिका प्रकाशित हुई उनके माध्यम से लोगों ने पुनः गुरुकुल के वर्चस्व को जाना और समझा । इन पत्र-पत्रिकाओं से छात्रों में पुनः लिखने और पढ़ने की आदत का संचार हुआ । गुरुजनों के खोजी एवं पठनीय लेख भी इन पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आए ।

वास्तव में यदि गुरुकुल में- विद्यालय या विश्वविद्यालय स्तर पर पाक्षिक या मासिक अधिवेशन के रूप में- साहित्यक, धार्मिक, राजनैतिक सांस्कृतिक, सामाजिक, क्रीडात्मक एवं भाषणात्मक प्रतियोगिताओं का निरन्तर समायोजन हो तो अनेक प्रतिभा-सम्पन्न छात्र आज भी आगे आ सकते हैं । साथ ही विश्वविद्यालय परिसर में होने वाले आयोजन या गोष्ठियाँ जिनमें बाहर के विद्वान, या साहित्यकार, राजनेता आते हैं वें सीनेट-भवन में न होकर विश्वविद्यालय-भवन या वेद-मन्दिर में आयोजित हों और उसमें गुरुकुल के सभी विभागों के छात्र एवं शिक्षक अनिवार्य रूप से आमन्त्रित हों तो एक नया माहौल बनाया जा सकता है । इस ओर यदि निष्ठापूर्वक, कुलीय भावना के अनुरूप कार्य हो तो अनेक जहरीली बाह्य-प्रवृत्तियाँ भी अपने आप समाप्त होकर एक अच्छे वातावरण और अच्छी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हो सकता है । गुरुकुल उद्यान को नये-नये प्रतिभा-सम्पन्न पुष्प मिल सकते हैं जो इसकी सुगन्ध को दूर-दूर तक फैला सकते हैं । ये पत्र-पत्रिकायें तो मन को टटोल कर कुछ कह जाती हैं । इनमें अंकित लेख, गल्प, कविता, साहित्य-चर्चा, राजनैतिक व धार्मिक चर्चायें कुछ विचार मंथन कर ही जाती हैं । गुरुकुल ने तो सभी प्रकार का साहित्य-मंथन किया है । कर रहा है । पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जो गुरुकुल ने दिया उसे कम नहीं आंका जा सकता ।

सत्य ही यह **'गुरुकुल पत्रिका'** गुरुकुल के इतिहास का वर्णन करती हुई भी राष्ट्र की साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व धार्मिक चेतना का भी प्रतिनिधित्व करती है । इस पत्रिका ने सदा ही **गुरुकुल का वर्चस्व** बढ़ाया है । यश द्विगुणित किया है । लेख को अपनी कुछ भावनाओं से समाप्त करता हूँ -

लेखनी के धनी गर बिक जायेंगे ।
गूंगा होगा वतन जुल्म बढ़ जायेंगे ।।

भाषा बिक जायेगी, भेद बढ़ जायेंगे ।
आदमी, आदमी से, दूर हो जायेंगे ।।
स्वर को बाँधा अगर, छन्द मर जायेंगे... लेखनी...

घूसखोरी व चोरी बढ़ेगी यहाँ ।
शान मिट्टी में अपनी मिलेगी यहाँ ।
लेखनी गर झुकी लोग झुक जायेंगे ...

कौन पूछेगा मीरा व रसखान को ।
सूर तुलसी के प्यारे भगवान को ।
लेखनी गर बिकी गीत बिक जायेंगे...

देश की रुह में, शोले भरकर जियो ।
‘हल्दी घाटी’ व ‘जौहर’ की भाषा लिखो ।
भाव-भाषा संवारो, मन बदल जायेंगे....

प्यार की बात को, प्यार से ही लिखो ।
न सोचो अधिक, कुछ तो, अपना लिखो ।
‘नीर’ लिखते रहो, दिन संवर जायेंगे... लेखनी....

अन्त में आर्य पथिक अमर शहीद पं० लेखराम जी के शब्द याद करें - **‘आर्य समाज से लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए ।”** पत्रिका के स्वर्ण जयन्ती वर्ष पर सबका अभिनन्दन-वन्दन ।

- महावीर ‘नीर’ विद्यालंकार
गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय-विभाग,
हरिद्वार ।

◆◆◆

कैसे गीत गायें हम ?

कैसे गीत गायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?
जीवन-नगरी में हर्ष को
कैसे बढ़ायें हम?
यम - नियम के ताग टूटे,
कसमसाती साधना,
स्वार्थ - लोलुप एषणा से,
खिलखिलाती यातना,
चूम पल्लव - ग्रहिता-मुख
छलछलाती नामना,
पंक - गलियो में भटक कर
सकपकाती कामना,
अड गयी जड़ता मचल कर,
साधनों के सौध में,
शिव भाव झुलसते देख,
कैसे मुस्कुरायें हम?
कैसे गीत गाये हम?
सब तरफ फैली हुई है,
विष-पगी कुटिला व्यथा,
भूमि-तत्त्वों को गटक कर,
बढ़ गयीं पंकिल प्रथा,
विवश धूमिल पंगु जैसा
साध्य पापों से नथा,
द्रोह कलहाकुल 'मलनि' पर,
लिख रहा छल की कथा,
सार्थ वाहों में भरा भय,
घोर कुत्सित चौर्य का,
हड़बड़ाहट में उलझे
कैसे लक्ष्य पाये हम?
कैसे गुन गुनायें हम?

विधि-निषेधों के [illegible] में
फँस सर्जना,
पक्ष तज सत्यम् शिवम् का,
पाल बैठी व़र्जना,
ध्वंस के धूमिल क्षितिज से
थरथरायी अर्जना,
नाश का उमड़ाव लखकर,
जाग गरजी तर्जना,
धौंस का आतंक लखकर,
बुद्धिजीवी थम गये,
बाँधे ठिठके पगों में कैसे स्फूर्त्ति लायें हम?
कैसे गीत गायें हम?
राष्ट्र-भक्तों की धवल-सी
अर्थियाँ उठने लगीं,
शोक की 'धुन' के सहारे,
बर्छियाँ तनने लगीं,
मातमों की आड़ लेकर,
आँधियाँ जुटने लगीं,
कलह की मदिरा पिये सब
बादियाँ मिटने लगीं,
बुद्धि के लोचन मुँदे-से,
आँसुओं को सहेजे,
अध-भटके मांझियों से
कैसे शक्ति पायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?
फूल असली गंध खोये
फँस प्रदूषण में मिटे,
फल विफल, तरु-पात व्याकुल,
पशु विवश बेदम घटे,
झुण्ड सब हरियालियों के
स्वार्थ - बाँके से कटे,
वन्य प्राणी मृत,
मिलावट के नमूने ही पटे,

सहमती धूल में भी
धूम की दहशत भरी है,
तन की निस्सारता पर
कैसे खिल खिलायें हम?
कैसे गीत गायें हम?
घोर कुण्ठा की परिधि में,
दिल दुबकना चाहता,
फँस निठल्लू कल्पना में,
उर सुबकना चाहता,
आत्म-पीड़न के विपिन में
'चित्' भटकना चाहता,
घृण्य दोषों की गली में
शिव अटकना चाहता,
रात का सारा सगापन
क्रोध का तोड़ा मिटा,
सूना-सूना बेसुरा
कैसे गुद गुदायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?
मालियों ने बेरुखी से किया उद्यान सूना,
रक्षकों पर दोष थोपें,
पाल अपमान दूना,
दृढ़, भूमि टुकडों में बँटी,
ऋक्य में लगा चूना,
शव-सदृश उपलब्धि-रसि को,
गण न चाहता छूना,
तीव्र झंझावत में
ठहरना दुष्कर हुआ है,
आहत बेसुध से बने
कैसे चमचमायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

स्वस्थ तरुणी में बुढ़ापा,
शान्त शिशुओं में घुटन,
मोह से मूर्च्छित किया
लोभ ने उपकार का तन,
उग्रता सब ओर पनपी,
भ्रष्ट सम्पूर्ण साधन,
रूप, रुपया, अचिर सत्ता
का बढ़ा प्रिय उपासन,

सूर्य पर धब्बे लगे हैं,
चाँद भी धुँधला-बुझा,
पंकिल कलुष अपनाकर,
कैसे तम भगायें हम?
कैसे गीत गायें हम?
विघ्न अड़ अवसर-कुअवसर,
चाहते हैं टोकना,
सामने अवरोध आकर
चाहते हैं रोकना,
विश्वासघातों के घनों से
चाहते युग ठोंकना,
धृष्ठ से धोखे छुरा भी
चाहते हैं भोंकना,
मौत हर पल लूटने को
व्यग्र तत्पर दीखती,
होकर कर्म के चाकर,
कैसे भोग पायें हम?
कैसे गुनगुनायें हम?

क्रमश.......

— डॉ० भैरवदत्त शुक्ल
जाबालि आश्रम, तिकुनिया
खीरी, उ०प्र० - २६२६०६

◆◆◆